DARSHNIK TREMASIK

OCT 1972-73 G.K.U.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

113443

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

RT 154

COMPILED

Stock Verification-2024

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

# दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष १८ | अक्तूबर १९७२ | अंक ४

सम्पादक

यशदेव शल्य

## विषय सूची


| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिक पदस्थिति | राजनारायण | २१८ |
| २. | सत्य और विश्वास | रूपरेखा वर्मा | २३२ |
| ३. | ज्ञानमीमांसा-५ | दयाकृष्ण | २३८ |
| ४. | जगन्मिथ्यात्ववाद और शून्यवाद | अभेदानन्द | २५१ |
| ५. | श्री अरविन्द और नयी समाज-व्यवस्था | किरीट जोशी | २५८ |
| ६. | श्री अरविन्द-दर्शन में चैतन्य-मीमांसा | ह० माहेश्वरी | २७४ |
| ७. | श्री अरविन्द-दर्शन में विश्व-सृष्टि का उद्देश्य | केशवदेव आचार्य | २८४ |


अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

वार्षिक शुल्क :

सदस्यों के लिए रु० १०.००

संस्थाओं के लिए रु० १५.००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113443

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

113443

# सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिक पदस्थिति*

राजनारायण

बहुत वर्षों से सामाजिक विज्ञानों पर ग्रालोचकों की कुटिल कृपा रही है। ग्रालोचना ने विविध रूप लिये हैं। एक तरफ तो यह कहा गया है कि "सामाजिक विज्ञान वस्तुतः सम्भव नहीं हैं" दूसरी तरफ सामाजिक वैज्ञानिकों की क्रियाग्रों पर भय प्रकट किया गया है कि "ग्रत्यधिक सामाजिक ज्ञान मानव की स्वतंत्रता को विपत् में डाल देगा"। सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिक पदस्थिति क्या है? क्या "सामाजिक विज्ञान वस्तुतः ग्रसम्भव हैं" का ग्रारोप सत्य है? इन प्रश्नों का विवेचन हम सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिक पदस्थिति के बारे में लगाए गए ग्रारोपों की समीक्षा द्वारा करेंगे।

## १. सामाजिक विज्ञानों की वस्तुपरकता

कहा गया है कि सामाजिक विज्ञान वस्तुपरकता को प्राप्त नहीं कर सकते। इस ग्रारोप का प्रतिकार करने के लिए हम 'वस्तुपरकता' के संप्रत्यय का विश्लेषण करेंगे। 'वस्तुपरकता' को साधारणतया 'व्यक्तिपरकता' का उलटा समझा जाता है। इन दोनों पदों का विरोध 'मन' तथा 'द्रव्य' के वैषम्य पर ग्राधारित है। देकार्त्त द्वारा प्रतिपादित 'मन' ग्रौर 'पुद्गल' का द्वैतवाद इतना सर्वसाधारण हो गया है कि 'वस्तुपरक' को ग्रमानसिक ग्रौर व्यक्तिपरक को मानसिक का समानार्थक माना जाता है। तथा व्यक्तिपरक को ग्रभिनत या त्रुटिपूर्ण ग्रौर वस्तुपरक को ग्रनभिनत या त्रुटिमुक्त समझा जाता है। परन्तु 'वस्तुपरक'–'व्यक्तिपरक' ग्रौर 'ग्रभिनत–ग्रनभिनत', 'त्रुटिपूर्ण–त्रुटिमुक्त' के युग्म समानार्थक नहीं हैं। यदि हम 'व्यक्तिपरक' को मोटे तौर पर 'ग्रभिनत' के सर्वसम मान लेते हैं तो ऐसी उपयोगी उक्तियाँ जैसे 'वस्तुपरक दृष्टिकोण' या 'वस्तुपरक मूल्यांकन' बेतुकी सिद्ध होंगी ग्रौर 'ग्राग्रह-रहित दृष्टिकोण' स्वतः ग्रसंगत होगा।

वस्तुतः 'व्यक्तिपरक' का प्रयोग चार भिन्न ग्रर्थों में होता है: (१) प्रत्यय की सत्यभासता ग्रर्थात् मानसिक प्रतिमाग्रों का प्रतिकृत रूप, (२) कथनों की सत्यता,

---

* ग्रखिल भारतीय दर्शन परिषद् के सप्तदश वार्षिक ग्रधिवेशन (२४–२७ नवंबर १९७२, श्री ग्ररविंद ग्राश्रम, पांडिचेरी) में ग्रध्यक्ष पद से भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(३) प्रणीतियों की विश्वसनीयता, एवं (४) किसी अन्वेषक की १,२,३ के प्रयोग करने की प्रवृत्ति।

(१) **प्रत्यय के विधेय के रूप में वस्तुपरकता :** लॉक के समान बहुत लोगों का विचार है कि हमारी मानसिक प्रतिमायें इस अर्थ में वस्तुपरक हैं कि वे उनसे हूबहू मिलती जुलती हैं जिनकी वे छाया हैं। इस मत को हम वस्तुपरकता का 'आशुचित्र मत' कह सकते हैं। इस मत की लोकप्रियता के बावजूद इसको मानने में कई कठिनाइयां हैं।

(i) 'हूबहू समान' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। क्या मानसिक प्रतिमायें उसी प्रकार लम्बी, भारी, सूखी या चिकनी होती हैं जैसी वे वस्तुएं जिनकी वे प्रतिमाएं हैं? यदि 'हां' तो किस अर्थ में? यदि 'नहीं' तो 'समानता' का क्या अर्थ है? (ii) यह सत्य नहीं है कि हमारा सम्पूर्ण मानस प्रतिमाओं से परिपूर्ण है। ऐसी परिस्थिति में हमारे अ-प्रतिमात्मक प्रत्यय किस अर्थ में उनके समान हैं जिनके वे प्रत्यय हैं? (iii) इस मत की यह पूर्वमान्यता है कि हम किसी रहस्यमय प्रकार से अपने प्रत्ययों की तुलना ऐसी किसी वस्तु से कर सकते हैं जिसको हम अप्रत्ययात्मक रूप से जान सकते हैं। प्रस्तुत संदर्भ में 'तुलना करने में' तुलना की जाने वाली वस्तु का निरीक्षण, प्रत्यक्ष ज्ञान या संवेदन आपादित है। परन्तु इस अर्थ में 'तुलना' निरर्थक है क्योंकि वह एक आत्मविरोधी शर्त पर आधारित है।

(२) **कथनों की सत्यता के रूप में वस्तुपरकता :** 'सत्य' और 'असत्य' भाषाई इकाइयों अर्थात् वाक्यों या कथनों के विधेय हैं। अतः अतिरिक्त भाषाई इकाइयाँ न सत्य हैं न असत्य। उनके अस्तित्व या अनस्तित्व का दावा किया जा सकता है। उनके बारे में कथन सत्य या असत्य हो सकते हैं। "अमुक ने अमुक तत्त्व का तथ्यात्मक या वस्तुपरक विवरण दिया" का तात्पर्य यही है कि उसने सत्य विवरण दिया। वस्तुपरकता का यह अर्थ कोई समस्या नहीं पैदा करता।

(३) **प्रणीतियों के विधेय के रूप में वस्तुपरक :** हम कहते हैं कि अमुक ने अन्वेषण की वस्तुपरक विधि अपनाई। प्रश्न है कि कोई प्रणाली किस अर्थ में वस्तु-परक होती है या और प्रणालियों से अधिक वस्तुपरक होती है? किसी प्रणाली की वस्तुपरकता उसकी विश्वसनीयता पर निर्भर होती है। प्रणाली **क** प्रणाली **ख** से अधिक विश्वसनीय है, यदि और केवल यदि, उसका प्रयोग कम त्रुटिपूर्ण है। यदि किसी प्रणाली में त्रुटि असम्भव है तो वह प्रणाली निरपेक्षतः विश्वसनीय है। यदि किसी प्रणाली में त्रुटियां न्यूनतम हैं तो वह प्रणाली अधिकतम विश्वसनीय है।

कोई भी अनुभवाश्रित अन्वेषण–प्रणाली निरपेक्षतः विश्वसनीय हो नहीं सकती। अनुभवाश्रित अन्वेषण का विश्लेषणीय अर्थ है कि वह त्रुटि से मुक्त नहीं है। समस्त अन्वेषण-प्रणालियों में वैज्ञानिक पद्धति से अधिक विश्वसनीय और कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रणाली सिद्ध नहीं हुई । परन्तु इस प्रणाली की विशिष्टता है कि इनमें इस बात पर बल दिया जाता है कि कोई भी अभ्युपगम, चाहे वह कितनी भली प्रकार संपुष्ट हो, फिर भी असंपुष्ट हो सकता है । अर्थात् विज्ञान असंशोधनीय नहीं है ।

वस्तुपरकता के विभिन्न अर्थों के प्रकाश में हम इस आरोप की परीक्षा करें कि सामाजिक विज्ञान वस्तुपरकता प्राप्त करने में असमर्थ हैं । हम तुरन्त कह सकते हैं कि वस्तुपरकता के १ तथा २ अर्थ में सामाजिक विज्ञानों पर वस्तुपरकता की असमर्थता का दोष नहीं लागू होता । अर्थ १ में इसलिए कि यह अर्थं स्वयं अस्पष्ट तथा दोषपूर्ण है और अर्थ २ में इसलिए कि यदि उसको मान लिया जाय तो सामाजिक विज्ञान सत्य सिद्ध अभ्युपगमों को प्राप्त करने से बहिष्कृत हो जाते हैं, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि समाजवैज्ञानिक विरोधी अभ्युपगमों पर विश्वास करते हैं और परस्पर विरोधी अभ्युपगमों में से तर्कतः एक तो सत्य होना चाहिये ।

अर्थ ३ में वस्तुपरकता की असमर्थता को कम से कम दो तरह समझा जा सकता है (i) वैज्ञानिक पद्धति स्वयं में अवस्तुपरक है और इसलिए सामाजिक विज्ञानों में उसके प्रयोग के फलस्वरूप अवस्तुपरकता उत्पन्न होती है । (ii) सामाजिक विज्ञान अपने स्वरूप के कारण वैज्ञानिक पद्धति से हेय वस्तुपरक प्रणालियों के अनुप्रयोग के लिए बाध्य हैं । यह कहना कि वैज्ञानिक पद्धति पूर्णतः विश्वसनीय नहीं है बिल्कुल ठीक है । परन्तु विवशता यह है कि उससे अधिक विश्वसनीय पद्धति उपलब्ध नहीं है, अर्थात् यह पद्धति अधिकतम विश्वसनीय है । इस पद्धति की संदिग्धता सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों दोनों पर लागू है । उसका उल्लेख केवल सामाजिक विज्ञानों के लिए करना उचित नहीं है ।

सामाजिक विज्ञानों पर अवस्तुपरकता के आरोप के वास्तविक आधार की मान्यता यह है कि यह विज्ञान या तो वैज्ञानिक पद्धति को पूर्ण रूप से अपना नहीं सकते या उसके अनुप्रयोग के अभाव की पूर्ति ऐसी प्रणाली का उपयोग करके करते हैं जो वैज्ञानिक पद्धति की तुलना में वस्तुपरकता में न्यून होती है । इस मान्यता के पक्ष में विविध प्रकार के तर्क किये जाते हैं :

(क) सामाजिक घटनाएं इतनी जटिल होती हैं कि वैज्ञानिक पद्धति से उनका अनुसंधान नहीं किया जा सकता । वैज्ञानिक पद्धति के अपनाने पर घटनाओं की जटिलता के फलस्वरूप जो नियम प्राप्त होते हैं वे अनिश्चयात्मक कोटि के नियम होते हैं ।

(ख) सामाजिक विज्ञान सामाजिक घटनाओं की 'यथार्थता' को पकड़ने में असफल होते हैं । प्रश्न है कि क्या विज्ञान का कार्य 'यथार्थता' या 'वास्तविकता' का आम्रेडन है ? जो लोग इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देते हैं वे वस्तु के वर्णन और वर्णित वस्तु के महत्वपूर्ण भेद को भुला देते हैं । सांभर के वर्णन में सांभर का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113443
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


स्वाद नहीं होता । वैज्ञानिक का कार्य वस्तुओं का वैज्ञानिक वर्णन करना है। साहित्यकार और कवि का कार्य है वर्णित वस्तु का उसके अभाव में अनुभव करना। वैज्ञानिक भाषा का प्रयोग ज्ञानवृद्धि के लिए और साहित्यिक संवेदना-स्फूर्ति के लिए करता है।

(ग) वैज्ञानिक पद्धति सामाजिक (मानवीय) घटनाओं की अनन्यता के साथ न्याय करने में असमर्थ है, क्योंकि वैज्ञानिक पद्धति का उद्देश्य घटनाओं का वर्गीकरण और सामान्यीकरण करना है। सामाजिक घटनाओं की अनन्यता के प्रति न्याय करने के लिए किसी अन्य पद्धति का आश्रय लेना चाहिए । इस तर्क का उत्तर देने के लिए हमें 'अनन्यता' के अर्थ पर विचार करना चाहिए। बिल्कुल ठीक अर्थ में कोई भी वस्तु अनन्य है यदि और केवल यदि वह किसी भी दूसरी वस्तु से भिन्न है। परन्तु कोई भी विद्यमान वस्तु सभी दूसरी विद्यमान वस्तुओं से भिन्न है यदि और केवल यदि और किसी दूसरी विद्यमान वस्तु में हूबहू वही गुण-समूह नहीं पाये जाते जो उसमें हैं। प्रत्येक दो भिन्न वस्तुओं **क** तथा **ख** में कम से कम एक गुण ऐसा होगा जो एक में है पर दूसरे में नहीं है और जो उनको भिन्न या असर्वसम बनाता है। इसका एक परिणाम यह है कि कोई भी दो विद्यमान वस्तुएं सर्वसम नहीं हैं क्योंकि यदि वे सर्वसम होतीं तो वे दो न होने के बजाय एक होती। इस बिल्कुल सही अर्थ में सभी घटनाएं अनन्य हैं न कि केवल सामाजिक घटनायें और इसलिए न केवल सामाजिक विज्ञान बल्कि सभी विज्ञान असम्भव हैं। अर्थात् इस तर्क के आधार पर सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों की प्रणालियों में कोई आमूल भेद नहीं माना जा सकता।

(घ) अनन्यता पर आधारित तर्क के समान नव्योत्क्रान्ति पर आधारित तर्क है। उग्र उत्क्रान्तिवादियों के अनुसार कुछ घटनायें सिद्धान्ततः पूर्वकथनीय नहीं हैं। अर्थात् उनका पूर्वकथन तर्कतः असम्भव है क्योंकि वे अन्य घटनाओं से नियमित रूप से सम्बन्धित नहीं हैं। सापेक्ष उत्क्रान्तिवादियों के अनुसार कुछ घटनाओं का पूर्वकथन प्राविधिक स्तर पर असम्भव है। अर्थात् इसलिए असम्भव है कि उपलब्ध तकनीकी और ज्ञान अपर्याप्त है या घटना के निरीक्षण की क्षमता नहीं है। यद्यपि सापेक्ष उत्क्रांतिवाद के मन्तव्य में सार है, इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी सामाजिक घटनायें अन्वेषण के परे हैं। निरपेक्ष उत्क्रांतिवाद के पक्ष में कोई समुचित साक्ष्य उपलब्ध नहीं है तथा यह भी स्पष्ट नहीं है कि इस मत की संपुष्टि के लिए कौन सी पद्धति अपनाई जायगी। इसके विपरीत इतिहास इस बात का साक्षी है कि बहुत घटनायें, जिनको निरपेक्ष नव्योत्क्रान्ति की संज्ञा दी गई थी, बाद में नियमाधीन सिद्ध हुईं।

(ङ) मैक्स वेबर का अनुसरण करके बार-बार कहा गया है कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन-अन्वेषण के लिए हमें एक विशिष्ट पद्धति, तदनुभूति-बोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



को अपनाना होगा। यह पद्धति दूसरे विज्ञानों की पद्धति से मूलतः भिन्न है। चूंकि सामाजिक क्रियाएं अर्थसूचक या अर्थविष्टित होती हैं, उनके बारे में अभ्युपगमों का वैधतानिर्धारण तदनुभूति द्वारा ही हो सकता है। उदाहरण के लिए, धर्म के लिए बलिदान हो जाने की घटना को लें। इस घटना को समझने के लिए बलिदान करने वाले व्यक्ति के लिए बलिदान की क्या अर्थसूचकता थी, यह जानना होगा और यह बोध अन्वेषक प्राप्त कर सकता है अपने को बलिदान करने वाले व्यक्ति की कल्पना में स्थान ग्रहण करके। प्रश्न है कि क्या तदनुभूति अभ्युपगम की पुष्टिकरण के लिए अत्याज्य विधि है। प्रश्न का उत्तर देने के लिए हम विचार करें कि किस अर्थ में तदनुभूति अभ्युपगमों को पुष्ट करने की विधि है। थोड़ी देर के लिए हम 'तदनुभूति' और 'अर्थसूचकता' शब्दों की अस्पष्टता को दृष्टि से परे रखें। शंका उठती है कि तदनुभूति वाले व्यक्ति को कैसे पता चलता है कि उसकी तदनुभूतिक अवस्था विश्वसनीय या सत्य है। तदनुभूतिक अवस्था की पुष्टि के लिए स्पष्टतः कोई स्वतन्त्र अन्वेषण आवश्यक होगा। परन्तु हम किस प्रकार तदनुभूतिक अवस्था की विश्वसनीयता को स्वतन्त्र रूप से स्थापित कर सकते हैं जबतक हमें उस मानसिक अवस्था का, जोकि तदनुभूति का विषय है, पूर्वज्ञान न हो, और यदि हमें ऐसा पूर्वज्ञान उपलब्ध है तो हमें प्रणीतीय दृष्टिकोण से और क्या अपेक्षित है? अर्थात् सामाजिक घटनाओं के बारे में अभ्युपगमों के पुष्टिकरण के लिए तदनुभूति अनावश्यक है क्योंकि उनकी विश्वसनीयता स्वतन्त्र रूप से स्थापित की जा सकती है।

अब हम 'अर्थसूचकता' की अस्पष्टता को लें। इस शब्द के दो अर्थ हैं। पहले अर्थ में केवल निदर्शन होता है, मूल्यांकन नहीं, परन्तु दूसरे अर्थ में मूल्यांकन अनिवार्य है। दूसरे अर्थ में यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि न केवल वे वस्तुएं और क्रियाएं, जिनका मूल्य या महत्व है, सामाजिक विज्ञान की अन्वेषण-परिधि में आती हैं बल्कि मूल्यांकन की प्रक्रिया भी सामाजिक विज्ञान के अन्वेषण के लिए उपयुक्त है। प्रश्न है, क्या ऐसी क्रियाओं के अन्वेषण के लिए किसी विशिष्ट प्रणीति की आवश्यकता है? जो लोग प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देते हैं उनका मत है कि 'य मूल्यवान् या महत्वपूर्ण है र के लिए' प्रकार के अभ्युपगमों की पुष्टि के लिए अन्वेषक को स्वयं मूल्ययुक्त प्रतिज्ञप्तियों का आश्रय लेना पड़ता है। क्योंकि 'महत्वपूर्ण माना जाता है' का बोध होने के लिए अन्वेषक को स्वयं मूल्य या महत्व की तदनुभूति होनी चाहिए। उत्तर के समर्थन में यह भी कहा जाता है कि कोई भी निरीक्षणीय या अनुभव द्वारा परीक्षणीय व्यवहार, जो मूल्यात्मक विधेयों के अनुप्रयोग के लिए पर्याप्त एवं आवश्यक हेतु है, उपलब्ध नहीं है। अतः सामाजिक घटनाओं से संबंधित अभ्युपगमों की पुष्टि में वैज्ञानिक पद्धति के मानक चरणों को लागू नहीं किया जा सकता। परन्तु इस तरह के अभ्युपगमों की पुष्टि इस पर निर्भर नहीं है कि मूल्यात्मक विधेय निरीक्षणीय विधेयों के पर्यायवाची हों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक केवल यह है कि निरीक्षणीय व्यवहार या वस्तुस्थिति ऐसी हो जो मूल्यात्मक घटना से सहसम्बन्धित है।

अब हम 'अर्थ-सूचकता' के पहले अथवा निदर्शनीय अर्थ पर आधारित युक्तियों पर विचार करेंगे। कुछ लोगों का कहना है कि सामाजिक क्रियाओं की यह परिभाषा या मूलभूत लक्षण है कि वे स्वरूपतः अर्थसूचक हैं। अर्थसूचक व्यवहार वह है जो 'नियम संचालित' है। सामाजिक घटनाओं को समझने के लिए हमें यह जानना चाहिए कि नियम का अनुसरण करना क्या है, अर्थात् नियम के अनुरूप व्यवहार करना क्या है। नियमपालन करना इस प्रकार से आचरण करना है कि व्यक्ति का आचरण उसके होने वाले आचरण के प्रति उसकी निष्ठा को सूचित करता है। यदि निष्ठा-सूचक आचरण नहीं घटित होता है तो **नियमपालन** का उल्लंघन होता है। अर्थात् नियम का पालन हो रहा है या नहीं यह नियम के उल्लंघन द्वारा जाना जा सकता है। इतना स्वीकार कर लेने पर आगे कहा जाता है कि वैज्ञानिक पद्धति 'नियम संचालित' व्यवहार के ज्ञानार्जन के लिए नितान्त असम्बद्ध है। सामाजिक विज्ञानों का सारभूत उद्देश्य ऐसे ज्ञान की प्राप्ति करना है और वैज्ञानिक पद्धति ऐसे ज्ञान के लिए अनुपयुक्त है। ऐसे ज्ञान को प्राप्त करने की वास्तविक पद्धति दार्शनिक विश्लेषण है और इसलिए समाजशास्त्र दर्शनशास्त्र की शाखा है, अनुभवाश्रित विज्ञान नहीं।

उपर्युक्त तर्क की ग्राह्यता 'समझने' या 'बोध' के श्लेष पर आधारित है। वर्तमान संदर्भ में 'बोध' के दो अर्थ हैं। पहले अर्थ में 'बोध' का अनुप्रयोग तभी हो सकता है जब जिस व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग किया जाय उसको 'बोधित' विषय का प्रत्यक्ष अनुभव हो। दूसरे अर्थ में ऐसा अनुभव अनावश्यक है। भौतिक विज्ञानों में इन दो अर्थों में से दूसरा अर्थ प्रचलित है। कुछ दार्शनिकों के अनुसार (जैसे बर्गसाँ और व्हाईटहेड) यह भौतिक विज्ञानों की एक महान कमी है कि वे यथार्थ को पकड़ नहीं पाते। जो लोग इन दार्शनिकों का मत नहीं भी मानते वे भी उनकी इस विचारधारा से प्रभावित हैं कि विज्ञान को यथार्थ को पकड़ना चाहिये और सामाजिक विज्ञान केवल वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर यथार्थ को पकड़ने में असमर्थ हैं। इस विचारधारा का खण्डन आइंस्टाइन ने यह बताकर किया है कि विज्ञान का कार्य संसार का वर्णन करना है नकि उसका आम्रेडन, चाहे वह वर्णन कितना भी अपूर्ण, अमूर्त, सामान्यीकृत या खण्डित हो।

## २. सामाजिक विज्ञानों का व्यक्तिपरक स्वरूप

सामाजिक घटनाएं मूलतः व्यक्तिपरक या मूल्यावेष्टित होती हैं। अतः उनका वस्तुपरक अध्ययन दुष्कर है, यदि असम्भव नहीं तो। सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन का विषय मानव-व्यवहार है और यह व्यवहार उद्देश्यपूर्ण होता है। इसलिए उसके अन्वेषण में हमें उद्देश्य का व्यक्त या अव्यक्त ज्ञान होना चाहिये। दुर्भाग्य यह है कि अभिप्रेरणा, अभिवृत्ति, आकांक्षा या उद्देश्य का निरीक्षण नहीं हो सकता, उनका बोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



व्यक्तिगत अनुभव द्वारा हो सकता है। सामाजिक विज्ञानों को अनिवार्यतः अवस्तुपरक पद्धतियों का आश्रय लेना होगा। विशुद्ध वस्तुपरक सामाजिक विज्ञान की आशा बेकार है।

(क) मानलें कि मानव-व्यवहार उद्देश्पूर्ण है। परन्तु उद्देश्यपूर्ण व्यवहार के पहलुओं का अध्ययन जीवविज्ञान बिना वस्तुपरकता के आदर्श को त्यागे करते हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी सम्भव है कि कर्त्ता द्वारा क्रियाओं की व्याख्या करने में ऐसे घटकों का योग हो जिनसे कर्त्ता स्वयं अनभिज्ञ है। यह भी कहना भ्रमात्मक है कि सामाजिक अन्वेषक उद्देश्यपूर्ण व्यवहार की व्याख्या करने में किसी ऐसी सूचना का उपयोग नहीं कर सकता है जो उसको उपलब्ध है परन्तु उनको नहीं उपलब्ध जो व्यवहार प्रदर्शित कर रहे हैं।(ख) व्यवहारवाद मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र दोनों में ऐसी पद्धतियों का प्रतिपादन करता है जो वस्तुपरक प्रदत्तों को उपलब्ध करती हैं। (ग) मान लिया जाय कि सामाजिक अन्वेषक के लिए घटनाओं का बोध होना आवश्यक है और तदर्थ वह मानव-कर्त्ताओं में व्यक्तिपरक अवस्थाओं को आरोपित करता है। प्रश्न है कि क्या ऐसा आरोपण तर्क के किसी नियमों की अपेक्षा करता है जो वस्तुओं में वस्तुपरक गुणों के आरोपण से (जैसाकि अन्वेषण के अन्य क्षेत्रों में होता है) भिन्न है? तदनुभूति सामाजिक विज्ञान की परिकल्पनाओं की उत्पत्ति के लिए समीचीन है उनकी वैधता के लिए नहीं। तदनुभूति द्वारा प्राप्त परिकल्पनाओं को प्रमाणित करने के लिए वस्तुपरक साक्ष्य का आश्रय लेना पड़ता है।

## ३. सामजिक विज्ञानों में व्यापक नियमों का अभाव

सामाजिक विज्ञानों में व्यापक नियमों का अभाव बताया जाता है। इस अभाव के कई कारण माने जाते है। सबसे प्रमुख कारण सामाजिक विषयों पर नियंत्रित प्रयोग करने की सीमित सम्भावना बताया जाता है। बिल्कुल सही अर्थ में 'नियंत्रित प्रयोग' में प्रयोग-कर्त्ता प्रयोग के स्वतन्त्र चरों का इच्छानुसार परिचालन कर सकता है। इस परिचालन में जिस घटना का अध्ययन किया जा रहा है उसकी प्रासंगिक दशाओं का परिचालन किया जाता है। आदर्शतः केवल एक स्वतंत्र चर को घटाया-बढ़ाया जाता है और बाकी चरों को स्थिर रखा जाता है। और इस परिचालन का घटना पर जो प्रभाव पड़ता है उसके द्वारा घटना और परिचालित चरों के नियत सम्बन्ध को प्राप्त किया जाता है। स्पष्टतः इस पूर्ण अर्थ में सामाजिक विज्ञानों में नियंत्रित प्रयोग विरले ही किया जाता है और वहां शायद कभी भी नहीं जहाँ कई पीढ़ियों का या बड़ी संख्या में मनुष्यों का भाग लेना अपेक्षित है। सामाजिक वैज्ञानिकों को मानव-सामग्री के परिचालन की पूरी छूट नहीं है। यदि यह छूट उनको मिल जाय तो मानवों पर प्रयोग करने पर उनके जीवन में होने वाले अकल्पित तथा सम्भवतः हानिकारक परिवर्तनों की आशंका के फलस्वरूप नियंत्रित प्रयोग के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



बारे में दो समस्याएं उत्पन्न होती हैं : (क) सामाजिक परिस्थितियों को परिचालित करने की शक्ति स्वयं में एक सामाजिक चर है और जिस प्रकार इस शक्ति का उपयोग किया जाता है उसका प्रभाव प्रयोग के परिणाम पर पड़ सकता है जो प्रभाव प्रयोग द्वारा प्राप्त नियमों के बारे में शंका पैदा कर सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि किसी सामाजिक परिस्थिति का किसी विशेषता में परिचालन करने पर उसके प्रासंगिक (स्वतंत्र) चरों में अनिवर्त्य परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं (जैसाकि साधारणतया होता है) तो यह निश्चय करने के लिए कि परिचालन के फलस्वरूप प्राप्त प्रभाव नियत है या नहीं, परिचालन की पुनरावृत्ति करने पर चरों की प्रारम्भिक अवस्था वह न होगी जो कि मूल प्रयोग में थी और यह निश्चय करना असम्भव होगा कि प्रयोग द्वारा प्राप्त नियत सम्बन्ध चरों के परिचालन का परिणाम है या प्रारम्भिक अवस्था के भेद का। सामाजिक विज्ञानों में नियंत्रित प्रयोगों का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित इसलिए भी है कि अध्ययनीय घटनाओं की परिस्थितियों में बार-बार परिचालन करना सर्वदा सम्भव नहीं है, कम से कम यह बात उन सामाजिक घटनाओं के लिए सत्य है जो कि ऐतिहासिक दृष्टि से अनोखी या अनन्य हैं, या जिनकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती।

प्रश्न है : क्या प्रामाणिक ज्ञान, विशेषतः व्यापक नियमों की प्राप्ति के लिए नियंत्रित प्रयोग, एक अनिवार्य दशा है? क्या सामाजिक विज्ञानों में नियंत्रित अन्वेषणों की सम्भावना नगण्य है? यह निर्विवाद है कि नियंत्रित प्रयोग को अपना कर विज्ञान की कई शाखाओं ने महान उन्नति की है। परन्तु इससे यह परिणाम निकालना कि सभी सर्वांगीण व्यवस्था-तंत्र इस अन्वेषण-प्रणाली के ऋणी हैं, भ्रमात्मक है। खगोल विज्ञान अपने व्यापक सैद्धांतिक तंत्र तथा अपने परिशुद्ध भविष्य कथनों के लिए प्रतिष्ठित है पर नक्षत्रों का परिचालन खगोल विज्ञान की सामर्थ्य के बाहर है। इसी प्रकार भूगर्भ विज्ञान तथा भ्रूण विज्ञान दोनों ने अपनी वैज्ञानिक पदस्थिति नियंत्रित प्रयोग के अभाव में प्राप्त की है। अतः हम निःसंकोच कह सकते हैं कि वैज्ञानिक उपलब्धि के लिए नियंत्रित प्रयोग एक श्रेष्ठ साधन है परन्तु अनिवार्य नहीं है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि आनुभाविक विषयों के व्यापक नियमों को प्राप्त करने में हम नियंत्रित प्रयोग में निहित तर्कशास्त्रीय पद्धति का तिरस्कार कर सकते हैं। इस निहित पद्धति को हम 'नियंत्रित अन्वेषण' की उपाधि दे सकते हैं। इस पद्धति में अध्ययनीय घटना को न तो स्वेच्छानुसार उत्पन्न किया जाता है और न उसके प्रासंगिक चरों का परिचालन। इस भेद के अतिरिक्त अन्य बातों में वह नियंत्रित प्रयोग के समान है। नियंत्रित अन्वेषण में विषम परिस्थितियों को खोजने का प्रयत्न किया जाता है जिनमें या तो अध्ययनीय घटना समरूप प्रकट होती है या कुछ में प्रकट होती है और औरों में नहीं होती। फिर उन परिस्थितियों के विभेदक घटकों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



परीक्षा की जाती है यह पता लगाने के लिए कि इन घटकों के परिवर्तन से घटना के परिवर्तन का क्या संबंध है ।

आनुभविक प्रदत्तों का अन्वेषण में जो कार्य भाग है उसके लिए तार्किक दृष्टिकोण से यह निरर्थक है कि विभेदक घटकों का घटना से संबंध का अध्ययन वैज्ञानिक द्वारा घटकों का परिचालन करके किया जाता है या वह प्राकृत रूप से प्रस्तुत होता है और वैज्ञानिक उनको खोज लेता है । इसलिए नियंत्रित प्रयोग को नियंत्रित अन्वेषण का सीमाकृत रूप माना जा सकता है । सारांश यह है कि वैज्ञानिक प्रगति के लिए नियंत्रित प्रयोग अथवा नियंत्रित अन्वेषण अनिवार्य है । जो अन्वेषण इन दोनों कोटियों में से किसी का प्रयोग करता है उसको 'नियंत्रित अनुभवाश्रित अन्वेषण' कहना समीचीन है ।

यह कहना कि सामाजिक विज्ञानों में नियंत्रित प्रयोग या नियंत्रित अन्वेषण की सम्भावना नगण्य है, कई भ्रान्तियों पर आधारित है । (क) इस भ्रान्ति का एक कारण यह है कि प्रसिद्ध तर्कशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल ने प्रायोगिक पद्धति का विवेचन करते समय यह कहा कि सामाजिक विज्ञानों में व्यापक नियमों की प्रप्ति उसके प्रथम और दूसरी पद्धतियों (सहमति-पद्धति तथा विभेद-पद्धति) का अनुप्रयोग करके नहीं हो सकती है और ये पद्धतियाँ उसकी दृष्टि में प्रायोगिक पद्धतियों में श्रेष्ठतम तथा निर्णायक हैं । मिल ने यह धारणा इसलिए बनाई कि सहमति-पद्धति के अनुसार किसी अध्ययनीय घटना के दो ऐसे दृष्टान्त होने चाहिएं जो केवल एक विषय को छोड़कर अन्य सब विषयों में असमान हों और विभेद-पद्धति के अनुसार दो परिस्थितियाँ ऐसी चाहिएं जिसमें से एक में अध्ययनीय घटना विद्यमान हो, दूसरी में अविद्यमान तथा अन्य विषयों में पूर्णतः समान हों । मिल की यह मान्यता रही कि सामाजिक प्रयोग इतिहासबद्ध समाजों पर किए जायंगे और उन समाजों को अपनी समग्रता में लिया जायगा । चूंकि ऐसे कोई भी इतिहासबद्ध दो समाज नहीं मिल सकते जो उनकी पद्धतियों की शर्तों को पूरा कर सकें इसलिए उसने सामाजिक प्रयोग की सम्भावना को इन्कारा, पर मिल ने जो वर्णन प्रायोगिक पद्धतियों का दिया है उसकी एक कमी यह है कि उसने भुला दिया कि दो परिस्थितियां कभी भी केवल एक विषय को छोड़ कर प्रत्येक अन्य विषयों में न पूर्णतः समान हो सकती हैं न पूर्णतः असमान । अर्थात् उसकी पद्धतियां तभी व्यवहार्य हैं जब हम परिस्थितियों के बारे में यह मान लें कि उनकी कुछ विशेषताएं अध्ययनीय घटना से सम्बद्ध हैं और बाकी नहीं । अर्थात् पद्धतियों के विवेचन में हमें 'सम्बद्धता' या 'प्रासंगिकता' के संप्रत्यय का समावेश करना पड़ेगा । ऐसा समावेश करने पर भी मिल की धारणा प्रमाणित नहीं होती, क्योंकि उसके अनुसार नियंत्रित प्रयोग में एक समय में केवल एक चर में परिवर्तन होना चाहिए । यह एक आदर्श है, व्यवहार में हम उसके निकट ही पहुँच पाते हैं । वस्तुतः केवल एक चर का परिचालन नहीं हो पाता । मिल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


के समय में सांख्यिकी का विकास नगण्य था । अभिनव काल में सांख्यकीय दृष्टिकोण को अपना कर प्रयोग में कई चरों का एक साथ परिचालन किया जा सकता है और प्रदत्तों के विश्लेषण द्वारा पता लगाया जा सकता है कि पूर्ण परिवर्त्य में किस चर का कितना योगदान या हाथ है । और इस तरह स्वतंत्र तथा परतंत्र चरों के संबंध का निरूपण किया जा सकता है । इस दृष्टिकोण को अपनाने पर सामाजिक विज्ञानों के बहुत से अन्वेषणों को 'प्रयोग' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है । वस्तुस्थिति यह है कि आधुनिक काल में सामाजिक विज्ञानों में विविध प्रकार के प्रयोग किये जा रहे हैं जिनमें से प्रमुख हैं प्रयोगशाला में किए गए प्रयोग, प्रयोगशाला के बाहर क्षेत्र में किए गए प्रयोग तथा प्राकृतिक रूप में प्रस्तुत प्रयोग ।

## ४. सांस्कृतिक सापेक्षता तथा सामाजिक नियम

सामाजिक घटनाएं इतिहास या संस्कृति से आवेष्टित रहती हैं । इसलिए किसी समाज के प्रतिदर्श पर आधारित प्रदत्त किसी दूसरे समाज के प्रतिदर्श के लिए सम्भवतः वैध न हों । और सामाजिक विज्ञानों के नियम अति संकुचित हैं क्योंकि वे किसी ऐतिहासिक काल तथा विशिष्ट संस्थाओं से विभूषित सामाजिक घटनाओं पर लागू होते हैं । इसलिए कहा जा सकता है कि सिद्धान्ततः सामाजिक घटनाओं के संस्कृति से परे नियम की प्राप्ति असम्भव है ।

परन्तु यह धारणा इस मान्यता पर आधारित है कि हम वैज्ञानिक सिद्धांतों द्वारा अज्ञात भविष्य के बारे में परिशुद्ध भविष्य–कथन कर सकते हैं जैसाकि खगोल-विज्ञान में होता है । परन्तु जिस दीर्घ अभिसीमा के पूर्वकथन खगोल विज्ञान में होते हैं वैसे पूर्वकथन प्राकृतिक विज्ञान की अन्य शाखाओं में नहीं होते । कुछ भौतिकीय अन्वेषणों में यह असमर्थता इसलिए उत्पन्न होती है कि यद्यपि परिशुद्ध भविष्य-कथन के लिए पर्याप्त सिद्धान्तावली उपलब्ध है परन्तु उन प्रारम्भिक अवस्थाओं का ज्ञान उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर सिद्धान्तावली का अनुप्रयोग किया जाय ।

(ख) यह धारणा भी भ्रान्तिपूर्ण है कि सामाजिक तंत्रों के किसी वर्ग में विद्यमान व्यावहारिक नियमितताओं तथा विशेषताओं का भेद इस सम्भावना का प्रतिकार करता है कि इन भेदों के अन्तस्तल में संबंधों का कोई सामान्य प्रतिमान है और विभिन्न तंत्रों की असमान विशेषताओं को एक ही सिद्धान्तावली के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता । इस भ्रान्ति का स्रोत निम्न दो प्रश्नों में विभेद करने की हमारी असफलता है : क्या संबंधों की कोई ऐसी संरचना है जो विभिन्न तंत्रों में सामान्य है और जिसको एक व्यापक सिद्धान्तावली का रूप दिया जा सकता है ? क्या सामान्य सिद्धांतावली को किसी तंत्र पर लागू करने की प्रारम्भिक अवस्थाएं सभी तंत्रों के लिए समरूप हैं ?

(ग) यदि किसी अन्वेषण-क्षेत्र के नियम विस्तृत क्षेत्र की घटनाओं पर लागू हैं और इन घटनाओं में ज्ञात, महत्वपूर्ण, व्यापक एवं प्रासंगिक भेद पाये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जाते हैं तो ऐसे नियमों के निरूपण में हमें उन भेदों को दृष्टिग्रोट करना होगा। ऐसा निरूपण कभी-कभी उन चरों का उपयोग करके हो सकता है जिनके ग्रपरिवर्त्त-नीय मूल्यों का निर्धारण परिस्थिति के अनुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। ऐसे निरूपण की दूसरी युक्ति नियम को 'आदर्श स्थिति' का नियम मान लेने की है। इस युक्ति के आधार पर निरूपित नियम को जब किसी स्थूल परिस्थिति पर लागू किया जाता है तो नियम के अतिरिक्त कुछ मान्यताओं को स्वीकार कर लिया जाता है ताकि 'आदर्श' और 'यथार्थ' के भेद का उपाय किया जा सके। सामाजिक घटनाओं का इतिहास द्वारा निर्धारित रूप संस्कृतिपरक नियमों की प्राप्ति में बाधा नहीं डालता। फिर भी संस्कृतिपरक नियन्त्रित नियमों के निरूपण में ऐसे संप्रत्यय प्रवेश नहीं पा सकते जो समुदायों के किसी समूह विशेष में प्राप्त लक्षणों को ही निर्दशित करते हैं, वरन् संप्रत्यय ऐसे होने चाहिएं जो सांस्कृतिक भेदों के ऊपर हैं।

## ५. घटनाओं का ज्ञान स्वयं एक सामाजिक चर के रूप में

मनुष्य का नियन्त्रित व्यवहार प्रायः बदल जाता है जबकि उसको उन घटनाओं का ज्ञान हो जाता है जिनमें वह भाग ले रहा है या ये घटनाएं उस समाज में घटित हो रही हैं जिसका वह सदस्य है। अर्थात् घटना का ज्ञान या समाज की सदस्यता सामाजिक अन्वेषण में स्वयं चर सिद्ध होते हैं।

सामाजिक विषयों पर जिस तरह प्रयोग किए जा रहे हैं उनमें जिस विषय का अन्वेषण किया जा रहा है उसके अन्वेषण के फलस्वरूप अज्ञात मात्रा में परिवर्तन उत्पन्न हो सकते हैं। और ये परिवर्तन प्रयोग के परिणाम को दूषित कर सकते हैं। यह कठिनाई वास्तव में गम्भीर है, परन्तु सामाजिक विज्ञानों के लिए अनूठी नहीं है और न सिद्धांततः अजेय है। प्राकृतिक विज्ञानों में भी उपकरणों द्वारा मापित परिमाण में परिवर्तन आ जाते हैं। इस कठिनाई का अत्यधिक विचार हाइ-सेन्वर्ग के अनिश्चितता के संदर्भ में किया गया है। सामाजिक विज्ञानों में ऐसे परिवर्तनों को न्यून करना प्राकृतिक विज्ञानों की अपेक्षा वास्तव में कम आसान है। परन्तु सामाजिक विज्ञानों ने कई विधियां इनको न्यून करने की निकाली हैं, जैसे एक-तरफा परदा व प्रक्षेपण विधि इनका सफलतापूर्वक प्रयोग कर रहे हैं।

(ख) सामाजिक विज्ञानों के निष्कर्ष अक्षरशः अवैध किए जा सकते हैं यदि जिन मनुष्यों का अध्ययन किया जा रहा है उनके प्रयोग के बारे में ज्ञान होने से व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। अतः ऐसे सामाजिक नियमों की आशा, जो अनिश्चित भविष्य के लिए वैध हैं, व्यर्थ है। सामाजिक अन्वेषण किया जा रहा है, इस ज्ञान से दो प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न हो सकते हैं जिनको 'आत्मव्याघातक' तथा 'स्व संपूर्तीय भविष्य-कथनों' की संज्ञा दी गई है। ये दोनों परिणाम 'इच्छा-स्वातन्त्र्य' की मान्यता पर आधारित हैं। परन्तु ये दोनों परिणाम प्राकृतिक विज्ञानों में भी पाये जाते हैं जिसकी पुष्टि उचित उदाहरणों द्वारा की जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



## ६. सामाजिक अन्वेषण की मूल्योन्मुखता

कहा जाता है कि प्राकृतिक विज्ञानों में मूल्य-निरपेक्षता व्यापक रूप में पाई जाती है, सामाजिक विज्ञानों में इसके विपरीत मूल्योन्मुखता का बोलबाला है। प्रत्येक सामाजिक अन्वेषक की अपनी मूल्योन्मुखता होती है और इसलिए उनमें सहमति की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

(क) अन्वेषण के लिए समस्या का चयन सामाजिक अन्वेषक इस आधार पर करता है कि उसकी दृष्टि में कौन सी समस्या गम्भीर या महत्वपूर्ण है। परन्तु इस मामले में सामाजिक अन्वेषक अन्य वैज्ञानिकों से भिन्न नहीं है। प्रत्येक वैज्ञानिक समस्या का चयन अपनी रुचि के अनुसार करता है। अतः यह तथ्य स्वयं में सामाजिक विज्ञानों में वस्तुपरक नियंत्रित अन्वेषण के सफल सम्पादन में बाधा नहीं उपस्थित करता।

(ख) कहा जाता है कि सामाजिक अन्वेषक के ग़लत और सही का विचार घटनाओं के विश्लेषण को प्रभावित करता है। सामाजिक विज्ञान के कतिपय 'वस्तुपरक' विश्लेषण वस्तुतः सामाजिक नीति के छिपे रूप हैं। इस धारणा की पूर्वमान्यता है कि हम सिद्धान्ततः मूल्यात्मक एवं तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्तियों में भेद कर सकते हैं। यदि यह मान्यता सही है तो सामाजिक अन्वेषकों की कठिनाइयां व्यावहारिक हैं, सिद्धान्ततः अजेय नहीं। कठिनाई का एक उपाय यह है कि सामाजिक अन्वेषक मूल्योन्मुखताविहीन होने का दिखावा त्याग दे और अपने झुकाव को स्पष्ट कर दे। यदि झुकाव का उसे स्वयं ज्ञान नहीं हैं तो उसका संशोधन साधारणतया वैज्ञानिक पद्धति के अनवरत प्रयोग द्वारा स्वतः हो जाता है, क्योंकि विज्ञान एक सामाजिक उद्यम है।

(ग) तथ्य और मूल्य का भेद मनुष्य के व्यवहार के विश्लेषण में अग्राह्य है, ऐसा कहा जाता है। सामाजिक अन्वेषण में तथ्य तथा मूल्य के भेद का इन्कारना मूल्यात्मक प्रतिज्ञप्ति के दो अर्थों के श्लेष पर आधारित है। पहले अर्थ में मूल्यात्मक प्रतिज्ञप्ति किसी नैतिक या सामाजिक आदर्श या सामाजिक कार्य या संस्था का मण्डन या खण्डन करती है। दूसरे अर्थ में मूल्यात्मक प्रतिज्ञप्ति इसका अनुमान लगाती है कि कोई साधारणतया मान्यता-प्राप्त क्रिया, वस्तु या संस्था कहां तक किसी दिए हुए दृष्टान्त में निहित है।

(घ) कहा जाता है कि सामाजिक अन्वेषक साक्ष्य के मूल्यांकन में गृहीत मूल्यों का उपयोग करते हैं। इस आपत्ति के तीन प्रमुख रूप हैं: (i) सामाजिक अन्वेषक अपने प्रशिक्षण या पद के फलस्वरूप कुछ साक्ष्य को समुचित और कुछ बौद्धिक-कार्यकुशलता को ठोस मानता है। यही उसकी मूल्यनिष्ठा है, (ii) कोई भी सांख्यकीय निर्णय, जो प्रदत्तों के अर्थीकरण के संबंध में लिया जाता है, उसमें दो प्रकार की त्रुटियों (प्रकार I और प्रकार II) की आशंका रहती है। सांख्यकीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अभ्युपगमों के परीक्षण करने में मूल्यनिष्ठा निश्चय रूप से प्रवेश करती है। परन्तु यह निष्ठा विज्ञान के सामाजिक उद्यम के रूप में सन्निहित है। सांख्यकीय निर्णय अध्ययन-क्षेत्रों से परे हैं, (iii) सामाजिक अन्वेषक की मूल्योन्मुखता परिहार्य नहीं है। मार्क्सवाद सामाजिक विचारधारा की ऐतिहासिक प्रकृति पर बल देता है, परन्तु यह कहना कठिन है कि संबंधात्मक वस्तुपरकता केवल वस्तुपरकता से कैसे भिन्न

* * * *

सामाजिक विज्ञानों की तथाकथित प्रणीतीय कठिनाइयों की समीक्षा से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों को प्रणीति के आधार पर पृथक् मानना समर्थनीय नहीं है। वास्तव में विज्ञानों का विभाजन परिशुद्ध तथा अपरिशुद्ध में करना अधिक तर्कसम्मत है। विज्ञान परिशुद्ध है यदि उसकी तर्कणा आकारी है, अर्थात् अभ्युपगमों से निष्कर्ष तार्किक–गणितीय नियमों से निष्पादित होते हैं। अपरिशुद्ध विज्ञान अनाकारिक हैं और अंशतः अन्तर्ज्ञान द्वारा प्राप्त तथ्यों तथा आपादनों पर आश्रित हैं तथा उसकी शब्दावली में अस्पष्टता अन्तर्निहित हैं। विरले ही इस गणितीय संकेतावली का प्रयोग करते हैं या ऐसे चरों का जो परिशुद्ध मापन की क्षमता रखते हैं। इसके अतिरिक्त, साधारणतया वे बिल्कुल सही भविष्य-कथन करने में असमर्थ हैं।

परिशुद्ध और अपरिशुद्ध विज्ञान के उपर्युक्त भेद के आधार पर वर्णनात्मक इतिहास, विशुद्ध वर्णनात्मक वनस्पतिशास्त्र या भूगोल परिशुद्ध विज्ञान नहीं है। वास्तविकता यह है कि समग्र प्राकृतिक विज्ञान को परिशुद्ध नहीं माना जा सकता, भौतिकी के कतिपय क्षेत्रों को ही यह उपाधि दी जा सकती है। भौतिकी के अन्य क्षेत्रों में तथा कई अन्य प्राकृतिक विज्ञानों में परिशुद्ध प्रणालियां अनाकारिक विशेषज्ञता-गुण से सम्मिश्रित हैं। अर्थशास्त्र तथा मनोविज्ञान न पूर्णतः परिशुद्ध हैं न अपरिशुद्ध, बल्कि उन दोनों कोटियों के बीच में हैं।

प्रश्न है : क्या सिद्धान्ततः प्राकृतिक विज्ञान परिशुद्ध और सामाजिक विज्ञान अपरिशुद्ध हैं ? इस प्रश्न का उत्तर निम्न बातों पर विचार करके दिया जा सकता है : (क) भविष्यकथन। वैज्ञानिक व्याख्या के निगमनात्मक प्रतिरूप को भविष्य-कथन के सर्वसम माना जाता है। परन्तु यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि हम ऐसे भविष्य-कथन कर सकते हैं जो सहायक साक्ष्य के आधार पर विश्वास-योग्य हैं परन्तु जो निगमित नहीं होते। इसके अतिरिक्त, जबकि व्याख्या व्याख्येय को उनके निषेध से अधिक विश्वसनीय बनाती है, भविष्य-कथन व्याख्या को तुलनीय विकल्पों से अधिक विश्वसनीय बनाता है। अर्थात् भविष्य-कथन व्याख्या की अपेक्षा दुर्बल साक्ष्य पर आश्रित है। व्याख्या और भविष्य-कथन में संवित्शास्त्रीय असममिति है। (ख) सम्भाव्यता; जहां तक सम्भाव्यता का सम्बन्ध विश्वसनीयता तथा वैयक्तिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113443
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


अपेक्षाओं से है वहाँ तक वह संज्ञानात्मक मीमांसा का अंग है और इसलिए सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में है। वैक्तिक सम्भाव्यता व्यक्ति के दांव लगाने के व्यवहार द्वारा जानी जा सकती है। किसी व्यक्ति का दांव लगाने का व्यवहार तर्कसम्मत है यदि (i) उसकी पसंदें परस्पर संगत हैं या कम से कम विसंगति के ज्ञान होने पर व्यक्ति विसंगति को दूर करने के लिए तत्पर है; (ii) उसकी व्यक्तिक सम्भाव्यताएँ उचित रूप से स्थिर हैं (iii) उसकी पसंदें नवीन सम्वद्ध जानकारी के उपलब्ध होने पर (उचित दिशा में) परिवर्तित होती हैं, तथा (iv) वह इस मामले में तटस्थ है कि दांव लगाने पर कौन सा पक्ष ले जब उसे मालूम है कि दांव पक्षपातरहित है। जो व्यक्ति उपर्युक्त अर्थों में तर्कसम्मत है वह विशेषज्ञ कहलाने का अधिकार रखता है, यदि उसे अपने अध्ययन-क्षेत्र की पृष्ठभूमि का विस्तृत ज्ञान है और यदि उनकी वैयक्तिक सम्भाव्यताओं पर आधारित भविष्य-कथन समय की कसौटी पर अधिकांशतः खरे उतरते हैं। वैयक्तिक सम्भाव्यता पर आधारित भविष्य-कथन अधिक सही होते हैं यदि भविष्य-कथन करने वाला व्यक्ति 'विशेषज्ञ' है। अपरिशुद्ध विज्ञानों (न केवल सामाजिक विज्ञानों) में भविष्य-कथनों की सत्यता में 'विशेषज्ञ' का कार्य-भाग अधिक है, क्योंकि इनमें अर्द्ध नियमों की बहुतायत है।

सारांशतः हम कह सकते हैं कि परिशुद्ध तथा अपरिशुद्ध विज्ञान का भेद प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान के भेद से अधिक उपयुक्त है। सामाजिक विज्ञान की कुछ शाखाएं भौतिकी के परिशुद्ध अंगों से उपमेय हैं तथा भौतिकी के कुछ अंग सामाजिक विज्ञान के समान अपरिशुद्ध हैं। यह समानता व्याख्या और भविष्य-कथन दोनों की प्रणीतियों पर लागू है। सामाजिक विज्ञानों में व्याख्या की अपेक्षा भविष्य-कथन का अधिक स्थान है। विशेषज्ञों का उपयोग सामाजिक विज्ञानों का शक्तिशाली शस्त्र है। सामाजिक विज्ञान अपरिशुद्ध प्राकृतिक विज्ञानों की प्रणीतियों का अनुकरण करके लाभान्वित हो सकते हैं।

मैं सामाजिक विज्ञान के दर्शन पर विचार करने वाले विद्वानों का आभारी हूं जिनकी कृतियों से मुझे प्रेरणा मिली है। मैं अर्नेस्ट नेगल, निकोलस रेशर तथा रिचर्ड रूड्नर का विशेषतः आभारी हूं क्योंकि इनकी कृतियों से मुझे अपने मत के पक्ष में यथोचित सामग्री मिली है।

**मेरठ विश्वविद्यालय**

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# सत्य और विश्वास*

रूपरेखा वर्मा

संभवत: सभी यह स्वीकार करेंगे कि किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता का प्रश्न तथा प्रतिज्ञप्ति की सत्यता में विश्वास करने का प्रश्न परस्पर सर्वथा भिन्न तथा स्वतंत्र हैं; प्रतिज्ञप्ति की सत्यता में न तो किसी का विश्वास, न इस विश्वास के प्रति किसी की अनुभूत निश्चयात्मकता और न प्रतिज्ञप्ति का किसी के द्वारा स्पष्ट कथन उस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता निर्धारित अथवा सूचित करता है। यदि हम इन बातों को स्वीकार न करें तो हम सत्यता के किसी विषयिनिष्ठ सिद्धान्त को मानने के लिए बाध्य होंगे। ऐसा सिद्धान्त न केवल अनुरूपता सिद्धान्त (कोरेस्पोंडेंस थीयरी) अपितु समंजसता सिद्धांत (कोहरेंस) के भी सभी विषयनिष्ठ रूपों का विरोधी होगा। अत: यदि हम सत्यता की विषयिनिष्ठ व्याख्याओं को नहीं मानना चाहते हैं तो हम यह आसानी से स्वीकार कर लेंगे कि ''प' सत्य है तथा य विश्वास करता है कि 'प' सत्य है' प्रकार का हर संयोजक वाक्य अतिरिक्तता-शून्य (नॉन रिडंडेंट) होगा और ''प' सत्य है तथा य को ''प' की सत्यता में संदेह है' (अथवा, ''प' सत्य है तथा य 'प' की सत्यता में विश्वास नहीं करता') प्रकार का हर संयोजक वाक्य संभव तथा आत्म-संगत होगा। अर्थात्, 'य' का मूल्य चाहे जो हो, इस प्रकार की किसी भी प्रतिज्ञप्ति में किसी भी प्रकार की तार्किक अनुपयुक्तता अथवा विषमता नहीं होगी। इसका अर्थ है कि निम्नलिखित प्रकार के प्रतिज्ञप्ति-फलन (प्रोपोज़ीश्नल फंक्शन) भी हर प्रकार की तार्किक विषमता तथा दोष से मुक्त हैं, 'य' का मूल्य चाहे जो हो :

'प तथा य को विश्वास है कि प' (अ)
'प तथा य को संदेह है कि प' (ब)
'प तथा य को विश्कास है कि प' (स)

ये बातें इतनी सही और सार्वभौमिक रूप से वैध प्रतीत होती हैं कि इन्हें हम सत्यता संबंधी सामान्य नियमों के रूप में मान सकते हैं।

फिर भी, यदि कोई निम्न प्रकार की कोई बात कहे तो उसके कथन में एक विशेष प्रकार की विषमता अथवा अनुपयुक्तता अवश्य ही प्रतीत होती है :

---

*** अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के सप्तदश वार्षिक अधिवेशन (श्री अरविन्द आश्रम पांडिचेरी, १९७२) में ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा विभाग के अध्यक्ष पद से भाषण।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'प, परन्तु मुझे यह विश्वास नहीं है कि प' (क)
'प, यद्यपि मुझे संदेह है कि प' (ख)
'प, परन्तु क्या प सत्य है ?' (ग)

यदि मैं कहूँ कि अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का सत्रहवाँ अधिवेशन पांडिचेरी में हो रहा है परन्तु मुझे संदेह है कि ऐसा है, तो निस्संदेह आप सभी मेरे मानसिक संतुलन के ही विषय में संदेह करने लगेंगे। इन उदाहरणों से ऐसा लगता है कि पूर्वतः स्वीकृत तार्किक भेद तथा संबंध, जो पहले बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होते थे, अचानक ही अस्पष्ट तथा अस्तव्यस्त हो गये हैं, जबकि दूसरी ओर ये भेद व संबंध अपने सामान्य रूप में अपवादहीन प्रतीत होते हैं। प्रतिज्ञप्ति-फलन 'अ', 'ब' तथा 'स' में चल प्रतीक 'य' को 'मैं' का मूल्य दे देने से ही वाक्य की तार्किक स्थिति अचानक बदल गई प्रतीत होती है। क्योंकि यदि 'प' के कथन के साथ मेरा यह कहना कि मुझे 'प' की सत्यता में संदेह है, किसी भी प्रकार तार्किक विषमता अथवा असामान्यता रखता है, तो इसका अर्थ यह होगा कि 'प' मेरे संदेह से परे हो गया है, और इसका एक सीधा अर्थ यह समझ में आता है कि 'प' मेरे लिए असंदिग्ध है। 'प' की यह असंदिग्धता अपने-आप में एक समस्या है। यह असंदिग्धता न तो अनिवर्यता का अर्थ रखती है और न असंशोधनीयता (इन्कोजिबिलिटी) का। क्योंकि क, ख तथा ग में एक विचित्रता व विषमता होते हुए भी, 'प' की सत्यता पर वक्ता के अलावा किसी भी अन्य व्यक्ति द्वारा संदेह, अविश्वास अथवा प्रश्न करना सदैव सार्थक तथा विवेकयुक्त हो सकता है। इसके अलावा, स्वयं वक्ता 'प' के कथन की स्थिति से परे होकर 'प' पर संदेह कर सकता है। तब, हमारी समस्या यह समझना है कि 'प' के संदिग्ध होने पर भी सत्यता व विश्वास के प्रश्न परस्पर स्वतंत्र होने पर भी क, ख तथा ग की विषमता कैसी और किस प्रकार है।

समस्या का एक कारण हमारे वाक्यों में अहंकेन्द्रिक विशेष (इगोसेंट्रिक पर्टिकुलर) का प्रयोग माना जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि सत्यता संबंधी उपर्युक्त नियम उन प्रतिज्ञप्तियों पर लागू नहीं होते जिनमें कोई अहंकेंद्रिक विशेष प्रयुक्त होता है। क्योंकि अहंकेद्रिक विशेषों का प्रयोग वाक्य को ऐसी विशिष्ट स्थिति में रख देता है जिसमें 'साधारण' प्रकार के प्रतिज्ञप्ति-संबंध नहीं पाये जाते। यह उत्तर देने वाले यह कहेंगे कि हमारे नियम सार्वभौतिक रूप से वैध इसलिए प्रतीत होते हैं क्योंकि उन पर चिंतन करते समय हम केवल साधारण प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों पर ही ध्यान देते हैं और अहंकेद्रिक विशेषों का प्रयोग करने वाली प्रतिज्ञप्तियों को भूल जाते हैं।

परन्तु वस्तुतः यह उत्तर हमारी समस्या का समाधान नहीं करता। एक तो केवल यह कह देना कि क ख, तथा ग हमारे नियम के विरुद्ध इसलिए हैं क्योंकि उनमें अहंकेन्द्रिक विशेष का प्रयोग हुआ है, यह नहीं स्पष्ट करता कि यह प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हमारे नियम की अवहेलना का कारण क्यों और कैसे बन जाता है। दूसरे, अहंकेन्द्रिक विशेष का प्रयोग विचाराधीन नियम के अपवाद का निश्चित द्योतक भी नहीं है। अर्थात् प्रतिज्ञप्ति-फलन अ, ब, तथा स के कुछ प्रतिस्थापन-दृष्टान्त (सब्स्टीट्यूशन इन्स्टेन्सेज़), जिनमें कुछ अहंकेन्द्रिक विशेषों का प्रयोग होता है, हमारे नियम के अनुकूल होते हैं। उदाहरण के लिए, 'प, परन्तु वह यह विश्वास नहीं करता कि प' अथवा 'प, यद्यपि आपको संदेह है कि प' आदि पद-संरचनाओं में कोई भी वैसी तार्किक त्रुटि नहीं है जैसी क अथवा ख में प्रतीत होती है, यद्यपि 'वह', 'आप', आदि अहंकेन्द्रिक विशेष यहाँ प्रयुक्त हुए हैं।

यहाँ पर यह उत्तर दिया जा सकता है कि तार्किक त्रुटि का कारण **किसी भी** अहंकेन्द्रिक विशेष का प्रयोग नहीं, है अपितु एक ख़ास विशेष का प्रयोग है, और वह अहंकेन्द्रिक विशेष है "मैं"। यह उत्तर कुछ अंश तक सही है। क्योंकि, जैसा कि हम आगे देखेंगे, क, ख, तथा ग प्रकार के पदसंगठनों की एक खास विशेषता है वक्ता का आत्म-निर्देश (सेल्फ-रेफरेन्स)। यह आत्म-निर्देश क तथा ख के दूसरे संयुजों (कॉंजिक्ट्स्) में सीधा और स्पष्ट है, परन्तु उनके प्रथम संयुजों में तथा ग के दोनों संयुजों में परोक्ष रूप से है। यदि आत्म-निर्देश न होता तो 'क', 'ख' तथा 'ग' में किसी भी प्रकार की विषमता या त्रुटि न होती। अतः यह कहना ठीक प्रतीत होता है कि इन वाक्यों में 'मैं' शब्द का प्रयोग इनकी विषमता में योगदान करता है। फिर भी, जैसा पहले कहा गया, केवल यह कहना समस्या का हल नहीं अपितु उसका चित्रण है। समस्या का समाधान तभी हो सकेगा जब यह स्पष्ट किया जाए कि 'मैं' शब्द का प्रयोग किस प्रकार, किन स्थितियों में, योगदान करता है।

समस्या का एक दूसरा समाधान प्रतिज्ञप्ति तथा कथन के भेद में खोजा जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि क, ख तथा ग में 'प' प्रतिज्ञप्ति नहीं है, अपितु कथन है; और यह तथ्य क, ख तथा ग की नियम-प्रतिकूलता का कारण है। यह कहा जा सकता है कि हमारा नियम प्रतिज्ञप्तियों तथा उनके संबंधों के विषय में है, कथनों के विषय में नहीं। अतः जहाँ भी कथनों का प्रयोग हुआ है वहाँ यह नियम लागू ही नहीं किया जा सकता, और उस दशा में इसके उल्लंघन का भी प्रश्न नहीं उठता है। परन्तु इस प्रस्ताव के विरुद्ध भी उसी प्रकार की आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं जिस प्रकार की आपत्तियाँ प्रथम 'समाधान' के विरुद्ध उठाई गई थीं। प्रथमतः, प्रतिज्ञप्ति तथा कथन का जिस प्रकार का भेद यह समाधान मांगता है उस प्रकार का भेद बहुत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। विषय के रूप में 'कथन' कथित प्रतिज्ञप्ति ही हो सकता है और क्रिया अथवा व्यापार के रूप में कथन करने की क्रिया। तार्किक नियम, अधिकांशतः, प्रतिज्ञप्तियों से संबद्ध होते हैं। और इसलिए उन नियमों को कथित प्रतिज्ञप्तियों पर भी लागू करने की चेष्टा न अस्वाभाविक है, न अनुचित। यदि मात्र कथन होना किसी नियम के उल्लंघन के लिए या अप्रयोज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



दर्शाने के लिए पर्याप्त हो, तो भी तार्किक विवेचन तभी पूर्ण होगा जब यह स्पष्ट किया जाय कि कथित होने की विशेषता ऐसी विशेषता किस प्रकार है कि एक प्रतिज्ञप्ति अकथित रूप में किसी तार्किक नियम के पूर्ण अनुकूल होती है और वही प्रतिज्ञप्ति कथित हो जाने पर कुछ पद-संगठनों को इस नियम के प्रतिकूल बना देती है।

द्वितीयतः, यह कहना भी भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है कि मात्र कथित होना किसी प्रतिज्ञप्ति को स्वयं अथवा किसी जटिल पद-संगठन के माध्यम से नियम-विरुद्ध या त्रुटिपूर्ण बना देने के लिए पर्याप्त है। साधारण प्रकार के आपातिक ( कंटिजेंट ) वाक्य 'प-फ' अथवा पुनरुक्ति (टॉटोलोजी) 'प-प' की तार्किक स्थिति में इस बात से कोई अन्तर नहीं आएगा कि प्रतिज्ञप्तियाँ 'प' और 'फ' कथित हैं या नहीं। इसी प्रकार 'प, परन्तु वह यह विश्वास नहीं करता कि प' में क जैसी तार्किक त्रुटि नहीं प्रतीत होती, यद्यपि यहाँ 'प' कथित प्रतिज्ञप्ति ही है। यह उदाहरण स्पष्ट कर देता है कि मात्र कथित होना विचाराधीन तार्किक विषमता या त्रुटि का कारण नहीं है।

फिर भी, हम यह देखेंगे कि जिस प्रकार अहंकेन्द्रिक विशेष 'मैं' का प्रयोग विचाराधीन तार्किक त्रुटि में आंशिक योगदान देता है, उसी प्रकार प्रतिज्ञप्ति का कथित होना भी यहाँ आंशिक योगदान देता है। ये दोनों ही योगदान किस प्रकार होते हैं, अब स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाएगा।

किसी प्रतिज्ञप्ति की अन्तर्वस्तु ( कंटेंट ) को विचाराभिव्यक्ति अथवा संप्रेषण ( कम्यूनीकेशन ) में विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त किया जा सकता है, भाषा के खेल में उस पर हमारी चालें अनेक प्रकार की हो सकती हैं। प्रतिज्ञप्ति की अन्तर्वस्तु का एक प्रयोग उसकी एक चाल कथन है, दूसरा प्रयोग निषेध है। प्रश्न, आज्ञा आदि अन्य प्रयोग हैं। ये प्रयोग अथवा चालें विभिन्न प्रकार की ज्ञानात्मक ( इपिस्टेमिक ) क्रियायें हैं जो उस अन्तर्वस्तु के प्रति प्रयोगकर्त्ता की विभिन्न स्थितियाँ दर्शाती हैं। अप्रयुक्त प्रतिज्ञप्ति (अर्थात् प्रतिज्ञप्ति उस रूप में जब वह किसी ज्ञान क्रिया द्वारा क्रियान्वित नहीं की गई हो, जब उस पर कोई चाल नहीं खेली गई हो) तथा प्रयुक्त प्रतिज्ञप्ति (प्रतिज्ञप्ति उस रूप में जब वह किसी ज्ञान क्रिया के संदर्भ तथा स्थिति में बँध चुकी हो) का भेद हमारे समाधान के लिए महत्त्वपूर्ण है।[1] साधारण तर्कशास्त्र में हम विचाराधीन प्रतिज्ञप्तियों के अप्रयुक्त रूप को ही ध्यानगत रखते हैं, और उन्हीं के पारस्परिक संबन्धों की विवेचनाओं में हम प्रतिज्ञप्ति

---

**१ 'अप्रयुक्त प्रतिज्ञप्ति' तथा 'प्रयुक्त प्रतिज्ञप्ति' के इस भेद के लिए देखें माइण्ड; जनवरी, १९७०; बताएं गए भेद औपरेटेड प्रोपोज़ीशन और अनऔपरेटेड प्रोपोज़ीशन से सूक्ष्म रूप से भिन्न हैं, यद्यपि इन दोनों भेदों में घनिष्ठ संबंध व समानता भी है।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के कथित होने, निषिद्ध होने अथवा प्रश्नात्मक होने के तथ्यों को, यदि वह है तो भी, उपेक्षित करते हैं। (यद्यपि हाल ही में विकसित होने वाले प्रश्नों आदि के तर्कशास्त्र में तथ्यों का तार्किक स्वरूप भी विवेचित होता है।) इस प्रकार, यह नियम कि प्रतिज्ञप्ति-फलन 'प तथा य अविश्वास करता है कि प' का हर प्रतिस्थापन-दृष्टांत (सब्स्टीट्यूशन इन्स्टांस) आत्मासंगत है, इसलिए तर्क-संगत व सदैव सत्य प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ हम इन प्रश्नों से कोई संबंध नहीं रखते कि 'प' का प्रयोग किसी भी प्रकार हुआ है या नहीं (अर्थात् 'प' पर कोई ज्ञान-क्रिया प्रयुक्त हुई है या नहीं); यदि हुआ है, तो किसके द्वारा हुआ है, आदि,आदि। इन प्रश्नों से परे, हमें यह निरपवाद रूप से सत्य लगता है कि किसी प्रतिज्ञप्ति का सत्य होना तथा किसी का भी उसमें विश्वास अथवा अविश्वास करना बिल्कुल भिन्न प्रकार के तथ्य हैं जिसमें तब तक कोई तार्किक संबंध नहीं है जब तक विचाराधीन प्रतिज्ञप्ति किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के ही विषय में न हो। इस दृष्टिकोण से देखने पर हम अभी भी यह स्वीकार कर सकते हैं कि क, ख तथा ग की अन्तर्वस्तुएं,उसमें प्रयुक्त हुई प्रतिज्ञप्तियों के **अप्रयुक्त** रूपों के संयोजन, पूर्णतः दोष-मुक्त हैं। उदाहरण के लिए, हम यह मान सकते हैं कि प्रतिज्ञप्ति 'तृतीय विश्वयुद्ध १९७३ में होगा' के सत्य होने तथा मेरे द्वारा इसमें अविश्वास किये जाने में कोई भी तार्किक विरोध नहीं होगा, और हमारा ऐसा मानना पूर्णतः विवेकपूर्ण हो सकता है। ऐसा इसीलिए है कि यह बात यहाँ प्रासंगिक नहीं है कि प्रतिज्ञप्ति 'तृतीय विश्वयुद्ध १९७३ में होगा', का कथन मैंने उस समय किया है अथवा नहीं जिस समय का मेरा विश्वास यहाँ विचाराधीन है और यह बात यहाँ प्रासंगिक इसलिए नहीं है कि हमारे नियम का विषय प्रतिज्ञप्तियों का अप्रयुक्त स्वरूप है, प्रयुक्त नहीं।

प्रयुक्त प्रतिज्ञप्ति, जैसा पहले कहा गया, वह प्रतिज्ञप्ति है जिसे किसी ज्ञान-क्रिया द्वारा प्रयोग में लाया गया हो। ऐसे प्रयोग में आने का अर्थ है प्रयोगकर्त्ता से कुछ विशेष संबंधों की स्थापना, और इसके फलस्वरूप अन्य प्रतिज्ञप्तियों से इसके तार्किक संबंधों में कुछ संभावित परिवर्तन। किसी प्रतिज्ञप्ति का कथन करना उसकी सत्यता का दावा करना है; और किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता का दावा करने का कम से कम आंशिक अर्थ है उसकी सत्यता में विश्वास घोषित करना। प्रतिज्ञप्ति-कथन की व्याख्या उसकी सत्यता के दावे और सत्यता के दावे की आंशिक व्याख्या उसमें विश्वास की **घोषणा** से की गई है, न कि उसमें वास्तविक विश्वास की उपस्थिति से, क्योंकि कथन झूठ, छल, नाटक अथवा निर्दोष त्रुटि भी हो सकता है।

इस विश्लेषण के आधार पर क, ख तथा ग के तार्किक दोष को समझा जा सकता है। इन सभी वाक्यों में 'प' कथित प है, और अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि **यह उसी व्यक्ति द्वारा कथित है जिसके विश्वास या संदेह की अभिव्यक्ति दूसरे संयुजों में की गई है।** यदि 'प' उसी व्यक्ति का कथन न होता, तो क, ख तथा ग में से कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


भी एक संगठित वाक्य न होता, अपितु भिन्न-भिन्न समय पर कथित दो भिन्न वाक्य होते। उदाहरणतः क **एक संयोजक वाक्य** नहीं माना जा सकता यदि 'प' तथा 'मुझे यह विश्वास नहीं है कि प' विभिन्न व्यक्तियों के कथन हों। अब, यदि 'प' क, ख तथा ग में कथन-रूप में प्रयुक्त हुआ है तो हमारे विश्लेषण के अनुसार इसका अर्थ यह हुआ कि इन वाक्यों में वक्ता ( 'मैं' शब्द का निर्देश ) परोक्ष रूप से यह भी कह रहा है कि वह 'प' की सत्यता में विश्वास करता है। और यह प्रतिज्ञप्ति कि मैं विश्वास करता हूँ, 'प' में इस प्रतिज्ञप्ति की स्पष्ट विरोधी है कि मैं 'प' में अविश्वास करता हूँ या संदेह करता हूँ। 'प' में अविश्वास तथा संदेह क्रमशः क तथा ख के दूसरे संयुजों में स्पष्टतः अभिव्यक्त है, और ग के दूसरे संयुज में अस्पष्ट व परोक्ष रूप में। 'मै 'प' मैं विश्वास करता हूँ' का 'मैं 'प' में विश्वास नहीं करता हूँ' तथा मुझे 'प' में संदेह है' से साधारण प्रकार का आत्यन्तिक विरोध व विपरीतता का संबंध है। परन्तु चूँकि 'प' में वक्ता का विश्वास स्वयं 'प' की अन्तर्वस्तु का अंश नहीं है, इसलिए 'प' तथा 'मुझे 'प' में विश्वास नहीं है' के मध्य विरोध सीधा व स्पष्ट नहीं है। निश्चय ही, किसी वाक्य का कथन करने में इस कथन का कथन नहीं किया जाता। अतः क के दोनों संयुजों का वैषम्य पह-चानने के लिए हमें यह तथ्य जोड़ना पड़ेगा कि 'प' कथित है, और इसका वक्ता वही है जो दूसरे संयुज के 'मैं' का निर्देश है। यही तथ्य 'प' और 'मुझे विश्वास है कि प' की अतिरिक्तता ( रिडंडेंस ) पहचानने के लिए अनिवार्य है। क्योंकि यहाँ भी यह स्पष्ट है कि 'प' का केवल चिन्तन मात्र नहीं किया गया है, अपितु उसका कथन किया गया है, और कथन करने वाला वही है जिसके विश्वास की ओर दूसरे संयुज में संकेत हुआ है। इस प्रकार, 'प' में वक्ता के विश्वास की अभिव्यक्ति दोनों ही संयुजों में बार-बार हो जाती है।

यदि उपरोक्त विश्लेषण सही है तो यह स्पष्ट होगा कि क तथा ख जैसे वाक्यों की तार्किक विषमता तर्कशास्त्र में स्वीकृत साधारण प्रकार की विषमताओं से अन्ततः भिन्न नहीं है, भिन्नता केवल यह है कि इन पद-संगठनों में स्पष्टतः प्रयुक्त प्रतिज्ञप्तियों की अन्तर्वस्तुओं में कोई विरोध नहीं है, जबकि सामान्यतः स्पष्ट रूप से प्रयुक्त प्रतिज्ञप्तियों के मध्य ही विरोध होता है। पूर्व प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों की विषमता पहचानने के लिए जिन प्रतिज्ञप्तियों को जोड़ना पड़ता है वह सीधे रूप में प्रयुक्त नहीं होतीं, अपितु संदर्भ से स्पष्ट हो सकती हैं। पर यह तथ्य स्वयं तार्किक संबंध का भेद नहीं दर्शाता अपितु केवल उसकी जटिलता का भेद दर्शाता है।

**रूपरेखा वर्मा**
लखनऊ विश्वविद्यालय

---

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# ज्ञान मीमांसा-५

दयाकृष्ण

ऐसा ज्ञान जो साधारण नियमों की खोज नहीं करता, बल्कि वस्तु-विशेष या घटना-विशेष का होता है, उसके विषय में काल से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ उस प्रकार से नहीं उठेंगी जैसी पिछले अध्याय में उठाई गई हैं। इतिहास का ज्ञान किसी सामान्य नियम की खोज न होकर किसी घटना-विशेष को समझने की चेष्टा है। और इसी तरह प्रत्यक्ष का विषय वर्तमान में स्थित कोई वस्तु या घटना होती है, नकि वह नियम जिसके अनुसार यह माना जाता है कि वह घटना घटी है, या वस्तु वहाँ उपस्थित हुई है। वास्तव में नियमों के संदर्भ में देखने पर वस्तु भी घटना का ही रूप धारण कर लेती है, क्योंकि हमारा उद्देश्य तब यह जानना होता है कि वह कब और किन परिस्थितियों में उत्पन्न होती है। प्रत्येक वस्तु, जिसका हमें ज्ञान होता है, उसका प्रादुर्भाव और विलय दोनों होते हैं और केवल मध्य अवस्था में वह व्यक्तता को प्राप्त होती है। परन्तु इस तरह देखने पर एक तो यह बात माननी पड़ेगी कि जो इस समय व्यक्त अवस्था में है वह पहले अव्यक्त अवस्था में था, और अपने विलय के बाद पुनः उस अव्यक्त अवस्था को प्राप्त होगा। गीता में 'अव्यक्तादीनि भूतानि·····' कह कर इसी बात की ओर संकेत किया गया है। पर, इस संबंध में एक प्रश्न तो यह उठता है कि प्रादुर्भाव के पहले की अव्यक्त अवस्था में और विलय के बाद की अव्यक्त अवस्था में कोई भेद है या नहीं? और यदि है तो क्या है? दूसरा प्रश्न इस बात से संबंधित है कि अव्यक्त और व्यक्त अवस्था में क्या भेद है? क्या जो व्यक्त हुआ है उसकी सत्ता अभिव्यक्ति के पहले और अभिव्यक्ति के बाद में एक-सी ही रहती है?

इन प्रश्नों के उत्तर भिन्न-भिन्न दिशाओं में ले जाते हैं और उन दिशाओं के अनुसार अलग-अलग दर्शनों का जन्म होता है। न्याय दर्शन में प्रागभाव और ध्वंसाभाव का भेद पहले प्रश्न के संदर्भ में ही किया गया है। परन्तु इसीलिए उनको किसी अव्यक्त अवस्था की बात करना बेकार लगता है। अव्यक्त की बात तो साँख्य दार्शनिक उठाते हैं जो कार्य को कारण में पूर्ण रूप से निहित मानते हैं। उनके इसी मत को सत्कार्यवाद का नाम दिया गया है। पर निहित मानने पर भी कुछ भेद तो मानना ही पड़ेगा। हो सकता है कि यह भेद चेतना से संबंधित हो, जिसका कार्य अव्यक्त को व्यक्त करना है। एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्रकार से ज्ञान के सत्य होने का लक्षण ही यह समझा जाता है कि यह अभिव्यक्ति को छोड़ कर ज्ञान के विषय में और कुछ भी न जोड़े। परन्तु ऐसा मानने पर 'प्रादुर्भाव' का अर्थ 'चेतना का विषय' मानना होगा, नकि किसी वस्तु का अस्तित्व में आना; और इस तरह इसके अनुसार यह मानना पड़ेगा कि सब वस्तुओं का सब समय अस्तित्व है। न किसी का जन्म होता है, न किसी का विनाश। और इस प्रकार काल एक चिरन्तन भ्रम का रूप धारण कर लेगा। असल में,सब कुछ देश जैसा ही हो जायगा जिसमें सब वस्तुएँ सदैव विद्यमान होंगी।

अव्यक्त और व्यक्त का भेद और उनके बीच के संबंध दर्शन के सदैव रोचक विषय रहे हैं। परन्तु उनके बारे में विस्तार से विचार की यहां कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। वस्तु-विशेष या घटना-विशेष का ज्ञान देशकाल में स्थित विशेष का ज्ञान होने के कारण उन समस्याओं से मुक्त समझा जाता है जो ज्ञान की त्रिकालिकता के संदर्भ में उत्पन्न होती हैं। परन्तु पहले तो भूत और वर्तमान संबंधी विशेष के ज्ञान में एक अन्तर माना जाता है, जिसकी चर्चा ज़रूरी है। भूत का ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय न होकर, स्मृति का विषय होता है या किन्हीं ऐसी बातों पर आधारित होता है जो होती तो वर्तमान में हैं लेकिन जिनके आधार पर हमें ज्ञान ऐसी घटनाओं का होता है जो सिद्धान्ततः कभी भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकतीं। यह एक तरह से अनुमान पर आधारित ज्ञान कहा जा सकता है, पर इसमें और अन्य प्रकार के ज्ञानों में मूलतः भेद यही है, कि जबकि धूम्र के आधार पर अनुमानित वह्नि प्रत्यक्ष का विषय हो सकती है, अशोक, अकबर या बुद्ध के बारे में अनुमानित घटनाएँ कभी भी ऐसा रूप धारण नहीं कर सकतीं।

इसके विपरीत प्रत्यक्ष का विषय अनुमान के विषय को सत्यता-असत्यता प्रदान करता है। पर, यदि भूत संबंधी ज्ञान के विषय कभी भी प्रत्यक्ष के विषय बन ही नहीं सकते तब उनकी सत्यता-असत्यता का निर्धारण कैसे हो सकता है? यही इतिहास की मूलभूत दार्शनिक समस्या है, और इसको सुलझाए बग़ैर यह फ़ैसला मुश्किल है कि इतिहास संबंधी ज्ञान वास्तव में ज्ञान है भी या नहीं।

इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि भूत की घटनाओं के बारे में वर्तमान के आधार पर जो अनुमान लगाया जा सकता है उसकी सत्यता-असत्यता का निर्धारण उन घटनाओं के वर्तमान में कुछ अन्य अवशेष मिलने पर लगाया जाता है। और चूँकि अवशेष वर्तमान में प्रत्यक्षानुभूत होते हैं, इसलिए वास्तव में कोई नई समस्या नहीं उठती। दूसरी ओर, यह भी कहा जा सकता है कि विज्ञान के कई क्षेत्रों में प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमानित तथ्य स्वयं में अधिकतर प्रत्यक्षानुभूत होने में असमर्थ हैं। वरन वे तो केवल अपने इन्द्रियानुभूत प्रभावों के द्वारा ही जाने जाते हैं, और इन प्रभावों के आधार पर ही उनकी सत्यता-असत्यता का फैसला होता है। एक तरह से, इसमें दोहरा अनुमान होता है। एक बार प्रत्यक्ष से अनुमानित तथ्य की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


ओर, और दूसरी बार अनुमानित तथ्य से किसी अन्य नए प्रत्यक्ष की ओर। इन अनुमानित तथ्यों की स्थिति, इस प्रकार, उन कुछ पुराने देवताओं की तरह है जो स्वयं अगोचर होते हुए भी अपने प्रभाव से अपनी सत्ता अभिव्यक्त करते रहते हैं। ऐतिहासिक तथ्य भी इसी प्रकार स्वयं अगोचर होते हुए भी अपने प्रभाव द्वारा ही जाने जाते हैं।

इतिहास और अन्य वैज्ञानिक ज्ञान में यह समानता प्रथम दृष्टि में उस समस्या को सुलझाती प्रतीत होती है जिसको हमने इतिहास की मूलभूत समस्या के रूप में देखा था। परन्तु थोड़ा और सोचने पर यह समानता केवल ऊपरी और सतही दिखाई देती है। ऐतिहासिक घटना तो वह घटना है जो घट चुकी होती है, यानि जिसका अस्तित्व ही एक प्रकार से समाप्त हो चुका है। पर, जिसका अस्तित्व समाप्त हो चुका होता है उसका प्रभाव कैसे हो सकता है? विज्ञान के अनुमानित तथ्य गोचर न हों, लेकिन उनका अस्तित्व तो माना ही जाता है, और वह भी वर्तमान में। उनका गोचर प्रभाव इसलिए समझ में आ सकता है। परन्तु जो है ही नहीं उसके प्रभाव की बात करना अजीब ही लगेगा। फिर भी, ऐसा कहा जा सकता है कि, जिसके आधार पर ऐतिहासिक तथ्य का निर्णय किया जाता है उसका उस तथ्य से कोई न कोई संबंध तो होगा ही, अन्यथा हम उसको आधार के रूप में कैसे स्वीकार कर लेते? कुछ क्रम-बद्ध संबंध तो मानना ही पड़ेगा, पर इससे भी जो अधिक मानना जरूरी है वह यह है कि ऐसे क्रम-बद्ध संबंध अनेक हैं, क्योंकि बग़ैर ऐसा माने यह फैसला नामुमकिन हो जायगा कि वर्तमान के आधार पर हमने जिस भूतकाल की घटना का अनुमान किया है वह वास्तव में सत्य थी। उसके सत्य होने की संभावना तो इसी पर निर्भर करती है कि उससे संबंधित कुछ अन्य बातें, जिनका पहले पता नहीं था, वर्तमान या भविष्य में मिलती हैं या नहीं?

इतिहास का आधार अपने-आप में दो भिन्न प्रकार की वस्तुएं होती हैं। एक वे जिन्हें अवशेष के रूप में देखा जा सकता है, और दूसरी किसी के द्वारा इन घटनाओं का वर्णन। अवशेष स्वयं दो प्रमुख वर्ग बनाते हैं, एक जो भाषा में बंधे होते हैं, दूसरे जो वस्तुओं से संयोजित होते हैं। यह भेद महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अपने से अधिक महत्त्वपूर्ण समानता को छिपाता है। और वह समानता यह है कि अवशेष चाहे भाषा में बद्ध हों या वस्तु से संयोजित वह होता हमेशा मानव की कृति ही है। और जो मानव की कृति होती है वह हमेशा कुछ अर्थ लिए होती है, ऐसा अर्थ जो वस्तु को माध्यम बना कर भी वस्तु से सदैव परे जाता है। इस तरह जिस प्रकार भाषा मनुष्य के अर्थ को अभिव्यक्त करती है उसी प्रकार मानव की अन्य सब कृतियां करती हैं।

यही इतिहास के आधार की विशेषता है, परन्तु यही विशेषता उसके लिए एक ऐसी समस्या को जन्म देती है जो ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में नहीं पाई जाती। और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वह है किसी भी अर्थवान् वस्तु के अर्थ को समझने की चेष्टा और उस चेष्टा की सफलता-असफलता के मापदण्ड निर्धारण करना। एक तरह से यह समस्या किसी भी मनुष्य को समझने के संदर्भ में उत्पन्न होती है, क्योंकि मनुष्य सदैव अर्थों को जन्म देता रहता है और मनुष्य-मनुष्य के बीच का संवाद एक-दूसरे के अर्थों को समझना ही है। आगे चलकर हम इसकी विशद चर्चा भी करेंगे। परन्तु एक भेद जो इतिहास के आधारों का अर्थ समझने में और संवाद में है वह सिद्धांततः इस बात से संबंधित है कि जिससे हम बात कर रहे हैं वह तो हमको यह बता सकता है कि हम उसकी बात ठीक समझे हैं या नहीं, जबकि यदि अर्थ का स्रष्टा ही नष्ट हो गया है तो यह संभावना ही नहीं रहती कि कोई अधिकारपूर्वक यह कह सके कि जो हमने समझा है वह सही समझा है या नहीं। इतिहास एक प्रकार से ऐसे ही अर्थों को समझने की चेष्टा है जिनके स्रष्टा सदैव के लिए नष्ट हो चुके हैं। अतः उनके विषय में हमारी समझ सही है या ग़लत, इसका फैसला एक तरह से नामुमकिन ही है। तरह-तरह के अन्दाज़ ज़रूर लगाये जा सकते हैं, पर अन्दाज़ लगाने को तो ज्ञान नहीं कहते।

तब क्या इतिहास ज्ञान नहीं है? और यदि ज्ञान है, तो कैसा ज्ञान है? एक बात हमने पहले कही थी, कि इतिहास का ज्ञान कम से कम किसी सामान्य नियम का ज्ञान नहीं है, और इसलिए उसके संबंध में वे समस्याएं उत्पन्न नहीं होतीं जो किसी भी नियम के ज्ञान के संबंध में होती हैं। परन्तु चूँकि वह भूतकाल से संबंधित होता है और मनुष्य की अर्थ-गर्भ कृति के आधार पर मनुष्य के बारे में ज्ञान होता है, इसलिए उसकी समस्या कुछ और रूप में होती है। भूतकाल का ज्ञान सुदूर नक्षत्रों से लेकर सौर-मण्डल, पृथ्वी, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि तक के विषय में होता है। लेकिन क्योंकि यह ज्ञान एक प्रकार से नियमों पर आधारित होता है इसलिए उसके विषय में भूत-भविष्यत् के भेद का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। फिर भी जो सुदूर नक्षत्रों, सौरमण्डल और पृथ्वी की भूतकाल की अवस्थाओं के बारे में ज्ञान है, और जो प्राणी की भूतकाल की अवस्थाओं के बारे में ज्ञान है, उनमें एक गहरा भेद है। प्राणि-जगत् अपने अवशेष छोड़ जाता है और उसी के आधार पर हम उसकी पहले की अवस्थाओं का क्रम स्थापित करते हैं। बहुत बार तो हम इन्हीं के आधार पर पुराने जलवायु की भी कल्पना करते हैं क्योंकि इतना तो हमें पता होता है कि किस प्रकार के पशु-पक्षियों को किस प्रकार के जलवायु की ज़रूरत होती है। लेकिन जड़-जगत् में अवशेष जैसी कोई चीज़ नहीं होती। कम से कम उस प्रकार से नहीं जिस प्रकार से प्राणि-जगत् में होती है। पर इसलिए जड़-जगत् की भूतकालीन अवस्था के ज्ञान के बारे में एक ऐसी समस्या पैदा होती है जो प्राणि-जगत् के बारे में नहीं उठती। जहाँ अवशेष होता है वहाँ अटकल लगाने का कुछ तो आधार होता ही है। परन्तु जहाँ अवशेष नहीं है वहां जो कुछ भी है उसी को अवशेष का रूप दिया जा सकता है, और नियमों के आधार पर उस कारण की कल्पना की जा सकती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जिसका जो "आज" है वह कार्य रूप में परिणाम है। पर कल्पना वास्तव में सत्य है या नहीं, इसका निश्चय कैसे किया जायगा ?

अधिकतर तो, कार्य-कारण के ज्ञान की सत्यता, परीक्षण की अवस्था में, कारण को बार-बार दुहराकर कार्य की प्राप्ति के द्वारा सिद्ध होती है। पर अगर कारण दुहराया ही न जा सके तो उसके 'कारण' होने की बात का फ़ैसला नामुमकिन हो जायगा। उसका स्थान केवल एक संबद्धता ले लेगी, जो अंततः एक संबद्ध कहानी से अधिक कुछ नहीं रह जायगी। विश्व की उत्पत्ति की चर्चा, चाहे वह कितने ही वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में की जाय, इससे अधिक और कुछ नहीं है।

इस संदर्भ में कोई यह आपत्ति उठा सकता है कि विश्व की उत्पत्ति से संबंधित कुछ प्रश्न तो परीक्षण के आधार पर ही निश्चित किये जाते हैं। उदाहरण के तौर पर,जड़-जगत् की वह स्थिति जिसमें जीवन का प्रादुर्भाव हुआ होगा। क्या वैज्ञानिकों ने इस बारे में परीक्षण-शालाओं में वही स्थिति उत्पन्न करके अपनी मान्यताओं को सिद्ध करने की सफल चेष्टा नहीं की है ? यह सब सच होते हुए भी इस विषय में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली तो यह कि विश्व की उत्पत्ति की बात करना एक प्रकार से निरर्थक ही है। किसी स्थिति-विशेष की उत्पत्ति की चर्चा तो की जा सकती है पर सम्पूर्ण की उत्पत्ति की बात करने का कोई अर्थ ही कैसे हो सकता है ? विज्ञान में भी कंज़र्वेशन ऑफ मास तथा कन्ज़र्वेशन ऑफ एनर्जी के सिद्धांतों का यही अर्थ है। जब जड़-जगत् की मूलभूत सत्ता में कोई परिमाणात्मक परिवर्तन की गुंजाइश ही नहीं है तब केवल विशिष्ट रूप की उत्पत्ति का ही प्रश्न उठ सकता है। दूसरी बात यह कि यदि यह सच भी हो कि परीक्षण-शालाओं में विश्व की पुरानी परिस्थितियों की फिर से पुनरावृत्ति की जा सकती है, तब भी यह निश्चित करना कि यह वास्तव में पुनरावृत्ति ही है, सिद्धान्ततः असंभव है। भूतकाल की अवस्था का आधार यहां कोई अवशेष नहीं है जिनके आधार पर या जिसको समझने के लिए उस अवस्था की कल्पना ज़रूरी है। वह तो एक तरह से पूर्णतया कल्पित संभावना है, जिसका आधार हमारी ज्ञान-संबंधी मान्यताएं हैं। इसलिए विश्व की पूर्व स्थितियों का जिस शास्त्र में अध्ययन होता है और अंग्रेज़ी में जिसे 'कोस्मोलोजी' कहते हैं, वह परस्पर विरोधी मान्यताओं से भरा पड़ा है। तीसरी बात, जिसका इस संदर्भ में ध्यान रखना ज़रूरी है, वह यह है कि कार्य से कारण का अन्दाज़ा लगाने में हमेशा ग़लती होने की संभावना रहती है, क्योंकि विभिन्न कारणों से एक ही कार्य की उत्पत्ति हो सकती है।

कार्य-कारण के संबंध में दर्शन और विज्ञान के इतिहास में काफ़ी चर्चा रही है। और उस चर्चा का एक विषय यह भी रहा है कि क्या एक कार्य की उत्पत्ति विभिन्न कारणों से हो सकती है ? बहुत से लोगों का मत है कि असल में तो किसी भी कार्य का एक ही कारण होता है, और प्रत्येक कारण एक विशिष्ट कार्य को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


जन्म देता है। अगर किसी की इसके विपरीत धारणा बनती है तो उसके दो कारण होते हैं। एक तो यह कि हम कार्य की संश्लिष्ट जटिलता को अनदेखा कर जाते हैं और यह भुला देते हैं कि भिन्न-भिन्न कारणों से घटित कहे जाने वाले एक ही कार्य में ऐसी भिन्नताएँ मौजूद हैं जो हमारे उद्देश्यों के लिए अनावश्यक होते हुए भी अपने-आप में महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरा कारण यह है कि कोई भी कारण स्वयं में सरल न होकर वास्तव में कारणों का एक समूह होता है। असल में, ये दोनों एक ही बात के दो पहलू हैं। अगर इन दोनों को ध्यान में रखा जाय और किसी भी तथाकथित कार्य या कारण को विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से ही देखा जाय, तो यह साफ़ दिखाई पड़ेगा कि किसी भी कार्य का एक ही कारण होता है और किसी भी कारण का एक ही कार्य। जैसे, अगर हम मृत्यु का विश्लेषण न करें तो ऐसा प्रतीत होगा कि इस कार्य के कई कारण हो सकते हैं। परन्तु यदि हमारा उद्देश्य किसी मृत्यु विशेष के कारण का पता लगाना हो, जैसाकि किसी की हत्या के संबंध में होता है, तब मृत्यु-मृत्यु के बीच भेद करना पड़ता है और यह मानना पड़ता है कि एक कारण से हुई मृत्यु में अन्य से अन्तर है। अगर ऐसा अन्तर न हो तो विष से हुई मृत्यु में और छुरा लगने से हुई मृत्यु में कोई फ़र्क ही पता नहीं चलेगा। पर फ़र्क तो एक तरह के विष से हुई मृत्यु में और दूसरी तरह के विष से हुई मृत्यु में भी माना जाता है। इस प्रकार कार्य में कारण-जन्य भेदों को न देखना वास्तव में उन भेदों के प्रति हमारी उदासीनता का द्योतक है, नकि उन भेदों के नहीं होने का।

सरल और जटिल का यह भेद, जो इस मत का मूलभूत आधार है, यह मानकर चलता है कि आत्यन्तिक सरल जैसी कोई चीज़ हो सकती है। पर, आत्यन्तिक सरल का विचार एक तरह से अणु के विचार जैसा है। हम किसी ऐसी वस्तु की कल्पना करते हैं जिसका विभाजन संभव नहीं है या अगर वह अमूर्त है, तो उसके कोई अवयव नहीं हैं। पर यदि कोई चीज़ देश में स्थित है तो उसकी विभाज्यता को सदैव संभव मानना पड़ेगा, जबतक कि हम देश को ऐसा ही अणु-स्वरूप का न मानें। ऐसा नहीं है कि किसी ने देश को ऐसा माना ही नहीं है। आजकल के कुछ भौतिक वैज्ञानिकों ने इस क्रान्तिकारी विचार की प्रस्थापना करने की कोशिश की है और यहां तक कहा है कि बग़ैर ऐसा माने आज के भौतिक विज्ञान द्वारा खोजे हुए अनेकों आश्चर्यजनक तथ्य समझे ही नहीं जा सकते। पर, यह सच हो या न हो, इतना तो साफ़ ही है कि बग़ैर ऐसा माने भौतिक वस्तुओं के विषय में आत्यन्तिक सरलता की बात करना नामुमकिन हो जायगा। इसी प्रकार किसी भी अमूर्त विषय के बारे में यह कहना कि उसके कोई अवयव नहीं हैं, यह मानकर चलना है कि विचार की प्रक्रिया उसमें कभी कोई जटिलता पाएगी ही नहीं। पर ऐसा कैसे कहा जा सकता है? दर्शन का इतिहास इस बात का गवाह है कि सरल दिखाई देने वाला प्रत्यय भी जटिलता और कठिनाइयों से भरा पड़ा है। और सरलता को अपरिभाषेयता या असाध्यता के रूप में समझा जाय तो आधुनिक तर्क-शास्त्र के अनुसार ये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



दोनों संस्थान-सापेक्ष हैं। जो एक संस्थान में अपरिभाष्य या असाध्य माना जाता है वही किसी अन्य संस्थान में परिभाष्य और साध्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

इंगलैंड के प्रसिद्ध आधुनिक दार्शनिक ज्यार्ज एड्वर्ड मूर ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपिआ इथिका' में सरलता और अपरिभाषेयता को एक ही माना है, और यदि परिभाषा को किसी प्रत्यय के अवयवों के वर्णन के रूपों में समझा जाय तो यह ठीक भी है। पर परिभाषा को कई अन्य रूपों में भी समझा जा सकता है और उन रूपों में यह कहना मुश्किल होगा कि सरलता और अपरिभाषेयता एक ही चीज़ है। लेकिन परिभाषा की बात छोड़ भी दें, तो भी यह साफ़ ही है कि असाध्यता और सरलता कभी भी एक नहीं माने जा सकते, क्योंकि जो असाध्य होता है उसमें असंख्य निष्कर्ष निहित होते हैं, और चूँकि ये उसमें निहित हैं इसलिए उन्हें उनके अवयव के रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा।

कार्य-कारण में एक-एक का संबंध इस प्रकार आत्यन्तिक सरलता या अणुता को मानने पर निर्भर करता है। लेकिन एक तरह से यह समस्या किसी भी भूत-कालिक विषय के ज्ञान के संबंध में उठती है, फिर वह चाहे इतिहास से संबंध रखता हो। इतिहास की विशेष समस्या तो उसके उस विशिष्ट आधार से संबंधित है जिसके कारणरूप में भूतकाल में हुई घटनाओं के बारे में अन्दाज़ा लगाया जाता है। ये आधार सदैव किसी ऐसी चेतना के कार्य-रूप में होते हैं जो जड़ कारणों के कार्य से मूलतः भिन्न होते हैं। और यही भिन्नता एक ऐसी समस्या उत्पन्न करती है जिसका हल काफी मुश्किल दिखाई देता है। चेतना जड़ वस्तुओं के माध्यम से किसी अन्य चेतना के प्रति अपने को अभिव्यक्त करती है। परन्तु इस अभिव्यक्ति के पीछे एक भावना निहित रहती है कि कोई अन्य उसको समझे। लेकिन कभी-कभी यह भावना इसके विपरीत भी होती है, और यह अधिकतर तब होती है जब हम दूसरे को बरग-लाना चाहते हैं या धोखा देना चाहते हैं। साधारण अवस्था में भी लोगों को शिकायत रहती है कि उन्हें कोई ठीक समझता ही नहीं है। फिर जब कोई गुमराह करने का इरादा लेकर ही बात कह रहा हो, तब क्या होगा ?

वर्तमान में तो ऐसी बातों का ठीक-ग़लत होना बहुत कुछ आगे होने वाले व्यवहार से पता चल सकता है। पर जहां एक प्रकार से भविष्य है ही नहीं, वहाँ यह पता लगाना कि आज जो अर्थपूर्ण अवशेष है उसका अर्थ सीधे सरल मन से समझा जाय या उसको सदैव सन्देह की दृष्टि से देखा जाय और यह सोचा जाय कि यह किसी धूर्त, कुटिल, धोखा देने वाली चेतना का कार्य है, एक प्रकार से असम्भव ही होगा। वास्तव में चेतना की किसी भी सृष्टि को दोनों रूपों में देखा जा सकता है। यहां तक कि जो लोग समस्त सृष्टि को किसी अनन्त चेतना की कृति के रूप में मानते हैं वे भी या तो उसको माया के रूप में देखते हैं, या स्वयं साक्षात् सम्पूर्ण ब्रह्म के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



आविर्भाव के रूप में। प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक डेकार्ट के सामने भी यही प्रश्न था कि हमें यह कैसे विश्वास हो सकता है कि कोई हमें धोखा नहीं दे रहा है, और इसका निराकरण उसने यह मानकर किया कि जिस असीम सम्पूर्ण सत्ता का विचार वह अपने मानस् में पाता है और जिसके सम्पूर्ण होने में ही यह निहित है कि वह वास्तव में सत्तावान् है, वही सम्पूर्ण होने के नाते उसको धोखा भी नहीं दे सकती। पर, यहाँ डेकार्ट यह मान कर चलता है कि धोखा देना सदैव अपूर्णता का लक्षण है। लेकिन क्या कोई ऐसी अवस्था नहीं हो सकती जिसमें हम दूसरे की भलाई के लिए ही उसको वह बात नहीं बताएं जो वास्तव में सच है? ऐसी अवस्थाएँ तो बीसियों होती हैं, और चूँकि उनका सबको पता है, इसलिए उनका यहां विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। पर, अगर ऐसा है, तो डेकार्ट के तर्क का आधार ही बेबुनियाद साबित होगा। और, अगर यह सच है कि चेतना की किसी भी दृष्टि को दोनों रूपों में देखा जा सकता है, तो इतिहास के विषय में तो इसको भी और सच मानना पड़ेगा। पर ऐसा होने पर यह सवाल उठता है कि क्या हम कभी भी यह फैसला कर सकते हैं कि दोनों में से एक सत्य है और दूसरा असत्य?

इसका उत्तर कई प्रकार से देने की चेष्टा की जा सकती है। पर, उत्तर को खोजने की दिशा चाहे कोई भी हो, हमारे सामने सदैव यह प्रश्न बना रहेगा कि क्या हमने जो सोचा है वह ठीक है या नहीं? एक तरह से किसी के व्यवहार द्वारा ही हम यह जानने की कोशिश करते हैं कि वह धोखा दे रहा है या नहीं। पर, भूत काल में स्थित चेतनाओं का व्यवहार तो पूर्ण रूप से समाप्त हो चुका है, और उनके विषय में यह सोचा ही नहीं जा सकता कि कोई नया व्यवहार हमारी मान्यता को अधिक ठीक बनाने में सहायता करेगा। दूसरी ओर, वास्तव में देखा जाय तो इतिहास के सृष्टाओं का व्यवहार तो हम कभी देखते ही नहीं हैं। हम तो केवल उनके व्यवहार का वर्णन पढ़ते हैं, या उसका जो उन्होंने लिखा है, कहा है, निर्मित किया है या करवाया है। उनके सहारे ही हममें इस बात का फैसला करना पड़ता है कि आखिर उनका सही इरादा क्या था? पर, चूँकि इस बात का फैसला नामुमकिन नहीं तो कम से कम मुश्किल ज़रूर होता है, इसलिए हर इतिहास को कई तरह से लिखा जा सकता है, और वास्तव में लिखा भी जाता है।

कुछ लोगों का यह मत है कि वास्तव में धोखा तो तभी दिया जा सकता है जब अधिकतर संदर्भों में धोखा न दिया जाय। आख़िर, धोखा तो एक चेतना दूसरी चेतना को देती है। पर, यदि दूसरी चेतना ऐसा विश्वास ही न करे कि जो कुछ भी कहा जा रहा है वह सच है, तो वह धोखा कैसे खायगी? लेकिन ऐसा होने के लिए यह ज़रूरी है कि अनेक बार पहली चेतना ने उसे धोखा न दिया हो। इसी बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि, जबकि यह सिद्धांततः संभव है कि कोई चेतना सदैव अपने को सत्य रूप में अभिव्यक्त करे, यह असंभव है कि वह सदैव दूसरों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



को धोखा दिया करे। और यदि ऐसा है, तो यह मानकर चलना पड़ेगा कि अधिकतर अभिव्यक्ति जान बूझकर बरगलाने की नियत से नहीं होती।

'जानबूझ कर बरगलाने' और 'बेजाने असत्य कहने' में भेद है। परन्तु यह भेद एक नई समस्या को जन्म देता है। जहाँ तक उस चेतना का प्रश्न है जो किसी अन्य चेतना की अभिव्यक्ति को सत्य मानकर चलती है, उसके लिए यह भेद एक तरह से निरर्थक ही है। वह तो गुमराह होती ही है, फिर चाहे किसी ने उसे ऐसा जानबूझ कर किया हो या अनजाने। पर, क्या कोई भी अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से सत्य हो सकती है? ऐसा तो सब ही मानते हैं कि बहुत बार अभिव्यक्ति वह व्यक्त कर ही नहीं पाती जो हम अभिव्यक्त करना चाहते हैं। पर, यह भी उतना ही सत्य है कि अभिव्यक्ति अधिकतर उससे अधिक कहती है जो हम कहना चाहते हैं। और अगर यह सच है कि अभिव्यक्ति सदैव कुछ अंशों में जो हम अभिव्यक्त करना चाहते हैं, उससे कम या अधिक कहती है, तो फिर यह पता कैसे लगेगा कि हम किसी अभिव्यक्ति को ठीक तरह से समझ रहे हैं या नहीं? ऐसा सोचा जा सकता है कि यह बात व्यक्ति-विशेष से पूछ कर तय की जा सकती है। यदि वह कहता है कि उसकी बात को ठीक समझा गया है, तो यह मानना पड़ेगा कि समझने वाले ने ठीक समझा है। पर, एक तो इतिहास के स्रष्टाओं को पुनः बुलाकर पूछा नहीं जा सकता, दूसरे, यह कैसे मान लिया जाय कि जो अभिव्यक्त करता है वह अपनी अभिव्यक्ति को पूर्ण रूप में समझता है।

पहली बात तो बिल्कुल साफ़ है। पर, दूसरी के बारे में किसी को संदेह हो तो स्वाभाविक ही है। आखिर, अगर बात कहने वाले को ही पता नहीं हो, कि वह क्या कह रहा है, तो और किसे पता होगा? प्रथम दृष्टि में यह बात कितनी ही ठीक लगे, ध्यान से देखने पर इसमें कठिनाइयां प्रतीत होने लगेंगी। साहित्य और कला के क्षेत्र में तो यह सबको पता है ही कि उनके सृष्टिकर्त्ता को उनके बारे में सब कुछ ज्ञात हो, ऐसी बात नहीं है। अनेक रचनाओं और कृतियों के बारे में आलोचक और समीक्षक नये-नये अर्थ लगाते रहते हैं, और यह कहना मुश्किल होगा कि उनकी रचना करने वाले को वे सब अर्थ वास्तव में ज्ञात थे। शेक्सपीयर की महान् कृति हेमलेट इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। पर, यह बात केवल कला या साहित्य के बारे में ही सच नहीं है। दर्शन के क्षेत्र में भी ऐसा पाया जाता है। प्रसिद्ध दार्शनिकों के मतों की विभिन्न विवेचनाएं हैं, और जब कुछ समसामयिक दार्शनिकों के बारे में इस कठिनाई को हल करने की कोशिश की गई तो उसमें कोई विशेष सफलता नहीं मिली। अमेरिका से 'लाइब्रेरी आफ लिविंग फिलासफर्स सीरीज़' में ऐसा करने की कोशिश की गई है। आधुनिक काल के विश्व-विख्यात दार्शनिकों को इस बात के लिए आमन्त्रित किया गया कि वे अपने विषय में अन्य दार्शनिकों द्वारा उठाई गई आपत्तियों का उत्तर दें और उनके मत के विषय में जो भ्रमपूर्ण धारणाएं हैं उनका निराकरण करने की चेष्टा करें। और उन्होंने ऐसा किया भी। परंतु उनमें से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अधिकांश को यह जान कर निराशा ही हुई कि लोग उनको कितना कम समझे हैं, और जो समझे हैं वह कितना ग़लत समझे हैं। रसल ने तो यहां तक कहा कि जब इतना लिखने पर भी लोग उनको ग़लत समझे हैं, तो इस आशा का क्या आधार हो सकता है कि अब जो कहा जायगा वह ठीक समझेंगे।

बात असल में इससे भी गहरी है। क्या हम यह मान कर चल सकते हैं कि आदमी अपने को ग़लत समझ ही नहीं सकता? पागल कहे जाने वाले व्यक्ति के बारे में तो यह सब मानते ही हैं कि उसके विषय में यह बात सच है। पर जो पागल नहीं हैं उनके बारे में भी क्या यह सच नहीं है कि जो बात सबको साफ़ दिखाई देती है वह व्यक्ति को अपने बारे में दिखाई ही नहीं देती? और अगर यह ठीक है, तो फिर यह कैसे माना जा सकता है कि किसी भी कार्य, कृति या रचना का अर्थ उसका स्रष्टा ही बता सकता है? हम ऐसा अक्सर कहते हैं कि वह खुद ही नहीं समझता कि वह क्या कर या कह रहा है। और यदि ऐसा व्यक्तिविशेष के व्यवहार, कृति या रचना के विषय में सत्य होता है, तो उन रचनाओं या कृतियों के विषय में क्या कहा जायगा जो अनेक स्रष्टाओं की सामूहिक कृति के रूप में उत्पन्न होती हैं? कला के क्षेत्र में नाटक के संबंध में यह बात मुख्यतया लागू होती है। पर, जहाँ तक इतिहास के विषय का प्रश्न है, वह तो इसके अलावा अन्य कुछ है ही नहीं। मनुष्य के सामूहिक कृतित्व के रूप में शल्य जी ने समाज को देखा है, और पाँडे जी ने तो अपनी नवीन पुस्तक "दी मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर" में स्पष्ट रूप से इतिहासकार की तुलना उस रसज्ञ आलोचक से की है जो किसी कला-कृति को समझने की चेष्टा करता है। पर, दोनों में से एक ने भी इस प्रश्न को उठाया तक नहीं है कि आखिर सामूहिक कृतियों के विषय में जो ज्ञान होता है, उसकी सत्यता या असत्यता का निर्धारण कैसे किया जाय। क्योंकि सामूहिक कृति को किसी एक चेतना-विशेष की कृति नहीं माना जा सकता, इसलिए उसका अर्थ कुछ चेतना से स्वतंत्र ही मानना पड़ेगा। इस संदर्भ में सामूहिक कलाकृतियों में और समाज या इतिहास को मानव-कृतित्वों के रूप में देखने में एक मूलभूत भेद है जिसको नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। पहले में तो एक तरह से सबको पता है कि वह क्या सृष्ट करने जा रहे हैं, जबकि दूसरे में यह सिद्धांततः असंभव है। यही नहीं, बल्कि इतिहास और समाज के संदर्भ तो ऐसे हैं जिनके स्रष्टाओं को यह पता ही नहीं है कि वे सब मिलकर किसी सामूहिक कृति की रचना कर रहे हैं। कुछ वर्ग विशेष किन्हीं अवस्थाओं में अपने बारे में यह भावना रख सकते हैं, पर समग्र के विषय में हर सहयोग देने वाले में इस चेतना का विद्यमान होना असंभव है। यह तो ऐसी सामूहिक कृति है जिसके स्रष्टाओं को यह पता भी नहीं है कि वह सब मिलकर किसी सृष्टि की रचना कर रहे हैं। यदि कोई यह कहे कि आज के योजनाओं के युग में कम-से-कम योजना बनाने वालों में तो समग्र की चेतना रहती है, तो वह ऐसा यह भूलकर ही कहेगा कि समाज केवल आर्थिक आंकड़ों से ही मिलकर नहीं बनता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


वह उसके शरीर का आधार अवश्य है, परंतु प्राण और आत्मा तो कहीं और ही होता है।

मनुष्य की सृष्ट रचनाओं को समझने के विषय में जो समस्याएँ उठती हैं उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक वह जो कलाकृतियों के सम्बन्ध में उठती हैं, और दूसरी जो समाज, संस्कृति तथा इतिहास के सम्बन्ध में। परन्तु इनसे भी परे, और इनके भी मूल में जो समस्या है वह मानव को स्वयं समझने से संबंध रखती है। ज्ञान का मूल आधार तो वह चेतना है जिसके बिना ज्ञान की संभावना ही नहीं की जा सकती। और उसकी चर्चा हम अगले अध्यायों में विस्तार से करेंगे।

पर, ऐसा करने से पहले एक बात जो हमने इस अध्याय के आरम्भ में और पिछले अध्याय के अन्त में उठाई थी, उसकी चर्चा करना आवश्यक है। और, उसका संबंध प्रत्यक्ष के उस लक्षण से है जो उसको पूर्ण रूप से वर्तमान में स्थित देखता है। हमने यह कहा था कि नियम क्योंकि त्रिकालिक होते हैं और काल क्योंकि कभी समाप्त नहीं होता, इसलिए यदि सब ज्ञान को नियमों का ही ज्ञान माना जाय तो एक तरह से किसी ज्ञान को कभी भी ज्ञान माना ही नहीं जा सकता। पर, यदि कोई ज्ञान किसी वस्तु-विशेष या घटना-विशेष का होता है, तो उसके संबंध में भविष्य की अनन्तता से उत्पन्न होने वाली समस्याएं उठेंगी ही नहीं। इस प्रकार का ज्ञान एक ओर भूत-काल की घटनाओं से संबंधित होता है और इतिहास का विषय बनता है, दूसरी ओर वह वर्तमान में होने वाले प्रत्यक्ष अनुभव से संबंधित होता है, जो अधिकतर* किसी वस्तु-विशेष या घटना-विशेष का समझा जाता है। पहले की चर्चा हम कुछ हद तक इस अध्याय में पहले ही कर चुके हैं। केवल दूसरे की कुछ चर्चा करना ज़रूरी है।

प्रत्यक्ष-ज्ञान वर्तमान से सीमित अवश्य है, पर वह ज्ञान होने के नाते कम से कम यह दावा अवश्य करता है कि वह ज्ञान की प्रक्रिया से स्वतन्त्र किसी वस्तु का ज्ञान है और वह वस्तु ऐसी है जो ज्ञान के उसी क्षण के साथ समाप्त नहीं हो जाती। शुद्ध संवेदनाओं के साथ ऐसी कोई भावना जुड़ी नहीं रहती। वास्तव में गन्ध, वर्ण, स्पर्श आदि जहां तक वे शुद्ध संवेदना मात्र हैं, अपनी स्वतंत्र सत्ता का बोध नहीं कराते। केवल कार्य-रूप में ग्रहण किये जाने पर वे अपने किसी कारण की ओर संकेत करते हैं, जो संभवतः चेतना से स्वतन्त्र हो सकता है। प्रत्यक्ष का

---

* हमने यहां 'अधिकतर' शब्द का प्रयोग न्याय दर्शन के उस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर किया है जिसके अनुसार सामान्य भी प्रत्यक्ष का विषय बनते हैं। न्याय के अलावा, सभी दर्शन ऐसा मानते प्रतीत होते हैं कि प्रत्यक्ष का विषय केवल विशेष ही हो सकता है, सामान्य नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विषय इसलिए भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा एक-साथ जाना जा सकता है, और विभिन्न मनुष्यों द्वारा एक-साथ ज्ञान का विषय बन सकता है। पर उनके विषय में यहीं स्वतन्त्रता और स्थायित्व इस समस्या को भी जन्म देते हैं कि जो हम प्रत्यक्ष के रूप में ग्रहण करते हैं वह वास्तव में वैसा न हो। उदाहरण के तौर पर, आँखों को सत्य प्रतीत होने वाला फल, हाथ से छूने पर मिट्टी का मालूम हो सकता है। और इसी प्रकार कागज़ के फूल देखने में सच मालूम होने पर भी रहते तो कागज़ के ही हैं। इनसे भी परे क्षितिज पर आसमान पृथ्वी को छूता हुआ सबको ही दिखाई देता है और सूर्य, जो स्थिर समझा जाता है, चलता हुआ।

यदि केवल संवेदनाओं की ही बात हो, तो उनके विषय में मनुष्य कभी ग़लत नहीं हो सकता, अगर वह किसी को जानबूझकर धोखा देने की कोशिश नहीं कर रहा है तो। 'मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है' इसमें यह तो कहा ही नहीं जा रहा है कि वास्तव में भी वह ऐसा ही है। इस संदर्भ में यह विचारने-योग्य बात है कि जब डेकार्ट किसी ऐसे ज्ञान की तलाश कर रहा था जिस पर सन्देह किया ही नहीं जा सकता, तो उसने 'प्रतीत' की चर्चा क्यों नहीं की ? इसके कई कारण खोजे जा सकते हैं, पर उनमें से सबसे प्रमुख शायद यह है कि प्रतीति के विषय का भी एक प्रकार से वर्गीकरण होता है, और इस वर्गीकरण की प्रक्रिया में हम ग़लती कर सकते हैं। पर, जहां तक प्रतीत्यात्मकता का संबंध है, वहां तो ग़लती की सम्भावना भी नहीं है, और इसीको डेकार्ट अपने सिद्धान्त में बताने की कोशिश करता है। विट्गेनस्टाईन ने आधुनिक दर्शन में इस समस्या को उठाते समय इस बात को भुला दिया प्रतीत होता है। अन्यथा, वे समस्या को शायद उस तरह से न उठाते जिस तरह से उन्होंने उसे अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'फिलोसोफिकल इन्वेस्टिगेशन्स्'* में उठाया है।

प्रत्यक्ष के विषय में भ्रम की संभावना इस बात को बताती है कि वह वास्तव में उतना वर्तमान तक सीमित नहीं है जितना कि हम उसके बारे में मान बैठे थे। क्योंकि यदि वह ऐसा होता तो भविष्य में होने वाला कोई भी अनुभव उसको भ्रम-पूर्ण सिद्ध करने में असमर्थ रहता। प्रसिद्ध अमरीकी दार्शनिक सी० आई० लुइस (C. I. Lewis) ने अपनी ज्ञान-मीमांसा में इस पर विशेष बल दिया है। पर,

---

* यह पुस्तक उनकी मृत्यु के पश्चात् संकलित कर के छापी गई थी। इसलिए यह कहना कठिन है कि यदि वे इसे छापने की अनुमति स्वयं देते तो इसमें वे सब बातें रहतीं जो आज उसमें हैं। फिर भी इस पुस्तक का आधुनिक आंग्ल अमरीकी दर्शन पर इतना प्रभाव है कि उसका ज्ञान दर्शन के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक है। और पुस्तक दार्शनिक चिन्तन प्रणाली में वास्तव में एक नया मोड़ देने की कोशिश है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यदि प्रत्यक्ष-ज्ञान वर्तमान की सीमा को आवश्यक रूप में लांघता है, तो उसमें और उस ज्ञान में जो नियमों की खोज करता है, क्या अन्तर रह जायगा। इस प्रश्न का उत्तर शायद इस तरह दिया जा सके कि प्रत्यक्ष-ज्ञान वर्तमान को लांघता अवश्य है पर वह उस अर्थ में कभी भी त्रिकालिक होने का दावा नहीं करता जिस अर्थ में नियमों का ज्ञान आवश्यक रूप में करता है। जिस वर्तमान को वह लांघता है वह एक तरह से क्षणिक ही है। उसे लांघ कर वह काल के जिस आयम को अनुभव की सीमा में समेटता है, वह अनन्त न होकर बहुत ही सीमित होता है। उसके बाद तो वह स्मृति का विषय हो जाता है या इतिहास का विषय। ऐतिहासिक ज्ञान से संबंधित समस्याओं की चर्चा हम इस अध्याय में पहले ही कर चुके हैं। स्मृति की चर्चा अगले अध्यायों में फिर कभी करेंगे।

**राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# जगन्मिथ्यात्ववाद और शून्यवाद

अभेदानन्द

नागार्जुन माध्यमिक कारिका में शून्यवाद की स्थापना करते हैं। उनके अनुसार बाह्य वस्तुएं अबोध्य होने के कारण अवास्तव हैं। बाह्य वस्तुओं के स्वभाव में विरोध है जिस कारण उन्हें सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्य सर्वदा सर्वथा एक-रूप होता है। यह प्रपंच चाहे आन्तर हो चाहे बाह्य, प्रातीतिक है। यहां पर विज्ञात और विज्ञेय दोनों अवास्तव हैं। ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता तीनों के रूप में वस्तुएं सिद्ध नहीं हो सकतीं। संबंधों की जटिलता को ही लोग संसार कहते हैं, परन्तु विश्लेषण करने पर संबंध दुर्बोध्य हैं। नागार्जुन ने चेतन-अचेतन सभी को अवास्तव कहा है। जिस प्रकार माया, गन्धर्वनगर, स्वप्न मिथ्या हैं उसी प्रकार प्रपंच मिथ्या है।[1] आचार्य नागार्जुन ने संसार की सभी वस्तुओं को अवास्तव कहा है, क्योंकि वे प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। प्रतीत्यसमुत्पन्न का अर्थ है, कारण पर निर्भरशीलता। कोई भी कार्य अपने कारण से व्यतिरिक्त उत्पन्न नहीं हो सकता। कारण नाना हैं। इसका अर्थ हुआ, नाना कारणों पर निर्भरशीलता ही कार्य है। कार्य यथार्थ नहीं हैं। यदि वे यथार्थ हैं तब उत्पन्न होने की क्या आवश्यकता? यदि अयथार्थ हैं, तब कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? नागार्जुन के अनुसार, जो भी सापेक्ष हैं, प्रातीतिक हैं। संसार की वस्तुएं सापेक्ष हैं, इसलिए अवास्तव हैं।[2] कार्य से अन्य रूप से कारण की, और कारण से अन्य रूप से कार्य की उपलब्धि नहीं होती। यदि अतिरिक्त रूप से कारण-कार्य की उपलब्धि हो तब तो उनमें कार्य-कारण-संबंध ही नहीं होगा, क्योंकि कार्य-कारण का संबंध अनिवार्य माना गया है। विग्रहव्यावर्तिनी में नागार्जुन कहते हैं कि सभी धर्म तत्वरहित हैं, निःस्वभाव हैं, क्योंकि वे प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं।[3] इसी प्रकार आत्मा और स्कन्धों की सत्ता का भी प्रत्याख्यान किया है। इनके अनुसार जो परमार्थ है वह उत्पत्ति और विनाश का विषय नहीं बनता। वस्तुएं भी वस्तुतः न उत्पन्न होती हैं, न नष्ट होती हैं।[4] उत्पत्ति-विनाश प्रातीतिक होते हैं। वस्तुएं न भावरूप हैं, न

---

१ **माध्यमिक शास्त्र ७–३४, दरभंगा, १९६०.**

२ **A Critical Survey of Indian Philosophy. P. 100. Sharma, London, 1960.**

३ **विग्रहव्यावर्तिनी–पृ० २६, बड़ौदा १९२९.**

४ **Mahayan Vimsaka of Nagarjuna–P. 11, Bhattacharya, Calcutta, 1931.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अभावरूप है, न वस्तु का लक्षण सम्भव है, न वस्तु लक्ष्य ही बन सकती है।[५] लक्ष्य-लक्षण-भाव, कार्य-कारण-भाव आदि बातें काल्पनिक हैं। माध्यमिक के अनुसार वस्तु न सत् है, न असत् है और न सदसत् है, न उभय-भिन्न है। इस प्रकार वस्तु "चतुष्कोटिविनिर्मुक्त" है। जिस वस्तु का कथन उक्त किसी भी पक्षावलम्बनपूर्वक सम्भव नहीं उस वस्तु की उपलब्धि के विषय में किसी प्रकार का कथन सम्भव नहीं, अर्थात् वस्तु का कथन किसी भी पक्ष से सम्भव नहीं।[६] भाव पदार्थ न स्वतः उत्पन्न होते हैं, न परतः, और न दोनों से, न बिना हेतु के ही होते हैं। इस प्रकार भाव पदार्थ कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकते।[७] जिनकी उक्त प्रकार से उत्पत्ति सम्भव नहीं उनकी निवृत्ति भी सम्भव नहीं, क्योंकि जो उत्पन्न होते हैं वे ही नष्ट होते हैं। यदि उत्पत्ति उक्त विरोध के कारण सम्भव नहीं तब विनाश या निरोध सम्भव नहीं।[८]

नागार्जुन वस्तुओं को ही शून्य नहीं कहते अपितु तत्व को भी शून्य कहते हैं। तत्व को शून्य कहने का तात्पर्य है स्वभावशून्यता। तत्व में किसी प्रकार के स्वभाव नहीं हैं, इस कारण शून्य है। चन्द्रकीर्ति ने शून्यता की व्याख्या निस्वभावता से ही की है।[९] धर्म-शून्यता या स्वभावशून्यता तो अद्वैतब्रह्म में भी है, क्योंकि द्वैत के अनुसार ब्रह्म में सत्यत्वादि गुण भी नहीं रहते। वह निधर्मक है। अद्वैत में भी कार्य को कारण-व्यतिरिक्त कहा है। पारमार्थिक दृष्टि से कार्य जगत्-कारणानन्य है और व्यावहारिक दृष्टि से कारणभिन्नत्वेन प्रतीत होने के कारण कार्य जगत् मिथ्या है। शून्यवाद के अनुसार कारणाधीन कार्य है, अतः कार्य सत्ता-भिन्न नहीं। जब कारणाधीन कार्य सत्ता है, तब कार्य की अपनी सत्ता नहीं है, अतः वह मिथ्या है, "स्वसत्ताराहित्य" ही मिथ्या है। शून्यवादी कार्यकारणात्मक जगत् का सत्व नहीं मानते। कहीं-कहीं पर कार्य जगत् के लिए नरशृंग, स्वप्न-सदृश कहा गया है, कहीं पर मरीच्युपम कहा है। कहीं पर उदक-प्रतिबिम्ब के उदाहरण से मिथ्यात्व समझाया है।[१०] शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में मायोपम कहा है। रूप, वेदना, संज्ञा,

---

५ तस्मान्नभावो नाभावो न लक्ष्यं नापि लक्षणम्।
माध्यमिक शास्त्र, पृ० ५३ (दरभंगा १९६०)

६ सदसत्सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते
उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते।
चतुःशतक– १६–२५.
माध्यमिक शास्त्र में उद्धृत–पृ० ५

७ माध्यमिक शास्त्र–पृ० ४ (दरभंगा १९६०)

८ वही–पृ० ७०

९ माध्यमिक शास्त्र प्रसन्नपदा टीका–१९१। दरभंगा१९६०.

१० वही–१९३, दरभंगा, १९६०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



संस्कार और विज्ञान सभी मायोपम हैं।[११] इसी प्रकार उक्त रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के लिए प्रतिभास शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[१२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक वस्तुओं को जब शून्य कहते हैं तब उनका तात्पर्य स्वभावशून्यता से है, नकि वस्तुओं के अभाव से। इसी कारण वस्तुओं के विषय में निजस्वभाव और परस्वभाव का खण्डन किया गया है। वस्तुतः वस्तुओं के अभाव का कथन सम्भव ही नहीं है। न्याय की भाषा में अभाव प्रतियोगी-सापेक्ष होता है। यदि वस्तुओं के पूर्ण अभाव का कथन हो तब तो प्रतियोगित्वेन अन्यत्र वस्तुएं सिद्ध हो जाएंगी। नागार्जुन सापेक्षता के कारण वस्तुओं की सत्ता का खण्डन करते हैं। अद्वैत वेदान्त में भी कार्य-जगत् अधिष्ठान-सापेक्षतया सत्स्वभाव-शून्य है। अद्वैतवादी कहते हैं कि "घट" सत् नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान-बाध्य है, अर्थात् अधिष्ठान ज्ञान से आरोपित वस्तु के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है। घटाधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य को जान लेने पर अद्वैत के अनुसार "घट" बाधित हो जायगा। तब वह सत् नहीं रहेगा, क्योंकि जो बाध्य है वह परमसत् नहीं है, व्यावाहारिक सत् भले ही हो। शून्यवाद में सापेक्ष द्वारा वस्तुओं को मायोपम कहना अद्वैत के मिथ्यात्व से साम्य रखता है। अद्वैत में मिथ्यात्वानुमान में 'परिच्छिन्नत्व' हेतु दिया है। सभी वस्तुएं परिच्छिन्न हैं, अतः मिथ्या हैं। वस्तुएं देशगत और कालगत हैं। कोई भी वस्तु देश और काल से परे नहीं है। देश-काल से वस्तुएं सीमित हैं। घट न उत्पत्ति के पूर्व था, न विनाश के बाद रहेगा, अतः मिथ्या है। इसी प्रकार घट किसी देश में होता है और घट घट ही में व्याप्त है, पट में नहीं है, अतः मिथ्या है। नागार्जुन के अनुसार वस्तुएं इसी अर्थ में सापेक्ष हैं। सापेक्ष वस्तु परमसत् नहीं हो सकती। परमसत् निरपेक्ष होगा। यद्यपि नागार्जुन ने वस्तुओं के लिए शशविषाण, गन्धर्वनगरादि उदाहरण प्रस्तुत किए हैं और वस्तुओं को असत् कहा है, फिर भी व्यवहार का वे अपलाप नहीं करते। अद्वैत के ही समान वे जागतिक वस्तुओं को व्यावहारिक सत्ता प्रदान करते हैं। वैदिक दार्शनिकों ने ( जिनमें अद्वैतवादी भी हैं ) शून्यवाद को सर्वाभाववाद के रूप में लिया है। न्यायदर्शन में माध्यमिक के शून्यवाद को "सर्वाभाववाद"[१३] कहा है, क्योंकि शून्यवादी सभी वस्तुओं को असत् कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी शून्यवाद को अभाववादपरक ही कहा है। उनका भी कहना है कि इस मतानुसार अश्वात्मना गौ नहीं है और गवात्मना अश्व नहीं है। इतरेतरा-

---

**११ मायोपमं सुभूते रूपं मायोपमा वेदना, मायोपमा संज्ञा, मायोपमा संस्काराः, मायोपमं विज्ञानम्। शतसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता–परिवर्त ६, पृ० ६०७।**

**१२ प्रतिभासोपमं सुभूते रूपमित्यादि, वही पृ० ६०८। कलकत्ता, १९०२।**

**१३ सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः। न्यायदर्शन ४।१।३७ (लन्दन १८९८)।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भाव सिद्ध होने के कारण सर्वत्र सर्व का अभाव है[१४]। आचार्य शंकर ने भी भाष्यों में "शून्य" को अभाव के रूप में ही लिया है : "सदभावमात्रं तत्व परिकल्पयन्ति बौद्धाः।"[१५] बौद्ध शून्यवादी तत्व को सदभाव के रूप में कहते हैं। ब्रह्मसूत्रभाष्य में शंकर ने व्यावहारिक सत्य को सर्वप्रमाणसिद्ध कहा है। जबतक तत्वज्ञान नहीं होता तबतक लोकव्यावहारिक वस्तुओं का अपलाप नहीं किया जा सकता।[१६] पंचपादिका-कार ने भी शून्यवाद को असदर्थ में ग्रहण किया है। बौद्ध शून्यवाद और अद्वैत ब्रह्मवाद में अन्तर दिखाते हुए उन्होंने भी कहा है कि अध्यस्त वस्तु को असत् नहीं कहा जा सकता। ऐसा कहने पर उसकी प्रतीति की संगति नहीं बनेगी। अध्यस्त वस्तु प्रतीत होती है, अतः अद्वैत के अनुसार अध्यस्त वस्तु सदसदनिर्वचनीय है किन्तु बौद्धमत के अनुसार वस्तु असत् ही है। "ननु सर्वमेवेदमसदिति भवतोमतम्"[१७]। खण्डनकार श्री हर्ष ने भी बौद्ध शून्यवाद और अद्वैत के अनिर्वचनीयतावाद में भेद सिद्ध किया है, किन्तु खण्डनकार ने पूर्वोक्त आचार्यों के समान शून्यवाद के साथ अन्याय नहीं किया है। खण्डनकार ने शून्यवाद के लिए कहा है कि शून्यवाद सभी को अनिर्वचनीय कहता है जबकि अद्वैतवादी विज्ञान-स्वरूप ब्रह्म को छोड़कर विश्व को सदसद् रूप से अनिर्वचनीय कहते हैं।[१८]

ऊपर के विचारों से वैदिक दर्शनों की शून्यवाद के प्रति धारणा को हम ठीक प्रकार से समझ सकते हैं। शून्य का अर्थ इन दार्शनिकों ने विशेष न करके लोक में गृहीत अर्थ ही किया है और विश्व को सापेक्षतया शून्य कहने वाले माध्यमिक को सर्वाभाववादी सिद्ध किया है।[१९] परन्तु शून्यवाद का प्रधान ग्रंथ माध्यमिक कारिका के साक्ष्य पर माध्यमिक सर्वाभाव या असद्वादी सिद्ध नहीं होता।[२०] माध्यमिक विश्व

---

१४ **असन्गौरश्वात्मना अनश्वो गौरसन्नश्वो गवात्मना.**
**न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, पृ० ४३० तथा ४३१, लन्दन १८९८।**

१५ **छान्दोग्य भाष्य–६।२।१.**

१६ **ब्रह्मसूत्रभाष्य–५५७, निर्णय सागर, १९३८.**

१७ **बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग–पृ० १०३२ से उद्धृत.**

१८ **यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति........विज्ञान व्यतिरिक्त पुनरिदं विश्व सत्वासत्वाभ्याम् ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते।**
**खण्डनखण्डखाद्य–१८३, चौखम्बा, वाराणसी.**

१९ **भारतीय दर्शन की रूपरेखा, २२१ तथा २२२, अंग्रेजी संस्करण, हिरियन्ना, लन्दन, १९५८।**

२० **बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ६९१, प्रथम खण्ड।**
**(कलकत्ता सं० २०११)**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की सांवृतिक सत्ता का अपलाप नहीं करता। प्रपंच को माध्यमिक संवृतिसत्य कहता है। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के ही समान माध्यमिक व्यवहार और परमार्थ में भेद करता है। माध्यमिक के अनुसार सत्य दो हैं–सांवृतिक सत्य और परमार्थ सत्य।[२१] संवृति का अर्थ है अविद्या, जो वस्तु के ऊपर आवरण डाल देती है। अद्वैत में अविद्या की दो शक्तियां मानी गई हैं–आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति वस्तुस्वरूप को आवृत कर लेती है, विक्षेप शक्ति उसी में नवीन वस्तु का आरोप करती है जैसे रज्जुगत अज्ञान की आवरण-शक्ति द्वारा रज्जु को आवृत कर दिया जाता है और विक्षेप-शक्ति द्वारा वहीं पर सर्पज्ञान की सृष्टि होती है। इस प्रकार अध्यस्त मिथ्या वस्तु की उत्पत्ति होती है। माध्यमिक के अनुसार संवृति का कार्य भी वस्तु को आवृत करके अवस्तु का ज्ञान कराना है।[२२] बोधिचर्यावतार में कहा है–"जिस प्रकार कामला रोगी रोग के कारण श्वेत वस्तु (शंखादि) के श्वेत रूप को पीलेपन से आवृत कर देता है, उसी प्रकार अविद्या वस्तु के स्वरूप को आवृत करके अविद्यमान रूप को आरोपित करती है।"[२३] अविद्या के कारण असत् का सत् में आरोप होता है और असत् सत् के समान लगने लगता हैं। जो दृश्यमान है वह सत् नहीं है, क्योंकि वह विनाशी है। संवृति से सम्पूर्ण व्यावहारिक वस्तुओं का कथन है जिसे साधारण लोग सत्य समझते हैं। यह सांवृतिक सत्य भी दो प्रकार का है: लोकसंवृति और अलोकसंवृति। लोकसंवृति परमार्थ ज्ञान होने से पूर्व तक सत्य है। कार्यकारण-भावादि सर्व-जगत् सापेक्षतया परमार्थज्ञान अर्थात् शून्यता के स्वरूपज्ञान से बाध्य है। साथ में परमार्थज्ञान के लिए साधना भी इसी लोकसंवृति में ही करनी है। अतः लोकसंवृति आकाशकुसुमादिओं से भिन्न है, क्योंकि आकाशकुसुमादिओं की सत्ता की कभी भी प्रतीति लौकिक वस्तुओं के समान नहीं होती। लौकिक वस्तुएं अपरमार्थ होने पर भी हैं। दूसरी है अलोकसंवृति। अलोकसंवृति भ्रान्ति है, जैसे सीपी में चांदी का भ्रम। यह अलोकसंवृति है। अद्वैतवेदान्त की व्यावहारिक सत्ता ही माध्यमिक की लोकसंवृति है और अलोकसंवृति अद्वैत की प्रातिभासिक सत्ता के समान है। अलोकसंवृति की पृथक् सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अलोकसंवृति

---

२१ **द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना**
**लोकसंवृतिसत्यंचासत्यं च परमार्थतः।**

**माध्यमिक शास्त्र, पृ० २१५ (दरभंगा १९६०)**

२२ **बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ० २९१। (बनारस १९५४)**

२३ **अभूतंज्ञापयत्यर्थंभूतमावृत्य वर्तते**
**अविद्याजायमानेव कामलान्तकवृत्तिवत्।**
**बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ० ६८६।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


भी लोकसंवृति के अन्दर ही आ जाती हैं।[२४] वस्तुतः सत्ता तो परमार्थ शून्यता की है। पारमार्थिक दृष्टि से संवृति का बाध हो जाता है।[२५]

ऊपर के विवरण माध्यमिक सम्प्रदाय का अद्वैत सम्प्रदाय के साथ साम्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। अद्वैत के समान त्रिविध सत्तावाद के द्वारा नागार्जुन अपने दर्शन को सर्वभाववाद से बचा लेते हैं,[२६] साथ में व्यावहारिक जीवन एवं वस्तुओं की आवश्यकता को भी अक्षुण्ण रखते हैं। जब माध्यमिक अलोकसंवृति सत्य रज्जु सर्पादि भ्रम के विषयों को कहता है तब लोकसंवृत्ति सत्य को प्रातिभासिक या शशविषाण के समान अलीक कैसे कहा जाय? शशविषाण और रज्जु-सर्प में अन्तर तो अगत्या मानना पड़ेगा। जहां पर नागार्जुन शशविषाण या गन्धर्वनगरादि शब्दों का प्रयोग बाह्य वस्तु के लिए करते हैं, वहां पर उन्हें मात्र उदाहरण के रूप में समझना चाहिए। तात्पर्य मात्र "बाध" से है। जिस प्रकार आकाशकुसुम का अस्तित्व नहीं है उसी प्रकार भ्रमकालीन सर्प का वस्तुतः अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार व्यावहारिक कार्यकारणात्मक वस्तुओं का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन तीनों स्वभावों में अन्तर है ही नहीं। इन तीनों में जो व्यक्तिगत सर्वजनीनादि तथा कालगत अन्तर हैं वे अवश्य नागार्जुन को भी स्वीकार्य हैं। ए० बी० कीथ का यह कथन कि नागार्जुन संसार को वन्ध्यापुत्र के समान अलीक मानता है, समीचीन नहीं है।[२७] आचार्य चन्द्रधर शर्मा का कथन सत्य है कि माध्यमिक जब वन्ध्यापुत्रादि शब्दों का प्रयोग करता है तो उसका तात्पर्य अलीक कथन करना नहीं है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से सत्ताशून्यता से तात्पर्य है।[२८] इसी कारण माध्यमिक ने मध्यम मार्ग को अपनाया है। अद्वैत वेदान्त में संसार मायामय है और मिथ्या है। मिथ्यात्व के एक लक्षण में कहा गया है "ज्ञाननिर्वर्त्यं मिथ्यात्वं", जिसका अर्थ हुआ ज्ञान-बाधित। ज्ञान द्वारा बाधित घट होता है। जब ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होता है तब घटादि वस्तुएं भी बाधित होती हैं—जैसा कि रज्जु-ज्ञान से भ्रमस्थानीय सर्प का बाध हो जाता है, वैसा ही ब्रह्मज्ञान से सभी वस्तुएं बाधित होती हैं, क्योंकि अद्वैत के अनुसार घटादि प्रपंच का अधिष्ठान ब्रह्म है। बाधित्वेन प्रपंच मिथ्या है। इसी प्रकार माध्यमिक के अनुसार भी परमार्थ-ज्ञान से प्रतीत्यसमुत्पन्न जगत् बाधित

---

२४ **The Central Philosophy of Budhism, P. 244-45, London 1955.**

२५ **वही, पृ० २५२ तथा २५३.**

२६ **Mahayana Buddhism-P. 90, Suzuki, London 1959.**

२७ **Buddhist Philosophy–A. B. Keith, P. 261, Oxford. 1923.**

२८ **A Critical Survey of Indian Philosophy P. 32, London 1960**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



होता है और परमार्थशून्यता ही दिखती है, अतः जगत् को बाध्यत्वेन मिथ्या कहा जा सकता है। सदविविक्तत्व को भी मिथ्यात्व का लक्षण कहा है। नागार्जुन के अनुसार परमार्थ सत् शून्य है। जगत् परमार्थ सत् से रहित है, अतः मिथ्या है। फिर भी प्रतीतिकालीन जगत् की सत्ता तो है ही। डा० मूर्ति के अनुसार "वस्तुएं शून्य हैं" का अर्थ सापेक्ष और परतन्त्र स्वभाव है।[२६] परमार्थशून्य को व्यावहारिक दृष्टि से शून्य कहा गया है, विश्व को सापेक्षतया शून्य कहा गया है। वस्तुतः शून्यवाद और अद्वैत में अन्तर केवल इतना ही है कि शून्यवाद बाह्य वस्तु की सत्तासिद्धि पर ज़ोर नहीं देता जबकि अद्वैत वेदान्त प्रपंच के अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि के लिए तत्पर रहता है।

**गुरुकुल कांगड़ी**

---

२६ **The Central Philosophy of Buddhism, P. 229. Murti, London 1955.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# श्री अरविन्द और नयी समाज-व्यवस्था

किरीट जोशी

श्री अरविन्द उस वर्तमान युग के अग्रणी नेता हैं जो अभूतपूर्व क्रान्ति तथा विलोड़न का युग कहा गया है। श्री अरविन्द के सम्पूर्ण जीवन का कार्य 'मानव' को इन्हीं क्रान्तियों में से निकाल कर ले जाते हुए ज्ञान के उस केन्द्रीय सिंहासन पर बैठा देना था जो इस भूतल पर परिस्थितियों को बदलने और एकता, सामंजस्य तथा मैत्री को बनाने के लिए सक्रिय सर्व-शक्ति-सत्ता को लाने की असीम शक्ति रखता है। इसी उद्देश्य के लिये श्री अरविन्द ने सब प्रयास किये, पूरा परिश्रम किया, सब कुछ त्याग किया और 'सर्व' को प्राप्त किया।

श्री अरविन्द ने मानव-इतिहास के वर्तमान युग को 'तर्क-बुद्धि का युग' कहा है, जहां अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों की परीक्षा करके अपने अन्तिम परिणामों की घोषणा करते हुए बुद्धि को अपनी सीमाएं स्वीकार करनी पड़ीं। बुद्धि का ध्येय मानव-जाति को ऊंचा उठाना है, तो भी वह जीवन को एक यंत्र-मात्र ही बना देने, 'मानव' को बिल्कुल ही नगण्य और अपने को निश्चयात्मक रूप से स्वाधीन या पराधीन सिद्ध करने की चुनौती का सामना करने के लिए तैयार भर करने में सफल हो पाई है।

श्री अरविन्द के अनुसार बौद्धिक युग की प्रमुख समस्याओं में से एक समस्या है लोकतंत्र, समाजवादी लोकतंत्र, कट्टर समाजवाद या राजकीय साम्यवाद और अराजकतावाद की उठती हुई वृत्तियों के बीच संघर्ष। आज विश्व का दो महान् शक्तियों में विभाजन इसी संघर्ष का परिणाम है। मुख्य प्रश्न है : इस संघर्ष से कैसे बचा जा सकता है ? निस्सन्देह, कई मार्गों में से एक मार्ग हो सकता है—एक प्रकार का सामंजस्य और विरोधी प्रवृत्तियों और संरचनाओं का संभावित-शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व। कुछ प्रतिबन्धों एवं विशेषणों के साथ श्री अरविन्द कहते हैं: "वह लोक, जहां ये दोनों सिद्धान्त साथ-साथ रह सकते हैं, एक आर्थिक आदान-प्रदान पर पहुँचता है, और यदि यह कहा जाय कि यह आदान-प्रदान उनको एक-दूसरे के निकट ला रहा है तो असंगत न होगा, क्योंकि विश्व में सामाजिक जीवन के ऊपर राष्ट्रीय अधिकार के सिद्धान्त के अनुसार प्रगति हो रही है, समाजवादी राष्ट्रों के समूह के साथ-साथ मिलकर मित्रता के साथ रहने की अधिक सम्भावना है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लेकिन इस संभावना या समझौते के होते हुए भी, जोकि विश्व में मानवों और राष्ट्रों के बीच सद्भाव एवं शान्तिपूर्ण सम्बन्धों को बनाने का आधार बन सकती है, एशिया में एक और भी अधिक संकटकालीन परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। सन् १९५० में अपनी पुस्तक "मानव-एकता के आधार" का परिशिष्ट लिखते हुए वे अंकित करते हैं : चीन के उदय से एक अधिक संकटपूर्ण परिस्थिति पैदा हो गई है जो तीव्ररूप में संसार के इस भाग की, महाद्वीपीय एकता की, किसी भी संभावना का मार्ग अवरुद्ध किये हुए है। इसने एक ऐसे विशाल गुट का निर्माण कर दिया है जो दो भारी साम्यवादी शक्तियों······· के मिलने से सम्पूर्ण उत्तरी एशिया को आसानी से अपने अन्तर्गत कर सकता है तथा जो दक्षिणी-पश्चिमी एशिया और तिब्बत को अधीन कर लेने का भय दिखा कर उन्हें अभिभूत कर लेगा। यह भारतवर्ष की सीमा तक सभी को आक्रान्त करने के लिए प्रेरित हो सकता है और इस प्रकार आक्रमण करने तथा रौंदने की संभावना के द्वारा तथा अन्तःप्रवेशन, यहां तक कि अदम्य सैनिक शक्ति की सहायता से भारत और पश्चिमी एशिया को अवांछित विचारों, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं के अधीन करके तथा साम्यवाद के एक ऐसे सैनिक गुट के आधिपत्य के द्वारा, जिसका वेग सहज ही अदम्य सिद्ध हो सकता है यह उनकी सुरक्षा को खतरे में डाल सकता है।

यही वह सबसे भारी भय है जिसको कठिनता से ही दूरवर्ती कह सकते हैं, विश्व की समस्याएं इतनी शीघ्रता से बढ़ती जा रही हैं कि हम अपने को एक उलझन तथा परेशानी में पाते हैं और शीघ्र ही हमें इसका अत्यावश्यक समाधान प्राप्त करना होगा।

इसी संदर्भ में हम 'श्री अरविन्द-क्रिया संस्थान द्वारा किये गए कार्यों की प्रशंसा करते हैं। श्री अरविन्द ने भविष्य की समस्याओं को केवल देखा ही नहीं था बल्कि उनकी ओर बढ़ने के दिशा-संकेत भी दिये थे। इतना ही नहीं, वे आवश्यक 'शक्तियों के निर्माण के हेतु कार्य भी कर रहे हैं जिससे सही कदम उठाये जा सकें। 'श्री अरविन्द-क्रिया संस्थान' का उद्देश्य और लक्ष्य मनुष्यों को सही राह पर सही तरीके से चलने के लिए तैयार करना है।

परन्तु वह समाधान है क्या जो श्री अरविन्द हमें देते हैं ?

इस भ्रम में बिल्कुल नहीं रहना है कि समाधान आसान है, न ही हमें किसी नये वाद के सिद्धान्तों के रूप में विश्व की समस्याओं का कोई भी हल पाने की आशा करनी चाहिये। वास्तव में श्री अरविन्द किसी धर्म, सिद्धान्त या मत का प्रतिपादन नहीं करते। उनके द्वारा दिया गया समाधान है : 'एक आमूल आध्यात्मिक रूपान्तरण' जो सभी धर्मों, राजनीतियों और मानव-अहंकार की संकीर्ण हठवादिता की मांगों के साथ सामंजस्य को पार कर जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लेकिन हमें ठीक-ठीक संक्षेप में देखना है, और इन सबका सही दृष्टिकोण श्री अरविन्द की तीन पुस्तकों—दिव्य जीवन, मानव एकता का आदर्श तथा मानव-चक्र— में मिलता है।

( २ )

**राष्ट्र के नेताओं को क्या करना चाहिये**

"राष्ट्र के नेताओं को, जो सफल होने की आकांक्षा रखते हैं और अपरिहार्य असफलताओं के साथ भावी पीढ़ियों के प्रति उत्तरदायी होंगे, घातक त्रुटियों तथा मूर्खतापूर्ण नीतियों के प्रति सजग रहना चाहिए।....

"इसका उत्तर हमारे समय के अथवा अधिक से अधिक निकट भविष्य के मनुष्यों को देना है। कारण, बहुत लम्बा स्थान अथवा चिर असफलता उन बढ़ती हुई विपत्तियों की श्रृंखला का रास्ता खोल देगी जो एक अत्यधिक लम्बी और संकटपूर्ण अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता को उत्पन्न कर सकती हैं तथा समाधान को अत्यन्त कठिन व असंभव बना सकती हैं। इसका अन्त वर्तमान विश्व-सभ्यता के ही नहीं बल्कि सभ्यता मात्र के असाध्य ध्वंस में हो सकता है। शायद एक अत्यन्त व्यापक संहार, अस्तव्यस्तता और ध्वंसावशेष के बीच में एक नया और अनिश्चित प्रयत्न आरंभ करना पड़ सकता है और एक अधिक सफल निर्माण की भविष्यवाणी तभी की जा सकती है यदि एक श्रेष्ठतर मनुष्य जाति या फिर, संभवतः, अतिमानव जाति को विकसित करने का ढंग उपलब्ध हो जाय।"

(मा०ए०आ० ।३३६)

**राजतंत्र, कुलीनतंत्र, धर्मतंत्र और गण-तंत्र का भविष्य :**

"इसका यह अर्थ नहीं कि एक सम्पूर्ण समाज में राजतंत्रीय, कुलीनतंत्रीय अथवा धर्मतंत्रीय तत्व का कोई स्थान नहीं होगा किन्तु वहाँ वे एक अचेतन संघात को नहीं बनाये रखेंगे और न ही उसका संचालन करेंगे, बल्कि एक सचेतन संगठन में अपना स्वाभाविक कार्य पूरा करेंगे।"

(मा०ए०आ० । १९६)

"निश्चय ही जनतंत्र, जो व्यावहारिक रूप उसका आज है, अंतिम से पूर्व की अवस्था नहीं है; कारण, यह प्रायः केवल अपने बाह्य रूप में ही जनतंत्रीय है। अधिक से अधिक यह बहुसंख्यकों का शासन है और दल-शासन की दूषित प्रणाली तथा कुछ त्रुटियों के अधीन कार्य करता है। इन त्रुटियों का अधिकाधिक ज्ञान होने से संसदीय प्रणालियों के प्रति लोगों का असंतोष आजकल बढ़ता जा रहा है। पूर्ण जनतंत्र भी सामाजिक विकास की अन्तिम अवस्था नहीं हो सकता, फिर भी यह आवश्यक और विस्तृत आधार भूमि है जिस पर सामाजिक सत्ता की स्व-चेतनता अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त कर सकती है।"

(मा०ए०आ० । १९३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


**अल्प संख्यक वर्ग के लिए पूर्ण परामर्श :**

"इसलिए एक प्रबल अल्प संख्यक वर्ग के लिए सबसे बढ़िया परामर्श यह है कि वह सदा समय रहते ही ठीक घड़ी को पहचानकर अपने अधिकार का त्याग कर दे और अपने आदर्श, गुण, संस्कृति तथा अनुभव समुदाय के बाकी सारे व्यक्तियों को या उसके उतने अंग को, जो उन्नति के लिए तैयार है, सौंप दे। जहां ऐसा होता है सामाजिक समुदाय बिना किसी बाधा, गंभीर चोट या व्याधि के, स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ता है; नहीं तो उसके ऊपर एक अव्यवस्थित उन्नति लाद दी जाती है। क्योंकि प्रकृति को कभी यह सहन नहीं होगा कि मानुषी अहंभाव उसके आशय और उसकी आवश्यकता को सदा के लिए व्यर्थ कर दें।"

(मा०ए०आ० । १०)

**विचारक तथा कार्यकर्त्ता के लिए पूर्ण परामर्श :**

"........कोई कार्यकर्त्ता व्यक्ति या व्यक्तियों का अनुक्रम भी अपनी मनमानी शक्ति का प्रयोग करके निर्धारित नहीं कर सकता। यह स्पष्ट है कि वह राष्ट्र के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का निर्धारण नहीं कर सकता, क्योंकि यह उसके लिए अति विशाल है; कोई भी समाज अपने सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर एक स्वेच्छाचारी व्यक्ति का भारी दबाव नहीं सहन करेगा। वह आर्थिक जीवन को भी नहीं निर्धारित कर सकता, क्योंकि वह भी उसके लिए बहुत बड़ा है। वह केवल उसकी देखभाल कर सकता है और जिस दिशा में सहायता की आवश्यकता हो वहां सहायता पहुँचा सकता है। वह धार्मिक जीवन का भी निर्धारण नहीं कर सकता, यद्यपि ऐसा प्रयत्न किया जा चुका है; वह इसके लिए अत्यधिक गहन है; कारण, धर्म व्यक्ति का आध्यात्मिक और नैतिक जीवन है, वह भगवान् से उसकी आत्मा का सम्बन्ध है। दूसरे व्यक्तियों के साथ उसके संकल्प और चरित्र का घनिष्ठ सम्पर्क है, और वास्तव में कोई राजा या शासक वर्ग, यहां तक कि धर्म तंत्र अथवा पुरोहित वर्ग भी, व्यक्ति की आत्मा या राष्ट्र की आत्मा का स्थान नहीं ले सकता। न ही वह राष्ट्रीय संस्कृति को निर्धारित कर सकता है। वह केवल उसके महान अभ्युदयकाल में अपने संरक्षण द्वारा उसकी उस दिशा को निश्चित करके उसे सहायता पहुंचा सकता है जिसे वह अपनी प्रवृत्ति के बल पर ग्रहण कर रही थी।

(मा०ए०आ० । १६४–६५)

**राज्य का कर्त्तव्य, जब तक वह एक आवश्यक अंग बना रहता है :**

" जब तक राज्य मनुष्य के जीवन और विकास का एक आवश्यक अंग बना रहता है तब तक उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह सम्मिलित कार्य की सब संभव सुविधाएं जुटाए, बाधाएं दूर करे, सब प्रकार के वस्तुतः हानिकारक अपव्यय और संघर्ष को रोके—थोड़ा-बहुत अपव्यय तो प्रकृति के सब कार्यों में आवश्यक तथा उपयोगी होता ही है,—और व्यर्थ के अन्याय को दूर करके प्रत्येक व्यक्ति को उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



क्षमता के अनुसार तथा उसके स्वभाव के अनुकूल उसकी उन्नति और तुष्टि का एक उचित और समान अवसर प्रदान करे। यहां तक तो वर्तमान समाजवाद का उद्देश्य ठीक है और अच्छा भी है, पर मानव-विकास की स्वतंत्रता में किसी प्रकार का भी अनावश्यक हस्तक्षेप हानिकारक होता है या हो सकता है। सम्मिलित कार्य भी हानि पहुंचा सकता है यदि वैयक्तिक विकास की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सबके हित के लिए प्रयत्न करने के स्थान पर—क्योंकि बिना वैयक्तिक विकास के किसी प्रकार का वास्तविक और स्थायी सर्वहित होना संभव नहीं है—वह समाज के अहं-भाव पर व्यक्ति की बलि चढ़ा दे तथा अधिक पूर्ण रूप से उन्नत मानव-जाति के विकास के लिए जितने स्वतंत्र अवकाश और भौतिक शक्ति की आवश्यकता हो उसको रोक दें।"

(मा० ए० आ०। २४)

**समाजवाद या समष्टिवाद एक समय-विशेष पर आवश्यक हो सकता है, परंतु ऐसा करने के लिए उसे पहले अपने को अध्यात्ममय बनाना होगा तथा अपने प्रेरक सिद्धांत की आंतरिक भावना को बदलना होगा।**

"अराजकतावादी आक्षेप के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि सामाजिक विकास में समष्टिवादी युग अंतिम और सर्वश्रेष्ठ अवस्था न भी हो पर कम से कम एक अनिवार्य अवस्था अवश्य है, क्योंकि व्यक्तिवाद का दोष यह है कि व्यक्ति के जीवन और मन के या उसकी जीवन-आत्मा के स्वतंत्र विकास या इन सबकी अभि-व्यक्ति पर बल देते हुए वह मानसिक और प्राणिक सत्ता के अहं को अत्यधिक बढ़ा देता है तथा दूसरों के साथ उस एकता को अनुभव नहीं करने देता जिसके आधार पर ही पूर्ण आत्मविकास और निर्दोष स्वतंत्रता प्रतिष्ठित हो सकते हैं। समष्टिवाद कम से कम पृथक् अहं के जीवन को एक महत्तर सामुदायिक अहं के जीवन के पूर्ण-तया अधीन करके इस एकता पर बल तो देता है। इस प्रकार उसका कार्य यह हो सकता है कि वह व्यक्ति के मन और उसके जीवन के अभ्यासों पर अपने जीवन को दूसरों के जीवन के साथ एक करने की आवश्यकता को दृढ़ रूप से अंकित कर दे। पीछे, जबकि व्यक्ति पुनः अपनी स्वतंत्रता के अधिकार का बलपूर्वक समर्थन करता है, जैसाकि एक दिन वह करेगा ही, तो वह अपने पृथक् अहंभाव-युक्त जीवन के आधार पर नहीं वरन् इसी ऐक्य के आधार पर ऐसा करना सीख सकता है। जब कि वह सामाजिक जीवन के समष्टिवादी सिद्धांत का अनुसरण कर रहा होता है, मानव-समाज में यही प्रकृति का उद्देश्य हो सकता है। यदि समष्टिवाद अपने सिद्धांत में इतना संशोधन कर ले कि व्यक्ति एकता तथा सुसमन्वित सार्वजनीन जीवन के आधार पर अपना स्वतंत्र विकास कर सके तो वह स्वयं भी अन्त में अपना उद्देश्य सिद्ध कर सकता है। किन्तु ऐसा करने के लिए उसे पहले अपने को अध्यात्ममय बनाना होगा तथा अपने प्रेरक सिद्धांत की आंतरिक भावना को बदलना होगा। पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


यह वह तार्किक बुद्धि और जीवन की वैज्ञानिक व्यवस्था के आधार पर नहीं कर सकता।"

(मा० च० २४५–२४६)

**जीवन का नियम एकरूपता नहीं, एकता है :**

"पूर्ण एकरूपता का अर्थ होगा जीवन का अन्त, उधर जीवन-धमनी की शक्ति उन विभिन्नताओं की समृद्धि से नापी जा सकती है जिन्हें जीवन उत्पन्न करता है। साथ ही, यदि विभिन्नता जीवन की शक्ति और विपुलता के लिए आवश्यक है तो एकता भी उसकी व्यवस्था, क्रमबद्धता और सुस्थिरता के लिए ज़रूरी है। एकता तो हमें उत्पन्न करनी है पर एकरूपता उत्पन्न करना उतना आवश्यक नहीं। यदि मनुष्य एक पूर्ण अध्यात्मिक एकता प्राप्त कर सके तो किसी भी एकरूपता की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि तब इस आधार पर विभिन्नता की चरम क्रीड़ा सुरक्षित रूप में संभव होगी। साथ ही, यदि वह एक सुरक्षित, स्पष्ट और सुदृढ़ एकता सिद्धांत-रूप में चरितार्थ कर सके तो उसे क्रियान्वित करने में एक समृद्ध यहां तक कि एक असीम विभिन्नता भी प्राप्त की जा सकेगी और उसमें किसी संघर्ष, अव्यवस्था या अस्तव्यस्तता का भय भी नहीं होगा।"

(मा० ए० आ० १५६)

**स्वतंत्रता की बढ़ती हुई आवश्यकता :**

"यदि वैयक्तिक मन को पूर्ण रूप से विकसित होने दिया जाय और उसे उन्मुक्त क्रीड़ा का अवसर प्रदान किया जाय तो उस असीम विविधता के साथ-साथ, जो इस विकास का अवश्यंभावी परिणाम होगी, स्वतंत्रता की आवश्यकता भी बढ़ने लगेगी; और विचार और बुद्धि को तो स्वतंत्र रूप में कार्य करने की अनुमति प्रदान की जाय, किन्तु जीवन के सज्ञान संकल्प की स्वतंत्र क्रीड़ा पर जीवन के अत्यधिक नियमन के द्वारा प्रतिबंध लगा दिया जाय, तो एक असहनीय विरोध और झूठ की स्थिति उत्पन्न हो जायगी। मनुष्य इस स्थिति को कुछ समय तक तो यह सोचकर सहन कर सकता है कि समाज की समष्टिवादी व्यवस्था अपने साथ आर्थिक विकास, कार्यकुशलता के साधन, तर्क-बुद्धि की वैज्ञानिक तुष्टि तथा सुप्रबंध के महान्, प्रत्यक्ष और नवीन लाभ लाएगी, किंतु जब उसके लाभ एक वास्तविक तथ्य बन जाँयेंगे और दोष अधिकाधिक तीव्र होकर अनुभव होने लगेंगे, तो समाज के अत्यधिक निर्मल और उत्साही मनों में निश्चित रूप में विद्रोह और असंतोष पैदा हो जायगा जो पीछे जन साधारण में भी फैल जायगा।"

(मा० च० २४१–४२)

**सभी पद्धतियों का मूल दोष मनुष्य की आत्मा की उपेक्षा करना है :**

इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है और कुछ हद तक यह सत्य को प्राप्त करने का ठीक मार्ग भी माना जा सकता है, कि हमारी समस्त पद्धतियों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मूल दोष ठीक उसी तत्व, अर्थात् आध्यात्मिक तत्व, के अपूर्ण विकास में निहित है जिसकी समाज ने अत्यधिक उपेक्षा की है। यह तत्व मनुष्य की आत्मा है और यही उसकी सच्ची सत्ता है।

(मा० च० २५५)

केवल, अन्दर की ओर, एक महत्तर अनुभववादी भावना की ओर मुड़ने की उसकी नयी प्रवृत्ति में, जो अभी-अभी आरंभ हुई है, कुछ अधिक आशा दिखाई देती है। कारण, इस प्रवृत्ति से वह यह जान सकता है कि मनुष्य का वास्तविक सत्य उसकी आत्मा में निहित है। यह वस्तुतः निश्चित नहीं है कि अनुभववादी युग हमें वहां तक ले ही जायगा, किन्तु वह इस संभावना को प्रस्तुत अवश्य करता है। यदि उसका यथार्थ उपयोग किया जाय तो वह इस दिशा में मुड़ सकता है जो कि एक अधिक आन्तरिक गति होगी।

(मा० च० २५६)

**समाज, जो अपने व्यक्तियों को छोड़कर अपनी संस्थाओं पर जीवित रहता है, एक मशीन है :**

जो समाज अपने व्यक्तियों को छोड़कर अपनी संस्थाओं पर निर्भर रहता है वह एक सामुदायिक आत्मा नहीं, एक मशीन है। उसका जीवन एक यंत्र निर्मित वस्तु बन जाता है, वह एक सजीव विकसनशील वस्तु नहीं रहता। इसलिए आध्यात्मिक युग के आने से पहले कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य प्रकट होने चाहियें जो अब मनुष्य के सामान्य बौद्धिक, प्राणिक और भौतिक जीवन से संतुष्ट न हों बल्कि वे यह देखने लगें कि मनुष्य जाति का सच्चा लक्ष्य एक महत्तर विकास है और वे अपने अन्दर इसे चरितार्थ करने का, दूसरों को इस ओर ले जाने का तथा इस जाति का एक स्वीकृत लक्ष्य बनाने का प्रयत्न करें। जिस हद तक वे सफलता प्राप्त करेंगे तथा जिस परिणाम में वे इस विकास को सिद्ध करेंगे, उसी हद तक और उसी परिणाम में वह शक्यता, जो अभी तक चरितार्थ नहीं हुई है तथा जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, भविष्य की एक वास्तविक संभावना बन जायगी।

(मा० च० ३००)

**समाज का सच्चा और पूर्ण आध्यात्मिक लक्ष्य मनुष्य को ऐसी आत्मा मानेगा जिसका अवतरण पृथ्वी पर दिव्य पूर्णता लाने के लिए हुआ है :**

"समाज का सचा और आध्यात्मिक लक्ष्य मनुष्य को मन, प्राण और शरीर के रूप में देखना नहीं, वह उसे एक ऐसी आत्मा मानेगा जिसका अवतरण ऊपर स्वर्ग में ही नहीं बल्कि इस पृथ्वी पर भी दिव्य पूर्णता लाने के लिए हुआ है। वस्तुतः यदि उसका यहां शारीरिक, प्राणिक और मानसिक प्रकृति के जगत् में कोई दिव्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कार्य नहीं होता तो उसे स्वर्ग छोड़ने की आवश्यकता ही क्या थी। अतएव वह मन, प्राण और शरीर को अपने आप में न तो ऐसे लक्ष्य ही समझेगा जो अपनी संतुष्टि के लिए स्वतः पूर्ण हैं और न ही वह उन्हें ऐसे मर्त्य और व्याधिग्रस्त अंग समझेगा जिन्हें त्यागना आवश्यक हो जाता है, जिससे कि आत्मा बचकर अपने पवित्र प्रदेशों में चली जाय।"

(मा० च० २५८–५९)

"इस कारण वह मनुष्य-जीवन के उन सब विभिन्न अंगों को पवित्र समझेगा जो उसकी सत्ता के शारीरिक, प्राणिक, गतिशील, आवेगात्मक, सौन्दर्यात्मक, नैतिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास के साथ संबंध रखते हैं और साथ ही वह उन्हें एक दिव्यतर जीवन में विकसित होने के लिए साधन भी समझेगा। वह प्रत्येक मानवसमाज, राष्ट्र, जाति अथवा किसी भी अन्य सुघटित समुदाय को इस दृष्टि से देखेगा, यह भी कहा जा सकता है कि उन्हें उप-आत्माएं समझेगा, उन्हें परम आत्मा की, दिव्य सद्-वस्तु की तथा पृथ्वी पर मनुष्य के अन्दर के चेतन असीम की जटिल अभिव्यक्ति और स्व-परिपूर्णता के साधन समझेगा। क्योंकि मनुष्य आंतरिक रूप में भगवान के साथ एक है, उसकी संभावित दिव्यता ही उसका एकमात्र धर्म अथवा सिद्धान्त हो सकती है।

(मा० च० २५९–२६०)

**आध्यात्मिक लक्ष्य विज्ञान तथा दर्शन पर कोई प्रतिबन्ध लगाना नहीं :**

इस प्रकार सच्ची आध्यात्मिकता विज्ञान और दर्शन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाएगी और न वह उन्हें अपने परिणामों को कट्टर धार्मिक या निश्चित आध्यात्मिक सत्य की किसी स्थापना के अनुकूल बना देने के लिए बाध्य ही करेगी, जैसाकि कुछ प्राचीन धर्मों ने अहंकार, अज्ञान और एक अनाध्यात्मिक दुराग्रह एवं अभिमान के वश में होकर किया था।

(मा० च० २६१)

हम प्रायः ही देखते हैं कि व्यक्ति और समाज में नास्तिकता एक गहनतर धार्मिक और आध्यात्मिक सत्य तक पहुँचने के लिए एक आवश्यक मार्ग का कार्य देती है : कभी कभी भगवान् को प्राप्त करने के लिए उसे अस्वीकार भी करना पड़ता है। समस्त सच्चे सन्देहवाद और निषेध के अन्त में प्राप्ति का होना अवश्यंभावी है।

(मा० च० २६१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**आध्यात्मिक उद्देश्य तपस्या को छोड़ना और जीवन के रूपान्तर तथा पूर्णता में अपनी परिपूर्णता को खोजना है :**

................आध्यात्मिक उद्देश्य अपने-आपको, व्यक्ति और जाति में, जीवन तथा मानव-सत्ता की परिपूर्णता के रूप में, चरितार्थ करने का प्रयत्न करेगा और यही आत्मा की ऊंचाइयों का आधार बनेगा जो अन्त में उच्चतम शिखरों के साथ सारतः एक हो जायगा। वह शरीर की घृणापूर्ण उपेक्षा करके आगे नहीं बढ़ेगा, न वह प्राणिक सत्ता को तपस्या द्वारा भूखों ही मारेगा, वह चरम रिक्तता या दुःख को आध्यात्मिक जीवन का नियम नहीं समझेगा; वह कला, सौन्दर्य और जीवन के सौन्दर्यात्मक आनन्द का कट्टर नैतिक तरीके से निषेध भी नहीं करेगा, न ही वह विज्ञान और दर्शन को हीन, उपेक्षणीय अथवा भ्रान्तिपूर्ण बौद्धिक विषय समझ कर उनकी उपेक्षा करेगा, यद्यपि विपक्षी अतियों के विरोध में इन अत्युक्तियों की सामयिक उपयोगिता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। वह सबके लिए सब कुछ होगा, किंतु वह सबमें एक-साथ उनका सर्वोच्च उद्देश्य और अर्थ भी होगा और उनकी अपनी अत्यधिक परिपूर्ण अभिव्यक्ति भी, जिसमें वे जो कुछ हैं और जो कुछ वे पाना चाहते हैं वह सब चरितार्थ हो जायगा। उसका उद्देश्य समाज में एक प्रबल चर्च या पुरोहित-वर्ग के झूठे धर्मतंत्र की नहीं, वरन् एक सच्चे आन्तरिक धर्मतंत्र, अर्थात् आन्तरिक पुजारी पैगम्बर या राजा के राज्य की स्थापना करना होगा। वह मनुष्य के सामने उसके अन्दर स्थित दिव्य तत्त्व को अन्तरस्थ प्रकाश, शक्ति, सौन्दर्य, शुभ, आनन्द और अमरत्त्व के रूप में प्रकट करेगा तथा उसके बाह्य जीवन में भी भगवान् के उस राज्य को स्थापित करेगा जो पहले हमारे अन्दर ही प्रकट होता है। वह मनुष्य को उसकी अपनी सत्ता के प्रत्येक भाव में (सर्वभावेन) भगवान् को प्राप्त करने और उसमें निवास करने का रास्ता बताएगा। मनुष्य चाहे जिस प्रकार भी रहे और कर्म करे. वह उसीमें, अर्थात् भगवान् में, परम आत्मा में अपनी सत्ता के सनातन सत्य में, निवास करेगा और कर्म करेगा।

(मा० च० २६३–२६४)

**आध्यात्मिक समाज में विज्ञान, नीतिशास्त्र और कला :**

वह अपने क्षेत्र में समस्त ज्ञान को समेट लेगा, किन्तु उसकी समस्त प्रवृत्ति उद्देश्य तथा व्यापक भावना केवल सांसारिक कुशलता की ही नहीं होगी बल्कि आत्म-विकास और आत्म-उपलब्धि की भी होगी। वह समाज भौतिक और आध्यात्मिक विज्ञान का अध्ययन इसलिए नहीं करेगा कि वह केवल संसार और प्रकृति को उनकी क्रियाओं में जान ले तथा स्थूल मानव-उद्देश्यों के लिए उनका प्रयोग करे, अपितु इसलिए भी कि वे संसार में समस्त वस्तुओं के बीच में, उनके अन्दर, नीचे और ऊपर से भी भगवान् को तथा आत्मा के तरीकों को उसके आवरणों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तथा उनके पीछे से भी पहचान ले। नैतिक शास्त्र संबंधी उसका उद्देश्य कर्म का नियम स्थापित करना नहीं, बल्कि मनुष्य में दिव्य प्रकृति को विकसित करना होगा। यह नियम सामाजिक नियम के साथ योग भी दे सकता है और आंशिक रूप में उसमें सुधार भी ला सकता है। परन्तु यह सामाजिक नियम भी केवल मानव का प्रायः ही एक अधूरा और अज्ञानपूर्ण नियम होता है। कला संबंधी उसका उद्देश्य आन्तर और बाह्य जगत् की प्रतिमूर्तियों को ही उपस्थित करना नहीं होगा, उरन् वह उन्हें एक ऐसी अर्थपूर्ण और निर्माणकारी अन्तर्दृष्टि से देखेगा जो उनके बाह्य रूपों के मूल तक जाती है, वह उस सौन्दर्य और सत्य को प्रकट करेगा जिसके अन्य दृश्य और अदृश्य वस्तुएं केवल रूप, आवरण अथवा प्रतीक और अर्थपूर्ण आकार हैं।

(मा० च० २९२)

**आध्यात्मिक समाज में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र :**

एक आध्यात्मिक समाज अपने समाज शास्त्र में व्यक्ति को, संत से लेकर अपराधी तक को, सामाजिक समस्या की कुछ ऐसी इकाइयों के रूप में नहीं लेगा जिन्हें किसी सुनिश्चित मशीनरी में से गुजारकर और ठोकपीट कर इच्छानुसार गढ़ लेना है, वरन् वह उन्हें ऐसी आत्माएं समझेगा जो एक जाल में फँसी दुःख उठा रही हैं और जिन्हें उसे मुक्त करना है, ऐसी आत्माएं जो विकसित हो रही हैं और जिन्हें विकसित होने के लिए उत्साहित करना है, अथवा आत्माएं जो विकसित हो चुकी हैं और जिनसे वे निम्न आत्माएं जो अभी परिपक्व अवस्था को नहीं पहुंची हैं सहायता एवं शक्ति ग्रहण कर सकती हैं। उसके अर्थशास्त्र का उद्देश्य उत्पादन की एक विशाल मशीन का निर्माण करना नहीं होगा, फिर चाहे वह प्रतिस्पर्धी ढंग की हो चाहे सहकारी ढंग की, बल्कि उसका उद्देश्य मनुष्यों को, कुछ को ही नहीं वरन् सबको, प्रत्येक को, उसके उच्चतम संभव परिणाम के अनुसार, उनकी अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य का आनन्द एवं आन्तरिक विकास के लिए स्वतंत्र अवकाश प्रदान करना होगा, साथ ही उसका उद्देश्य सब के लिए एक सरल ढंग के समृद्ध और सुन्दर जीवन की व्यवस्था करना भी होगा। अपनी राजनीति में वह राष्ट्रों को उनके अपने आन्तरिक जीवन के क्षेत्र में, व्यवस्थित और सुसज्जित विशाल राज्य-मशीनें नहीं समझेगा, जिनमें मनुष्य केवल मशीन के खातिर ही जीवन धारण कर रहा हो तथा उसे ही अपने भगवान् और अपनी विशालतर सत्ता के रूप में पूजता हो, अथवा पहली पुकार पर ही उसकी वेदी पर दूसरों का वध करने तथा साथ ही अपना भी रक्त बहाने में संतोष मानता हो, जिससे कि मशीन दुरुस्त और शक्तिशाली बनी रहे तथा अधिकाधिक विशाल, जटिल, भारी और यांत्रिक रूप से कुशल और पूर्ण बनती जाय। न ऐसा समाज इन राष्ट्रों या राज्यों को अपने पारस्परिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


संबंधों में ऐसे दुःखदायी इंजन ही बनाए रखने से संतुष्ट होगा जिनका काम शान्ति के समय एक-दूसरे पर विषैली गैस छोड़ना और संघर्ष के समय एक-दूसरे की सशस्त्र फौजों तथा निहत्थे लोगों पर धावा बोलना हो तथा जिनमें से गोलियों की बौछार होती हो और जिनमें मनुष्यों को आधुनिक युद्ध क्षेत्र में विपक्षियों के टैंकों की भांति संहार करने का काम सौंपा गया हो। वह मनुष्यों को सामूहिक आत्माएं अर्थात् ऐसा दिव्य तत्त्व समझेगा जो छिपा हुआ है और जिसे अपनी मानव-समष्टियों में खोजा जाना है, ऐसी सामूहिक आत्माएं जिन्हें व्यक्ति के समान ही अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित होना है तथा उस विकास के द्वारा उसे एक-दूसरे की, बल्कि मानव जाति के एक ही सहकार्य में समस्त जाति की, सहायता करनी है और यह कार्य व्यक्ति और समुदाय में दिव्य सत्ता को प्राप्त करना तथा आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक और भौतिक रूप में उसकी अत्यधिक महान्, विशाल, समृद्ध और गहन संभावनाओं को सबके आन्तरिक जीवन में तथा उनके बाह्य कार्य और प्रकृति में चरितार्थ करना होगा।

(मा० च० २६३)

**आध्यात्मिक समाज और धर्म के बीच परस्पर विरोध :**

धर्म के किसी विशेष विश्वास और रूप की अपने-आपको व्यापक रूप देने या अपने को दूसरों पर लादने की महत्त्वाकांक्षा मानव-प्रकृति की विविधता के तथा कम से कम आत्मा के एक मूल स्वभाव के प्रतिकूल है। कारण,आत्मा का स्वाभाविक गुण एक ऐसी विस्तृत आंतरिक स्वतंत्रता एवं विशाल एकता है जिसमें प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित होने की अनुमति मिलनी चाहिए। एक बात और भी है—और यह अभी तक अनिवार्य असफलता एक और कारण बनी हुई है—कि इन मताग्रही धर्मों की सामान्य प्रवृत्ति परलोक की चिन्ता करने की तथा पार्थिव जीवन के अभ्युदय को एक गौण वस्तु बना देने की होती है, और जैसे-जैसे मनुष्य-जाति के वर्तमान सार्वभौम अभ्युदय की प्रारम्भिक आशा निर्बल होती जाती है वैसे वैसे यह प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है। अतएव जबतक बहुत सी नयी आध्यात्मिक लहरें अपनी सबल विशिष्ट प्रेरणाओं और अनुशासनों के साथ आवश्यक रूप में आध्यात्मिक युग के अग्रदूत नहीं बन जातीं, तबतकजाति तथा उसके आध्यात्मिक नेताओं के भी समष्टिगत मन में उनकी मांगों को इस सत्य के अधीन हो जाना होगा कि समस्त प्रेरणाएं और अनुशासन ठीक हैं किन्तु फिर भी इनमें से कोई भी पूर्णतया ठीक नहीं हैं, क्योंकि ये साधनमात्र हैं, एकमात्र करणीय वस्तु नहीं। एक बात बड़ी आवश्यक है, और उसे प्रधानता मिलनी ही चाहिए, कि मनुष्य के समूचे जीवन को आत्मा के पथ-प्रदर्शन में छोड़ देना चाहिए। मनुष्य का स्वर्ग की ओर आरोहण समाधान नहीं है, बल्कि उसका यहां आत्मा की ओर आरोहण और साथ ही आत्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



का उसकी सामान्य मानवता में अवरोहण और इस पार्थिव प्रकृति का रूपान्तरण ही समाधान है। कारण, मृत्यु के बाद मोक्ष नहीं बल्कि यह रूपान्तरण ही वह सच्चा नया जन्म है जिसके लिए मानव जाति अपने लम्बे, अंधकारपूर्ण और कष्टप्रद पथ की चरम परिणति के रूप में प्रतीक्षा कर रही है।

(मा० च० ३०२–३०३)

**आध्यात्मिक समाज और स्वतंत्रता :**

यह समाज मनुष्य को मशीन द्वारा पूर्ण बनाने का या उसके हाथ-पैर बांधकर उसे सीधा रखने का प्रयत्न नहीं करेगा। वह समाज के सदस्य के आगे उसकी उच्चतम सत्ता को एक सिपाही, नियुक्त और अनियुक्त कर्मचारी के रूप में या, यह भी कहा जा सकता है, एक समाजवादी नौकरशाही अथवा एक श्रमिक सोवियत के रूप में उपस्थित नहीं करेगा। उसका उद्देश्य मानव-जीवन में बाह्य दबाव को, जितना जल्दी हो सके और जिस हद तक हो सके, कम कर देना होगा और ऐसा वह अन्तः स्थित आत्मा के आन्तरिक दिव्य दबाव को जागृत करके करेगा। जो भी प्राथमिक साधन वह काम में लाएगा उन सबका उद्देश्य भी यही होगा। और अन्त में वह, यदि अनन्य रूप में नहीं तो मुख्य रूप में, उस आध्यात्मिक दबाव का प्रयोग करेगा जो एक आध्यात्मिक व्यक्ति भी अपने आसपास के लोगों पर प्रयुक्त कर सकता है,—और एक आध्यात्मिक समाज तो इससे भी बहुत अधिक कर सकता है,—यह दबाव हमारे समस्त आन्तरिक विरोध और बाह्य अस्वीकृति के होते हुए भी हमारे अन्दर प्रकाश के दबाव को तथा मनुष्य की अपनी प्रकृति से दिव्य सत्ता में विकसित होने की इच्छा और शक्ति को जगा देता है। कारण, एक पूर्णतया आध्यात्मिक समाज वह होगा जिसमें, जैसाकि एक आध्यात्मिक अराजकतावादी स्वप्न देखता है, सब मनुष्य गहरे रूप में स्वतंत्र होंगे; और ऐसा इसलिए होगा क्योंकि प्राथमिक शर्तें पूरी हो चुकी होंगी। उस अवस्था में प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने लिए एक विधान नहीं बल्कि विशेष विधान अर्थात् दिव्य विधान होगा। कारण, एक ऐसा अहंभाव नहीं होगा जो यदि पूर्णतया नहीं तो प्रधानतया अपने हित और स्वार्थ के लिए रहता है। उसका जीवन उसकी अपनी दिव्य अहं-मुक्त प्रकृति के नियम से संचालित होगा।

(मा० च० २९५)

**व्यक्ति न तो अपने लिए और न राज्य और समाज के लिए जीवन धारण करेगा वह केवल अपने अन्दर स्थित भगवान के लिए और विश्व-स्थित दिव्य सत्ता के लिए होगा :**

आध्यात्मिक जीवन एक विशिष्टताहीन एकत्व का नहीं, बल्कि एक चेतन और विविधता से पूर्ण एकत्व का विकास है।

(मा०च० २९६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


"........जो मनुष्य सबमें भगवान के दर्शन करता है वह प्रेममयी सेवा के द्वारा सबमें भगवान की उपासना करेगा। दूसरे शब्दों में, वह केवल अपनी स्वतंत्रता ही नहीं वरन् सबकी स्वतंत्रता, केवल अपनी पूर्णता ही नहीं वरन् सबकी पूर्णता प्राप्त करना चाहेगा। वह विशालतम विश्व-मयता के सिवाय और किसी में अपने व्यक्तित्व को पूर्ण अनुभव नहीं करेगा, न वह वैश्व जीवन के साथ एक हुए बिना अपने जीवन को पूर्ण समझेगा। वह न तो अपने लिये, और न राज्य और समाज के लिए और न वैयक्तिक या सामूहिक अहंभाव के लिए ही जीवन धारण करेगा; उसका जीवन एक महत्तर वस्तु के लिए, उसके अन्दर स्थित भगवान के लिए और विश्वस्थित दिव्य सत्ता के लिए होगा।

(मा० च० २६६)

"आध्यात्मिक युग अपने आगमन की तैयारी तभी करेगा जबकि मनुष्य का सामान्य मन इन सत्यों के प्रति सचेत होगा, तथा इस त्रिविध अथवा त्रिकरूप आत्मा के द्वारा प्रेरित होना या प्रेरित होने की इच्छा करना आरंभ कर देगा। (भगवान्, स्वतन्त्रता, एकता)"

(मा०च० २६६–२६७)

( ३ )

मानव की समस्याओं का हल अपनी सभ्यता के प्रमुख दोषों को दूर करने में पाना होगा।

श्री अरविन्द कहते हैं: "यदि मनुष्य एक बार अध्यात्म की ओर उठने को तैयार हो जाय तो सब कुछ बदल सकता है। लेकिन क्या समाधान हम को सुदूर भविष्य में नहीं पहुंचा देता? क्या यह हमारी वर्तमान अत्यावश्यक माँगों से असंबद्ध नहीं है?

श्री अरविन्द ने स्वयं ही अपनी पुस्तक दिव्य जीवन तथा मानव-चक्र में इन्हीं प्रश्नों को उठाया है। मानव-चक्र पुस्तक में वे लिखते हैं: "यह एक ऐसा समाधान है जिसके प्रतिवाद में यह कहा जा सकता है कि यह जाति के भावी विकासक्रम में एक श्रेष्ठतर मानव-समाज के निर्माण को सुदूर भविष्य के लिए स्थगित कर देगा। कारण, इसके अनुसार तर्क-बुद्धि द्वारा आविष्कृत कोई भी यांत्रिक व्यवस्था व्यक्ति या समुदाय को पूर्ण नहीं बना सकती। इसके लिए मानव-प्रकृति में एक आन्तरिक परिवर्तन होना चाहिए; यह परिवर्तन इतना कठिन है कि कुछ लोगों को छोड़कर इसे कोई भी साधित नहीं कर सकता। यह कोई निश्चित समाधान नहीं है, पर जो भी हो, यदि यह समाधान नहीं है तो और कोई समाधान भी नहीं हो सकता। यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यह मार्ग उपयुक्त नहीं है तो मनुष्य जाति के लिए कोई और मार्ग भी नहीं है। उस अवस्था में पार्थिव विकास को मनुष्य का अतिक्रमण करना होगा जिस प्रकार वह पशु का अतिक्रमण कर चुका है, और तब एक ऐसी महत्तर जाति का उदय होगा जो अपने अन्दर एक आध्यात्मिक परिवर्तन लाने में समर्थ होगी, एक ऐसे जीवन की सृष्टि होगी जो भगवान के अधिक निकट होगा। फिर भी तर्क द्वारा यह निष्कर्ष निकालने की कोई आवश्यकता नहीं है कि, क्योंकि पूरा परिवर्तन अभी तुरन्त ही संभव नहीं है इसलिए इसका आरंभ ही नहीं करना चाहिए। चाहे आरंभ में केवल कुछ गिने-चुने लोग ही उच्च शिखरों तक पहुंच सकते हों किन्तु सम्पूर्ण जाति की आध्यात्मिक आदर्श को अपनाने की निश्चित प्रवृत्ति, शिखरों की ओर उसके सतत आरोहण और निर्देशन का आरंभ, कोई सर्वथा असंभव वस्तुएं नहीं हैं। और इस आरंभ का अर्थ एक ऐसे प्रभाव का अवतरण हो सकता है जो मनुष्य जाति के समस्त जीवन की दिशा को पलट देगा और, जैसाकि तर्क-बुद्धि के विकास ने, वस्तुतः तर्क-बुद्धि के किसी भी विकास ने किया था, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उसकी क्षमताओं और उसके सम्पूर्ण ढांचे को विशाल रूप दे देगा।"

श्री अरविन्द के अनुसार यदि यह कार्य होना ही है तो दो शर्तों का पूरा होना आवश्यक है। पहली आवश्यकता है ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों की जिन्होंने पूर्ण रूप से अपने को उस भाव के अनुरूप बना लिया है और अपना प्रभाव समस्त जीवन पर डालने की क्षमता भी रखते हैं; दूसरी आवश्यकता है जन-जीवन में उस प्रभाव को ग्रहण करने की तत्परता होना। विश्व–इतिहास में कभी भी ये दोनों शर्तें साथ ही साथ पूरी होती नहीं देखी गयीं। और समस्त विगत असफलताओं का यही मुख्य कारण रहा है।

लेकिन क्या हम कह सकते हैं कि यदि भूतकाल में ऐसा नहीं हुआ तो भविष्य में भी नहीं हो सकेगा या कभी वर्तमान में भी नहीं हो सकता? प्रमुख रूप से यदि हम श्री अरविन्द के पांडिचरी आने तथा नये योग के महान उद्देश्य के आधार को देखें तो हमें स्वतः ज्ञात हो जायगा कि इन दोनों शर्तों को ठीक साथ-साथ लाने के लिए ही वह सब था। पूर्णता, जो उन्होंने प्राप्त की, वह दिव्य शक्ति, जो वे पृथ्वी पर लाये, पहली शर्त को पूरा करती है। लेकिन क्या हम कह सकते हैं कि मानव-समाज इस प्रभाव को ग्रहण करने के लिए तैयार है? इसमें कोई संदेह नहीं कि मानव-समाज या कम से कम भारतवर्ष तो अपने को एक दुस्तर संकटापन्न स्थिति में पा रहा है, और सब कहीं एक प्रत्याशा, एक घोर लालसा सही मार्ग पाने के लिए दिखाई देती है। मनुष्य वास्तव में वादों के बारे में भ्रमित हैं और वे इन वादों से अधिक और कुछ पाने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



और फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि मानव समाज पूरी तरह से तैयार है। वह अभी तक बिल्कुल उदासीन है, घोर असत्य से ओतप्रोत है। यह संभव है कि यह नए प्रभात के लिए गहन निशा की तैयारी हो। यह भी हो सकता है कि एक नया प्रयास नये सूर्योदय की भव्यता को ले आये। यह प्रयास ही, मेरे विचार से, श्री अरविन्द ऐक्शन है। बहुत बड़ी संभावना है कि भारत इस महान आध्यात्मिकता तक उठे। भारत के पास आध्यात्मिकता एक पैतृक-संपत्ति के रूप में है, और भारत कभी भी अपनी परीक्षा की कसौटी पर खोटा नहीं उतरा। हम बहुत ही आशा के साथ यह देख सकते हैं कि इस कठिनाई के समय में भी भारत असफल नहीं होगा।

निकट भविष्य की आवश्यकता नये प्रकार के नेताओं की तथा नयी विशेषताओं की है। यही वे नयी विशेषताएं हैं जिनकी व्याख्या करनी है और जिन्हें अर्जित करना है। श्री अरविन्द ने भी अपनी **मानव-चक्र** पुस्तक में भविष्य के नेताओं का वर्णन करते समय ठीक यही लिखा है :

........"जो व्यक्ति नये युग में मनुष्य-जाति के भविष्य को अत्यधिक सहायता पहुंचाएंगे वही आध्यात्मिक विकास को मनुष्य की भवितव्यता के, और इसी कारण उसकी एक बड़ी मांग के रूप में स्वीकार करेंगे।........वे केवल इस आध्यात्मिक रूपान्तर में विश्वास को, इसी के अनुसार चलने के प्रयत्न को, तथा जिस भी ज्ञान को इस प्रकार के जीवन का रूप दिया जा सकता है उसको ही मूल वस्तु समझेंगे। इस ज्ञान को जिस भी मत का रूप दिया जाय उसका कोई विशेष महत्व नहीं। विशेषतया वे यह विचारने की ग़लती तो नहीं करेंगे कि यह परिवर्तन मशीनरी और वाह्य संस्थाओं द्वारा साधित किया जा सकता है। वे यह जान लेंगे और कभी भी नहीं भूलेंगे कि इसका पालन प्रत्येक मनुष्य को अपने अन्दर ही करना होगा, नहीं तो यह परिवर्तन जाति के लिए कभी भी एक वास्तविक वस्तु नहीं हो सकता। वे पूर्व के उस आन्तरिक दृष्टिकोण को उसके सच्चे अर्थों में अपनाएंगे जो मनुष्य को अपनी भवितव्यता और मुक्ति को अपने अन्दर ही खोजने का आदेश देता है, किन्तु साथ ही वे उस उचित महत्व को भी स्वीकार करेंगे जो पश्चिम जीवन को तथा जो कुछ भी उत्तम से उत्तम हम जानते हैं या प्राप्त कर सकते हैं उसे समस्त जीवन का सामान्य नियम बनाने को देता है परन्तु उनका दृष्टिकोण भिन्न होगा। वे समाज को कुछ प्रबुद्ध आध्यात्मिक व्यक्तियों की एक धुंधली सी पृष्ठभूमि नहीं बनाएंगे, न वे उसे वैराग्यपूर्ण कठोर आध्यात्मिकता के एक अपेक्षाकृत विरल और वंध्यफूल के विकास के लिए एक ऐसी जड़ ही बना देंगे जो मजबूत बाड़ से घिरी हुई तथा पृथ्वी के साथ बंधी हुई है। वे इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करेंगे कि अधिक लोग सदा के लिए और आवश्यक रूप में जीवन के निम्न स्तरों पर ही विचरण करेंगे और केवल कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



थोड़े से लोग ही मुक्त वायु और प्रकाश की ओर बढ़ेंगे। किन्तु वे उन महान् आत्माओं के दृष्टिकोण से आरंभ करेंगे जिन्होंने पृथ्वी के जीवन का उद्धार करने के लिए प्रयत्न किया है तथा जो समस्त पूर्व-असफलताओं के होते हुए भी इसी विश्वास में दृढ़ रही हैं।"

वर्तमान परिस्थिति के लिए दिए गए श्रीमां के मंत्र के साथ मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूंगा :—

दिव्य प्रभो ! शाश्वत सत्य, हमें केवल अकेले तुम्हारी ही आज्ञा का पालन करना चाहिए और शाश्वत सत्य के अनुसार ही जीवन-यापन करना चाहिए।

**श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी**

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# श्री अरविन्द-दर्शन में चैतन्य-मीमांसा

ह० माहेश्वरी

श्री अरविन्द-दर्शन में चैतन्यकी मीमांसा इतने विस्तारसे, इतने बाहुल्य से और इतनी व्यापकता एवं सम्पन्नताके साथ हुई है कि उनके सम्पूर्ण दर्शन को चित्-दर्शन कहना कदाचित् अतिशयोक्ति नहीं होगी। उनके विशाल ग्रन्थों के स्वाध्यायसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शनका जिज्ञासा–अभीप्सामय समारम्भ, तात्त्विक सिद्धांतोंकी व्याख्या, आत्म-तत्त्वका अनुसंधान, लोक-परलोक जीवनका पर्यवलोकन, साध्य-साधनों की समीक्षा, ज्ञानके स्वरूप, लक्षण, सोपान एवं प्रामाण्य आदिका विश्लेषण, अध्यात्म-विद्या और योग, मानव-व्यक्तित्व और उसके विकासका अध्ययन, जगत्-जीवन आदि की विवेचना—प्रायः सभी कुछ स्वभावतः चैतन्य मीमांसापेक्षी है क्योंकि तत्त्वतः अथवा स्वरूपतः सबकुछ चिन्मय है।

व्याख्याकी दृष्टिसे उपर्युक्त सभी विषय अलग-अलग भूमिकाओंसे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः ये सब एक सर्वाङ्गपूर्ण दर्शन के अन्तर्गत इस प्रकार से समन्वित हैं जैसे किसी शरीर की रचना, उसकी क्रियाएँ और उसका विकास, सब कुछ जीवनके अन्तर्गत समन्वित होता है।

साधारणतया चैतन्यकी व्याख्याको मनोविज्ञानका कार्य समझा जाता रहा है, यद्यपि मनोवैज्ञानिकों ने स्पष्टरूप से उसकी अवहेलना कर दी है और आधुनिक मनोविज्ञानने प्रायः कायिक प्रवृत्तियों में ही अपने अध्ययन को सीमित कर लिया है। चेतन प्रवृत्तियों के मूल में अज्ञात, अचेतन आधारकी कल्पनामयी व्याख्या बहुधा असामान्य वृत्तियों को समझने के लिए अवश्य की गयी, किन्तु अत्यल्प। आज-कल योगके नाम पर विभिन्न प्रकार के अभ्यासों का प्रचलन बढ़ने से ध्यान आदि के वैज्ञानिक अध्ययन की कुछ प्रवृत्ति जगी है,किन्तु उसमें 'चैतन्य' के नाम पर मस्तिष्क और हृदय की वैद्युत्तरंगों का अध्ययन ही प्रस्तुत किया जाता है : निद्रा की अचेतन दशासे लेकर ध्यानमयी एकाग्रता तक सभी अवस्थाओंका अध्ययन उन्हीं तरंगोंके रूपमें किया जा रहा है। सब मिलाकर मनोविज्ञानकी ओर से चैतन्यका अध्ययन बहुत ही अपर्याप्त रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तथाकथित दर्शनशास्त्रकी दशा यह है कि संप्रति उसके अन्तर्गत 'तत्त्वचिन्तन' में बहुधा सत्ताविषयक तर्कना देखने को मिलती है, 'ज्ञानमीमांसा' के नामपर प्रायः प्रमाणविश्लेषणकी दुरूह गति (दुर्गति) होती है, नीति-धर्म-मीमांसाओं में विश्वासों को अविश्वासी मनोभाव से अथवा श्रेयभावनाओं को आस्थाहीन वृत्ति से उधेड़नेकासा कार्य होता है, चैतन्य के स्वरूपका अध्ययन किसी भी दार्शनिक विधामें केन्द्रीय अथवा महत्वपूर्ण जैसा नहीं दिखायी पड़ता; मानो इस प्रसंगमें इस समय दर्शनशास्त्र तटस्थ हो गया हो।

भारतीय दर्शन की परम्परा में चैतन्यकी चर्चा मनोविज्ञान, प्रमाणविचार एवं तत्वचिन्तन आदि में न्यूनाधिक रूप से होती रही है। योग और वेदान्त में विशेष रूप से उसका अध्ययन हुआ है। किन्तु बहुधा आप्त वचनों की समीक्षा के रूप में अथवा साधना-अभ्यासादि के प्रसंङ्ग में वह केन्द्रित रहा है। प्रमाणमीमांसा में प्रमातृ-प्रमेय चैतन्य का विश्लेषण एक विशेष प्रकार की मान्यता लिए हुए है, जिसमें चैतन्य के स्वरूपकी उतनी मीमांसा नहीं है जितनी उन वृत्तियों की जिन्हें विक्षेप कहा गया है। क्योंकि वहां चैतन्यको निर्विकार शुद्ध बोध मात्र, निष्क्रिय ज्ञानमयता माना गया है।

मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र के इस परिप्रेक्ष्य में चैतन्यकी जो सम्पन्न मीमांसा श्री अरविन्द-दर्शन में हुई है उससे मनोविज्ञान, प्रमाणशास्त्र एवं तत्त्व-चिन्तन, साधना, योग, अध्यात्मविद्या, सभी के लिए एक अपूर्व निधि सुलभ हुई है और दर्शनशास्त्र के अध्येताओं के लिए एक विशेष अवसर प्राप्त हुआ है कि वे विभिन्न पहलुओं से चैतन्यका अध्ययन करें।

यह प्रायः सर्वविदित है कि श्री अरविन्द-दर्शन अनुभूति-सम्पन्न दर्शन है। साथ ही यह भी सुविख्यात तथ्य है कि उनका दर्शन पूर्णान्वयी (इन्टेग्रल) दर्शन है। अतः दर्शनशास्त्र के जिन क्षेत्रों एवं विधाओं में हम चैतन्यका अध्ययन सम्भव मानते हों उनको विशेष रूप से अथवा परस्पर सम्बद्ध एवं समग्र रूप से चैतन्यमीमांसा के लिए लिया जा सकता है। हम मनोविज्ञान से आरम्भ कर सकते हैं, प्रमाण-विधि भी आरम्भ कर मकते हैं, तत्त्वचिन्तन से भी। परन्तु किसी भी विधा को अन्य विधाओं से अलग हटाकर अथवा किसी एक क्षेत्रको अन्यान्य क्षेत्रों से अलग काटकर जो अध्ययन हम कर पाएंगे वह अपनेआपमें अधूरा होगा। श्री अरविन्द-दर्शन के अन्तर्गत तो ऐसा विभक्त-विभाजक प्रत्येक अध्ययन अपनेआपमें असमर्थ एवं अपर्याप्त प्रयासमात्र होगा, यद्यपि उसमें प्रत्येक विभाग के लिए विपुल निधि उपलब्ध है।

सर्वाधिक अपेक्षित यह होगा कि हम पहले श्री अरविन्द के अनुसार चैतन्यका अर्थ ढूंढें और उसके पश्चात् उसकी व्यापक एवं पूर्णान्वयी व्याख्या समझें। उनके अनुसार यह साधारण मान्यता कि चैतन्य हमारे जागृत जीवन में मनकी सहज संज्ञा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मात्र है, एक भोंडी और छिछली धारणा है जिससे हमारे दार्शनिक चिन्तन को मुक्त होना है, क्योंकि हमारे भीतर स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं में भी चैतन्य होता है। इतना ही नहीं, गहराई से देखने पर स्पष्ट होता है कि हमारी दैहिक, प्राणिक, मानसिक—सभी दशाओं में, सभी क्रियाओं में एक निरन्तर विद्यमती शक्ति है जो व्यापक रूप से सबमें रहती है और सबका संचालन कर रही है।[1] वे लिखते हैं: "चैतन्य मानसिकता का पर्याय नहीं है, वह सत्ताकी स्वचेता शक्ति का द्योतक है जिसमें मानसिकता एक मध्यवर्ती दशा है; मानसिकता के नीचे वह उन प्राणगत एवं भौतिक प्रक्रियाओं में निमग्न है जो हमारे लिए अवचेतन हैं; ऊपर वह उस अति-मानस में उठता है जो हमारे लिए अतिचेतन है; किन्तु सबमें वह अद्वय अभिन्न तत्त्व है जो अपने को भिन्न भिन्न प्रकार से संगठित और संचालित करता है। यह चित् है जो तपःशक्ति के रूप में लोकों की सृष्टि करता है।"[2]

श्री अरविन्दने यह भी स्पष्ट बताया है कि चैतन्य अपनेआप में सत् और स्वयं समर्थ है। वह हमारे शरीर अथवा मस्तिष्क इत्यादि पर निर्भर अथवा उनके अधीन नहीं है, बल्कि उनमें ओत-प्रोत है और उसका संचालक और प्रयोजक है।[3] मनुष्य-जीवन तो सर्वशः एक व्यापक चैतन्य से ओतप्रोत और उससे संचालित जीवन है ही, समस्त विश्व-जीवन, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, स्थावर-जंगम, सजीव-निर्जीव आदि जो कुछ भी है चैतन्य परिचालित है, क्योंकि प्रकृति की समस्त घटनाओं में, उसके समस्त व्यापार में, एक व्यापक प्रयोजन व्यक्त होता है। जो कुछ हमें प्रकृति में व्यर्थ चेष्टा अथवा निरर्थक (वेस्ट) जैसा दिखाई पड़ता है वह भी निष्प्रयोजन नहीं होता। अतः यही मानना होगा कि सर्व संचालिका विश्व-शक्ति चैतन्य-ओतप्रोत है। मानव-जीवन में व्यक्त जिसे हम चेतना कहते हैं वह उसी पर–चैतन्य के अन्तर्गत है। श्री अरविन्द लिखते हैं:

"मनुष्य की चेतना प्रकृति-चैतन्य का एक रूप मात्र है, उससे भिन्न कुछ नहीं। मनस् तत्त्व से नीचे अन्यान्य रूपों में यह निर्वर्तित रहता है, मनस् तत्त्व में इसका उत्क्रमण होता है, और मनसे परे और उससे श्रेष्ठतर रूपों में भी इसका आरोहण होगा। कारण, जो शक्ति विश्वों का निर्माण करती है वह चित्-शक्ति है, जो पर-सत्ता अपने को इन विश्वों में व्यक्त करती है वह चित्-सत् है, और इस विश्वरूपात्मक अभिव्यक्ति का एकमात्र वह उद्देश्य जिसकी हम बुद्ध्या

१ लाइफ़ डिवाइन, अमरीकी संस्करण, पृष्ठ ८०।

२ वही: पृष्ठ ८३।

३ वही: पृष्ठ ८१: "भौतिक अवस्था मात्र एक सुषुप्त चैतन्य है जो बाह्य स्पर्शों के प्रति सचेत प्रतिक्रियाओं से परे अन्तर्धान कर जाता है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



धारणा कर सकते हैं वह है इसकी क्षमताओं अथवा सम्भावनाओं का परिपूर्ण रूपाविर्भाव। ४

स्पष्ट है कि श्री अरविन्द-दर्शन में चैतन्य का द्विविध अध्ययन सम्भव है : तत्त्वतः एवं वृत्तितः अथवा व्यवहारतः (यहाँ यह कह देना सर्वथा उचित होगा कि 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग केवलाद्वैत मतानुसार परमार्थ-विपरीत अर्थ में नहीं किया जा रहा है।) साथ ही उस अध्ययन को सर्वतः समन्वित बनाना होगा, क्योंकि समस्त वर्त्तन, समस्त व्यवहार तत्त्वान्तर्गत है। सुविधा की दृष्टि से हम वृत्त्यात्मक अध्ययन को मनोविज्ञान और प्रमाण-विचार का अध्ययन बनाकर मानवीय अनुभव और ज्ञान की समीक्षा कर सकते हैं और तात्त्विक अध्ययन को पर तत्त्व एवं सृष्टि के उद्भव एवं विकास की मीमांसा बना सकते हैं।

सामान्यतः जिसे हम तत्त्वमीमांसा कहते हैं उसमें वस्तु के वस्तुत्व का, उसके निजस्वरूप का, अनुसंधान होता है। किन्तु बहुधा हमारी मीमांसा का विषय होने के कारण वह प्रामाण्य-सापेक्ष विवेच्य विषय बन जाता है। वस्तुतत्त्व के नाम पर प्रत्यक्ष विषय अथवा उसकी भौतिक रचना इत्यादि को ही अनेक बार अनुसन्धेय समझ लिया जाता है, क्योंकि हमारी अनुसंधान-पद्धति अथवा प्रमाण-क्षमता के अनुसार ही हमारा तत्त्व-चिन्तन सम्भव होता है। परिणामतः प्राकृतिक जड़ तत्त्व, चिन्तनात्मक मनस् तत्त्व एवं अचिन्त्य निरपेक्ष की ही (स्वीकृति, अस्वीकृति, विश्लेषणात्मक घटन-प्रक्रिया, सहभाव, अभाव इत्यादि) विविध सम्भावनाओं में दर्शनशस्त्रीय तत्त्व-मीमांसा अपने को सार्थक करती रहती है। इन अनेक सम्भावनाओं में अनिश्चयात्मकता देखकर कदाचित् समस्त तत्त्वमीमांसा को अनिर्णेय घोषित किया जा सकता है : "तत्त्वमीमांसा निरर्थक है, असम्भव है।"

किन्तु परमतत्त्व के प्रति मानवजिज्ञासा अवरुद्ध नहीं होती। विविध सम्भावनाओं से वह छिन्न-भिन्न नहीं होती, 'अनिश्चयात्मकता' अथवा 'अनिर्णेयता' से वह विचलित नहीं होती और 'असम्भावना' की घोषणा से वह कुण्ठित नहीं हो जाती। श्री अरविन्द के अनुसार इस जिज्ञासा में मनुष्य की सहज, स्वाभाविक, सदा सजग अभीप्सा व्यक्त होती है जो आदिकाल से अनवरत उसे परम सत्य और परिपूर्णता की ओर प्रेरित करती आ रही है। इस जिज्ञासा को दबाया नहीं जा सकता, इसे तत्त्वज्ञान से परितृप्त करना होगा।

श्री अरविन्द-दर्शन में तत्त्वान्वेषण तथा तत्त्वबोध की विविध एवं विकासमयी भूमिकाएं हैं। उनका विश्लेषण, विस्तार एवं रहस्योद्घाटन चैतन्यात्मक है। सर्वातीत अचिन्त्य तत्त्व से लेकर स्थूलतम भौतिक पदार्थों तक सत्ता के विविध स्तर हैं जिनमें एक क्रमविकासात्मक सोपानता है। उन सबमें वस्तुतत्त्व, उसकी गति-

---

४ दि लाइफ डिवाइन, अमरीकी संस्करण, पृष्ठ ८५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विधि एवं तदनुरूप अनुभवादि का चैतन्य-सापेक्ष विशाल विस्तार है और उस सबकी विशद् व्याख्या है जिसका प्रत्येक संदर्भ एक विशिष्ट संदर्भ भी है तथा साथ ही वह एक सर्वांशयी पूर्णत्व के अन्तर्गत उसका अभिन्न अंश भी है। वे सभी संदर्भ परस्पर सापेक्ष हैं, उन सबमें अनुस्यूत उनका एक अद्वय परमाश्रय है जिसके नाते वे सब अपनी-अपनी विशेष भूमिकाएं सार्थक हैं। यथा स्थूलतम भूमिका पर जड़ पदार्थों की विविध रचनाएं हैं, उनमें स्थूल क्रिया-प्रतिक्रियात्मक तरंगें अथवा विकम्पन होते हैं और परिणामतः एक संवेदनहीन यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में वर्त्तन होता है। प्राण भूमिका पर, उसी प्रकार, जीवनी-शक्ति का एक ऐसा संचार है जिसमें विभिन्न कायाओं का विकसन है, उनमें परस्पर सम्पर्क होता है,आकर्षणविकर्षणात्मक स्नायविक उत्तेजनाएं और स्पन्दन आदि होते हैं और परिणामतः संवेदनात्मक वृत्तियां उत्पन्न होती हैं; यहां संवेदनशीलता में चैतन्य उभरता है। मनोमयी भूमिका पर कायिक इन्द्रियों के साथ गोचर विषयों का समूह है, परन्तु साथ ही मस्तिष्क आदि का प्रयोग करने वाले मानसिक व्यक्तित्व का उदय हो गया होता है। दुःख-सुखात्मक मनोवृत्तियां उत्पन्न होती हैं और परिणामतः सचेतन व्यापार के लिए चैतन्य की बोध-भाव-संकल्पात्मकता जग उठती है। यद्यपि भौतिक स्तर पर समस्त रचना, समस्त क्रिया एवं यंत्रवत् होने वाला समस्त व्यापार जड़ दिखाई पड़ता है और उसे एक प्रकार से चैतन्य की सुषुप्तावस्था कहना ही ठीक होगा, किन्तु क्रमशः उसी में से प्राण-संचार आरम्भ होता है, अनेक कायाओं का विकास होता है और भौतिक क्रियाओं की यांत्रिक गति में से ही संवेदनशीलता का प्राकट्य होता है। श्री अरविन्द इसी विकसन-प्रक्रिया में अभिव्यक्त और इसी से सिद्ध इस रहस्य का उद्घाटन करते हैं कि प्राण-मयी जीवनशक्ति भू-गत सत्ता में पहले से निहित होती है, अन्यथा मात्र यांत्रिक जड़ता से उसका प्रादुर्भाव असम्भव होता। इसी प्रकार प्राणिक जीवन में मनोमय तत्त्व पूर्वनिहित होता है जिसका विस्तृत व्यापार मानव की चिन्तन-मनन-स्मरणादि मनो-वृत्तियों में विकसित हो गया है। वस्तुतः यह सब किसी मूलभूत चैतन्य पर ही आधारित है, उसीसे उद्भूत है, उसी से निःसृत है,उसी में प्रगत है, उसी का है।"[५]

अपरंच, जिस मनोमयता में मूलभूत चैतन्य की वर्त्तमती अभिव्यक्ति हो रही है वह मनोमयता न तो उस चैतन्य का स्वरूप-लक्षण है न उसकी चरम अभि-व्यक्ति।[६] मनश्चैतन्य का विस्तृत व्यापार है, उसका अपना विशाल क्षेत्र और विकास-श्रेणियाँ हैं। किन्तु अपने उच्चतम शिखर पर भी उसकी विशेष सीमा है, हीनता और असमर्थता है। इस सीमा को लांघकर चैतन्य मनोमयता से ऊपर उठेगा, क्योंकि उसके सम्भव विकास की क्षमता और अनिवार्यता उसमें निहित है। विकासक्रम के

---

५ दि लाइफ डिवाइन : अध्याय १०, "चित्-शक्ति"।

६ वही : पृ० १५१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सिद्धांत के आधार पर वर्तमान दशा को अन्तिम दशा मान लेना सर्वथा अयुक्त होगा।

श्री अरविन्द-दर्शन में जड़-प्रतिक्रियाओं से लेकर मानसोत्तर दिव्य ज्ञान तक चैतन्य की विकासमयी शृंखलाओं का विस्तृत अध्ययन उपलब्ध है। स्थूल भौतिक जड़ स्थिति और यंत्रवत् गतियां, वनस्पति-जीवन की नाना अवस्थाएं और प्रतिक्रियाएं, विभिन्न जीव जन्तुओं की प्राणगत नैसर्गिक चेष्टाएं पशु-जीवन से ऊपर मानव-जीवन की विकासमयी मनोवृत्तियाँ और अतिमानवीय मानसोत्तर बोध-सम्भावनाएं एवं सत्यानुभूतियाँ, ये सब चैतन्य की ही विभिन्न दशाएं हैं, उसकी क्षमताएं एवं क्रियाएं हैं, उसीकी आत्माभिव्यक्तियाँ हैं।

मनोमयी भूमिका पर चैतन्य का अध्ययन हम लोगों के लिए कुछ अधिक स्वाभाविक और विस्तृत हो जाने से मनोविज्ञान और प्रमाणमीमांसा का विशाल क्षेत्र खुल जाता है। वहाँ ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षानुगामी एवं प्रत्यक्षाश्रित अथवा प्रत्यक्षापेक्षी मनन-चिन्तन की मिश्र-अमिश्र प्रतिक्रियाएं, विशुद्ध बुद्धि, अन्तर्प्रज्ञात्मक तादात्म्य-बोध इत्यादि मानव-ज्ञान की विकासमयी दशाएं हैं। उन सबका विस्तार एवं तारतम्य श्री अरविन्द-दर्शन में सुलभ है जहां प्रमाण-संबंधी विभिन्न मान्यताएं एक विशाल ज्ञान-मीमांसा में परस्पर सार्थक होती हैं।[७] प्रारम्भिक ऐन्द्रिय आभासों से लेकर आत्मानुभूति तक हमारे ज्ञान के विकास में चैतन्य की विभिन्न दशाओं का प्रस्फुटन चित् सत्ता का उतना ही द्योतक है जितना चिद्विलासका, चित्शक्तिका। श्री अरविन्द इन सभी अवस्थाओं से विकसित होने वाली ज्ञान-प्रक्रिया की समीक्षा वेदान्त की ज्ञान-पद्धति के अन्तर्गत करते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि वेदान्त-ज्ञान मात्र प्रमाणमीमांसा तक सीमित नहीं है, वह आत्मलाभ तक विस्तृत है। साथ ही उसमें चैतन्य की विभिन्न दशाएं चित्तत्त्व और चिद्वृत्ति का युगपत् अध्ययन प्रस्तुत करती हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान मानव-जीवन के व्यावहारिक अनुभव का विश्लेषणात्मक अध्ययन करते हुए एक ओर ऐन्द्रिय संरचनाओं के आधार पर प्रत्यक्ष आभासों का विस्तार करता है और दूसरी ओर मानव-प्रकृति की उसके कायागत विकास के आधार पर प्राण-प्रवृत्तियों से संबंधित व्याख्या प्रस्तुत करता है। साथ ही इन दोनों आधारों पर मनुष्य का क्रमशः होने वाला बोधविस्तार, राग-द्वेषात्मक संस्कार और भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यावहारिक अर्जनों की विकासात्मक समीक्षा प्रस्तुत करता है। ऊपरी ढंग से ऐसा प्रतीत होता है मानो मनुष्य के अनुभव-विकास का समस्त आधार उसकी काया हो। किन्तु श्री अरविन्द इस प्रसंङ्ग में अतिकायिक एवं कायानिरपेक्ष

---

७ दि लाइफ डिवाईन, अ० ८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


उन प्रचुर अनुभवों की समीक्षा करते हुए, जिनका अध्ययन क्रमशः परामनोविज्ञान के अन्तर्गत होने लगा है, यह निष्कर्ष देते हैं कि अनुभवमयी हमारी चेतना के लिए हमारी काया एक यंत्र मात्र है, उसकी कारिका नहीं, आधार नहीं, सृजनशक्ति नहीं।[८] उनका कथन है, "चैतन्य हमारे मस्तिष्क का प्रयोग करता है, मस्तिष्क न चैतन्य का उत्पादक है न उसका प्रयोग करने वाला।" (लाइफ डिवाइन, पृ० ८१) पुनरपि, "हमारी भौतिक काया भी न चैतन्य और चिन्तन का कारण है न उससे उनका किंकथं स्पष्ट होता है, प्रायः उसी प्रकार जैसे किसी इंजन की रचना वाष्प अथवा विद्युत् की क्रिया-शक्ति को न उत्पन्न करती है न उसका किंकथं स्पष्ट करती है।" (लाइफ डिवाइन, पृष्ठ ८१) श्री अरविन्द योगानुभूतियों के आधार पर इस सूक्ष्म सत्य का भी उद्घाटन करते हैं कि चैतन्य स्वयं एक शक्ति है, एक सत्ता है, जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए काया इत्यादि अपने यंत्रों का सृजन कर लेती है : उसका समस्त व्यापार एक आत्म-विस्तृति है। संक्षेपतः ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष, मनोमयी चिन्तन प्रक्रियाएं एवं वह समस्त आनुभविक व्यापार, जिसका हम मनोविज्ञान के द्वारा अध्ययन कर पाते हैं अथवा अध्ययन करने का प्रयास करते हैं, चैतन्य का ही विशाल व्यापार है। उसके मूल में चित्-तत्त्व की सत्ता है और उसकी समस्त गति-विधि में चिच्छक्ति का आत्म विचरण है।

स्पष्ट है कि मनोविज्ञान का जो भी चैतन्यविषयक अध्ययन है वह उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में सन्निहित है। अचेतन, चेतनोन्मुखी अवचेतन, सामान्य चेतन, जागृत-स्वप्नादि विभिन्न अवस्थाओं के अनुभव, वैयक्तिक चेतना और सामूहिक चेतना, असामान्य दशाएं और विषय जिन्हें परामनोविज्ञान कहा जाता है, सभी पर श्री अरविन्द ने विस्तार से लिखा है, समझाया है। उन सबकी मीमांसा हमारे सम्मुख एक पूर्णान्वयी मनोविज्ञान का विशाल अध्ययन है। यह समस्त अध्ययन मूलतः चैतन्य का ही अध्ययन है : निश्चय ही वह केवल विभिन्न अनुभवों का लक्षणात्मक वर्णन मात्र नहीं है अपितु तत्त्वात्मक अभिव्यक्तियों का रहस्योद्घाटन भी है, क्योंकि विभिन्न अनुभव-भूमिकाओं पर तात्विक सत्ता तथा चिच्छक्ति का ही निवर्तन है और उनके विकास-क्रम में एक तारतम्य है एवं उनसे ओत-प्रोत चिच्छक्ति की अभिन्नता है, क्योंकि प्रत्येक विकासोन्मुखी दशा में सम्भाव्य दशा पूर्वनिहित रहती है। स्वभावतः यह पूर्णान्वयी मनोविज्ञान एक प्रकार से विकासात्मक मनोविज्ञान होगा।[९]

प्रमाणमीमांसा एक ओर अनुभव-सापेक्ष है, दूसरी ओर तत्त्वापेक्षी, भले ही उसका आरम्भ एक ऐसी जिज्ञासा से हो सकता हो जो सर्वथा निरपेक्ष दिखायी पड़े। श्री अरविन्द के अनुसार मानवीय ज्ञान का विकास सामान्य प्रत्यक्ष से आरम्भ होकर

---

८ दि लाइफ डिवाईन, पृ० ८१।

९ विशेषतः द्रष्टव्य एवं अध्ययनीय : ऑन योग, भाग २।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भौतिक चिन्तन की जटिल प्रक्रियाओं से होता हुआ चिन्तनातीत दिशा में बढ़ता है और अन्ततोगत्वा शुद्ध चैतन्य-तादात्म्य में पहुंचता है। प्रमाण-समीक्षा का समस्त क्षेत्र प्रायः स्वान्वीक्षी चिन्तन का ही विस्तार है, उसमें प्रमातृ-प्रमेय-संबंध वस्तुतः चेतनागत संबंध ही हो सकता है। यह चेतना तभी संभव है जब प्रमाता और प्रमेय दोनों में समानवर्ती वह तादात्म्य हो जो तत्त्वतः अद्वय होते हुए भी प्रमाणतः उभयाश्रय हो। श्री अरविन्द के अनुसार प्रमाण का समस्त क्षेत्र उस परम चैतन्य पर आश्रित है जो तत्त्वतः सर्व मानातीत अप्रमेय सत् है तथा व्यवहारतः सर्व मानक्षम है। अतएव प्रमाणसमीक्षा की दिशा से चैतन्य का अनुसंधान हमें उस चित्-तत्त्व की ओर ले जाता है जिसकी सत्ता अपनेआप में नित्य ज्ञानमयी है और जिसकी ज्ञानशक्ति अपनेआपको अनन्त मान-प्रक्रियाओं में विस्तृत करती है।

ज्ञान-पद्धति और मनोविज्ञान की ये विकासात्मक मीमांसाएं योग में संयुक्त हो जाती हैं, क्योंकि वस्तुतः इनका एक अभिन्न तात्त्विक आधार है और 'योग' स्वरूपतः उस तत्त्व के साथ सचेतन एकता है। अतएव मनोविज्ञान चैतन्य के जिस गहनतम अनुसंधेय सिद्धांत की ओर बढ़ सकता है और ज्ञान-पद्धतियों का जो श्रेष्ठ ज्ञान-सोपान है वह अन्ततोगत्वा योग के द्वारा ही लब्ध हो सकता है; मनोविज्ञान और प्रमाणमीमांसा का जो तात्त्विक आधार है वही योग-साध्य आत्मचैतन्य है। कहा जा सकता है कि चैतन्य के स्वरूप का तात्त्विक बोध योगानुभूति है और उसके स्वरूप की मीमांसा तात्त्विक मीमांसा है।

श्री अरविन्द-दर्शन में पूर्णयोग का भी ऐसा विस्तार है जिसमें विभिन्न योग-पद्धतियों का एक समन्वय है और जिसमें चैतन्य का सर्वाङ्ग विकास सम्पादित होता है। उस विकास में कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग से संबंधित विशिष्ट चैतन्य-विकास भी है तथा कर्म–ज्ञान–भक्ति–समन्वित चैतन्य–विकास भी। साथ ही हठयोग, राजयोग, तंत्रयोगादि से संबंधित शरीर-चैतन्य, प्राणगत चैतन्य, मनोगत चैतन्य एवं सूक्ष्म सत्तागत चैतन्य का अपना-अपना विकास भी है और सर्व समन्वित व्यक्ति-सामग्रय-चैतन्य का भी विकास है। इतना ही नहीं, योग-सिद्धि से उस सर्वान्वयी एवं पर-चैतन्य की भी उपलब्धि अभीष्ट है जिसे अतिमानसिक कहा गया है और जिसके अवतरण से हमारी सत्ता, हमारा जीवन पूर्णतः रूपान्तरित होकर भगवत् चैतन्य की दिव्य अभिव्यंजना हो जायगा और इस सत्य का अनुभव होगा कि समस्त सत्ता चिच्छक्ति का आनन्दमय आत्मविलास ही है।

योग साधन, योग-सिद्धि एवं योग के आधारभूत तात्त्विक सिद्धान्तों का भी अध्ययन श्री अरविन्द-दर्शन में चैतन्य का ही अध्ययन है। योग की विभिन्न पद्धतियों से संबंधित साधक व्यक्ति का देह-प्राण-मनोमय अस्तित्व और उसमें निहित आत्म सत्य का समस्त अध्ययन हमारी सत्ता के विभिन्न अंशों और भूमिकाओं का वह अध्ययन है जिसमें भौतिक शरीर की स्थूल रचना एवं सूक्ष्म भौतिक सत्ता, समस्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


प्राण प्रवृत्तियां एवं सूक्ष्म प्राणशक्ति, बहिर्मन की व्यक्त वृत्तियां एवं सूक्ष्म अन्तर्मन की अज्ञात चेतना, सभी कुछ चैतन्यात्मक है।[१०] अपरंच, इस देह-प्राण, मनोमय व्यक्तित्व में निहित इससे कहीं अधिक गहन और उच्च अन्तरात्म-सत्ता स्वरूपतः चिन्मयी सत्ता है और संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण योग, सिद्धान्त से भी और साधना से भी, चैतन्य का ही तात्त्विक एवं संस्कारात्मक अनुसंधान है।

श्री अरविन्द-दर्शन में मनोविज्ञान, प्रमाण-विचार, विकास-सिद्धान्त, तत्वचिन्तन एवं योग इत्यादि के जिन संदर्भों को लिया गया है उन सबकी सर्व समन्वित सम्पन्नता और परिपूर्णता है अतिमानस चैतन्य में अथवा पर-चैतन्य में। उसमें परिपूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण ऐक्य, परिपूर्ण सामर्थ्य, परिपूर्ण शक्ति-सम्पन्नता, परिपूर्ण प्रेम और आनन्द स्वभावतः एक-साथ हैं। योग की परासिद्धि, सत्य का निःशेष अनुभव, विकास की श्रेष्ठ श्रेणी सभी परिपूर्णताओं का उसमें संयोग है। अतिमानस पर-चैतन्य की विस्तृत मीमांसा श्री अरविन्द-दर्शन की अद्भुत् विशेषता है, उसकी अपूर्व सम्पन्नता है। उसका अध्ययन अपने-आप में एक विशाल अध्ययन है। आजतक जिसे मानवीय अनुभवों के आधार पर हम चैतन्य समझते रहे हैं वह श्री अरविन्द-दर्शन के अनुसार प्रायः अविद्या-विशिष्ट चेतना मात्र है। और दार्शनिक चिन्तन जिस अचिन्त्य चिन्मात्र का संकेत करता रहा है वह प्रायः निर्विशेष, निरपेक्ष, अनिर्वचनीय शून्य जैसा है, जिसके अनुभव की चर्चा भी असंगत प्रतीत होती है। कदाचित् उसका कोई बोध सम्भव भी हो तो वह लयमात्र ही होगा, मानव की अभीप्सित, अभिलषित परिपूर्णता नहीं, पुरुषार्थ नहीं, परम लाभ नहीं। अतिमानसिक चैतन्य में तात्त्विक सत्य तो है ही, वह दिव्यता भी है जिसकी सम्पन्न प्राप्ति से मानव-जीवन का विकास धन्य होगा।

श्री अरविन्द-दर्शन में जड़-चेतन का भेद चैतन्य के अन्तर्गत समाहृत हो गया है। तत्त्वतः जड़ प्रकृति और पुरुष चैतन्य का जो द्वैत सांख्य दर्शन में है उसका परिमार्जन श्री अरविन्द समादिष्ट गीता के सांख्य-योग-वेदान्त-समन्वय में है जहाँ हमें प्रकृति की भी दो भूमिकाएं, परा एवं अपरा, मिलती हैं और पुरुष की भी क्षर एवं अक्षर दो अवस्थाएं हैं, एवं पुरुष-प्रकृति की भिन्नता पुरुषोत्तम तत्त्व की एकात्मता में न केवल विलीन हो जाती है अपितु परस्पर अभिन्नता में सार्थक होती है। वेदान्त दर्शन में परम तत्त्व चिन्मय है। केवलाद्वैत के अनुसार जड़ता की समस्या को अध्यास की समस्या मान कर उसे केवल प्रमाण-व्याख्या तक सीमित किया जा सकता है जिससे तात्त्विक असंगति को बचाया जा सके, जैसा कि शांकर दर्शन में किया गया है। अथवा विशिष्टाद्वैत मतानुसार चिदचित् का ब्रह्मान्तर्गत तात्त्विक संयोग मानकर

---

१० द्रष्टव्य : ऑन योग, भाग दो, अ. १ : प्लेन्स एण्ड पार्ट्स आफ दि बींग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जड़त्व का भी उद्भव और प्रारम्भ ब्रह्मतत्त्व से माना जा सकता है ताकि प्रमाण संबंधी असंगति को बचाया जा सके। किन्तु किसी भी एक असंगति को बचाने के लिए दूसरी असंगति को स्वीकार कर लेने से समस्या की जटिलता कम नहीं हो जाती। जड़त्व को अध्यास की समस्या बनाने में तात्त्विक 'अभेद' की रक्षा भले ही हो, अध्यास स्वयं अपरिहार्यतः माया की अनिर्वचनीय विलक्षणता में एक दार्शनिक रुद्धता ला देता है। दूसरी ओर जड़त्व को ब्रह्म का अचिदंस मान कर प्रमाण भूमिका में भ्रान्ति अथवा अध्यास आदि की अनिवार्यता से भले बचा जा सके, सर्वगुण-सम्पन्न ब्रह्म को अंशतः अचित् अतः हीन और असम्पन्न मानना उसके स्वरूप को बाधित करना होगा, व्याघातक बनाना होगा। इन दोनों ही स्थितियों में एक दार्शनिक जटिलता है जो श्री अरविन्द के पूर्णाद्वैत में जड़-चेतन-भेद को चिच्छक्ति की विविध अभिव्यक्तियां समझा कर सुलझाया गया है। परात्पर तत्त्व सर्वातीत है, सर्वोपरि पूर्णता में वह सच्चिदानन्द है। शुद्ध सत् भावाभावातीत एवं उभयाश्रयी है; चिच्छक्ति चेतनाचेतनातीता एवं उभयकारिणी है तथा पूर्ण आनन्द शुभ-शुभातीत-सुख-दुखातीत उभयोल्लासी है।

**श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी**

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# श्री अरविन्द दर्शन में विश्व-सृष्टि का उद्देश्य

केशवदेव आचार्य

यदि जड़ तत्त्व ही विश्व का एकमात्र मूल कारण हो तो सब कुछ इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन की अन्धक्रियारूप होगा और यह प्रश्न नहीं पूछा जा सकता कि क्यों यह सृष्टि हुई। यदि सांख्य के अनुसार जीव और प्रकृति इन दो को पृथक् और मूलभूत तत्त्व मानते हैं तो उस दर्शन के अनुसार यह उत्तर दिया जा सकता है कि जीवों के भोग और अपवर्ग के लिए सृष्टि होती है। परन्तु जड़ प्रकृति में जीवों के भोग और अपवर्ग की भावना का आना दार्शनिक बुद्धि को संतुष्ट नहीं कर सकता। यह भावना तो चेतन में ही आ सकती है, किन्तु सांख्य के चेतन पुरुष में तो कोई क्रिया ही नहीं। जीव, ईश्वर और प्रकृति इन तीन को मूलभूत तत्त्व मानने पर न्याय दर्शन की ओर से यह समाधान दिया जाता है कि जीवों को कर्म का फल देने के लिए ईश्वर सृष्टि करता है। क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। यदि वह सर्वशक्तिमान है तो क्या जीवों पर दया करके उन्हें इतना ज्ञान नहीं दे सकता कि वे बुरे कर्म न करें और इसलिए उन्हें कष्ट न भोगना पड़े? यदि हम उसे न्यायकारी मानें तो उसे झूठा न्यायकारी कहना पड़ेगा और वह भद्रों के लिए उपास्य देव नहीं होगा। परंतु यह समाधान भी संतोषदायक नहीं है। एकमेवाद्वितीय ब्रह्म को सृष्टि का कारण मानने पर यदि मायावाद के अनुसार जगत् मिथ्या हो तब भी यह प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि उस मत में सृष्टि होती ही नहीं, वह तो अज्ञानवश प्रतीत होती है। अतः उसका कुछ भी उद्देश्य नहीं है, सिवाय इसके कि मिथ्या जीव इस मिथ्या अज्ञानमय जगत् से मुक्त हो जाय। ब्रह्म से विश्व की यथार्थ सृष्टि मानने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब ब्रह्म आत्म-काम, नित्य-तृप्त, आनन्दमय है तो वह सर्वदा अपनी आनन्दमयी स्थिति में ही क्यों नहीं बना रहता, वह सृष्टि करने के झंझट में क्यों पड़ता है? इस प्रश्न के साथ-साथ या इसके अन्तर्गत यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि इस सृष्टि में मनुष्य का चरम लक्ष्य क्या है?

औपनिषदिक ऋषियों ने, जिन्होंने कि एकमेवाद्वितीय ब्रह्म के भाव को स्पष्ट रूप में उपस्थित किया, यह कहा है कि उसने यह संकल्प किया कि मैं एक हूँ, बहु हो जाऊं (एकोऽहं बहु स्याम्)। वह बहु हो गया। उसने संकल्प किया कि मैं लोकों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की सृष्टि करूं और उसने सृष्टि कर दी। परंतु बहु होने में और सृष्टि करने में उसके उद्देश्य का स्पष्ट पता नहीं चलता।

इस प्रश्न का एक समाधान यह है कि चूंकि उससे भिन्न दूसरा कोई तत्त्व नहीं है, वह पूर्णतया स्वतंत्र है, वह एक होते हुए अनन्त भी है, उसके भीतर अपने एकत्व को अनन्त रूपों में व्यक्त करने की शक्ति भी है। वह आनन्द स्वरूप होने के कारण अपने एकत्वमय निष्क्रिय अनन्त स्वरूप का आनंद तो सर्वदा लेता ही रहता है, परंतु जब वह चाहता है तो अपने बहुत्वमय सक्रिय स्वरूप का भी आनंद लेने लगता है। तब वह अपने-आपको अनन्त प्रकार की सत्ता, अनन्त प्रकार की चेतना, अनन्त प्रकार के आनंद के रूप में प्रकट कर देता है। यही उसकी सृष्टि है। हम उसे अपनी सीमित बुद्धि से यह आदेश नहीं दे सकते कि तुम एक हो बहु नहीं हो सकते, निष्क्रिय हो सक्रिय नहीं हो सकते, अनन्त हो सान्त नहीं हो सकते। ब्रह्म सूत्र के प्रणेता व्यास ऋषि के शब्दों में, यह सृष्टि उसकी लीला है (लोक वस्तु लीला कैवल्यम्)। लीला रूप उद्देश्य को श्री अरविन्द ने भी स्वीकार किया है। अतः वे लिखते हैं : "विश्व सत्ता शिव का एक ऐसा आनंदमय नृत्य है जो ईश्वर के देह को दृष्टि के सामने असंख्य गुणा बढ़ा देता है। इसका एकमात्र परम उद्देश्य है नृत्य का आनंद।"

(दिव्य जीवन भाग १, अध्याय ११, अनु. २३)

यह पदार्थों के आत्मा की लीला है, खेल है, बालक का हर्ष है और पदार्थों का यह आत्मा सदा युवा, सदा अक्षर है, सदा आत्म सृष्टि और आत्माभिव्यक्ति का आनंद लेने मात्र के लिए अपने में अपने आपको सृष्ट और पुनः सृष्ट किया करता है। यह ऐसी क्रीड़ा है कि जिसमें वह स्वयं ही क्रीड़ा है, स्वयं ही क्रीड़ा करने वाला और स्वयं ही क्रीड़ास्थल है।

(दिव्य जीवन भाग १, अ० १२, अनु. ६)

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म के दिव्य और आनंदमय होने के कारण उसकी लीला भी दिव्य और आनंदमयी ही होनी चाहिए थी, परंतु पृथ्वी पर सब अदिव्य और दुःखमय ही दिखाई देता है। बौद्धों ने तो उसे दुःखमय माना ही है (सर्वं दुःखं-दुःखं), किन्तु सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने भी उसे दुःखमय और बंधनरूप ही माना है और इसका सदा के लिए परित्याग करके इससे सदा के लिए मुक्त होने को जीवन का चरम लक्ष्य निर्धारित किया है। यदि एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही विश्व का मूल है, और वह सदा मुक्त है तो उसे सृष्टि करके बंधन में पड़ने की कुछ भी आवश्यकता नहीं थी। उसका यह कार्य व्यर्थ ही होगा। इसे किसी पूर्ण ज्ञानवान् की कृति नहीं कहा जा सकता। यदि हम ब्रह्म को पूर्ण ज्ञानी मानते हैं तो बंधन और मुक्ति के अतिरिक्त इसका कुछ और ही उद्देश्य खोजना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



श्री अरविंद के दृष्टिकोण से इसका यह समाधान दिया जाता है कि ब्रह्म की लीला परार्ध में, अर्थात् सत्-लोक, चित्-लोक, आनंद-लोक और विज्ञान-लोक में तो सदा दिव्य और आनंदमयी ही होती है (त्रिपादस्यामृतं दिवि), वह केवल अपरार्ध में, अर्थात् मनोमय लोक, प्राणमय लोक और भूलोक में ही अदिव्य और दुःखमयी दिखाई देती है। किन्तु यहां भी वह वैसी केवल बाहरी रूप में ही है, आंतरिक रूप में यहां भी दिव्य और आनंदमयी है और हमारी आँतरिक दृष्टि के खुल जाने पर वैसी देखी जा सकती है। जो घटनाएं जन-साधारण को दुःखमयी अनुभूत होती हैं वही पूर्ण योगी को आनंदमयी अनुभूत होती हैं; यहां तक कि शरीर के काटे जाने जैसी घटनाओं में भी कष्ट के बजाय आनंद का संवेद होता है।

यहां फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि यह लीला बाहरी रूप में भी अदिव्य और दुःखमयी क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें श्री अरविंद की विचार-धारा के अनुसार सृष्टि की प्रक्रिया को समझना होगा। सत्, चित् और आनंद स्वरूप ब्रह्म के जबतक सत्ता, चेतना और आनंद धर्म एक समान बने रहते हैं तो सृष्टि नहीं होती। जब इनमें गुण और प्रधान भाव उत्पन्न होते हैं तभी सृष्टि होती है। इस प्रकार सत् तत्त्व के प्रधान होने पर और चेतना और आनंद के अप्रधान हो जाने पर सत् लोक की सृष्टि होती है। चेतना तत्त्व के प्रधान होने और सत्ता एवं आनंद के अप्रधान होने पर चिन्मय लोक सृष्ट होता है। आनंद के प्रधान होने और सत्ता एवं चेतना के अप्रधान होने पर आनंदमय लोक सृष्ट होता है। चेतना के दो पक्ष होते हैं, ज्ञान एवं शक्ति। ज्ञान पक्ष की प्रधानता होने पर विज्ञानमय लोक सृष्ट होता है। इन चारों में दूसरे भाव केवल अप्रधान रूप में विद्यमान रहते हैं, तिरोभूत या अंतर्लीन नहीं रहते। यह परार्ध की सृष्टि है। इसके अनन्तर अपरार्ध की सृष्टि होती है। पहले विज्ञान तत्त्व के चेतना अंश के तिरोभूत या अन्तर्लीन हो जाने पर मनस्तत्व और मनोमय लोक की सृष्टि होती है। चेतना के शक्ति पक्ष से प्राण तत्व और प्राणमय लोक की सृष्टि होती है। सत् तत्त्व से, चेतना और आनंद तत्वों के अन्तर्लीन हो जाने पर, भू-तत्व की सृष्टि होती है। भू-तत्व हमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के रूप में दिखाई देता है। यह अन्तर्लयात्मक सृष्टि है, यह ब्रह्म का अपने दिव्य भाव को छिपाते हुए ऊपर से नीचे को अवतरण करते हुए अपने-आपको विविध रूपों में प्रकट करना है।

इसके अनन्तर नीचे से ऊपर की ओर आरोहणात्मिका या विकासात्मिका सृष्टि होती है। इन सात तत्त्वों में से प्रत्येक के भीतर दूसरे सब तत्त्व अन्तर्लीन दशा में विद्यमान रहते हैं और वहां से प्रकट हो सकते हैं। इस प्रकार हमारे भूतत्त्व में, जिससे कि हमारी पृथ्वी बनी है, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द, चेतना और सत् अन्तर्लीन हैं और उनकी अभिव्यक्ति इस भूतत्त्व की सृष्टि का उद्देश्य है। भूतत्त्व के भीतर एक ऐसा अन्तर्वेग निहित है। जो उसे भीतर छिपे तत्त्वों को प्रकट करने के लिए प्रेरित या विवश किया करता है। इसे विकास का अन्तर्वेग कहा जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इस अन्तर्वेग के वश भू-तत्त्व के भीतर छिपे प्राण आदि तत्त्व स्वभावतः प्रकट होने चाहिएं, परन्तु इसमें बहुत अधिक समय लग सकता है, अतः प्राणमय लोक से प्राण तत्त्व का अवतरण और उसकी क्रिया के प्रभाव से इसमें से प्राण तत्त्व के विविध रूप प्रकट होते हैं जो हमें मिट्टी, लोहा, रेत, नदी, पर्वत आदि के बने इस पृथ्वी-लोक पर गुलाब, गेंदा, चम्पा, चमेली, कमल आदि पुष्पों और आम, सेब, संतरा आदि फलों, गेहूं, चना, जौ, ज्वार आदि अन्नों के रूप में दिखाई देते हैं। इनमें नदी, पर्वत, लोहा आदि पदार्थों की अपेक्षा कुछ ऐसी सुन्दरता, सजीवता और सरसता हैं जो उनमें नहीं है। इसी प्रकार यहां मनोमय लोक से अर्ध-चेतन मन के अवतरण और उसकी क्रिया के प्रभाव से वनस्पति में तोता, मैना, कोयल, बुलबुल, हिरण, गाय आदि जीव प्रकट हो जाते हैं और उनमें एक विशेष प्रकार की सुन्दरता, सरसता और चेतना आ जाती है जो वनस्पति में नहीं है। इसी प्रकार सचेतन मन के अवतरण और उसकी क्रिया के प्रभाव से इस पशु जगत् से मनुष्य प्रकट हो जाता है और उसमें पशुओं की अपेक्षा अधिक सुन्दरता, चेतना और सुखमयता आ जाती हैं। परन्तु क्या मनुष्य इस विकास का चरम शिखर है? पाश्चात्य विकासवादी प्रायः ऐसा ही मानते प्रतीत होते हैं। वे मनुष्य के देह को सुपूर्ण (परफेक्ट) मानते हैं। कुछ दार्शनिकों ने देवता की चर्चा की अवश्य है, परन्तु उनका देवता मनुष्य के अहंकार और अज्ञानमय मन का एक बढ़ा-चढ़ा रूप ही है, उसमें और वर्तमान मनुष्य में कोई विशेष अन्तर नहीं है। निःसंदेह मनुष्य पशुओं से श्रेष्ठ है। उसने अपनी बुद्धि के प्रभाव से सभ्यता का निर्माण किया है। वह एक बार अन्न को उत्पन्न करके उसे सुरक्षित रखकर वर्षों तक खाता रह सकता है जो पशु नहीं कर सकते। उसने आंधी, वर्षा, गर्मी आदि से और हिंसक जीवों से अपनी रक्षा करने के लिए घर बनाने की विद्या का आविष्कार किया है। वर्तमान युग में तो उसने भौतिक विज्ञान के प्रभाव से अपने सुख के साधनों को अनन्त गुणा अधिक बढ़ा लिया है। वह वायु को अपने वश में करके उस पर सवारी करने लगा है। उसने आकाश को पिंजरे में बंद कर लिया है और वह विश्व भर के समाचारों को कुछ ही मिनटों में ग्रहण और प्रसारित कर सकता है। उसने अपने देह में ऐसे लम्बे–लम्बे पंख उत्पन्न कर लिए हैं कि वह हज़ारों मील प्रति घंटा की गति से उड़ सकता है। परन्तु यह सब होने पर भी उसके दुःख का अन्त नहीं हुआ। उसमें व्यक्तिगत और राष्ट्रीय अहंकार विद्यमान है जिस कारण वह दूसरों की सम्पत्ति को छीनकर अपने–आपको और अपने देश को समृद्ध बनाने का प्रत्यन करता रहता है। उसका शरीर रोग, बुढ़ापा और मृत्यु का दास है। उसने सुख के साधनों के साथ-साथ विनाश के साधनों का भी अनन्त गुणा विकास किया है और यहां तक कि वह चाहे तो कुछ ही घंटों में सम्पूर्ण जीवों को नष्ट कर सकता है। भय का वातावरण आज पहले से कम नहीं है। यदि यही विकास का चरम शिखर है तो इसे सच्चिदानन्द की दिव्य लीला कहना उचित नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


श्री अरविन्द दर्शन के अनुसार मनुष्य के इन कष्टों का कारण यह है कि वह पार्थिव विकास की मध्यवर्गी भूमिका में है, अभी तक अन्तिम में नहीं पहुँचा है। जिस प्रकार मनुष्य से नीचे जड़, वनस्पति और पशुओं की सृष्टियां हैं इसी प्रकार मनुष्य से ऊपर देव सृष्टि है जिसे उसे पृथ्वी पर अपने भीतर से विकसित करना है। जिस प्रकार जड़ तत्त्व के भीतर प्राण और मन के अवतरण और क्रिया से वनस्पति, पशु और मनुष्य की सृष्टियां हुई हैं उसी प्रकार मानव-मन से ऊपर जो विज्ञान तत्व या अतिमन या दिव्यमन हैं उससे जड़, प्राण और मन के बने मनुष्य में अवतरण और क्रिया से मनुष्य के शरीर, प्राण और मन का रूपान्तर हो सकता है, ये दिव्य हो सकते हैं, मनुष्य देवता हो सकता है और उसकी जाति देव जाति में परिणत हो सकती है। धार्मिक मनुष्य जिस सुख को स्वर्ग में, योगी और वेदान्ती जिसे देह परित्याग के अनन्तर मुक्ति या निर्वाण में प्राप्त करना चाहते हैं वह पृथ्वी पर मानव-देह में ही लाया जा सकता है और पृथ्वी स्वर्ग में परिणत हो सकती है। इस प्रकार जो ब्रह्म की अभिव्यक्ति मनुष्य के भीतर और पृथ्वी पर होगी वह एक नवीन सृष्टि होगी, उसमें जो चेतना, सौन्दर्य और आनन्द प्रकट होंगे वे नवीन प्रकार के होंगे। जिस प्रकार डायनेमो के भीतर विद्यमान विद्युत् की अपेक्षा जब वह बल्ब के द्वारा प्रकाश के रूप में अभिव्यक्त होती है तो उसमें एक विशेष प्रकार का सौन्दर्य आ जाता है, जिस प्रकार सात रंगों में अपना-अपना सौन्दर्य रहने पर भी जब वे कलाकार के द्वारा एक विशेष क्रम में एक-साथ व्यक्त होते हैं तो उनमें एक विशेष प्रकार की सजीवता और सुन्दरता आ जाती है जो पहले नहीं थी, जिस प्रकार सात स्वरों में पृथक्-पृथक् अपनी अपनी मधुरता रहने पर भी जब कोई संगीतज्ञ उन्हें एक विशेष समंजस क्रम में उपस्थित करता है तो उसमें एक ऐसा चमत्कार उत्पन्न हो जाता है कि जो सर्प जैसे विषैले जीव भी मुग्ध कर देता है। उसी प्रकार भू, प्राण और मन के बने मनुष्य में विज्ञान, आनन्द, चित् और सत् के समंजस संयोग से एक ऐसी दिव्य आनन्दमयी सृष्टि होनी संभव है जो अभी तक नहीं हुई है। जिस प्रकार वनस्पति और पशु-सृष्टि वाली पृथ्वी पर मनुष्य प्रकट होने से इसकी स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है, इसी प्रकार यहाँ देवत्व के प्रकट होने पर और भी अधिक दिव्य भावमय परिवर्तन होना संभव है। मनुष्य को जो कष्ट भोगने पड़ते हैं उसका कारण यह है कि प्रकृति माता ने उसके भीतर एक ऐसा अन्तर्वेग निहित किया हुआ है जिस कारण वह अल्प से संतुष्ट नहीं हो सकता। पशु को यदि खाने को आहार और रहने को समुचित स्थान मिल जाय तो वह पूर्णतया तृप्त अनुभव करेगा। देवता अपने अपने स्वर्ग के सुखों में तृप्त हैं, उन्हें उससे ऊँचे सुख के लिए प्रयत्न करने की इच्छा नहीं है, उन्हें, कोई प्रयास नहीं करना होता, अतः उन्हें कोई कष्ट भी नहीं है। भगवान ने उन्हें ऐसा ही बनाया है। परन्तु मनुष्य की दशा भिन्न है। उसे जो कुछ भी प्राप्त होता है उससे अधिकतर, उच्चतर, और पूर्णतर के लिए सर्वदा प्रयास करते रहना होता है। यह कष्ट ऐसा है कि इसके परिणामस्वरूप उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



एक ऐसी विजय, ऐसा राजमुकुट, ऐसा दिव्य आनन्द प्राप्त होगा जो देवताओं को प्राप्त नहीं है। ऐसा होने पर पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों के कष्टों का अन्त हो जायगा और तभी पृथ्वी पर बाहरी रूप में भगवान की दिव्य लीला सच्चे अर्थ में होगी।

अतः श्री अरविन्द के अनुसार दर्शन शास्त्र की जो तीसरी समस्या है—मानव जीवन का चरम लक्ष्य—उसका पूर्णतया युक्तियुक्त समाधान यही है और इसे चरम मानकर दार्शनिकों को स्वीकार कर लेना चाहिये, और संभवतः निकट भविष्य में इसी प्रकार स्वीकार कर लिया जायगा जिस प्रकार कि वर्तमान समय में वैज्ञानिकों ने एक मात्र ऊर्जा को समस्त विश्व का उपादान अंगीकार कर लिया है।

**श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी**

---

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए संपादित तथा प्रकाशित
एवं अजमेरा प्रिंटिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, जयपुर से मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी
19/9/73

# दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य

वर्ष १९
जनवरी, १९७३
अंक १

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

अखिल भारतीय दर्शन परिषद।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# विषय सूची


| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | आवश्यकता है–नूतन दृष्टिकोण की | विश्वनाथ भट्टाचार्य | १ |
| २. | कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन में सचेतन अप्रत्यक्ष | वसन्तकुमार लाल | ६ |
| ३. | इतिहास और इतिहास–दर्शन का संबंध | गोपालबिहारी माथुर | १३ |
| ४. | अनेकान्त और स्याद्वाद | अभेदानन्द | २६ |
| ५. | अस्तित्व और मूल्य | दयालशरण वर्मा | ३३ |
| ६. | प्रेय और श्रेय : एक विवेचन | रामजीसिंह | ४२ |
| ७. | कर्मवाद | डी. एन. द्विवेदी | ४८ |
| ८. | पुस्तक समीक्षा | | ५८ |
| | विषय और आत्म. ले. यशदेव शल्य | बी. के. भारद्वाज | |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष १९ जनवरी १९७३ अङ्क १

## आवश्यकता है—नूतन दृष्टिकोण की*

विश्वनाथ भट्टाचार्य

दर्शन आज चौराहे पर है। लोकोक्तिवर्णित सर्प के समान या तो यह अपना पुरातन और जर्जर चोगा उतारकर फेंक दे या फिर नष्ट हो जाय। चुनाव में बहुत अधिक विलम्ब हुआ है—वह भी अधिकतर अपनी कीमत पर। दुःखद होते हुए भी, यह तुरन्त स्वीकार करना पड़ेगा कि आज दर्शन को वह गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है जो कभी इसे मिला करता था। प्रत्यक्षतः, यह हमारे विश्वविद्यालयों में अधिकाधिक अलोकप्रिय होता जा रहा है। आज हम इसका अध्ययन दर्शन के विद्यार्थी की अपेक्षा इतिहास के विद्यार्थी के रूप में अधिक कर रहे हैं। हम विभिन्न विचार-सम्प्रदायों और विचारकों के मतों को तो पढ़ते जा रहे हैं किन्तु हमारे अध्ययन का हमारे वास्तविक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है, और जो कुछ पड़ भी रहा है वह अत्यन्त अल्प है। हम यह भूल गए प्रतीत होते हैं कि दर्शन जीवन है, न कि जीविका। वस्तुतः, इससे भी निकृष्टतर तो यह है कि हमने इसको व्यवसाय बना लिया है।

अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि हमारे आचरण और व्यवसाय की खाई दुःखद रूप से बढ़ती चली जा रही है। कूटनीति अथवा राजनीति में तो यह भले ही स्वीकार्य हो, किन्तु दर्शन इस प्रकार के कुचक्र में केवल अपने स्वयं के संकट पर ही फँस सकता है। दार्शनिक महत्त्व के किसी भी मत अथवा विश्वास की जड़ें जीवन

---

* मूल अंग्रेजी लेख का हिन्दी-रूपान्तर। रूपान्तरकार डॉ॰ राजेन्द्रकुमार गर्ग, दर्शन विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



और वास्तव आचरण में होनी चाहिए, अन्यथा यह निश्चय ही वितण्डा होकर रह जायगा, जोकि दर्शन का ही अपलाप है।

यदि आज दर्शन को पूर्वकाल की भाँति सम्मान प्राप्त नहीं है तो इसके लिए दोषी कौन है ? हमें इस प्रश्न का डटकर सचाई से सामना करना चाहिए। क्योंकि, यदि हम सचमुच इसका उपचार चाहते हैं तो हमें वास्तविक कारण को जानना ही होगा।

आजकल हम प्रायः एक सबसे अधिक प्रचलित कथन सुनते हैं कि दर्शन जिस वर्तमान गत्यवरोध से पीड़ित है उसके लिए उत्तरदायी पूर्णतः, अथवा एक बहुत सीमा तक, आधुनिक विज्ञान का आक्रामक आघात है। निश्चय ही इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि दर्शन और विज्ञान साथ-साथ नहीं चल सकते और एक केवल दूसरे का तिरस्कार करके ही फल-फूल सकता है। इसे कोई तर्क कहना चाहे अथवा बहाना, यह असत्य एवं आत्मप्रवंचना दोनों है।

मुझे विश्वास है, यह कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि आधुनिक विज्ञान की सफल एवं चामत्कारिक उपलब्धियां हमारे दृष्टिकोण एवं जीवन-शैलियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाई हैं और उन्होंने प्रत्यक्षतः दर्शन की योजना को विफल कर दिया है। किन्तु समकालीन दर्शन जिन दोषों से पीड़ित है उनके लिए विज्ञान के आक्रामक आघात को बिना सोचे-समझे पूर्णतः दोषी ठहराने का प्रयास वास्तव में तथ्यों का नितान्त अज्ञान अथवा मिथ्या निरूपण है। यदि यह धारणा तेज़ी से बल पकड़ती जा रही है कि दर्शन एक ऐसा अनुर्वर अनुशीलन है जो मानवता की प्रगति में सहायक होने की अपेक्षा बाधक है तो अच्छा होगा कि हम रुकें और विज्ञान अथवा अन्य किसी को दोष देने से पूर्व थोड़ा गम्भीर आत्मसमीक्षण करें।

युगों से निरन्तर हमारे कानों में अन्धकार और नैराश्य का तुमुल रव गूँजता रहा है। हमसे कहा गया है कि जिस जगत् में हम रहते हैं और जिस पर हमारा जीवन निर्भर करता है, वह एक भ्रामक प्रतीति है। हमसे यह भी कहा जाता है कि हम स्वयं वह नहीं हैं जो हम वास्तव में हैं तथा हमारा अनुभवगम्य स्व किसी सहज माया की उपज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—उस माया की जो कि उस समय तक विद्यमान रहती है जब तक कि हम इस पृथ्वी पर मानव-सुलभ कर्म और भावना का जीवन जीते रहते हैं। इस प्रकार मिथ्या जगत् में मिथ्या जीवन—सब प्रकार के दुःखों और कष्टों से रुग्ण भ्रामक अस्तित्व—यही वह चित्र है जो परम्परागत दर्शन हमारा खींचता है।

इन अपेक्षाकृत रुग्ण पूर्वमान्यताओं को आधार मानकर हमारे अधिकतर विचार-सम्प्रदाय, जो कुछ सांसारिक है और जो कुछ मानवीय है, उस सबके प्रति एक नकारात्मक दृष्टिकोण एवं प्रवृत्ति अपनाने की वकालत करते हैं। इन सम्प्रदायों के अनुसार जीवन का ध्येय पूर्ण आत्म-निषेध और नैसर्गिक स्व का समग्र विघटन तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


जीवन का आत्यन्तिक निरोध है। इसी को आनन्दपूर्वक 'मोक्ष' अथवा 'निर्वाण' कहा गया है—चरम मोक्ष अथवा बन्धनमुक्ति ही उनके अनुसार जीवन है।

परम्परागत दर्शन का एक कट्टर अनुयायी इस विश्वास को अत्यन्त भ्रमपूर्ण एवं छिछला कहकर उड़ाने का प्रयास कर सकता है। वह कैसा भी हो मुझे उससे विवाद करने की कोई इच्छा नहीं है। यहां मेरा सम्बन्ध केवल उससे है जो एक जाज्वल्यमान तथ्य है। यदि जो कुछ मैंने कहा है वह प्रचलित सामान्य धारणा से मेल खाता है तो मैं अपनी बात समझाने में सफल हुआ हूँ। निश्चित रूप से सामान्य धारणा यह है कि दर्शन एक निरर्थक उद्योग है क्योंकि यह आवश्यकता से कहीं अधिक चिन्तनशील है और इसका हमारे व्यावहारिक जीवन एवं उसके सामान्य क्रिया-कलापों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फलस्वरूप, यह जीवन के सामान्य प्रवाह को मात्र दमित कर देता है और उसकी स्वाभाविक प्रगति को रोक देता है।

आधुनिक विज्ञान की चारों ओर जो सहज प्रशंसा और वाह-वाह हो रही है, वह, जैसाकि मैं देखता हूँ, विज्ञान की उतनी विजय नहीं जितना कि मानव के अदम्य संकल्प का समर्थन है। यह केवल निषेधवाद के सम्मोहक जादू के द्वारा दमित मानवीय कुण्ठाओं का स्वाभाविक एवं अवश्यम्भावी विस्फोट मात्र है। आधुनिक विज्ञान ने हमारे दृष्टिकोण में जो क्रान्ति उत्पन्न की है उसे इस जगत् ही में वास्तविक, प्रयोजनमय और फलदायक जीवन जीने की मानव की अदम्य आभ्यन्तर आवेग की स्वाभाविक प्रतिक्रिया माना जा सकता है। क्या विज्ञान अकेला कल्याण कर सकता है अथवा कर सकेगा और मानवता को उसके नियत ध्येय तक ले जा सकेगा, यह वस्तुतः एक भिन्न प्रश्न है। किन्तु परिणाम अपरिहार्य है, कि जीवन ने अन्त में जाकर अन्धकार और निराशा के सभी उद्देशों के विरुद्ध अपने को प्रचण्डता के साथ व्यक्त कर ही डाला। जीवन विशुद्ध रूपेण आशावादी, सप्रयोजन और ध्येयान्वेषी है। फलतः, दुःखों और कष्टों की वीणा को निरन्तर बजाते हुए सदा के लिए इसे विमोहित और स्तम्भित नहीं रखा जा सकता, क्योंकि ये तो इसकी यात्रा के साथी हैं ही।

आज हमें एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो अनिवार्यतः मानव का दर्शन हो—ऐसे मानव का जो सभी प्राणियों में सर्वोत्कृष्ट है। हमें ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो मनुष्य की आधारभूत आशाओं, अपेक्षाओं और आकांक्षाओं का सत्कार करता हो। हमें उस दर्शन की आवश्यकता है जो मनुष्य की अदम्य शक्ति, अदम्य साहस, अतृप्त ज्ञानपिपासा, मृत्यु के पश्चात् भी अपनी प्रियतमा की गोद में, अपने मित्रों के प्यार से धड़कते हृदय में, इतिहास के अमिट पृष्ठों में, जीने की अदम्य आकांक्षा पर आधारित हो। हमें उस दर्शन की आवश्यकता है जो निरन्तर विस्तारशील क्षिजित की ओर संकेत कर सके और मानवता की अनन्त प्रगति का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



आश्वासन दे सके। हमें वह दर्शन चाहिए जो जीवन को एक अभिशाप के रूप में न मानकर पूर्णतर और श्रेष्ठतर अस्तित्व के लिए एक अवसर और एक पट्ट के रूप में लेता है। हमें वह दर्शन चाहिए जो चमत्कार में विश्वास नहीं करता और जिसमें मानव को जगत् में मात्र प्रवासी और अनुपयुक्त बनाने के लिए मानव-बुद्धि के लिए अगम्य किसी आधिदैविक क्रिया में उसके मूल को खोजने की इच्छा नहीं है। हमें वह साहसपूर्ण दर्शन चाहिए जो मनुष्य के आध्यात्मीकरण का बहाना लेकर उसे मनुष्यत्व से वंचित करने वाले सभी प्रयासों का उतना ही दृढ़ता के साथ प्रतिरोध करे जितना कि उसे प्रकृतिवाद के नाम पर उसे असंस्कृत बनाने के सभी प्रयासों का प्रतिरोध करना चाहिए। हमें वह दर्शन चाहिए जो स्वाभाविक प्रक्रिया के माध्यम से मानव के विकास को स्वीकार करने में हिचकता न हो। साथ ही साथ, यह मानव के आगे बढ़ने, सम्पूर्ण अवरोधों को तोड़ डालने और मार्ग में स्थित सम्पूर्ण विघ्नों पर विजय प्राप्त करने के अदम्य एवं अक्लान्त संकल्प का अनुमोदन करने का पर्याप्त साहस रखता हो। हमें वह दर्शन चाहिए जो विश्व के प्रतीयमान रहस्यों और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की निहित एकसूत्रता की व्याख्या मानव के माध्यम से करता हो।

किसी के भी लिये भय की आवश्यकता नहीं कि मानवतावाद और प्रकृतिवाद पर बल देने वाला दर्शन उस सब का प्रत्याख्यान अथवा, अन्ततः अवमूल्यन कर देगा जिसको मानव-जाति मूल्य एवं पोषण प्रदान करती आई है। इसमें सन्देह नहीं कि यह आधिदैविकवाद का सामना कर सकेगा और मानवीय क्रिया-कलापों पर इसे अपना झूठा सिक्का नहीं जमाने देगा। इसके अतिरिक्त, यह आँधी और तूफान, सुख और दुःख, जय और पराजय, आशा और निराशा के मध्य सतत संघर्षरत मानव-जीवन के महाकाव्योचित आख्यान को सही-सही और ईमानदारी के साथ, बिना किसी आडम्बर के, उस परिणति तक पहुँचाने के लिए उपस्थित करेगा जिसकी ओर इंगित करती है असीम के प्रति मानव की स्वाभाविक आकांक्षा, ज्ञान की पिपासा और अमरत्व की तृष्णा।

हम 'मोक्ष' और 'निर्वाण' के विषय में बहुत अधिक और बहुत समय से कल्पना के घोड़े दौड़ाते रहे हैं। हमने जीवन की भंगुरता और संसार की असारता पर बहुत चिन्तन और विलाप किया है। इस रुग्ण और विकृत दृष्टिकोण को त्याग कर हमें चाहिए कि हम इस जगत् का उस रूप में ही सामना करें जैसा यह है। हमें यह नहीं करना चाहिए—हम केवल मरने के लिए उत्पन्न हुए हैं, भले ही मृत्यु अवश्यम्भावी हो। हमारे समक्ष प्रश्न केवल यह है कि हम कितनी अच्छी तरह रह सकते हैं, हम जीवन को कितनी अच्छी तरह अधिक स्पृहणीय और फलदायी बना सकते हैं, हम जगत् को कितनी अच्छी तरह रहने के लिए अधिक श्रेष्ठ और सुखदायी बना सकते हैं।

हमारे पास देवता हैं, हां, बहुत अधिक देवता, संभवतः इतने अधिक कि हम उनकी देख-भाल भी नहीं कर सकते। आज जगत् की घोर आवश्यकता है, देवता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की नहीं प्रत्युत मानव की—सत्संकल्प और सम्यक् दर्शन से सम्पन्न मानव की। जगत् को ऐसे लोगों की घोर आवश्यकता है जो मनुष्य को इस जगत् का ऐतिहासिक निवासी समझें, जो मनुष्य को एक ऐसे निर्वासित यक्ष की तरह न लें जिसे इस पृथ्वी पर सदैव एक अभिशप्त और अपमानित जीवन व्यतीत करना है, प्रत्युत एक ऐसे व्यक्ति की तरह जिसे इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सच्चा प्रकाशक, भोक्ता और मूल्यांकनकर्त्ता, एक शब्द में, सच्चा प्रवक्ता होने की सम्पूर्ण संभावना एवं सामर्थ्य का वरदान प्राप्त है। ब्रह्माण्डीय नाटक में एक चेतन, प्रबुद्ध और प्रशंसक पात्र के रूप में मनुष्य सचमुच विश्व की महिमा और गौरव का सर्वाधिक प्रामाणिक और अधिकारी व्याख्याता है, क्योंकि उसमें ही विश्व अपने अर्थ और महत्ता का दर्शन करता है। यदि चेतन और प्रबुद्ध मानव में नहीं तो और कहां यह जगत् पूरी तरह से ठीक-ठीक अपनी अभिव्यक्ति पा सकेगा, समझा जा सकेगा और प्रशंसित हो सकेगा? विशाल समुद्र एवं रमणीय चट्टान के अव्यक्त आकर्षण एवं उदात्त सौन्दर्य, भूदृश्य के विमुग्धकारी वशीकरण का उद्घाटन यदि कलाकार और चित्रकार नहीं तो और कौन कर सकता है? मूक प्रकृति के मुख में शब्द यदि कवि नहीं तो और कौन रख सकता है? यदि दार्शनिक नहीं तो और कौन वस्तुओं के अन्तस्तल में पैठ सकता है और उनकी अन्तःप्रकृति का उद्घाटन कर सकता है? किन्तु यह तो चित्र का एक पक्ष है। अपनी पारी में प्रकृति भी मानव में जो कुछ सर्वोत्कृष्ट है उसको उद्घाटित करती है। इस प्रकार मनुष्य और जगत् के मध्य आदान-प्रदान और अन्योन्याश्रयता—पूरकता का सम्बन्ध—है। ज्ञान-प्रक्रिया सम्पूर्ण विश्व के साथ मानव की बन्धुता और एकता, तथा केन्द्रीय स्थान जो उसे इसमें प्राप्त है, को बलपूर्वक प्रकाशित एवं प्रकटित करती है। वस्तुतः यह प्रक्रिया उभयतः धन्य है। बाहर से देखने पर, यह मनुष्य के द्वारा जगत् का ईक्षण है, अन्दर से देखने पर, सम्पूर्ण विश्व के साथ अपनी अन्तर्निहित एकता और अद्वैतता का साक्षात्कार कर मनुष्य के द्वारा स्वयं अपनी ही उपलब्धि है।

---

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन में सचेतन अप्रत्यक्ष

बसन्तकुमार लाल

## I

इस लेख का सन्दर्भ कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का दर्शन है। उन्होंने ही **सचेतन अप्रत्यक्ष** ( कांशयस नॉन-पर्सेप्शन ) शब्द का प्रयोग किया और इसे महत्त्व दिया। इस लेख का उद्देश्य इस अवधारणा का स्पष्टीकरण है।

भट्टाचार्य के दर्शन में आत्मा ( सब्जेक्टिविटी ) के विकास के कई सोपान हैं। कायिक आत्म से मानसिक आत्म की ओर अग्रसर होने में सबोध अप्रत्यक्ष का महत्त्व दिखाई देता है। भट्टाचार्य प्रत्यक्ष शरीर तथा अनुभूत शरीर में भेद करते हैं। प्रत्यक्ष शरीर बाह्य शरीर है जिसका बाह्य प्रत्यक्ष सम्भव है। आत्म अपनी प्रारम्भिक अनुभूति में अपने शरीर से अभेद स्थापन कर लेता है और इसे अपना आत्म मान लेता है। किन्तु आत्म के विकास की प्रक्रिया में वह इस बोध से ऊपर उठता है और बोध के दूसरे सोपान पर अधिरोहण करता है जिसके अनुसार शरीर का वास्तव धर्म शरीरानुभूति है।

कायिक आत्मता के विश्लेषण से इसके तीन स्तर प्रकाश में आते हैं। शरीर की अवगति बाह्य रूप में हो सकती है अथवा आन्तरिक अनुभूति से हो सकती है अथवा 'अनुपस्थित शरीर' की अनुभूति में हो सकती है। प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात बाह्य शरीर की अनुभूति प्रथम स्तर की है, आन्तरिक अनुभूति में ज्ञात अनुभूत शरीर द्वितीय स्तर का है, एवं इससे भी सूक्ष्मतर अनुभूति अनुपस्थित-रूप शरीर ( बॉडी एज़ एब्सेंट ) की अनुभूति है। अनुपस्थित-रूप शरीर से भट्टाचार्य का तात्पर्य 'शरीर की अनुपस्थिति का ज्ञान' नहीं है, इससे उनका तात्पर्य 'अनुपस्थिति के ज्ञान की क्षमता' से है, जिसकी अनुभूति भी शारीरिक स्तर पर ही होती है और जिस अनुभूति के साथ शारीरिक या कायिक आत्म मानसिक आत्म ( साइकिक सब्जेक्टिविटी ) की ओर विकसित होता है। इसी विचार के स्पष्टीकरण में **'सचेतन अप्रत्यक्ष'** की अवधारणा का महत्त्व स्पष्ट होता है। यह कायिक आत्म का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वह अन्तिम स्तर है जो आत्म को इससे ऊपर उठाकर मानसिक आत्म की ओर ले जाता है।

II

भट्टाचार्य के अनुसार, अनुपस्थिति का ज्ञान दो प्रकार का होता है—**काल्पनिक प्रत्यक्ष के द्वारा अनुपस्थिति का ज्ञान** तथा **सचेतन अप्रत्यक्ष के द्वारा अनुपस्थिति का ज्ञान**। इनको समझने के लिये एक अन्तर कर लेना आवश्यक है। अनुपस्थिति का ज्ञान या तो हमें **अनुपस्थिति के प्रत्यक्ष** के द्वारा होता है या **किसी विषय की अनुपस्थिति के प्रत्यक्ष** के द्वारा होता है। पहले में किसी वस्तु या विषय की अनुभूति नहीं रहती, किन्तु दूसरे उदाहरण में यह रहती है। भट्टाचार्य इसे दो उदाहरणों की सहायता से स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं।

मान लें हम एक ऐसे स्थान पर पुनः जाते हैं जहां हम बहुत पहले भी जा चुके हैं। उस स्थान पर पहले एक बड़ा सा वृक्ष था जो अब नहीं है। हम जब उस स्थान को देखते हैं तो हमें अनुभूति होती है कि 'कुछ' जो पहले था, अब नहीं है, किन्तु हम जान नहीं पाते कि वह 'कुछ' क्या है। अर्थात्, हमें कुछ कमी दिखाई देती है—कुछ 'अन्तर' प्रतीत होता है,किन्तु हम यह नहीं जान पाते कि वहाँ एक वृक्ष था : इसे **'अनुपस्थिति'** का प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। अब एक दूसरा उदाहरण लें। हम अपने मेज़ पर एक पुस्तक ढूंढ़ रहे हैं। पुस्तक वहाँ थी, अब नहीं है। मेज़ के प्रत्यक्ष में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता—मेज़ जैसा पहले दीखता था वैसा ही दीख रहा है; किन्तु हमें वह पुस्तक दिखाई नहीं देती। तो यहाँ हमें पुस्तक की अनुपस्थिति का ज्ञान होता है। इसे **विषय या वस्तु की अनुपस्थिति** का प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। दोनों में अन्तर बस इतना ही है कि पहले उदाहरण में अनुपस्थित वस्तु की अनुभूति नहीं, दूसरे उदाहरण में अनुपस्थित वस्तु की अनुभूति है। यह भी कहा जा सकता है कि पहले में दृश्य-स्थल कुछ परिवर्तित सा प्रतीत होता है, दूसरे उदाहरण में मेज़ परिवर्तित नहीं होता।

इसे स्पष्ट करने के लिए दोनों उदाहरणों का अलग-अलग विवेचन आवश्यक है। पहले 'वृक्ष' वाले उदाहरण को लें। इस उदाहरण में अनुपस्थित का ज्ञान संदर्भ-स्थल के विशेषण-रूप में होता है। यदि स्मरण भी रहता है कि उस स्थल पर पहले एक वृक्ष था, तो भी उस स्थान की रिक्तता का प्रत्यक्ष तो होता है। इस से यह स्पष्ट होता है कि उस स्थल के प्रत्यक्ष में अनुपस्थिति उस स्थल के एक लक्षण के रूप में ही ज्ञात होती है। यह लक्षण उस स्थल के अन्य गुणों अथवा विशेषणों से भिन्न अवश्य है, क्योंकि अन्य गुणों के प्रत्यक्ष तथा अनुपस्थिति के लक्षण की अनुभूति में अन्तर है। अन्य गुणों या लक्षणों के प्रत्यक्ष में यह सोचने या कल्पना करने की आवश्यकता नहीं होती कि उन गुणों के बिना वह स्थल कैसे दीखेगा। किन्तु रिक्तता या अनुपस्थित के प्रत्यक्ष में इस प्रकार की कल्पना होती है—यहां यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विचार होता ही है कि इस लक्षरण के बिना उस स्थल का प्रत्यक्ष किस रूप में होगा। यही कारण है कि इसे भट्टाचार्य 'कल्पना के द्वारा अनुपस्थिति का प्रत्यक्ष' कहते हैं।

अब दूसरे उदाहरण की विवेचना करें। पुस्तक की अनुपस्थिति का ज्ञान तात्कालिक है। पुस्तक दिखाई नहीं देती और उस समय मेज़ पर भी किसी रिक्तता का ज्ञान नहीं होता। किन्तु, प्रश्न होता है कि जब पुस्तक का प्रत्यक्ष नहीं होता तो यह ज्ञान भी कैसे होता है कि पुस्तक अनुपस्थित है। भट्टाचार्य के अनुसार, यहां भी काल्पनिक प्रत्यक्ष की क्रिया कार्य करती है। पुस्तक की अनुपस्थिति के ज्ञान में निहित एक चेतन कल्पना है कि एक तथ्य ऐसा भी है जो दृश्य मेज़ से भिन्न है। इस भिन्नता की अनुभूति का आधार कल्पना है और इसी कारण इसे भी **काल्पनिक प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात अनुपस्थिति** कहा गया है।

दोनों उदाहरणों में काल्पनिक प्रत्यक्ष का हाथ है, किन्तु दोनों में अन्तर भी है। पहले उदाहरण में 'अनुपस्थिति' तथा 'प्रत्यक्ष स्थल में रिक्तता की अनुभूति' में भेद किया गया है। दूसरे उदाहरण में संदर्भ-स्थल एवं अनुपस्थिति में भेद नहीं किया जाता, यहां अन्तर किया जाता है **'अनुपस्थित विषय'** तथा **'कल्पना के द्वारा उपस्थित विषय'** में। पुस्तक अनुपस्थित है, किन्तु कल्पना एक 'पुस्तक' को स्वीकार कर उसे वहां ढूंढती है।* तो दोनों उदाहरणों में अन्तर है, फिर भी दोनों अनुपस्थिति के ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्थाएं हैं और इन दोनों में अनुपस्थिति का ज्ञान काल्पनिक प्रत्यक्ष के द्वारा ही होता है।

अनुपस्थिति के ज्ञान की द्वितीय स्तरीय अनुभूति में **सचेतन अप्रत्यक्ष** की प्रक्रिया प्रकाश में आती है। इन दोनों उदाहरणों के विश्लेषण के आधार पर अनुपस्थिति के ज्ञान की द्वितीय स्तरीय अनुभूति को स्पष्ट किया जा सकता है। उसे ही भट्टाचार्य सचेतन अप्रत्यक्ष के द्वारा अनुपस्थिति की अनुभूति कहते हैं। इसे सचेतन अप्रत्यक्ष कहा गया है, क्योंकि एक ओर तो अनुपस्थिति की चेतना है किन्तु दूसरी ओर उस चेतना का विषय कोई प्रत्यक्ष वस्तु अथवा विषय नहीं। पहले उदाहरण के दूसरे स्तर में हमें यह चेतना हो जाती है कि **वृक्ष** अनुपस्थित है, किन्तु अनुपस्थित वृक्ष प्रत्यक्ष वृक्ष तो नहीं है। दूसरे उदाहरण के द्वितीय स्तरीय ज्ञान में हमें यह ज्ञान

---

* "The difference from the previous case is that what is imaginably distinguished within the perception is not the perceived locus of the absence from the absence but the imagined object-as-present from the perceived object-as-absent." K. C. Bhattacharya. **The subject as Freedom. P. 115.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हो जाता है कि मेज़ से पुस्तक अनुपस्थित है किन्तु उस चेतना का विषय फिर कोई दृश्यवस्तु नहीं। इन दोनों उदाहरणों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ अनुपस्थिति का ज्ञान है, किन्तु उस ज्ञान का आधार किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं अपितु उसका अप्रत्यक्ष है। पहले उदाहरण में, प्राथमिक अनुभूति रिक्तता की अनुभूति है, द्वितीय स्तर में यह ज्ञान वृक्ष की अनुपस्थिति के ज्ञान में विकसित हो जाता है। दूसरे उदाहरण में प्राथमिक ज्ञान पुस्तक की अनुपस्थिति का ज्ञान है, दूसरे स्तर में, यह पुस्तक के उपस्थित रहने पर मेज़ कैसा दिखाई देता उसी के काल्पनिक चित्र का ज्ञान है। प्रश्न है, क्या **इन द्वितीय स्तरीय अनुभूतियों को भी प्रत्यक्ष कहा जा सकता है ?**

इस प्रश्न के उत्तर के लिये दोनों उदाहरणों की पृथक् विवेचना अभीष्ट है। पहले उदाहरण को देखें। वृक्ष की अनुपस्थिति का ज्ञान मेज़ से पुस्तक की अनुपस्थिति के ज्ञान जैसा नहीं है। पुस्तक के उदाहरण में पुस्तक 'ज्ञान' है और वह पुस्तक अनुपस्थित दिखाई देती है। दूसरे उदाहरण में वस्तु की नहीं केवल **अनुपस्थिति** की चेतना है। यहां वस्तु से उसकी अनुपस्थिति तक नहीं जाते बल्कि अनुपस्थिति की चेतना के फलस्वरूप ही अनुपस्थित वस्तु का ज्ञान होता है। अतः इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कह सकते। यहां प्रस्तुत वस्तुस्थिति का ज्ञान है, किन्तु अनुपस्थिति का प्रत्यक्ष नहीं होता। यहाँ अनुभूति भी नहीं है कि यदि वृक्ष होता तो दिखाई देता। यहाँ बस वृक्ष के नहीं दिखाई देने की चेतना है। वृक्ष की अनुपस्थिति अनुमानजन्य भी नहीं। किसी अनुमान की क्रिया से वृक्ष की अनुपस्थिति का ज्ञान नहीं होता। इसी कारण भट्टाचार्य इसे **सचेतन अप्रत्यक्ष** कहते हैं। सचेतन अप्रत्यक्ष का भी सम्बन्ध ऐन्द्रिय ज्ञान से है, किन्तु इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है वह सचेतन अप्रत्यक्ष के लिए प्रासंगिक नहीं है।

अब दूसरे उदाहरण को देखें। यदि इसकी द्वितीय स्तरीय अनुभूति पर विचार करें तो देखेंगे कि वहाँ ज्ञान केवल पुस्तक की अनुपस्थिति के ज्ञान के रूप में ही प्रासंगिक है। स्पष्ट है यह प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं, क्योंकि पुस्तक की अनुपस्थिति से विशिष्ट मेज़ अथवा पुस्तक के साथ मेज़ का रूप आदि प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात नहीं होते इन्हें भी अप्रत्यक्ष ही कहा जा सकता है। यही कारण है कि दोनों उदाहरणों में अनुपस्थिति के ज्ञान की द्वितीय स्तरीय चेतना को **सचेतन अप्रत्क्ष** कहा गया है।

## III

भट्टाचार्य के दर्शन में सचेतन अप्रत्यक्ष का महत्त्व उसकी विशिष्टता में है। उनके अनुसार, सचेतन अप्रत्यक्ष कायिक अनुभूति से मानसिक तथ्यों की ओर अग्रसर होने में सहायक है। उनका कहना है कि "सचेतन अप्रत्यक्ष कायिक अनुभूति से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्राथमिक मानसिक तथ्य–रूप कल्पना में संक्रमण की मध्यवर्त्ती स्थिति है।"* यदि हम आत्मता के विकास के क्रम की व्याख्या करें तो पायेंगे कि सचेतन अप्रत्यक्ष की क्रिया हमें शारीरिक स्तर से मानसिक स्तर की ओर ले चलती है। भट्टाचार्य ने इस प्रक्रिया की स्पष्ट व्याख्या की है।

यदि हम प्रत्यक्ष शरीर और अनुभूत शरीर की तुलना करें तो पायेंगे कि अनुभूत शरीर प्रत्यक्ष शरीर से सर्वथा पृथक् नहीं है यद्यपि भिन्न अवश्य है। सचेतन-अप्रत्यक्ष के पहले की अवस्था, जिसे भट्टाचार्य कल्पना के द्वारा ज्ञात अनुपस्थिति का प्रत्यक्ष कहते हैं, अनुभूत शरीर के ही स्तर का ज्ञान है, क्योंकि यहां भी अनुपस्थिति बाह्य शरीर से सर्वथा पृथक् रूप में ज्ञात नहीं होती, किन्तु उससे भिन्न अवश्य प्रतीत होती है। इसे समझने के लिए हम पहले उदाहरण फिर से दुहराएं। हम वृक्ष की अनुपस्थिति नहीं देखते, केवल हमें आभास होता है कि वह स्थल बिल्कुल वैसा नहीं दीख रहा जैसा पहले दीखा था। इसका अर्थ यह हुआ कि इस अनुभूति का ज्ञान शरीर के साधारण ज्ञान–उपकरणों के द्वारा नहीं हो रहा। हमारी इन्द्रियां यह ज्ञान नहीं दे रहीं। इस अनुपस्थिति की काल्पनिक अनुभूति होती है। इसी कारण भट्टाचार्य जी का कहना है कि यह ज्ञान अनुभूत शरीर के ज्ञान के स्तर का है।

किन्तु सचेतन अप्रत्यक्ष का स्तर इससे उच्चतर है क्योंकि इस ज्ञान में आत्म अनुभूत शरीर के ज्ञान से ऊपर उठता है। अपने इसी उदाहरण में बाद की चेतना में हम यह जान लेते हैं कि इस स्थल पर जो अनुपस्थित है वह वृक्ष है—ऐसा वृक्ष जो पहले वहां उपस्थित था। किन्तु सच पूछा जाय तो इस चेतना में हमें वास्तविक वृक्ष की अनुभूति नहीं होती। वास्तविक वृक्ष तो शरीर है। तब प्रश्न उठता है कि इस सचेतन अप्रत्यक्ष में हमें किस विषय का बोध हो रहा है? हमें स्वीकार करना पड़ता है कि यह विषय 'प्रतिभा' अथवा 'भावों' जैसा ही कुछ है। भट्टाचार्य के अनुसार प्रतिमा अथवा भाव का जगत् मानसिक तथ्यों का जगत् है जो आनुभाविक तथा कायिक तथ्यों से उच्चतर है। इसी कारण उनका कहना है कि सचेतन अप्रत्यक्ष हमें कायिक स्तर से ऊपर उठा कर मानसिक स्तर की ओर ले चलता है।

इस विश्लेषण से एक और तथ्य प्रकाश में आता है। आत्मता के वास्तविक स्वरूप के अवबोध का पहला सोपान सचेतन अप्रत्यक्ष ही है। कायिक आत्म को आत्म कहने का बस यही कारण है कि वह हमें विषय-जगत् से पृथक् कर देता है। शरीर की अनुभूति विषय से पृथक् अनुभूति है, इसी अनुभूति में आनुभाविक विषय-जगत् से मुक्त होने की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। किन्तु यह भी विषय से सर्वथा मुक्त नहीं है, बल्कि शरीर भी—विशेषतः प्रत्यक्ष शरीर—विषय रूप ही है। शुद्ध आत्मता

---

* कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, सब्जेक्ट एज़ फ्रीडम, पृष्ठ–१२२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की अनुभूति की क्रिया इस कायिक अनुभूति से ऊपर उठने में ही प्रारम्भ हो सकती है। और यह सचेतन अप्रत्यक्ष की क्रिया से ही प्रारम्भ होता है। सचेतन अप्रत्यक्ष की क्रिया में कायिक स्तर से ऊपर उठ मानसिक तथ्यों तक पहुंचा जाता है। सचेतन अप्रत्यक्ष में उपस्थित तथ्यों से सम्पर्क नहीं रहता। एक ऐसे तथ्य का अवबोध होता है जो अप्रत्यक्ष है। वह तथ्य मानसिक तथ्यों के जैसा ही कुछ हो सकता है। इस प्रकार भट्टाचार्य के दर्शन में सचेतन अप्रत्यक्ष आत्म के विकास के क्रम में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

## IV

स्पष्ट है कि भट्टाचार्य का सचेतन अप्रत्यक्ष अनुपलब्धि से अधिक व्यापक और समृद्ध अवधारणा है। अनुपलब्धि भी अप्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान है। अनुपलब्धि अभाव का ज्ञान है। वहां भी चेतना है किन्तु अनुपलब्धि के विश्लेषण में विषय और मानसिक तथ्य के सूक्ष्म भेद पर ध्यान नहीं दिया गया है। वृक्ष के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि-ज्ञान कहा जा सकता है। किन्तु यहां यह प्रश्न ही रह जाता है कि इस ज्ञान में किस विषय का बोध हुआ है। क्या इस ज्ञान में उस वास्तविक वृक्ष का बोध हो रहा है या उस वृक्ष के किसी मानसिक भाव या प्रतिमा का? भट्टाचार्य ने स्पष्ट रूप में कहा है कि इस ज्ञान में हम विषय-जगत् से ऊपर उठ जाते हैं। इसी कारण इस अप्रत्यक्ष को केवल अप्रत्यक्ष नहीं सचेतन अप्रत्यक्ष कहा गया है। यहां सचेतन शब्द का व्यवहार विचार-जगत् के सन्दर्भ में हुआ है।

दूसरी बात जो स्पष्ट रूप में भट्टाचार्य के विचार की सूक्ष्मता को प्रकट करती है वह इस ज्ञान के विश्लेषण से सम्बन्धित है। भारतीय दर्शन में अनुपलब्धि की विवेचना में इस प्रकार की विवेचना की प्रायः उपेक्षा की गयी है। अनुपलब्धि की प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों की विवेचना प्रायः भारतीय दर्शनों में नहीं ही हुई है। भट्टाचार्य ने इस अर्थ में इस विवेचना को सबल बनाया है। उन्होंने दिखाया कि सचेतन अप्रत्यक्ष के पहले की अवस्था ही वह अवस्था है जिसे भारतीय दर्शन में अनुपलब्धि कहा गया है। मेज़ पर पुस्तक के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि है। इसे ही भट्टाचार्य ने कल्पना के द्वारा अनुपस्थिति का ज्ञान कहा है। किन्तु जब चेतना इससे ऊपर उठती है और जब उस अभाव की अवगति के साथ मेज़ का ज्ञान भी दूसरे रूप में प्रकट होता है तभी सचेतन अप्रत्यक्ष की सार्थकता स्पष्ट होती है। वृक्ष के उदाहरण में भी सचेतन अप्रत्यक्ष में वृक्ष की अनुपस्थिति की चेतना के साथ उस स्थल के परिवर्त्तित रूप की चेतना निहित है। इस प्रकार सचेतन अप्रत्यक्ष केवल किसी स्थल पर किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान नहीं बल्कि एक व्यापक चेतना है जिसका केवल एक अंग है इस अभाव का ज्ञान।

सचेतन की विशिष्टता एक अन्य बात में भी है। यह केवल ज्ञान-प्रक्रिया नहीं है। साधारण ज्ञान-प्रक्रिया में विषयी किसी विषय का ज्ञान उपलब्ध कर लेता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है। सचेतन अप्रत्यक्ष एक तात्त्विक प्रक्रिया है। भट्टाचार्य के अनुसार इस प्रक्रिया में आत्म विषय-मुक्त होने की चेष्टा में सक्रिय हो जाता है। ज्ञान-प्रक्रिया एक दृष्टिकोण से तात्त्विक अनुभूति के मार्ग में सहायक मात्र ही हो सकती है। अपने साधारण जीवन में हम ज्ञान-प्रक्रिया को ही प्रधान बना देते हैं और इसी कारण विषयी और विषय के द्वैत से ऊपर नहीं उठ पाते। यही कारण है कि साधारण जीवन में आत्म विषय-जगत् में लिप्त रहता है, किन्तु अपनी मुक्तता की अनुभूति के अभियान में आत्म द्वारा विषय से पृथक्ता की अनुभूति करना अनिवार्य है। इस अनुभूति में सचेतन अप्रत्यक्ष सहायक है क्योंकि सचेतन अप्रत्यक्ष कायिक आत्म एवं मानसिक आत्म की मध्यवर्ती अवस्था है। तो भट्टाचार्य के अनुसार सचेतन अप्रत्यक्ष केवल ज्ञान का एक साधन मात्र नहीं, बल्कि तात्त्विक प्रगति का सोपान भी है।

—पटना विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# इतिहास और इतिहास--दर्शन का संबंध

गोपालबिहारी माथुर

सर्वप्रथम हमें इतिहास के स्वरूप पर कुछ विचार करना होगा। शाट्वेल, वाल्श, कार्ल्हर आदि अनेक विचारकों का मत है कि 'इतिहास' के प्रत्यय की दुर्बोधता इस पद को दो परस्पर भिन्न अर्थों में ग्रहण करने से उत्पन्न होती है। विचारकों ने 'इतिहास' पद को कभी उसके व्यापक और कभी संकुचित अर्थ में प्रयुक्त किया है। अपने व्यापक अर्थ में इतिहास से अभिप्राय उन सभी घटनाओं—मानवीय अथवा मानवेतर--से होता है जो अतीत में घटित हुई थीं, चाहे उनका ज्ञान हमारे लिए सम्भव हो या न हो। संकुचित अर्थ में हमारा अभिप्राय भूतकालीन घटनाओं, विशेषकर मानवीय क्रिया-कलापों के कुछ ऐसे चुने हुए अंशों से होता है जिनका विवेचनात्मक एवं सारगर्भित वृत्तान्त कतिपय इतिहासकार प्रस्तुत करने में समर्थ हुए हैं। अर्थात् इतिहास वह 'सब' नहीं है जो घटित हो चुका है, बल्कि अतीत का केवल वह भाग है जिसे इतिहासकारों ने उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर अतीत के विभिन्न खण्डों में अपनी पृथक्-पृथक् अभिरुचियों के संदर्भ में अनुमान-प्रक्रिया द्वारा रूपायित करके अपने वृत्तान्तों में प्रस्तुत किया है।

जैसाकि हम देखेंगे, इतिहास--दर्शन का स्वरूप भी इस पर निर्भर करेगा कि इतिहास के प्रत्यय को हम किस अर्थ में ग्रहण करते हैं।

इतिहास की प्रथम व्याख्या के अनुसार स्वयं काल--प्रवाह ही इतिहास का मूलाधार है। संसार एक अविच्छिन्न परिवर्तन-शृंखला है और परिवर्तन कालापेक्षी है। अर्थात् काल--प्रवाह की अनुभूति का दूसरा नाम ही घटना-चक्र है। जहाँ भी दो भिन्न समयों में किसी एक तत्व व वस्तु में अनेक क्रमिक परिवर्तन होते हैं वह सारी परिवर्तन-शृंखला उस वस्तु का इतिहास कही जा सकती है। अतः इस व्यापक अर्थ में न केवल मानव-सत्ता अपितु सत्ता मात्र इतिहासात्मक है। सृष्टि के प्रत्येक घटक-तत्व का इतिहास हो सकता है, यथा सौर मंडल का इतिहास, जीव-कोष का इतिहास, आदि। इस मत के अनुसार इतिहास संसार की कालमयता (टाइमफुलनेस) से फलित होता है। किन्तु यदि हम उन ग्रन्थों की अन्तर्वस्तु (कन्टेन्ट्स) को लें जिनके लिए इतिहास 'शब्द' का प्रयोग रूढ़ हो चुका है तो हम पाएंगे कि 'इतिहास' शब्द का संकोचन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्राय: दो दिशाओं में किया जाता है। प्रथमत: इतिहास–ग्रन्थ मूलत: भूतकालीन मानवीय–क्रियाकलापों के बारे में होते हैं, यद्यपि उनमें अनेक मानवेतर प्राकृतिक घटनाओं का भी प्रसंगानुसार उल्लेख नहीं होता है। दूसरी बात यह कि अपने चुने हुए सीमित क्षेत्र के अन्दर भी इतिहास–ग्रन्थों में सभी सम्बद्ध अभिकर्ताओं के सारे क्रिया–कलापों का उल्लेख नहीं होता। इतिहासकार अधिकांशत: केवल उन क्रिया-कलापों में दिलचस्पी लेते हैं जो आत्मचेतन प्राणियों (यथा मनुष्यों) ने समय-समय पर अपने किसी विशिष्ट उद्देश्य या प्रयोजन की सिद्धि के लिये किये। इतिहासकार मानवीय क्रिया-कलापों को या उनके एक महत्वपूर्ण अंश को प्रयोजनात्मक मान कर चलता है। अब यह प्रयोजन किसी व्यक्ति का भी हो सकता है और एक समुदाय का भी हो सकता है, पूर्णत: चेतन भी हो सकता है और अवचेतन भी हो सकता है। किन्तु इतिहास–लेखन की दृष्टि से जो मानवीय कार्य जितना अधिक चेतन होगा वह सिद्धान्त रूप में उतना ही अधिक ज्ञेय भी होगा।

इतिहास-ग्रंथों की इसी विशेषता को ध्यान में रखकर कलिंगवुड जैसे प्रत्यय-वादी ( आइडियलिस्ट ) विचारकों ने यह मत स्थिर किया है कि उपलब्ध इतिहास सम्पूर्ण सृष्टि की कालमयता से फलित नहीं होता बल्कि उसके चैतन्य अंश की मनोमयता ( माइंडफुलनेस ) से उद्भूत होता है।

यह एक सीमा तक ठीक है कि इतिहास--ग्रंथों का मुख्य प्रतिपाद्य बुद्धिमान प्राणियों के सप्रयोजन कार्य हैं। कारण यह कि कोई भी इतिहासकार समस्त अतीत, यहाँ तक कि समस्त मानव–अतीत, का भी उद्घाटन नहीं कर सकता। इसलिए मनुष्य की सम्पूर्ण इतिहासात्मकता का एक अत्यन्त सीमित अंश ही साधारण इतिहासकार की पकड़ में आता है। परन्तु इतिहास-लेखन की सीमाओं को स्वयं इतिहास की सीमाएँ मान लेना समीचीन नहीं है। जैसाकि काहेलर ने कहा है, इतिहास को स्वयं घटना-चक्र के रूप में समझना चाहिये, नकि जो कुछ घटित हुआ है उसके केवल अनुसन्धान और वर्णन के रूप में।

यदि हम ऐसा नहीं करते तो अन्ततोगत्वा हम कलिंगवुड जैसे विचारकों के पद-चिह्नों पर चलकर इतिहास के प्रति एक ऐसे संशयवाद के दलदल में फँस जायंगे जिससे उबरना लगभग असम्भव होगा। कारण यह है कि जो लोग अतीत को मात्र एक ऐसी मानसिक रचना ( मैंटल कंस्ट्रक्शन ) मानते हैं जिसका निर्माण एक प्रकार की अनुभूत, विलक्षण, स्वयंभू प्राक्-आनुभविक ऐतिहासिक कल्पना ( अ-प्रायराई हिस्टारीकल इमेजिनेशन ) द्वारा होता है, वे अनिवार्यत: वास्तविक अतीत के सर्वमान्य वस्तुनिष्ठ ज्ञान की संभावना से अपने को विलग कर लेते हैं। यह बात आगे चलकर और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी।

हम यह बात तो नि:संकोच मान सकते हैं कि किसी भी प्रकार की आनुक्रमिकता ( सीक्वेन्शीयेलिटी ) की परिधि के बाहर केवल पृथक् घटनाएँ अपने व्यष्टि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



रूप में इतिहास नहीं हैं। इतिहास एक निश्चित पूर्वापर क्रम में जुड़ी हुई घटनाओं का समष्टि-रूप है। किन्तु उनका यह अवगम्य ( नोयेबिल ) समष्टि-रूप प्रेक्षित घटनाओं की अपनी स्वतन्त्र विशेषता है। उन्हें समष्टि-रूप प्रदान करने वाला तत्व स्वयं इतिहासकार के मन की उपज नहीं है। वह उनके मध्य किसी वास्तविक सम्बन्ध का इतिहासकार के मन में प्रतिविम्ब है।

काहेलर ने इस बात को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है : उसका मत है कि इतिहास परस्पर गुम्फित घटनाओं की एक ऐसी कहानी है जिसके घटक तीन हैं। वे हैं क्रमशः (१) वर्ण्य घटनाओं के बीच सम्बद्धता या निश्चित तारतम्य, (२) इस सम्बन्ध की वस्तुनिष्ठता तथा (३) एक ऐसा ज्ञाता मन जो परस्पर गुफित घटनाओं का ग्रहण कर उन्हें एक प्रत्ययात्मक सूत्र में बांधकर इस प्रकार अभिव्यक्त करे कि उनका अव्यक्त अन्तर्निहित अर्थ प्रकट हो जाय।

अतः 'इतिहास' शब्द के दोनों प्रचलित अर्थ अलग-अलग नहीं हैं। अभी हम इतिहास-प्रत्यय को पूरी तरह व्याख्यायित करने की स्थिति में नहीं हैं। पर हम 'इतिहास' के दोनों अर्थों से जुड़े हुए कुछ समान तत्वों का अनुसन्धान कर सकते हैं।

मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि मनुष्य की इतिहासात्मकता और उसका इतिहास-बोध दोनों ही एक व्यापक आदिम इतिहासात्मक प्रक्रिया के ऐसे क्रमिक चरण हैं जिसमें पूर्ववर्ती अवस्था (इतिहासात्मकता) परवर्ती चरण (इतिहास-बोध) की एक विशेष अर्थ में अग्रज है। इतिहासात्मकता न केवल मनुष्य की ऐतिहासिक दशा में परिलक्षित होती है बल्कि वह उसकी अर्द्ध ऐतिहासिकता (प्रोटो-हिस्टारीकल) एवं प्राक्-ऐतिहासिक ( प्री-हिस्टारीकल ) दशा में भी विद्यमान रहती है। यदि सप्रयोजन आचरण इतिहास की सत्ता का आधार है तो उसकी हर दशा में मानव-आचरण को लक्ष्यपूर्ण और इस प्रकार इतिहासमय मानना होगा, चाहे उसका स्पष्ट बोध अभिकर्ताओं को हो या न हो।

मानव, जब से वह मानव बना, स्मृति, कल्पना और चिन्तन की क्षमता से युक्त है। और काल-क्रम में इनके विकास के कारण, जोकि मनुष्य के सम्पूर्ण परिवेश की इतिहासात्मकता के बीच विविध आदान-प्रदानों, घात-प्रतिघातों से सम्भव होता है, वह एक अद्वितीय ऐतिहासिकता को भी प्राप्त करता है। ऐतिहासिकता प्राप्त करने का अर्थ है कि मनुष्य अब न केवल अपनी क्रियाओं का कर्त्ता है बल्कि वह उनका साक्षी और विवेचक भी है। जो प्रयोजनात्मकता मनुष्य के व्यवहार में सर्वत्र व्याप्त मिलती है वह इस विवचन से और अधिक स्फुट बन जाती है। यदि इतिहास-बोध मनुष्य की अपनी ऐतिहासिकता का स्फुट विवेचन है तो यह विवेचन-क्रिया ऐतिहासिकता से जुड़ कर और अधिक व्यापक तथा सघन बन जाती है।

तो वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य ( अपने अस्तित्व की इतिहासात्मकता में )

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पहले कुछ कार्य करके इतिहास-भोगी बनता है, पुनः वह उस स्थिति से अंशतः उबर कर अपने इतिहास का ज्ञाता और विवेचक भी बनता है और पूर्व सम्पादित क्रिया का नानाविध विश्लेषण और मूल्यांकन करता है।

अतः सभी मनुष्य अपने ऐतिहासिक रूप को न्यूनाधिक जानते हैं और उन पर ही यह दायित्व होता है कि वे जो कुछ बीत चुका है उस पर अपनी-अपनी योग्यता व सामर्थ्य के अनुसार दृष्टिपात करके अपने अतीत बांधवों के क्रिया-कलापों की समुचित व्याख्या करें। मानव-जीवन एक ऐसी अनन्त यात्रा है जिसके अनगिनत पड़ाव हैं। इस यात्रा की भावी सम्भावनाओं को निरूपित कर उस ओर अग्रसर होने के लिए मनुष्य को उसे भी जानना होगा जो वह अपने इतिहास-भोग की लम्बी प्रक्रिया में अब तक बन पाया है। मनुष्य अपने इतिहास में, अपने इतिहास के ज्ञान द्वारा, नूतन निर्माण करता चलता है। एक भोक्ता के रूप में मनुष्य अपनी इतिहासानुगत चेष्टाओं से दो प्रकार के परिणामों को प्राप्त करता है। प्रथम प्रकार की उपलब्धियां भौतिक हैं ( यथा अर्थतन्त्र में विद्यमान उत्पादन और उपभोग के स्थूल उपकरण ) और द्वितीय प्रकार की उपलब्धियां मूल्यपरक अथवा आध्यात्मिक हैं। हालांकि ये सब उपलब्धियां आपस में मिलकर एक संस्थान बनाती हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं, तो भी साधारण व्यक्ति को स्वयं अपनी दृष्टि से देखने पर वह संस्थान साफ नज़र नहीं आता जो कुछ तो बन चुका है और कुछ उसकी अपनी चेष्टाओं से अभी बन रहा है।

इतिहासकार मानव-चेतना में अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा विकीर्ण मानवीय क्रिया-कलापों को एक व्यापक और अतिवैयक्तिक परिप्रेक्ष्य में व्यवस्थित और संरचित करता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्वतः फलित होता है कि ऐतिहासिक ज्ञान अध्यवसायात्मक ( जज्मेन्टल ) ज्ञान है। ऐतिहासिक वृत्तान्त के दो अपरिहार्य घटक हैं, (१) वह मूलकथा अथवा घटनाक्रम जिसका विवरण इतिहासकार को अभीष्ट है, तथा (२) जो कुछ हुआ उसका प्रसंगानुसार विवेचन, ताकि पाठक यह जान लें कि जो होना था वही क्यों हुआ ?

अब प्रश्न उठता है कि ऐतिहासिक ज्ञान किस अर्थ में अध्यवसायात्मक है ? ऐतिहासिक ज्ञान केवल इस अर्थ में अध्यवसायात्मक नहीं है कि उसकी अन्तर्वस्तु का निर्देश करने वाले तथ्यात्मक कथन किन्हीं साक्ष्यों के आधार पर तर्कना द्वारा निगमित किये जाते हैं। इतिहास इन निर्णयों ( अध्यवसायों ) पर दो अन्य, किन्तु परस्पर सम्बद्ध, प्रकार का निर्णय भी है। एक प्रकार का निर्णय कारण-परक ( कॉज़ल ) है, जो यह बताता है कि वर्णित घटनाएं किस कारणवश घटित हुईं। दूसरे प्रकार का निर्णय मूल्य-परक ( वैल्यूएशनल ) होता है। सम्पूर्ण घटनाक्रम का नैतिक मूल्यांकन भी दो प्रकार का होता है, जैसाकि हम अभी देखेंगे। अब हम इन सभी प्रकार के निर्णयों का संक्षिप्त विवरण देंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इतिहासकार की एक सर्वमान्य ज़िम्मेदारी यह है कि वह हमें बतलाए कि किसी भी अभिकर्त्ता, या अभिकर्ताओं के किसी समूह, ने कोई कार्य किस कारणवश किया। मोटे तौर पर, इतिहास के क्षेत्र में किसी भी घटित घटना का कारण वह विशिष्ट वास्तव संकल्प ( कांक्रीट विल ) होता है जो अभिकर्ताओं के मन में उनकी परिस्थिति के अनुसार गठित होता है और जिसके फलस्वरूप वे वर्ण्य क्रिया की ओर उन्मुख होते हैं। ऐतिहासिक कारण ( प्रथमतः ) वास्तव संकल्प इसलिए है क्योंकि एक निश्चित सन्दर्भ में वह संकल्प-विशेष अभिकर्ताओं की उस विशिष्ट जीवन-परिस्थिति से ही उद्भूत होता है जो उनकी अपनी परिस्थिति है और जिसकी न्यूनाधिक चेतना सभी अभिकर्ताओं को होती है। अतः इतिहासकार को यह निर्णय देना होगा कि अमुक संकल्प किसी ऐतिहासिक अभिकर्ता के मन में कैसे उत्पन्न हुआ और क्या उसने अपने व्यवहार में उस प्रस्थापित ( पाज़िटेड ) लक्ष्य को ठीक उसी रूप में प्राप्त किया जिस रूप में उसने उसे कभी धारण किया था ?

साथ ही, ऐतिहासिक घटनाओं के कारकों पर निर्णय उस सम्पूर्ण लक्ष्योन्मुख क्रिया-कलाप पर मूल्य-परक निर्णय भी है। सो कैसे ? यह द्रष्टव्य है कि अधिकांश ऐतिहासिक संकल्प अभिकर्ताओं की किसी एक क्रिया द्वारा अपने लक्ष्य की सिद्धि में समर्थ नहीं होते। प्रायः ही वे लक्ष्य किसी दीर्घ क्रिया-श्रृंखला द्वारा ही प्राप्त होते हैं, अथवा उसके बावजूद भी प्राप्त नहीं हो पाते, और प्राप्त होने पर भी उनका अन्तिम वास्तविक रूप उनकी आरम्भिक धारणा से न्यूनाधिक भिन्न हो सकता है।

ऐसी स्थिति में उस सम्पूर्ण घटनाक्रम को अच्छी तरह समझने के लिए मूल्य-निर्णय सम्बन्धी दो प्रकार की जिज्ञासाएं स्वयं ही उत्पन्न होती हैं और इनमें इतिहास-लेखक तथा पाठक दोनों की पर्याप्त रुचि होती है। पहला प्रश्न उठता है कि अपनी परिस्थिति-विशेष में अभिकर्ताओं ने जो संकल्प किये क्या वे वास्तव में वांछनीय थे ? अभिकर्ताओं की कार्य-योजनाओं का नैतिक औचित्य-अनौचित्य इतिहासकारों के द्वारा प्रायः ही निर्धारित किया जाता है और इस प्रकार हम विचारपूर्वक किये गये निर्णयों की सब इतिहासकारों से आशा भी करते हैं।

दूसरी जिज्ञासा स्वयं ऐतिहासिक पात्रों के चारित्रिक गुणों के बारे में होती है। हम यह भी जानना चाहते हैं कि क्या अपने लक्ष्यों को, चाहे वे नैतिक दृष्टि से कैसे भी हों, सिद्ध करने में सम्बद्ध अभिकर्ताओं ने पर्याप्त उत्साह, अध्यवसाय, दूर-दर्शिता एवं संकल्प की दृढ़ता का परिचय दिया और अपनी सफलता-असफलता के लिए वे कहां तक स्वयं उत्तरदायी थे और कहां तक वे परिस्थितियां उत्तरदायी थीं जिन पर उनका कोई नियन्त्रण नहीं था ?

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि इतिहास में उपलब्ध कारणपरक और मूल्य-परक निर्णयों का केन्द्र-बिन्दु एक ही है और वह है मनुष्य का प्रयोजन ( ह्यूमन वोलीशन ), यद्यपि इतिहास में मूर्तित संकल्प को ही कभी कभी एक एकरूप (यूनी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


टरो ) कारक के रूप में ग्रहण किया जाता है तथापि जिज्ञासा का स्वरूपगत तर्क ( इनर लॉजिक ) हमें इस बात के लिए भी बाध्य करता है कि हम किसी ऐतिहासिक पात्र के मन में रूप ले रहे संकल्प को उत्पन्न करने वाले अधिक सामान्य कारकों का भी कुछ विवेचन करें। अधिकांश इतिहासकार यह मानते हैं कि कथित एक-रूप संकल्प स्वयं अनेक ज्ञात और अज्ञात चलों ( वेरियेबल्स ) का संयुक्त परिणाम हो सकता है। दूसरे शब्दों में, मानव-संकल्प भी सामान्य भौतिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारकों से अनेक प्रकार से प्रभावित होता है अथवा अनेक नियमों का फलन होता है, और एक सीमा तक व्यवहार में इसकी सफलता-असफलता भी इन्हीं व्यापक अति-वैयक्तिक उपादानों से व्यक्ति के घात-प्रतिघात का प्रतिफल होती है। आगे या पीछे, संकल्प का विश्लेषण इतिहासकार को मानव-स्वभाव एवं संसार में उसके निर्धारक तत्वों के अध्ययन की ओर ले जाता है तथा संदर्भ की इस व्यापकता और विपुलता से न केवल कारण-परक, अपितु मूल्य-परक निर्णय भी गम्भीर रूप से प्रभावित होते हैं।

अपने सन्दर्भ की इस विशालता के कारण ऐतिहासिक निर्णय के ये दोनों प्रकार अत्यन्त महत्वपूर्ण बन जाते हैं। कारण यह है कि ऐतिहासिक ज्ञान के इस दीर्घ परिप्रेक्ष्य में ही हमें कारण-परक और मूल्य-परक निर्णयों के कुछ समान आधारों का संकेत मिलता है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। जैसाकि वूडिन ने कहा है, इतिहास का अविच्छेद्य सम्बन्ध तथ्यों और मूल्यों दोनों से है। मानव-इतिहास को समझने के लिए हमें जानना होगा कि मनुष्य किस दिशा में प्रयत्नरत रहते हैं। इस प्रकार मूल्य-बोध ऐतिहासिक वृत्तान्तों की रचना में अन्तःप्रविष्ट रहता है।

सच तो यह है कि ऐतिहासिक सत्ता प्रयोजनमूलक इतिवृत्तात्मक घटनाओं पर मूल्यात्मक निर्णयों में अवस्थित होती है। इतिहास इसलिए रोचक है क्योंकि वह हमें किन्हीं लक्ष्योन्मुख घटनाओं के बारे में बतलाता है। प्रथमतः, ऐतिहासिक घटनाओं की संरचना में मूल्यबोध सन्निविष्ट रहता है। पुनः, यह प्रथमस्तरीय मूल्य-बोध उन घटनाओं के इतिहास में, इतिहासकार के माध्यम से, उसे उपलब्ध पृष्ठोन्मुख दृष्टि एवं अग्रोन्मुख दृष्टि द्वारा एक अधिक विकसित और व्यवस्थित रूप में पुनः मूल्यांकित होता है और एक अधिक गहन सामान्य मूल्य-बोध में परिवर्तित हो जाता है।

इस बिन्दु पर आकर यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास को केवल एक ऐसे घटनाक्रम के रूप में लेना, जो लक्ष्योन्मुखी न हो, इतिहास को नकारना होगा।

यदि ऐसा है तो फिर ज़ाहिर होगा कि प्रत्येक इतिहासकार को एक व्यापक प्रत्ययात्मक ढांचे ( जनरल कांसेप्चुअल फ्रेमवर्क ) की आवश्यकता है जो उसके तथ्यों को अर्थ-पूर्ण बोधगम्यता ( मीनिंगफुल इन्टेलिजिबलिटी ) प्रदान कर सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ठीक इसी स्थल पर हमें इतिहास और इतिहास-दर्शन के बीच सम्बन्ध की झलक मिलने लगती है। हमें ज्ञात होता है कि ऐतिहासिक घटनाओं को अर्थ प्रदान करने वाले कई वैकल्पिक प्रत्ययात्मक ढांचे उपलब्ध हैं जिनमें किसी न किसी से प्रत्येक इतिहासकार प्रकट अथवा अप्रकट रूप में प्रतिबद्ध रहता है। एक सीमा तक प्रत्येक इतिहासकार स्वयं अपना दार्शनिक विवेचक भी होता है। उसे अंशतः अपनी इन प्रतिबद्धताओं (कुमिटमेन्ट्स) का ज्ञान होता है और वह जिस व्याख्यात्मक सिद्धान्त का वरण करता है उसके औचित्य तथा उसकी सीमाओं के बारे में कुछ चिन्तन (रिफ्लेक्शन) भी करता है। किन्तु अपनी कार्य-विधि के बारे में पूर्ण जागरूकता किसी विरले इतिहासकार में ही मिलती है। उसका मुख्य कार्य प्राविधिक समस्याओं का विवेचन न होकर अपने वृत्तान्तों का निर्माण करना होता है। अगर वह इनमें पूरी तरह उलझ जाता है तो वह फिर इतिहास लिखने से तो गया। इसलिए इतिहासकार अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुसार इतिहास-लेखन की समृद्ध परम्परा के भण्डार में से कुछ तदर्थ और कामचलाऊ प्रत्ययात्मक परि-योजनाओं को अभ्युपगमों के रूप में ग्रहण कर लेता है। उसे उनके पीछे छिपा जटिलताओं का या तो भान नहीं होता या भान होने पर भी वह उनकी उपेक्षा करने को बाध्य होता है। और व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा करना ठीक भी है। अपने तात्कालिक प्रयोजन के लिए इतिहासकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह उन जटिल सैद्धान्तिक समस्याओं से अन्त तक उलझता रहे जो केवल दार्शनिक स्तर पर इतिहासानुशीलन में उत्पन्न होती हैं।

साथ ही, यह भी मानना उचित होगा कि इतिहास में अर्थमयता (मीनिंग इन हिस्ट्री) तथा इतिहास की अर्थमयता (मीनिंग आफ़ हिस्ट्री) से सम्बन्धित परा-ऐतिहासिक (मैटा-हिस्टारिकल) दार्शनिक समस्याओं के समाधान के अभाव में इतिहासकारों द्वारा प्रस्तुत अतीत के विभिन्न वृत्तान्तों पर जगह-जगह प्रश्न-चिह्न लगाये जा सकते हैं।

इतिहासानुशीलन से इतिहास की अनेक जटिल समस्याएं स्वयमेव प्रस्फुटित होती हैं, जैसे (१) इतिहास का अस्तित्व ही कैसे है? (२) क्या कोई स्थायी और सामान्य मानव-स्वभाव है, तथा क्या इसका ज्ञान इतिहासकार के लिये सम्भव है? (३) संकल्प क्या है, यह कैसे बनता है और कैसे क्रिया में फलित होता है? (४) क्या वे मानक, जिनके द्वारा इतिहासकार अपने पात्रों के क्रिया-कलापों में द्विविधि नैतिक मूल्यांकन करते हैं, स्वयं इतिहास-सापेक्ष हैं, अथवा वे किसी इतिहास-निरपेक्ष रूप में सिद्ध हैं? (५) जगत् और मानव की इतिहासात्मकता और इतिहास-रचना के बीच क्या सम्बन्ध है? (६) क्या विश्व-इतिहास (यूनीवर्सल हिस्ट्री) सम्भव है, अथवा इतिहास-प्रत्यय वस्तुतः अनेक स्वायत्त ऐतिहासिक वृत्तान्तों के संग्रह को ही परिलक्षित करता है? (७) क्या ऐतिहासिक ज्ञान वास्तव में सम्भव है, और यदि वह है तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उसमें तथा अन्य विज्ञानों द्वारा प्रदत्त ज्ञान में क्या समानताएं एवं अन्तर हैं? आदि, आदि।

स्वयं इतिहासकार, विशेषकर उच्च-कोटि के प्रबुद्ध इतिहासकार, इन समस्याओं की सत्ता और उनके वैचारिक महत्व को स्वीकार करेंगे। लेकिन इनके सम्पूर्ण समाधान का दायित्व वे अपने ऊपर नहीं लेंगे। इनसे जूझने के लिए एक तरह की उदात्त दार्शनिक वृत्ति की भी आवश्यकता है। इसी संदर्भ में इतिहास से हम इतिहास-दर्शन की ओर संक्रमण करते हैं। इसीलिये तो अर्बन की टिप्पणी है कि बोधगम्य (इंटेलिजिबल) इतिहास सदा दार्शनिक इतिहास होता है।

इतिहास-दार्शनिक इतिहासकार द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्तों की आंशिक सत्यता और अर्थमयता से आश्चर्यान्वित होता है, क्योंकि उसे तो कदम-कदम पर ऐतिहासिक ज्ञान-प्रक्रिया में बखेड़े नज़र आते हैं, और इसलिए वह इस बात की कोशिश करता है कि प्रस्तुत इतिहास-ग्रन्थों से जो ज्ञान और मूल्य सम्बन्धी प्रश्न स्वतः उत्पन्न होते हैं उनका समाधान करके इतिहास को इस प्रकार और भी अधिक अर्थवान् बनाया जाय जिससे इतिहासकारों के लेखन-कौशल और उनकी शोध-विधियों पर आंच न आये।

इतिहास--से इतिहास-दर्शन की ओर संक्रमण करने से पूर्व हमें यह मानना होगा कि सत्य और अर्थमयता के दावों से युक्त अनेक ऐसे ऐतिहासिक शोध-वृत्तान्त उपलब्ध हैं जो किसी निर्दिष्ट अवधि में किसी स्थान पर कतिपय व्यक्तिगत अभिकर्ताओं अथवा मानव-समूहों के क्रियाकलापों को एक छोटी या बड़ी पूर्णता का रूप प्रदान कर सफलतापूर्वक व्याख्यायित करते हैं। तब हम इन वृत्तान्तों को लिख कर दो प्रश्न पूछते हैं, यथा-(१) क्या इनके आधार पर, या किसी अन्य युक्ति के आधार पर, हम सम्पूर्ण मानव-समाज के क्रिया-कलापों की एक विशद ऐतिहासिक व्याख्या भी कर सकते हैं जिससे पूरे इतिहास-क्रम का लक्ष्य या उद्देश्य उद्भासित हो? अर्थात्, क्या विश्व-इतिहास की वास्तव में कोई सम्भावना है? और (२) ऐतिहासिक ज्ञान-प्रक्रिया का स्वरूप क्या है तथा उसके सत्य के दावों को जाँचने की क्या कसौटियां हो सकती हैं?

इतिहास-दर्शन का कार्य इन दोनों सम्बद्ध प्रश्नों पर गहराई में उतर कर विचार करना है। हो सकता है कि ऐतिहासिक ज्ञान की प्रक्रिया के विश्लेषण से यह बेढब विचार सामने आये कि जिस तरह की अर्थमयता की तलाश हम विश्व-इतिहास में करना चाहते हैं उसकी वास्तव में कोई संभावना नहीं है। केवल विभिन्न खंडित ऐतिहासिक प्रक्रियाएं ही हैं जिनके वृत्तांत प्रस्तुत करके ही हमें संतोष करना चाहिये। ऐसा मत इतिहास के अनेक दार्शनिक विवेचकों का है।

इतिहास-विवेचकों का एक वर्ग इतिहास और प्रकृति के बीच एक अलंघ्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



खाई देखता है। उनके अनुसार ऐतिहासिक घटनाएं आवृत्तिमय प्राकृतिक घटनाओं से सर्वथा भिन्न प्रकार की हैं, अत: उन्हें जानने और व्याख्यायित करने की विधि भी प्राकृतिक घटनाओं से अलग होगी। पर दूसरी ओर, अन्य विचारक प्रकृति और इतिहास के ज्ञान की प्रक्रिया में भिन्नता को अस्वीकार करते हैं। वे इतिहास को उसके उपरोक्त व्यापक अर्थ में लेते हैं। उदाहरणार्थ वूडिन की मान्यता है कि इतिहास कुछ ऐसे सामान्य नियमों से प्रभावित होता है जो सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त द्वन्द्वात्मक परिवर्तनों में अन्तर्निहित हैं। उसका मत है कि समस्त जगत् ही इतिहासात्मक है, और जब हम इस सतत द्वन्द्वात्मक परिवर्तन-शृंखला को काल के सुदीर्घ परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तब हमें उनके अन्दर व्यवस्थित एवं नियमाधीन गति अथवा प्रगति का बोध भी होता है। कहने का आशय यह है कि इतिहास में मूल्य-परक निर्णयों की उपस्थिति से यह फलित नहीं होता कि ऐतिहासिक ज्ञान या उसका एक पक्ष वैज्ञानिक ज्ञान के समान प्रज्ञानात्मक (कोग्नीटिव) नहीं है, क्योंकि कारण-परक और मूल्य-परक दोनों निर्णयों का आधार और उद्गम-स्थल एक ही विश्व-प्रक्रिया है जो उन्हें प्रज्ञानात्मक रूप भी देती है और उनकी युक्तता स्थापित करने के मानकों की खोज का दिशा-निर्देश भी करती है। अभी हमने देखा कि वूडिन जैसे विचारक इतिहास-बोध से सम्बद्ध दोनों ही प्रकार की समस्याओं को इतिहास-दर्शन के क्षेत्र में समान महत्व देते हैं। किन्तु अन्य विचारकों ने अपने अपने दृष्टिकोण से इतिहास और इतिहास-दर्शन के मध्य इस व्यापक द्विविध सम्बन्ध के अलग-अलग पहलुओं पर बल दिया है।

इतिहास-दर्शन के कुछ विवेचक दार्शनिक इतिहास की समस्याओं के विवेचन को ही सर्वोपरि मानते हैं। उदाहरण के लिए डार्सी ने दार्शनिक इतिहास का तादात्म्य इतिहास-नियतिवाद (हिस्टोरिसिज़्म) से स्थापित करके इतिहास और इतिहास-दर्शन के मध्य एक विशिष्ट प्रकार का एकपक्षीय सम्बन्ध उद्घोषित किया है। डार्सी के अनुसार (१) इतिहास-दर्शन का एकमात्र मान्य तार्किक रूप इतिहास-नियतिवाद ही हो सकता हैं, तथा (२) इतिहास-नियतिवाद का इतिहास से वही सम्बन्ध है जो स्वयं इतिहास का कतिपय विशिष्ट मानवीय विज्ञानों (यथा समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, पुरातत्वशास्त्र आदि) से है। जिस प्रकार इतिहासकार अपनी उल्लेख्य मामग्री को इन विज्ञानों से प्राप्त करके उनका व्याख्यात्मक विवेचन करता है उसी प्रकार इतिहास-नियतिवाद स्वयं ऐतिहासिक वृत्तान्तों को प्रदत्तों के रूप में ग्रहण करके उनके आधार पर अधिक व्यापक विश्व-इतिहास का निर्माण करता है।

डार्सी के अनुसार, इतिहास-दर्शन की जिज्ञासा का प्रमुख विषय समस्त मानव-जाति के आधारभूत सैद्धान्तिक व व्यावहारिक अनुभव हैं। इतिहास-दर्शन इन व्यापक अनुभवों के संदर्भ में सम्पूर्ण मानव-इतिहास पर दृष्टिपात करके उसमें कुछ ऐसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्रवृत्तियों और नियमों को खोजना चाहता है जिससे काल-क्रम में मनुष्य के उत्थान अथवा पतन के कारणों तथा मानव-जाति के आचरण में स्थिर लक्ष्यों का पता चल सके, जो अन्यथा ऐतिहासिक घटनाओं के घटाटोप में छिप जाते हैं।

इतिहास तथा इतिहास-दर्शन में कुछ उल्लेखनीय समानताएं एवं अन्तर हैं। इतिहासकार एक वैज्ञानिक की भांति न केवल अपने वर्ण्य तथ्यों का संकलन और सत्यता की दृष्टि से उनका मूल्यांकन करता है बल्कि एक कलाकार के समान अपनी सहानुभूतिक कल्पना के सहारे, उन्हें एक संस्थान (पैटर्न) में गूथ कर एक रोचक तथा बुद्धिग्राह्य कहानी का रूप भी देता है। जो कार्य इतिहासकार एक सीमित घटनाक्रम के संदर्भ में करता है ठीक वही कार्य दार्शनिक इतिहासकार एक विशाल पैमाने पर करता है और इतिहासकारों के सीमित आलेखों को लेकर उन्हें एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में पुनः विन्यस्त करता है। इस कार्य को वह अपनी अधिक गहन अनुभूतियों के भंडार में से कई वैकल्पिक व्याख्या-सूत्रों को निर्मित करके और उनका उपलब्ध ऐतिहाहिक सामग्री से क्रमशः तालमेल बैठाकर करता है ताकि उसे कोई एक ऐसा व्यापक सूत्र मिल जाय जिससे ज्ञात तथ्यों को सर्वाधिक बोधगम्यता अथवा अर्थमयता प्राप्त हो सके। यद्यपि दार्शनिक इतिहास भी इतिहास ही है तथापि वह अपनी परिदृष्टि की विशालता तथा अपनी पूर्वोपलब्ध सामग्री (यथा ऐतिहासिक आलेखों) की प्रचुरता एवं जटिल संरचना के कारण साधारण इतिहास से अपनी जिज्ञासा के स्वरूप (स्पिरि आफ एन्क्वाइरों) में अलग हो जाता है। फलतः उसके निष्कर्षों की सत्यता का स्वरूप भी कुछ भिन्न हो जाता है। डार्सी कहता है कि यह दार्शनिक इतिहास अपनी इस विशालता और भावना की विशिष्टता के कारण महाकाव्यात्मक (एपिक अथवा नोमिक) इतिहास बन जाता है और इसका सत्य भी पौराणिक-काव्य (मिथोपोइक) के सत्य के सदृश होता है।

जहां डार्सी इतिहास-दर्शन को सम्पूर्ण दार्शनिक जिज्ञासा का केवल एक अंश मानकर साधारण इतिहास से उसका साम्य और विरोध दिखलाता है, वहां इतिहास-नियतिवाद के कुछ अन्य समर्थक—यथा क्रोचे और कालिंगवुड—और भी आगे बढ़कर यह कहते हैं कि दर्शन, विज्ञान और इतिहास में कोई भेद नहीं है अपितु एक विशिष्ट अर्थ में इतिहास-नियतिवाद ही सम्पूर्ण दार्शनिक जिज्ञासा है। जैसा क्रोचे कहता है, "इतिहास-दर्शन (अथवा इतिहास-नियतिवाद) इस तथ्य का कथन है कि जीवन और वास्तविक जगत् इतिहास और मात्र इतिहासरूपी है।" क्रोचे पुनः कहता है कि दार्शनिक जिज्ञासा का एकमात्र ध्येय ऐतिहासिक चिन्तन की प्रविधि का उद्घाटन करके अपने को उसके अनुरूप ढालना है। कारण यह है कि इतिहासात्मकता ही समस्त मानव-अनुभूतियों और उन अनुभूतियों के ज्ञान का सार है। क्रोचे मानता है कि वे सब मूल्य या विचार, जिन्हें अन्य चिन्तक इतिहास का मापक और मानक समझते हैं, इतिहास से स्वतन्त्र तत्व न होकर स्वयं इतिहास-प्रक्रिया से उद्भूत ऐसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


गत्यात्मक संरचनाएं हैं जिन्हें हम केवल अज्ञानवश स्थिर अमूर्त रूप प्रदान कर इतिहास से ऊपर किसी तथाकथित उच्च पद पर आसीन कर देते हैं। अर्थात् मनुष्य चिन्तन की जिन कोटियों (कैटेगरीज़) से प्रकृति को और स्वयं अपने स्वरूप को बुद्धि में ग्रहण करता है वे वैचारिक कोटियां नित्य या इतिहास-निरपेक्ष न होकर इतिहास-प्रसूत और इतिहासात्मकता से अभिभूत हैं। इसलिए किसी विषय का सर्वोच्च ज्ञान वह है जिसमें समस्त व्याख्यात्मक प्रत्ययों को ऐतिहासिक विधि से उद्घाटित करके विषयी (सब्जेक्ट) उन्हें आत्मसात् करता है और इस प्रकार हमें सत्ता के हर पक्ष का उसके गत्यात्मक रूप में अन्तरंग ज्ञान प्राप्त होता है।

कालिंगवुड के अनुसार, हम अपने और संसार के इतिहासात्मक स्वरूप के अन्तरंग व प्रबल प्रातिभज्ञान (इन्टयूशन) से ही अपने मनुष्यत्व का बोध करके अपनी सत्ता को प्रकृति के आवृत्तिपूर्ण यान्त्रिक व्यापार से अलग करते हैं और इस प्रकार उसे स्वायत्त आत्मानुशासित रूप दे सकते हैं, अन्यथा नहीं। इतिहास ही मानव की स्वायत्तता और स्वतन्त्रता का एकमात्र साक्षी है।

जहां आदर्शवादी प्रायः इतिहास-दर्शन को इतिहास-नियतिवाद के किसी न किसी रूप से जोड़ते हैं वहां आधुनिक प्रत्यक्षवादी (माडर्न-पॉज़ीटिविस्ट) हमारा ध्यान इतिहास और उसके ज्ञान की एक भयंकर विडम्बना की ओर आकृष्ट करते हैं। वे इस बात पर बल देते हैं कि इतिहासकारों की धारणा के अनुसार वर्ण्य ऐतिहासिक घटनाएं विशिष्ट, अद्वितीय और अनावर्त्तक होती हैं। यदि वे वास्तव में इस प्रकार की हैं तो उनका विशुद्ध वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वैज्ञानिक ज्ञान तो उन घटनाओं का ही संभव है जिनकी आवृत्ति में समरूपता है। अतः यदि इतिहास का विषय विशिष्ट घटनाएं हैं तो उनका ज्ञान भी अवैज्ञानिक प्रकार का है, यदि ज्ञान का कोई ऐसा प्रकार हो तो। और यदि हम यह कहें कि ऐतिहासिक घटनाक्रम में भी आवृत्तियां होती हैं और उनके सामान्य कारण-परक नियम खोजे जा सकते हैं तो हमें ऐतिहासिक वृत्तान्तों में से उन सब विशिष्ट घटनाओं को निकाल देना होगा जो उनका सर्वाधिक रोचक कथा-पक्ष है और जिसका कथ्य ही इतिहासकारों का मुख्य-अभीष्ट है। और तब इतिहास की परिणति समाज-शास्त्र में हो जायगी।

ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवादियों का दृष्टिकोण मुख्यतः नकारात्मक है। वे यह नहीं मानते कि इतिहास-दर्शन का कार्य सम्पूर्ण इतिहास-क्रम की कथित अर्थमयता का उद्घाटन करना है, क्योंकि इन घटनाओं में कोई ठोस, सुघड़ और परीक्षणीय (टैस्टेबल) नियमानुवर्तिताएं उपलब्ध नहीं होतीं और ऐतिहासिक घटनाओं के कथित नियम दार्शनिकों द्वारा मनमाने आरोपण हैं जिनकी युक्तता का कोई आधार नहीं है। अतः इतिहास-दर्शन का कार्य मात्र विवेचनात्मक ही हो सकता है, रचनात्मक (कंस्ट्रक्टिव) नहीं। हम अधिक से अधिक ऐतिहासिक ज्ञान की संरचना का विश्लेषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करके उसके सत्यता के दावों की जांच कर सकते हैं और यह दिखला सकते हैं कि कथित इतिहास किस अर्थ में और कहाँ तक वैज्ञानिक है।

आधुनिक प्रत्यक्षवादियों के बीच पॉपर की स्थिति कुछ निराली है। वह इतिहास-नियतिवाद का तो विरोधी है, किन्तु इतिहासवाद (हिस्टोरिसिज़्म) का समर्थक है। पॉपर समस्त ऐतिहासिक घटनाचक्र की अर्थमयता की मांग को अयुक्ति-संगत ठहराता है और कहता है कि ऐतिहासिक विकास का कोई नियम नहीं हो सकता। फिर भी उपलब्ध ऐतिहासिक ज्ञान की एक सीमित व्यावहारिक उपयोगिता हो सकती है, बशर्ते कि हम तथ्य और मूल्य सम्बन्धी अपने निर्णयों को एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक् करलें। इतिहास हमें यह नहीं बता सकता कि हमारे सामाजिक लक्ष्य क्या होने चाहियें। हमारे लक्ष्य केवल स्वायत्त संकल्पों से ही फलित हो सकते हैं। किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों के अनुशीलन से हम यह अवश्य जान सकते हैं कि जिन लक्ष्यों को हम अपने मुक्त संकल्प से निरूपित करते हैं उनमें से कौनसे लक्ष्य वर्तमान परिस्थितियों में अधिक व्यावहारिक होंगे और उनके साधनों का चयन हम किस प्रकार करेंगे। किन्तु इतिहास से यह जानने की आशा व्यर्थ है कि सम्पूर्ण समाज का एकमात्र श्रेष्ठ आदर्श रूप क्या होगा।

अन्त में हम कुछ ऐसे इतिहासकारों के मत को भी ले सकते हैं जो इतिहास-दर्शन की दोनों विधाओं को अयुक्त ठहरा कर उन्हें इतिहास-कार के कार्य में अनावश्यक हस्तक्षेप मानते हैं। इन विचारकों के अनुसार इतिहास-दार्शनिक इतिहासकार को रास्ता दिखलाने के बजाय उसे पथ-भ्रष्ट ही अधिक करते हैं। इतिहासकार को अपने दायित्वों के निर्वाह के लिए किसी बाहरी सहायता की आवश्यकता नहीं है। एक प्रबुद्ध, अनुभवी व कुशल इतिहासकार न केवल अपने अध्ययन-क्षेत्र में आवश्यक शोध-विधियों के निर्माण और उसकी समीक्षा करने में समर्थ है अपितु वह अपनी चुनी हुई विषय-वस्तु को वह सब बोधमयता स्वयं ही प्रदान कर सकता है जिसकी ज़रूरत उसे तथा उसके पाठकों को है। दार्शनिक इतिहास न केवल कोई नई ऐतिहासिक जानकारी देने में असमर्थ है अपितु उसका इतिहासकारों द्वारा दी गई जानकारी को और अधिक सघन बनाने और युक्ति-युक्त बनाने का दावा भी थोथा है।

इतिहास और इतिहास-दर्शन के बीच प्रस्तावित विभिन्न सम्बन्ध संक्षेप में म्निन हैं :

(१) इतिहास की सभी समस्याएं, चाहे वे विधि-सम्बन्धी हों या अर्थ-सम्बन्धी, स्वयं इतिहासकार द्वारा ही हल की जाने योग्य हैं और इतिहास-दर्शन एक अवैध विषय है।

(२) इतिहास-दर्शन उपर्युक्त दोनों प्रकार की वास्तविक समस्याओं का उपयोगी विवेचन करता है, क्योंकि स्वयं इतिहासकारों के पास इतना समय तथा वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं है जो इन समस्याओं के अध्ययन के लिए अपेक्षित है।

(३) इतिहास-दर्शन का मुख्य और एकमात्र वैध कार्य ऐतिहासिक ज्ञान-प्रक्रिया का आद्योपान्त विवेचन है। किन्तु इतिहास-विवेचन का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है।

पॉपर जैसे विचारक तीसरे मत में केवल इतना संशोधन करते हैं कि ऐतिहासिक विधि के ज्ञान की सीमित व्यावहारिक उपयोगिता भी हो सकती है, यदि हम इतिहास-नियतिवाद के बढ़े-चढ़े दावों से सावधान रहें। इस मत को इतिहासवाद भी कहते हैं।

(५) इतिहास-दर्शन का मुख्य, और सम्भवतः एकमात्र, कार्य ऐसे दार्शनिक इतिहासों का निर्माण करना है जो सम्पूर्ण इतिहास-क्रम को किसी बोधगम्य लक्ष्य के संदर्भ में व्याख्यायित करें। अर्थात् इतिहास-दर्शन वस्तुतः तत्व-दर्शन की एक विधा है जिसकी अन्तर्वस्तु पूर्वोपलब्ध ऐतिहासिक वृत्तान्त है।

(६) इतिहास-दर्शन तात्त्विक जिज्ञासा की एक विधा न होकर स्वयं उस जिज्ञासा की पूर्णता और वैचारिक पराकाष्ठा है जिसमें शेष ज्ञान स्वयमेव आत्मसात् हो जाता है। इस मत को हम घोर इतिहास-नियतिवाद कह सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि केवल कुछ विचारकों को छोड़कर अन्य सभी विचारक इतिहास-दर्शन को एक वैध विषय स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि इतिहास में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण अनिराकृत समस्याएं बनी रहती हैं जिनका अध्ययन सिद्धांत अथवा व्यवहार, अथवा दोनों में ही, उपयोगी हो सकता है। यही अध्ययन इतिहास-दर्शन बन जाता है।

राजकीय महाविद्यालय,
अजमेर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# अनेकान्त और स्याद्वाद

अभेदानन्द

ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय के सम्बन्धों का विश्लेषण दर्शनशास्त्र का कार्य है। तत्त्वमीमांसा में तत्त्व का और ज्ञानमीमांसा में ज्ञान और तत्त्व के सम्बन्धों का विश्लेषण किया जाता है। परन्तु ज्ञान और सत् के सम्बन्धों का विश्लेषण एक ऐसी समस्या है जिसका समाधान अब तक नहीं हो पाया है। ज्ञान के माध्यम से सत् की व्याख्या, चाहे वह ज्ञातृ तत्त्व हो चाहे ज्ञेय तत्त्व, बहुत ही दुरूह है। इसी कारण दर्शन में हमें 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' वाली बात मिलती है। किसी दार्शनिक ने जगत् को सत्य कहा है तो किसी ने मिथ्या। किसी ने ईश्वर की सत्ता मानी है तो किसी ने उसके प्रत्याख्यान में युक्तियां दी हैं। दर्शन में किसी भी विषय में कोई निश्चित और सार्वभौम सिद्धान्त निकाल लेना कठिन है। निकाल लेने पर भी परवर्ती तार्किक विद्वान नई युक्तियों से उक्त सिद्धान्त का प्रत्याख्यान कर सकते हैं। हमारी बुद्धि की कुछ सीमाएं हैं जिनका अतिक्रमण वह नहीं कर सकती; किन्तु चाहे सीमित क्यों न हो, जानने या वस्तु-स्वरूप-निर्धारण करने की हमारी लालसा होती है, इसी कारण हम अपनी-अपनी समझ के अनुसार वस्तुस्वरूप का निर्धारण किया करते हैं। इसी प्रकार दार्शनिक भी वस्तुस्वरूप के विषय में ज्ञान और सिद्धान्तों का निर्माण किया करते हैं। तथ्य सर्वदा एकरूप ही हुआ करता है, फिर भी एक ही तथ्य के विषय में दार्शनिकों का मतभेद क्यों? जैन दर्शन के आचार्यों ने इस बात को जान लिया था। उनके अनुसार मतभेद का मूल कारण एकान्तवादी होना, अर्थात् एक पक्ष के प्रति हठी होना है। यह बात जानते हुए भी कि हमारे ज्ञान की कुछ सीमाएं हैं, फिर भी अपने जाने हुए पक्ष को ही सत्य मानने और मनाने का आग्रह करना हठधर्मिता ही है। मैंने पहले ही कहा है कि वस्तुस्वरूप का ज्ञान और उसके स्वरूप का निर्धारण ये ज्ञानमीमांसीय समस्याएं हैं। वस्तुस्वरूप स्वयं में क्या है? विचार करने का अर्थ है उसे स्वयं में न रहने देना। फिर भी विचार करके ही कुछ कहा जा सकता है। यहां तक कि वस्तुस्वरूप को अज्ञेय कहकर भी अज्ञेय के रूप में काण्ट को वस्तुस्वरूप का विचार करना पड़ा।

हम वस्तुओं के नाना पहलुओं को देखते हैं। सभी पहलुओं को जानना किसी केवली के लिये भले ही सम्भव हो, साधारण के लिये असम्भव है, और केवली पुरुष यदि केवल ज्ञान से समस्त पहलुओं को जान भी लेते हैं फिर भी हम जैसों को समझाने के लिये उन्हें भी कुछ ही पहलुओं का कथन करना होता है; क्योंकि भाषा, जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कि सत् और ज्ञान के बीच में दलाली करती है, अपने आप में यथातथ्य चित्रण में असमर्थ है, अतः भाषा के कारण भी हमें पक्षात्मक ज्ञान ही हो सकता है। इन्हीं कारणों से जैन आचार्यों ने अनेकान्तवाद का उपदेश किया है। अनेकान्तवाद हमें हठधर्मिता से उदारता की ओर ले जाता है। यह सभी वादों का समन्वय है। वस्तुएं अनन्तधर्मा हैं[1]। अनन्त धर्मों में से अच्छे से अच्छे पण्डितों को भी कुछ ही धर्म ज्ञात हो पाते हैं तथा भाषा के माध्यम से कथन करने पर उन ज्ञात धर्मों में से भी कुछ ही धर्मों का कथन हो पाता है। अतः किसी वस्तु के विषय में एकान्तवादी होना, अर्थात् वस्तु के एक ही धर्म को सत्य मानना, उस वस्तु में अन्य धर्मों की उपेक्षा करके उनके प्रति आंखे मूंद लेना ही होगा।

इसी कारण जैन आचार्यों ने एकान्तवादों का प्रत्याख्यान किया है। एकान्त-वादी वस्तु के किसी एक पक्ष या धर्म को लेकर उसे ही सत्य मानते हैं। उदाहरणार्थं चार्वाक शरीरातिरिक्त आत्मा नहीं मानते। भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति होती है, इत्यादि चार्वाक-अभिमत सिद्धान्तों का एकान्तवाद होने के कारण जैन आचार्यों ने प्रत्याख्यान किया है। इसी प्रकार माध्यमिक शून्यवादी तथा विज्ञानवादी भी एकान्तवादी हैं। शून्यवादी सभी वस्तुओं को एवं तत्त्व को भी शून्य स्वरूप कहते हैं। यह भी एक प्रकार वस्तु के अनन्त धर्मों में से एक धर्म के प्रति हठवादिता है[2]। इसी प्रकार विज्ञानवादी के अनुसार सभी क्षणिक है, किन्तु अनेकान्तवाद के अनुसार वस्तु स्थिर एवं क्षणिक दृष्टि-भंगी के कारण दोनों हो सकती है[3]। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त का यह मत कि ब्रह्म कूटस्थ नित्य है और उसमें अन्य कोई धर्म ही नहीं, एक हठवादिता मात्र है। अद्वैतवादी को ही सत् के विषय में परम ज्ञान हुआ हो और किसी को हुआ ही नहीं, ऐसी बात असिद्ध है। अद्वैतवादी स्वयं जानते हैं कि दृष्टि-भंगी के कारण परमार्थ में ब्रह्म निर्गुण और व्यवहार में सगुण भी है। फिर भी वे एकान्त नित्यवाद का पक्षपात क्यों करते हैं[4]?

वस्तुतः एकान्तवाद वस्तु के विषय में सत्य ज्ञान को हमारे सामने प्रस्तुत न करके विपरीत ज्ञान को प्रस्तुत करता है। आंशिक ज्ञान को पूर्ण ज्ञान समझ बैठना विपर्यय ही तो है, एक रुपया को सौ रुपया समझना भ्रम नहीं तो क्या है? इसके विपरीत जैन दर्शन के अनुसार वस्तु के स्वरूप के विषय में इदं इत्थं करके नहीं कहा जाता और अन्य सम्भावनाओं के लिये मार्ग खुला रखा जाता है। अतः अनेकान्तवाद के अनुसार जितना भी जाना जाता है सत्य है, किन्तु उतना ही सब नहीं है। आंशिक रूप से सत्य ज्ञान है। अतः आंशिक ज्ञान को आंशिक ज्ञान के रूप में ही कथन भी करना चाहिये, विपरीत जानने वाले की अपेक्षा आंशिक जानने वाले और न जानने वाले जानने के कुछ समीप हुआ करते हैं। एकान्तवादी तो विपरीत जानते हैं, अनेकांतवादी आंशिक जानकर न जानने वाले की अपेक्षा सही और अधिक जानते हैं।

विचार करने पर वस्तु को अनेक पक्षों से जाना जा सकता है। घट के ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विषय में रूपवान् घट, स्पर्शवान घट, अतीत कालीन घट, वर्तमान कालीन घट आदि अनेक पक्ष हो सकते हैं। इसलिये जैन दार्शनिक वस्तु के कथन नयवाद द्वारा करते हैं, क्योंकि अनन्त धर्म वाले पदार्थ का आंशिक ज्ञान का कथन नयवाद से ही सम्भव है। जैन दर्शन का नयवाद सुनय है, क्योंकि किसी पक्ष का कथन करके भी अन्य पक्षों की सम्भावना का प्रत्याख्यान नयवाद नहीं करता, अपितु उनके लिये भी स्थान सुरक्षित रखता है। नयवाद इस प्रकार सापेक्षता को अपने में स्थान देता है। सन्मति प्रकरण में कहा गया है कि एक-एक पक्ष का ज्ञान कराने वाले सभी नय मिलकर ही सम्यक् ज्ञान करा सकते हैं। जैसे अति मूल्यवान् रत्न अलग-अलग रह कर अति मूल्यवान् हाट की संज्ञा नहीं पा सकते, मिलकर हाट की संज्ञा पाते हैं, उसी प्रकार विभिन्न पक्षों का ज्ञान कराने वाले नयों के विषय में भी समझना चाहिये।

मुख्यतया वस्तुओं के विषय में सकल दृष्टि और विकल दृष्टि रखी जा सकती है। सकल दृष्टि समग्र दृष्टि या अभेद दृष्टि है, इसी को लेकर द्रव्यार्थिक नय की प्रवृत्ति है। एक ही वस्तु को जब समग्र रूप से देखा जाता है तब वह समग्र के रूप में दिखाई देती है। इस द्रव्यार्थिक या द्रव्यास्तिक नय से देखने पर वस्तु में पर्याय भिन्न रूप से ज्ञात नहीं होते। वस्तु में पर्याय अवश्य है। 'घट है' यहां पर घट एक वचन में ही प्रयुक्त है, फिर भी इसमें अनेक धर्म विद्यमान हैं जिनका कथन पृथक्-पृथक् रूप से नहीं हुआ है। पृथक्-पृथक् रूप से कथन करने पर पर्यायार्थिक या पर्यायास्तिक नय की प्रवृत्ति होगी और यह रूपवान् घट, बड़ा घट, छोटा घट लाल घट, काला घट आदि अनन्त धर्मों में से पृथक्-पृथक् रूप से कुछ धर्मों या एक धर्म का कथन होगा। द्रव्यास्तिक नय में वस्तु का एक रूप से कथन होता है और पर्यायास्तिक नय में पृथक्-पृथक् कथन होता है। इन्हीं को सकल-विकल आदेश-भेद भी कहते हैं। जब द्रव्यास्तिक नय से द्रव्य मात्र का कथन होता है तब पर्यायों का निषेध नहीं मानना चाहिये। पर्याय भी उतने ही सत्य हैं जितना कि द्रव्य। द्रव्य सत्य पर्याय मिथ्या, या पर्याय सत्य द्रव्य मिथ्या, ऐसा सिद्धान्त जैन दर्शन को स्वीकार नहीं है। दृष्टि-भेद का अर्थ अन्य दृष्टियों का प्रत्याख्यान नहीं है। इसी कारण सप्तभंगी में 'स्यात्' शब्द के प्रयोग का विधान है। 'स्यात्' शब्द के प्रयोग से किसी एक धर्म को सत्य मानने की भ्रान्ति दूर हो जाती है। सप्त भंग निम्न प्रकार हैं: (१) अस्ति (२) नास्ति (३) अस्ति-नास्ति (४) अवक्तव्य — ये चार प्रधान भंग हैं। इन्हीं भंगों से अन्य तीन भंगों की उत्पत्ति है: (५) अस्ति अवक्तव्य (६) नास्ति अवक्तव्य (७) अस्ति-नास्ति अवक्तव्य। अस्तिमुखेन कथन करते समय अन्य भंगों को गौण रखा जाता है। उन दृष्टियों का प्रत्याख्यान नहीं किया जाता, तदर्थ अस्ति के आगे 'स्यात्' शब्द लगा दिया जाता है। इससे अन्य दृष्टियों के लिये अवसर रह जाता है और एकान्तवादी होने से बचा जाता है। इसी प्रकार स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्ति अवक्तव्यम्, स्यान्नास्ति अवक्तव्यम्, एवं स्यादस्ति-नास्ति अवक्तव्यम्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भंग बन जाते हैं। अस्ति मुख से हम यदि कहें 'यह पुरुष है', इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि 'यह' के अतिरिक्त और पुरुष है ही नहीं। यह बात सम्भव नहीं, इसी कारण कहा जायगा 'स्यात् यह पुरुष है'। इससे यह निर्धारण नहीं होता कि यही पुरुष है और इसके अतिरिक्त पुरुष है ही नहीं, अपितु पुरुष किसी काल में किसी के समीप किन्हीं धर्मों को लेकर है। इसी प्रकार उसी पुरुष में यह भी कहा जा सकता है कि 'यह पुरुष नहीं है' क्योंकि मैं जिस पुरुष को चाहता हूँ वह यह पुरुष नहीं है। इसलिये मुझे कहना चाहिये 'स्यात्' यह पुरुष नहीं है'। पुरुष तो वह है, किन्तु मेरा अभिप्रेत पुरुष वह नहीं है। पहले कहा गया वह पुरुष है और फिर कहा गया वह पुरुष नहीं है, इसलिये 'स्यात् यह पुरुष अस्ति–नास्ति रूप है'। पुरुष को अस्ति भी कह दिया गया और नास्ति भी। इस प्रकार मुख्य भाव से अस्ति-नास्ति एक वस्तु के लिये नहीं कहा जा सकता; कहा तो गया ही है, पर उसी कहे हुए को निश्चित न समझ लिया जाय इसलिये कहा गया है कि 'यह पुरुष अवक्तव्य है'। यहां पर भी निर्धारण को हटाने के लिये 'स्यात्' शब्द को लगाकर 'स्यात्' यह पुरुष अवक्तव्य है, यह कहा जायगा। पूर्वोक्त कारणों से पुरुष 'स्यात् अस्ति और अवक्तव्य' है, क्योंकि पुरुष में अस्तिवाचक भी सभी धर्मों का कथन सम्भव नहीं है अतः अज्ञात धर्मों के लिये इस समय अस्ति के साथ अवक्तव्य कहा जाना चाहिये। इसी प्रकार स्यात् पुरुष नास्ति और अवक्तव्य है, क्योंकि पुरुष के जितने भी नास्ति धर्म हैं सभी को कोई भी नहीं जान सकता, अतः नास्ति कहकर भी निर्धारण नहीं करना चाहिए। सृष्टि में अनन्त वस्तुएं हैं जो कि हमारे लिये अज्ञात हैं। जो ज्ञात हैं वे भी अनन्त धर्मों सहित ज्ञात नहीं। अस्ति-नास्ति मुख से पुरुष क्या-क्या नहीं है, हम कहां तक कह सकते हैं ? पुरुष टेबिल नहीं, पुरुष घट नहीं, पुरुष मकान नहीं; इस प्रकार अनन्त वस्तुएं हैं जो कि पुरुष नहीं हैं। वे सभी वस्तुएं नास्ति मुखेन पुरुष के विशेषण हैं। नास्ति मुखेन सभी विशेषणों का ज्ञान हमें सम्भव नहीं। अतः पुरुष स्यात् नास्ति और अवक्तव्य ठीक ही है, इसी प्रकार पुरुष स्यात् अस्ति, नास्ति अवक्तव्य भी है, क्योंकि अस्ति नास्ति दोनों प्रकार के अनन्त धर्मों को नहीं जान सकते, जानने पर भी समग्र रूप से कथन सम्भव नहीं, अतः अस्ति नास्ति के साथ अवक्तव्य भी है। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा वस्तु में अस्ति–नास्ति आदि सभी भंग सम्भव हैं।

एकान्तवादी जिस पक्ष का अवलम्बन करते हैं उसके विपरीत पक्ष को सहन नहीं करते। 'सत्' के विषय में एकान्तवादी नित्य–अनित्य में से एक ही पक्ष को मानते हैं, इतर को नहीं। अद्वैत वेदान्त को ही लिया जाय। अद्वैत वेदान्ती 'सत्' को 'त्रिकालाबाध्यत्वं सत्वम्' कहते हैं। ब्रह्म में वे विशेष धर्मों को नहीं स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शाश्वत ब्रह्म में स्वगत-स्वजातीय-विजातीय भेद सम्भव नहीं, अतः वह निर्धर्मक है। ब्रह्म-भिन्न सर्व मिथ्या है। जैनाचार्य इस एकान्त दृष्टि को नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मानते। उनके अनुसार इस प्रकार एकान्त दृष्टि से सत्य के ज्ञान से हम बहुत दूर चले जाते हैं। ब्रह्म शाश्वत और निर्गुण है, यह द्रव्यास्तिक नय से सत्य है, किन्तु पर्यायास्तिक दृष्टि से उसमें जीव जगत् आदि धर्म भी सम्भव हैं। उनका पूर्णतया निराकरण सत्य के एक पक्ष को ही जानने का प्रयास है, अतः कहना चाहिये ब्रह्म सत् भी है और असत् भी है; द्रव्यार्थिक समग्र दृष्टि से, परमार्थ दृष्टि से, तात्त्विक दृष्टि से अथवा कारण दृष्टि से ब्रह्म ही सत्य है और कार्य दृष्टि से कहीं भी सत् ब्रह्म नहीं दिखाई देता, अतः ब्रह्म असत् भी है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये।

जैन दर्शन में सत् को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त कहा गया है। सत् ध्रुव अवश्य होता है, किन्तु ध्रुव अर्थात् शाश्वत ही नहीं होता, साथ में उत्पत्ति-विनाशशील भी होता है। उत्पत्ति–विनाशादी धर्म पर्यायास्तिक नय से सम्बन्धित हैं तथा ध्रुव द्रव्यास्तिक नय से सम्बन्धित है। अतः वस्तु, चाहे वह तथाकथित नित्य आत्मादि ही क्यों न हों और अनित्य प्रदीपादि ही क्यों न हों, सभी नित्यानित्य हैं। सभी के ऊपर स्याद्वाद का शासन है, इसलिये आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि–"स्याद्वाद मुद्रानति भेदि वस्तु।" कोई वस्तु स्याद्वाद के अनुशासन का अतिक्रमण नहीं कर सकती। हेमचन्द्राचार्य ने न्याय-वैशेषिक सम्मत आत्मा आकाश आदि के मात्र नित्यत्व का प्रत्याख्यान किया है तथा प्रदीपादि के केवल अनित्यत्व का भी प्रत्याख्यान किया है। आकाश संयोग-विभागादि औपाधिक पर्यायों के कारण तथा आत्मा भी सुख-दुःखादि पर्यायों के कारण अनित्य है तथा अपने निरुपाधिक स्वरूप के कारण नित्य भी है। इसी प्रकार प्रदीपादि तथा कथित अनित्य पदार्थ भी तदन्तिम उपादान परमाणुओं के दृष्टिकोण से, अर्थात् कारण दृष्टि से, नित्य है, कार्य दृष्टि से अनित्य भी, अतः कुछ पदार्थों को केवल नित्य मानने का एवं कुछ पदार्थों को केवल अनित्य मानने का न्याय-सिद्धान्त समीचीन नहीं है।[२]

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में स्याद्वाद का प्रत्याख्यान किया है। उनका कहना है कि एक ही वस्तु में अनेक धर्म सम्भव नहीं हैं। एक वस्तु शीत और ऊष्ण दोनों नहीं हो सकती, इत्यादि।[१]

हमें यह समझ में नहीं आता कि आचार्य शंकर ने ऐसे आक्षेप स्याद्वाद पर कैसे किये? क्योंकि वे स्याद्वाद को नहीं समझ सकते थे, ऐसी बात तो कैसे कही जा सकती है? पर समझ करके भी उक्त मत के प्रत्याख्यानार्थ ही उन्होंने ऐसा किया होगा, क्योंकि जिस प्रकार के आक्षेप उन्होंने स्याद्वाद पर लगाये वे लागू नहीं होते। स्याद्वाद स्वयं इस विषय में स्पष्ट है। स्याद्वाद एक ही वस्तु में एक ही काल में एक ही दृष्टिकोण से अनेक धर्मों–को नहीं बताता। ऐसा करने पर 'विरोध नियम' का उल्लंघन होगा। वह तो सकल-विकलादि दृष्टि-भेद से ही अनन्त धर्मों का प्रतिपादन वस्तु में करता है। अद्वैत वेदान्त स्वयं पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ता-भेद को मानता हुआ व्यवहार-काल में व्यावहारिक दृष्टि से विश्व-प्रपंच को भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


सत्य कहता है। पारमार्थिक दृष्टि से विश्व-प्रपंच मिथ्या है। एक ही ब्रह्म में व्यवहारादि दृष्टि कहां से आगयी ? व्यवहार भी परमार्थतः मिथ्या ही है, यह उत्तर होगा, परन्तु दृष्टि-भेद तो है ही। इसी प्रकार दृष्टि-भेद से जैन दर्शन में सभी पदार्थ सत्य भी हैं और मिथ्या भी। स्याद्वाद का प्रत्याख्यान बौद्ध दार्शनिकों ने और रामानुजादि वैष्णव दार्शनिकों ने भी किया है। प्रत्याख्यान में वही एक ही युक्ति दी गयी है कि एक वस्तु में अनेक धर्मों की सम्भावना कैसे ? परन्तु यह युक्ति स्याद्वाद के प्रत्याख्यान में निराधार सिद्ध होती है, यह कहा जा चुका है।

स्याद्वाद को कुछ दार्शनिक सन्देहवाद का पोषक समझते हैं। यह बात भी निराधार है, क्योंकि स्याद्वाद कभी भी वस्तु-सत्ता के विषय में सन्देह नहीं करता। इसके विपरीत स्याद्वाद वस्तु को समग्ररूप से जानना चाहता है। यह तो जानने का एक सही और पूर्ण मार्ग है। वस्तु के विषय में कुछ सत्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है किन्तु उसके विना नहीं। स्याद्वाद वस्तु की पूर्णता को जानने के लिये मार्ग को प्रशस्त रखता है। संशयवाद में तो वस्तु-स्वरूप के विषय में ही संशय उत्पन्न कर दिया जाता है। स्याद्वाद के अनुसार वस्तु के विषय में हमारे अनेक अभिप्राय हैं, वस्तु यदि एक की हो तो अभिप्राय नाना होंगे ही। एक ही पुरुष दृष्टि-भेद से पुत्र के लिये पिता है, पिता के लिये पुत्र है, मित्र के लिए सज्जन, शत्रु के लिये दुर्जन है। एक ही पुरुष नाना धर्मों के कारण नाना दृष्टिओं से नाना हो जाता है।

दार्शनिक क्षेत्र में ही नहीं व्यवहारादि क्षेत्र में भी स्याद्वाद की उपयोगिता कम नहीं है। व्यवहार में यदि हम पूर्णतया एकान्तवादी बन जायंगे तो अब अनर्थ भी हो सकता है। एक व्यक्ति बहुत ही सत् पुरुष है। किसी कारणवश उसने मेरे प्रति यदि किसी दिन अभद्र व्यवहार कर दिया तो मैं उसके प्रति धारणा बनाऊंगा कि यह व्यक्ति अभद्र, अशिक्षित है, किन्तु यह एकान्तवादी धारणा है। हो सकता है वह व्यक्ति बहुत ही पंडित एवं भद्र पुरुष हो। जब तक मैं उसके सामाजिक, व्यक्तिगत, पारिवारिक आदि जीवन-पक्षों को नहीं जानता मुझे उसके प्रति किसी प्रकार की निश्चित धारणा नहीं बनानी चाहिये। हाँ व्यवहार चलाने के लिये मैं एक ही पक्ष को लेकर कह सकता हूं कि 'स्यात् वह पुरुष अभद्र है'। इसमें अन्य पक्षों के लिये अवसर छोड़ दिया जाना चाहिये। एकान्तवादी होने के कारण ही व्यवहार में विभ्रान्ति की सृष्टि होती है। परस्पर मनमुटाव आदि भी हो जाते हैं। यदि अनेकान्तवादी होकर अन्य पक्षों के लिये बुद्धि के झरोखे खुले छोड़ दिये जांय तब निश्चित ही व्यवहार में परिपक्वता आ सकती है। दर्शन-क्षेत्र में तो स्याद्वाद सभी मतों का समन्वय करता ही है।

**गुरुकुल कांगड़ी**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


१—अनन्त धर्मात्मकमेव तत्त्वम्, स्याद्वाद मंजरी, अन्य योग व्यच्छेदिका, श्लोक २२.

२—स्याद्वाद मंजरी, शून्यवाद विचार १६८ से १७८ पृ०, जगदीशचन्द्र जैन–सम्पादित।

३—स्याद्वाद मजंरी, विज्ञानवाद विचार, १४८ पृ०।

४—वही ११०–११६ पृ०

५—जैन दर्शन, पृ० ४७८, महेन्द्र कुमार जैन

६—सन्मति प्रकरण, प्रथम काण्ड, सिद्धसेन पृ० १४, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद।

७—सन्मति प्रकरण, प्रथम काण्ड, पृ० १६।

८—अपर्यंयं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्, अन्य योग व्यवच्छेदिका, श्लोक २३।

९—सन्मति प्रकरण, प्रथम काण्ड, पृ० २०।

१०—स्याद्वाद मंजरी, पृ० २०९, २१०।

११—अन्य योग व्यवच्छेदिका। श्लोक ५, जगदीशचन्द्र सम्पादित।

१२—स्याद्वाद मंजरी। न्याय वैशेषिक मत खण्डन, पृ० १५–२७। जगदीशचन्द्र जैन सम्पादित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# अस्तित्व और मूल्य

दयालशरण वर्मा

तथ्य एवं मूल्य के अंतर का बोध एवं उनका पृथक्-पृथक् अध्ययन ज्ञान के इतिहास की संभवतः सर्वाधिक विलक्षण एवं प्रभावशाली घटना है। इस घटना को मानव की विजय के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि इसने मनुष्य में वह क्षमता उत्पन्न की कि वह अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्रकृति को अपना दास बना सके। प्रकृति तथ्यों का समूह है—कवि की कल्पना के तथ्यों का नहीं और न सामान्य मनुष्य की अनुभूतियों के तथ्यों का; वह उन तथ्यों का समूह है जो एक वैज्ञानिक के सैद्धांतिक उपकरण की पकड़ में आ सकता है—नियम, प्राक्कल्पनाएँ आदि, जो स्वयं भी सैद्धांतिक रूप में तथ्य ही हैं। तथ्य एवं मूल्य की पृथक्ता से व्यक्ति मूल्यों के प्रश्न को, व्यावहारिक उपयोगिता के प्रश्न को, स्थगित कर सकता है और फुर्सत से अपने मूल्यांतरित अध्ययनों के द्वारा अपने सैद्धांतिक उपकरणों पर सान रख सकता है, उन्हें कहीं अधिक प्रभावशाली बना सकता है। ये सैद्धांतिक उपकरण केवल तथ्यों को ही संगठित नहीं करते, वे मूल्यों को भी तथ्य की तरह स्वीकार कर एवं उनकी तमाम व्यक्तिगत भिन्नताओं को समाप्त कर उनमें मतैक्य उत्पन्न करते हैं। परन्तु अध्ययन के लिए किये गए इस विश्लेषण का, इस विभाजन का, यह अर्थ कदापि नहीं था कि मानव का मूलभूत अनुभव कटा-बँटा है, उसमें तथ्य एवं मूल्य पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं, अथवा मूल्यों का स्थान तथ्यों की अपेक्षा निम्न कोटि का है। इस विभाजन का प्रयोजन और उसकी सार्थकता मात्र इतनी ही है कि उसके माध्यम से मनुष्य अपने अस्तित्व को, अपने मूलभूत बोध को, अधिक समृद्ध एवं मूल्यवान् बना सकता है; अथवा, जैसा कि नीत्शे ने कहा, "दैव और मूर्खता का जो भयानक अधिकार अब तक रहा है और जिसे इतिहास के नाम से पुकारा गया है, उसका अंत कर सकता है।"[1] परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि जो विभाजन तथ्यों पर विजय प्राप्त करने का साधन था वह स्वयं ही साध्य बन जाता है और मनुष्य उसके सामने घुटने टेक देता है। तथ्य सर्वोपरि हो जाते हैं और उन्हीं की भाषा में मूल्यों की, आदर्शों की, व्याख्या होने लगती है। विज्ञान द्वारा प्रस्तुत मूल्यों की कारणवादी एवं विश्लेषणवादी व्याख्या मूल्यों के अपने स्वरूप को ही नष्ट करने वाली है, उन्हें विषयीगत एवं मनमाने घोषित करती है, वह उन्हें सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम समझ उन्हें उपेक्षणीय सिद्ध करती है। विश्वदर्शन में सप्रयोजन किया गया मूल्य एवं तथ्य का यह विभाजन उस प्रेत का रूप धारण कर लेता है जो शीशी से बाहर होते ही अपने स्वामी को निगल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जाने के प्रयत्न में कम-से-कम उसे क्षत-विक्षत तो कर ही देता है। मनुष्य की तथ्य-निष्ठ व्याख्या मनुष्य को आधा-अधूरा ही देखती है वह, मनुष्य की समग्रता के साथ हमारा साक्षात् नहीं होने देती।

मूल्यों का विज्ञान स्वयं कोई मूल्य नहीं है, उसी प्रकार जैसे अणु का विज्ञान अणु नहीं है, मेंढक का विज्ञान मेंढक नहीं है, और न उससे कोई मूल्य उत्पन्न ही हो सकते हैं। विट्गेन्स्टाइन ने ठीक ही कहा कि विज्ञान की भाषा 'श्रेष्ठ क्या है' यह नहीं बता सकती। तब कठिनाई और भी बढ़ जाती है जब विज्ञान, जोकि औसत को प्राप्त करने की प्रक्रिया है, इस औसत को ही एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत करने लगता है। मूल्यों का कोई भी विज्ञान अपने वर्णनात्मक अध्ययन में बाध्य हो जाता है कि वह औसत से बँधा रहे। इस प्रकार, श्रेष्ठता के वर्णन में वह श्रेष्ठता को भी औसत की परिधि में खींच लाता है। तमाम श्रेष्ठताओं को वह बौना बनाता है, उनकी कारणवादी एवं उपयोगितावादी व्याख्या करता है तथा एक साधारणीकृत वस्तुस्थिति में उन्हें फिट करता है। मूल्य अथवा आदर्श वही रह जाता है जो किसी सामान्य सर्वेक्षण के विवरण में उल्लिखित होता है और वह औसत से अधिक नहीं होता।

परन्तु मूल्य की अवधारणा में तो किसी आदर्श अस्तित्व का समर्थन होता हैं, उसमें व्यक्ति अपना तथा दूसरों का अतिक्रमण करता है। मूल्य तो एक ऐसा संकल्प है जो अस्तित्व को साधन समझता है न कि साध्य; ऐसी महत्त्वाकांक्षा जो किसी उत्कृष्टता में विलक्षण बनना चाहती है एवं जो वास्तविकता के साथ अभि-योजन की समस्या की बस उपेक्षा कर देती है, एक ऐसा वरण जो खतरनाक उप-क्रमों का अनुगमन करता है, जो अकेली ऊँचाइयों को लांघता है, जो अथाह गह-राइयों में डूबता है; ऐसा अनुशासन जो मूर्ति-भंजक है, जो उसे नहीं प्राप्त करना चाहता जो वास्तव में है वरन् उसके पीछे दौड़ता है जो नहीं है। मूल्य की ऐसी धारणा तो व्यक्तिनिष्ठ ही हो सकती है और इकाई के ही किसी ठोस धरातल पर अभिव्यक्त हो सकती है। वह एक अनोखी वस्तु है तो विज्ञान के आनुभविक उपक्रमों की परिधि में वह कैसे आ सकती है? उसकी कैसे परिभाषा की जा सकती है, कैसे उसका वर्गीकरण किया जा सकता है, कैसे उसकी व्याख्या की जा सकती है, कैसे उस पर नियंत्रण किया जा सकता है, कैसे उसकी कोई योजना बनायी जा सकती है, कैसे उसके विषय में कोई प्रागुक्ति की जा सकती है? और यदि किन्हीं मिथ्या कथनों एवं परिकल्पनाओं के द्वारा इस उत्कृष्टता को काट-छांट कर औसत तक लाया भी जाता है और यदि उसका किसी नवीन उत्कृष्टता के लिए, किसी आदर्श-अस्तित्व की संभावना के लिए, उपयोग नहीं किया जाता तो उससे आखिर लाभ ही क्या है? क्यों उसे बौना बनाया जाता है? क्या प्रयोजन है इस तमाम साधारणी-करण का? प्रयोजनहीन यांत्रिकता! ज्ञान का लक्ष्य-विहीन उपक्रम!!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



और क्या यह सम्भव है कि मानव-अनुभव को हम वास्तव में सदा के लिए उस अस्तित्व तक ही काट-छाँट कर सीमित कर दें जिसमें आदर्श अस्तित्व का कोई बोध नहीं है ? क्योंकि यदि अपने अस्तित्व का अतिक्रमण करना मानव-स्वभाव का ही अंग हुआ तो उसे वस्तुनिष्ठ नियमों में बांधने का कोई भी प्रयत्न, जो तथ्यव्रती वैज्ञानिक करना चाहता है, कभी-भी संभव नहीं होगा। आदर्श अस्तित्व में नवीनता है, अनोखापन है; औसत अस्तित्त्व अतृप्त, आत्म-अभियोजित स्वभाव वाला है। अतः आदर्श अस्तित्व औसत की ऊँचाई से कहीं ऊपर प्रकाश-स्तंभ की तरह दिखायी देगा, और यदि इससे औसत अस्तित्व में कहीं कोई कष्टप्रद भयाकुलता दिखायी दे तो उससे कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए (आकुलता तो हमें हर अनोखी वस्तु से होती है, अनोखे संगीत से भी)। और तब सामान्यीकरण में प्रवृत्त विज्ञान आदर्श अस्तित्व के प्रति अपने वैरभाव के कारण, अपनी विरक्ति के कारण, उसे विरूपित कर सकता है और सैद्धांतिक जाल-बट्टे के द्वारा उसे उस वास्तविकता में जिससे वह भिन्न है, घटा सकता है। परन्तु, जैसाकि ऊपर कहा गया, यदि मानव स्वभाव से ही अपने अस्तित्व से अतिक्रमण करता रहता है तो विज्ञान का यह जाल-बट्टा सफल होने वाला नहीं है, क्योंकि हम मनोविश्लेषक जानते ही हैं कि, यदि चैतन्य अवस्था में नहीं तो स्वप्न में ही सही, दमित आत्मा अपने को अभिव्यक्त करती ही है और यह संभव नहीं है कि स्वप्न से भयभीत होकर आप सदा जागते ही रहें। यही नहीं, अनेक आत्माएं तो सदा सोते रहना भी पसन्द करेंगी, क्योंकि उनमें अपने स्वप्नों का साक्षात् करने का साहस है। और यही सत्य है मानव-समाज के विषय में भी। यदि विज्ञान द्वारा प्रस्तुत आदर्श अस्तित्व की अवमानना का एवं उसके विरुद्ध मिथ्या आक्षेपों का प्रचार हुआ और विज्ञान की यह बौद्धिक तथा विश्लेषणात्मक मिथ्या-रचना नकली एवं कम्प्यूटरों में बनाये गये मूल्यों की नकाब लगा कर मनुष्य में अंतरंग प्रवेश कर गयी और सामाजिक तथा मनो-भौतिक इन्जीनियरिंग के द्वारा उसने मनुष्य के तमाम चेतन एवं आनुभाविक उपक्रमों पर अपना अधिकार कर लिया और इस प्रकार व्यक्ति की सही महत्त्वाकांक्षाओं का दमन किया तो निःसंदेह समाज या तो नकाब लगा कर अपनी निषिद्ध स्वतंत्रता का छिपकर भोग करेगा अथवा विक्षिप्त हो जायगा। तब कोई फ्रायडवादी 'सुपर ईगो' अथवा 'ड्रीम सेंसर' उसकी मदद नहीं करेगा।

मानव-इतिहास में ऐसे अनेक अवसर आये हैं और इसी अर्थ में इतिहास अपने को दोहराता है। परन्तु प्रत्येक अवसर पर 'भिक्षापात्र लिये कोई राजकुमार', 'क्रास पर टँगा कोई ईसा', 'राजनीत में कोई महात्मा' समाज को इन अत्यधिक रुग्ण अवस्थाओं से बचाता है। मानव के स्वप्न-संसार के क्षितिज पर ऐसा कोई व्यक्ति प्रकट होता है और समाज उसका अनुकरण करते हैं तथा इस प्रकार के अनुकरण में अपनी दमित आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करते हैं। यह वह अवस्था है जिसमें मानव-जाति आदर्श-अस्तित्त्व एवं एक सच्चे मूल्यवान् जीवन के लिए सँजोई हुई अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



आहार एव अनन्त आकांक्षाओं के स्वप्न को साकार करती है। इस अनुकरण में जो व्यवस्था प्रकट होती है और **उस व्यक्ति** को तथा उसके शब्दों को आधार बना कर जीवन का जो निर्माण किया जाता है वह एक क्रांति है, ऐसी क्रांति जो एक प्रकार से मूल्यों का अराजकता के विरोध में, आदर्शों को बौना बनाने के विरोध में, अपनी मूलभूत यथार्थता से व्यक्ति के अलगाव के विरोध में, अभिव्यक्त होती है।

और यदि ऐसे किसी व्यक्ति का उदय न हुआ तो कोई कारण नहीं है कि समाज की ऐसी रुग्ण अवस्था का कोई हिटलर शोषण न करे। और कैसे इस प्रकार की स्वप्निल अवस्था में कोई समाज यह समझ पायेगा कि जिसका वह अनुकरण कर रहा है वह 'क्रास पर टँगा कोई मानव' नहीं है वरन् हिटलर है।

बौद्धिकतावाद स्वयं ही इस प्रकार के वैज्ञानिक कर्मकाण्डों का आधुनिकतम रूप है जो स्वप्न की ऐसी अवस्थाओं को उत्पन्न करते हैं। प्रमाणित अथवा सच्चे जीवन के विरोध में उसकी वही भूमिका है जो धार्मिक कर्म-काण्डों की थी। धर्मों ने अनेक प्रकार की अर्थ-शून्य बकवास एवं खोखले, औपचारिक कर्म-काण्डों को आर्थिक और राजनीतिक हिंसा की सहायता से जीवित रखा है, और यह किया है धर्मों ने स्वयं धार्मिकता के विरोध में। क्या आज का बौद्धिकतावाद भी उसी प्रकार की अर्थहीन बकवास से, पिटी-पिटायी, उबाने वाली, अरुचिपूर्ण और नीरस भाषा से, मूल्यों की चर्चा नहीं करता? [—और क्या आपने देखा नहीं है कि कैसे लम्बे-लम्बे मुँह बनाकर नकली गम्भीर मुद्राओं में अनेकानेक सेमिनारों में बार-बार दोहरायी गयी बातों को फटी—भर्रायी आवाज़ में विद्वान दोहराते हैं!!] कैसे यह बौद्धिकतावाद मूल्यों को कोई अर्थ प्रदान कर सकता है, जबकि अर्थ प्रदान करने की प्रक्रिया में ही वह उन्हें अर्थ-शून्य बताता है? कैसे वस्तु-परक रूप से विश्लेषित कोई 'प्रेम' अथवा 'भ्रातृत्व' हमें मूल्य के रूप में प्रेम अथवा भ्रातृत्व प्रदान कर सकता है? इस प्रकार के प्रेम में कैसे कोई प्रेमी अपने को अभिव्यक्त हुआ अनुभव कर सकता है? प्रेम की चर्चा में ही बौद्धिकतावाद प्रेम से छुट्टी ले लेता है और उसकी समस्याओं से सदा के लिए मुक्ति पा लेता है। नियंत्रण की आधुनिक सामाजिक-कल्प पद्धतियों से समर्थन पाकर बौद्धिकतावाद का यह कर्मकाण्ड व्यक्ति के वास्तविक मूल्य-बोध का दमन करने में कहीं अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है और तब ऐसी अवस्था उत्पन्न हो सकती है जब 'भिक्षा-पात्र लिये कोई राजकुमार' अथवा 'क्रास पर टँगा कोई मानव' अथवा 'राजनीति में कोई महात्मा' भी असफल हो जाय और मानवता तब अपने स्वप्नों के आनन्द के भोग से भी वंचित हो जाय एवं विक्षिप्त समाजों का उदय हो।

मानव के रूप में मानव-अस्तित्त्व तब तक सम्भव नहीं है जब तक मानव इसका सचेत अनुभव न करे कि इस प्रकार अस्तित्ववान् होने में वह अपने आदर्श-अस्तित्व को भी वास्तविक रूप प्रदान कर रहा है। परन्तु इससे हमें इस भ्रम में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नहीं पड़ना चाहिये कि वह केवल आदर्श अस्तित्व के रूप में, अर्थात् एक ब्रह्म, एक चरम मूल्य, एक शुद्ध स्वतंत्रता, एक निर्वाण, एक मोक्ष, अथवा जिसे अस्तित्ववादी शून्यता (नथिंगनेस) कहते हैं उसके रूप में अस्तित्व रख सकता है। ऐसा अस्तित्व, यदि उसकी अवधारणा की भी जा सके, भयावह एवं एकाकी और संभवतः दबाने वाला होगा। उसमें असुरक्षा की अनुभूति होगी, अपने साथी मनुष्यों के प्रति सम्प्रेषणशीलता का अभाव होगा और नीरस एकरूपता होगी। ऐसी स्वतंत्रता के भय अनेक हैं परन्तु उनमें सबसे बड़ा भय यही है कि मनुष्य की उसमें कहीं पर आसक्ति न होगी, वह निपट निरासक्त होगा। ऐसी कल्पित मुक्ति में से उसे न कुछ और नवीन बनना होगा न कुछ और नवीन बनाना होगा। वह एक ऐसा आकार रह जायगा जो विषय-वस्तु से खाली है, जो शून्य में खड़ा कोई सर्जक है जिसके ऐसे शाश्वत एवं एकरूप आनन्द हैं, उनमें ऐसी परिवर्तनहीन समरूपता है कि वे उसकी पकड़ में ही नहीं आते अथवा जो अन्धा-धुन्ध बेमतलब एवं मुक्त भोग है, अथवा जो एक असंभावना है। वह पारलौकिकता का एक मूर्तिमान रूप हो जाता है, उसके हास्य एवं विलाप पारलौकिक हो जाते हैं, वह अपने चारों ओर मनुष्य नहीं देखता, माया देखता है। उसके लिए अब कोई आदर्श अस्तित्व शेष नहीं रहता, कोई आगे का कदम नहीं रहता। जब तक कुछ उपलब्ध करने के लिए नहीं होता, मानव का मानव के रूप में अस्तित्व नहीं हो सकता, उपलब्धि की प्रक्रिया में ही वह अस्तित्व को बनाये रखता है, **वह कुछ होता रहता है।**

इसमें कोई संदेह नहीं कि विज्ञान भी सैद्धांतिक मूल्यों को, अर्थात् तथ्यों को, सुरक्षित रखता है। व्यावहारिक वस्तुनिष्ठा को प्राप्त करने के लिए वह द्वन्द्वात्मक रूप में आगे बढ़ता है, उसका मार्ग निर्धारित है और उसमें प्रत्येक अनुवर्त्ती अवस्था पूर्ववर्त्ती अवस्था की अनिवार्यतः एक व्यापक एवं उन्नत अवस्था होती है जिसमें अन्धविश्वासों एवं भ्रमों का त्याग किया जाता है तथा उपलब्ध तथ्यों को सुरक्षित किया जाता है। यद्यपि हम आज नहीं जान सकते कि कल हम क्या जानने जा रहे हैं, उसे हम तब तक नहीं जान सकते जब तक आज जो हम जानते हैं उसे हम अच्छी तरह जान न लें और उसे व्यवस्थित न कर लें। सिद्धांतों के निर्माण की प्रक्रिया ही विज्ञान के विकास की प्रक्रिया है, जो दिया हुआ है अथवा जो तथ्य है उससे परे जाना विज्ञान का लक्ष्य नहीं है। तथ्यों के प्रति सत्यनिष्ठ होने में ही विज्ञान तथ्यों को सुरक्षित रखता है।

तो प्रश्न उठता है कि मूल्य कैसे उपलब्ध होते हैं, कैसे यथार्थ बनते हैं तथा सुरक्षित किये जाते हैं। अथवा, क्या आदर्श अस्तित्त्व का यह अनुशीलन केवल एक **व्यर्थता** है, **शून्य** होना है, 'यह केवल उससे भागना है जिससे हम कभी नहीं भाग सकते, जो हमारी वास्तविकता है उससे भागना है?' (जैसा कि सार्त्र ने कहा) क्योंकि यदि किसी अर्थ में मूल्यों को भी सुरक्षित अथवा परिरक्षित नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



किया जाता तो सिद्धांततः इस मत का हम विरोध नहीं कर सकते कि मूल्य के रूप में मूल्य यादृच्छिक, विवेकहीन, विषयीगत एवं व्यक्तिगत हैं। उस अवस्था में सिद्धांततः हम कैसे स्वार्थी-परितुष्टीकरण में और परार्थी-बलिदानों में, मानव–भक्षण में एवं सभ्यता में, कोई भेद स्थापित कर सकते हैं ?

मूल्य-परिरक्षण के पक्ष में आज ईश्वर तथा स्वर्ग के सहारे तर्क करना एक लचर बात होगी। आखिर क्यों ईश्वर अच्छाई को पैदा करे और फिर उसको सुरक्षित करे ? विश्व में नैतिक व्यवस्था को बनाये रखने का आखिर प्रयोजन हो ही क्या सकता है ? यदि हमें कोई परिकल्पना करनी ही है तो वह परिकल्पना हम मनुष्यों के विषय में ही क्यों न करें ? मूल्यों में ईश्वर की क्या रुचि हो सकती है, इस विषय में परिकल्पना करने की अपेक्षा मनुष्य के प्रयोजन के विषय में परिकल्पना करने का अधिक औचित्य है। नीत्शे कहता है, 'ईश्वर पिता है'', इसका पूर्णतया खंडन हो चुका है और यह खण्डन इसी प्रकार हो चुका है जिस प्रकार कि "वह निर्णायक है," कि "वह अच्छे कामों का अच्छा फल देता है।" वह स्वतंत्र इच्छा वाला भी नहीं है। वह तो सुनता ही नहीं है, और यदि वह सुनता भी है तो वह जानता नहीं है कि सहायता कैसे की जाय। और सबसे खराब बात तो यह है कि वह अपनी बात को स्पष्ट नहीं कह पाता, वह सदा सन्देह में रहता है।"[२] इस प्रकार सृष्टि के विषय में भी कोई प्रयोजनवादी सिद्धांत हमें निश्चित रूप में यह नहीं बताता कि मूल्यों में इस सृष्टि की कोई रुचि क्यों और कैसे हो सकती है, और यहां भी मनुष्य के प्रयोजनों को समझना सृष्टि के प्रयोजनों को समझने की अपेक्षा अधिक औचित्य-पूर्ण है।

प्रयोजनवादी तत्त्वमीमांसा का और ईश्वर का परित्याग करने के बाद मूल्य-परिरक्षण के लिए मनुष्य के पास केवल अपने अनुभव ही रह जाते हैं और उसे केवल उन्हीं अनुभवों का सहारा रह जाता है। परन्तु आदर्श अस्तित्व के अनुशीलन में जो कुछ उसने प्राप्त किया है क्या उसके परिरक्षण की उसमें सामर्थ्य है ? क्या व्यक्ति भाग्य के हाथ का एक शक्तिहीन खिलौना नहीं है जो अंत में काल और मृत्यु के समक्ष हार ही जायगा ? "......मनुष्य के ऊपर और उसकी जाति के ऊपर धीरे-धीरे प्रलय का निर्दय अंधकार छा ही जायगा। पाप और पुण्य के प्रति अंधा, निर्द्वन्द्व रूप में प्रलयंकारी यह सर्वशक्तिमान भूत-द्रव्य अपने मार्ग पर आगे बढ़ता जायगा। ......... संक्षिप्त एवं शक्तिहीन है मनुष्य का जीवन !" तटस्थ विश्व में महत्वहीन व्यक्ति महत्वपूर्ण जीवन की खोज में। क्या यह विडम्बना नहीं है ?

इसी से दार्शनिक इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं कि नैतिक संकल्प में एक अंतर्निहित अच्छाई है ("वह एक रत्न है, जो अपने ही प्रकाश से चमकता है"—काण्ट) उन्होंने अनासक्ति को ही एक सच्चे व्यक्तिगत अस्तित्व के रूप में देखा है (हाइडेगर)। लेकिन क्या यह हमारी समस्याओं का समाधान है ? मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


कैसे एक-एक सच्चा जीवन जीयें; मुख्य प्रश्न यह है कि वह जीवन कैसे जीया जाय जो एक सच्चे जीवन की संभावना को बनाये रखता है। उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धांतों में निहित दृष्टिकोण आत्म-सांत्वना के लिए उपयोगी है और एक प्रतिकूल एवं उदासीन विश्व में मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए एक अच्छे मनोविज्ञान का कार्य कर सकता है, परन्तु वह कभी एक अच्छी नैतिकता नहीं प्रदान कर सकता। उसकी जड़ में एक गम्भीर निराशावाद छिपा है; रहस्यमय यथार्थता के प्रति उसमें एक गहरे भय की अनुभूति है। शुभ संकल्प को और अस्तित्व को एक-दूसरे के प्रति उदासीन बने रहने देने के स्थान पर वह उन्हें एक-दूसरे के सामने ऐसी स्थिति में ला देता है जहाँ उनमें कभी समझौता नहीं हो सकता।

मूल्य-परिरक्षण में विश्वास न जम पाने पर स्वाभाविक है कि नैतिकतावादी व्यक्तिगत रूप से उपलब्ध अनुभवों की गहरायी में जाय और कुछ ऐसे संकल्पों का अनुशीलन करे जो व्यक्तिगत रूप से कुछ मूल्यवान् हों। परन्तु मूल्य-परिरक्षण की चिंता उसे रहती है, उसका बोध उसे रहता है, और वह बोध धार्मिक रहस्यवादों के अभाव में अपने को धर्म-निरपेक्ष पुराण-कथाओं में अभिव्यक्त करता है। उदाहरणार्थ अस्तित्ववादी, मुख्यतः कीर्केगार्द और नीत्शे, उसे क्रमशः आवृत्ति में और शाश्वत पुनरावर्त्तन में खोजते हैं। एक शाश्वत चक्र-प्रवर्त्तन की कल्पना है, जिसमें जो उपलब्ध किया गया है उसकी बार-बार आवृत्ति होती रहेगी। कीर्केगार्द कहता है कि जो व्यक्ति इसे नहीं समझता कि जीवन आवृत्ति है, और कि यही उसका सौंदर्य है, उसका भविष्य वही होना चाहिए जिसके वह योग्य है, अर्थात् वह खो जाय, समाप्त हो जाय। आशा एक ऐसा भ्रामक फल है जिससे कभी संतोष नहीं होता और स्मृति तो कुछ भी संतोष नहीं प्रदान कर सकती; परन्तु आवृत्ति जीवन का नित्य का भोजन है। मानव ने जो कुछ उपलब्ध किया है उसको सुरक्षित करने की कल्पना इन सिद्धान्तों में है। ये सिद्धांत भी नैतिक व्यवस्था वाले सिद्धांत के समान व्यर्थ हैं क्योंकि ये भी उस तत्त्वमीमांसा की शरण ले रहे हैं जो मानव-जीवन के प्रयोजन एवं उसकी सार्थकता को कहीं दूर पारलौकिक भविष्य में देखती है, एक ऐसी वस्तु जिसे मानवीय अर्थ में कभी-भी उपलब्ध नहीं किया जा सकता और इसीलिए ये सिद्धांत किसी काल-व्यवस्था के अन्तर्गत पुनरावर्तन को इस दयनीयता के साथ स्वीकार करते हैं।

यदि हम जीवन के अर्थ को अपने मूल-भूत बोध में, ठोस एवं वर्तमान जीवन के अपने तत्काल बोध में, नहीं प्राप्त कर सकते तो हम इसे कहीं भी प्राप्त करेंगे, और उस अवस्था में या तो मनुष्य को मूर्खता अथवा शुद्ध निरर्थकता के प्रति आत्म-समर्पण करना पड़ेगा या तत्त्वमीमांसीय, पारलौकिक एवं परिकाल्पनिक विश्लेषणों के प्रति। काल हमारी समस्त उपलब्धियों को निगल जाता है, और यदि हम काल से संघर्ष करना चाहते हैं तो वह संघर्ष हम उसके साथ दौड़ कर नहीं कर सकते। हम उससे संघर्ष तभी कर सकते हैं जब कि हम उसके साथ दौड़ना अस्वीकार कर दें,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


और व्यक्ति ऐसा तभी कर सकता है जब उसी कर्म में, जिसमें वह आदर्श अस्तित्व को उपलब्ध करता है, जीवन के अर्थ को प्राप्त करे। साध्य को उसे साधन में ही खोजना होगा और यह साधन एवं साध्य का तादात्म्य ही है। भविष्य कभी आने वाला नहीं है, वह कभी नहीं आयेगा और न अतीत ने कभी मुझे छोड़ा ही है; वे मुझ में वर्तमान हैं, भविष्य मेरी महत्त्वाकांक्षाओं के रूप में और अतीत मेरी संस्कृति के रूप में। वर्तमान का कार्य उनमें विभाजन करना नहीं वरन् एक अवसर प्रदान करना है जिसमें किसी व्यक्तित्व के ठोस यथार्थ में वे समन्वित हों। मनुष्य में उपलब्धि का बोध सदा तत्काल, अपरोक्ष एवं सहज होता है, देश-काल वाले अस्तित्व से अतिक्रमण की, अर्थात् मुक्ति की अनुभूति सौंदर्य-बोध के समान ही होती है। नीत्शे ने ठीक ही कहा था, "किसी सौंदर्यानुभूति की विषय-वस्तु के रूप में ही केवल अस्तित्व का तथा जगत् का औचित्य प्रतीत होता है।"

परन्तु यह कोई सौंदर्यानुभूतिवादी स्वच्छंदतावाद नहीं है, क्योंकि यह इंगित करता है कि व्यक्ति कैसे काल के ऊपर कोई वास्तविक विजय प्राप्त कर सकता है—वास्तविक अर्थात् तत्त्वमीमांसीय एवं परलोकवादी विजय से भिन्न। इस परिवर्तनशील, भ्रामक एवं तुच्छ विश्व में मानव ने स्वयं अपने हाथों से एक देवालय का निर्माण किया है और काल के विरोध में वह इस देवालय में उपासना कर सकता है। सामाजिक अस्तित्व ही यह देवालय है; सामाजिक अस्तित्व जिसका निर्माण वह दूसरों के साथ अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों का निर्माण करके करता है। मनुष्य द्वारा उपलब्ध आदर्श अस्तित्व सड़कों, अस्पतालों एवं कारखानों में नहीं परिरक्षित होता, सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं में नहीं परिरक्षित होता, पुस्तकों, चित्रों एवं कलाकृतियों में नहीं सुरक्षित रहता, क्योंकि ये सब वस्तुएँ तो स्वयं ही सामाजिक अस्तित्व में रहती हैं और उसी के कारण होती हैं। सामाजिक अस्तित्व अपने सतत प्रवाह में नित नवीन संरचनाएँ, नित नवीन रूप, ग्रहण करता है और मानव-उपलब्धियाँ असंख्य विधियों में, कभी छिपकर और कभी प्रत्यक्ष, इन संरचनाओं के अंतर्गत परस्पर संयुक्त होती हैं। सामाजिक अस्तित्व में व्यक्ति न तो भौतिक रूप से सम्बन्धित होते हैं, न जैविक रूप से, और न मनोवैज्ञानिक रूप से। उसमें मनुष्य एक-दूसरे से मूल्य के रूप में सम्बन्धित होते हैं, वह मूल्य उस आदर्श अस्तित्व का एक स्वरूप है जिसे उपलब्ध किया गया है और जिसे सामाजिक सम्बन्ध के रूप में एक सातत्य प्रदान किया गया है। पिता का महत्व पुत्र को प्राप्त करने में नहीं है वरन् इस तथ्य में है कि पितृत्व एक मूल्य है जिसे उपलब्ध किया गया है। पिता महत्त्वपूर्ण है, इसलिए नहीं कि वह अपने पुत्र से किसी अनिवार्य कारणवादी अथवा प्राकृतिक कड़ी से सम्बन्धित है, वरन् अपनी स्वतंत्रता में पितृत्व को उसने एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया है। और पुनः, पिता महत्त्वपूर्ण है, इसलिए नहीं कि वह अपने पुत्र के रूप में अपनी एक प्रतिलिपि पैदा करना चाहता है, वरन् वह चाहता है कि उसका पुत्र स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में विकसित हो—पिता से स्वतंत्र—और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


वह आगे आदर्श-अस्तित्त्व की उपलब्धि में सक्षम हो। मूल्यों का परिरक्षण केवल सामाजिक अस्तित्व में ही संभव होता है, क्योंकि केवल वहीं आदर्श अस्तित्व की अधिकाधिक उपलब्धि की, अधिकाधिक कुछ बनने की, संभावना होती है।

अत: अस्तित्व में मानव को जन्म, मरण और निरर्थकता का भय होता है, परन्तु सामाजिक अस्तित्व में वह एक शाश्वत एवं सामूहिक निरंतरता का भोग करता है—मेरे पूर्वज, मेरे पड़ौसी, मेरा राष्ट्र, मेरा विश्व;—अस्तित्व में तो मानव अनिवार्य परिस्थितियों के विश्व में जकड़ा यांत्रिक व्यवस्था का एक पुछल्ला है परन्तु सामाजिक अस्तित्व उसके सामने आदर्श अस्तित्व को उपलब्ध करने की अनंत संभावनाएं प्रस्तुत करता है। सामाजिक अस्तित्व में भूत-द्रव्य वाली यांत्रिक व्यवस्था भी एक मूल्य प्राप्त करती है, सामाजिक अस्तित्व उसे भी एक ऐसा साधन बना लेता है कि वह उसके लिए उपयोगी हो। अस्तित्व-मात्र में ईश्वर, यदि वह है, भयावह है, अनिश्चित है, भ्रामक है; सामाजिक अस्तित्व में वह दयालु है, `पिता के समान है, स्नेहमय है, और जब वह मानव से स्नेह करता है जब उसे मूल्य प्रदान करता है, तो यह ईश्वर का ही स्नेह है जिसे प्रशस्ति मिलती है।

वाराणसी

---

**टिप्पणियां**

१ **बियोण्ड गुड एण्ड ईविल (द फिलासफी आफ नीत्शे, न्यूयार्क)** पृ० २०३, माडर्न लाइब्रेरी।

२ वहीं, ५३।

३ रसल, ब०; **मिस्टीसिज्म एण्ड लॉजिक** (पेंगुइन, १९५४) पृ० ५९।

४ **सिक्स एक्जिस्टेन्शियलिस्ट थिंकर्स** (रूटलेज, १९६१) पृ० ३५।

५ **द बर्थ ऑफ ट्रेजेडी (द फिलासफी ऑफ नीत्शे में;** माडर्न लाइब्रेरी, न्यूयार्क) ८४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# प्रेय और श्रेय : एक विवेचन

रामजीसिंह

प्रेय और श्रेय मानव-जीवन के दो भिन्न आदर्श माने गये हैं किन्तु दोनों ही सब लोगों को बांधते हैं।[1] प्रेय का अर्थ ही है प्रियतर वस्तु-प्रेयः प्रियतरमपि। श्रेय का अर्थ है निःश्रेयस्–श्रेयो निःश्रेयसो। एक ओर विषय-सुख है, दूसरी ओर आत्मलाभ और आत्मसंतोष। इसलिए उपनिषद् प्रेय-श्रेय-विवेक पर ज़ोर देते हैं। संयुत्त निकाय में भी संसार के दो पृथक् मार्गों का उल्लेख किया गया है : सत्तणं और असत्तणं।[2] सत्य स्वर्ग ले जाता है, असत्य नरक। स्वर्ग (सग्गपर्यायण) के बदले कहीं-कहीं निर्वाण (निब्बाण-पर्यायणम्)[3] का भी उल्लेख मिलता है, हालांकि उदान[4] में स्पष्ट रूप से 'स्वर्ग' एवं 'नरक' के ही उल्लेख मिलते हैं। उपनिषद्कार श्रेयार्थी को शुभ मानता है (साधु भवति) एवं प्रेयार्थी को पुरुषार्थ से पतित मानता है—हीयते अर्थाद्यः[5]। धम्मपद में श्रेय को सुख और प्रेय को 'प्रिय' कहा गया है। जो भौतिक-सुख एवं समृद्धि, विभव और वैभव के पीछे दौड़ता है वह प्रेय (प्रिय) प्राप्त करता है[6], लेकिन जिसके पास कुछ नहीं है, जिसके रागद्वेष सब शांत हो चुके हैं, जो अनासक्त एवं अपरिग्रही है, वह 'सुख' प्राप्त करता है[7]। मनुस्मृति में भी निःश्रेयस् और निःश्रेयस् के साधनों की चर्चा है[8]। शंकराचार्य ने श्रेय एवं प्रेय को ज्ञानात्मक भूमिका में समझाने का प्रयास किया है। श्रेय को विद्यारूप एवं प्रेय को अविद्यारूप बताते हुए दोनों को परस्पर विरुद्ध माना है। अतः एक का परित्याग किये बिना दूसरे की सिद्धि सम्भव नहीं। 'ते यद्यपि एकैक पुरुषार्थ सम्बन्धिनी विद्या अविद्या रूपत्वाद्विरुद्धे इत्यन्तरा परित्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात्'[9]। यही कारण है कि उपनिषद्कार ने श्रेय और प्रेय का अन्तर बताने के लिए 'दूरम्', 'विपरीते' एवं 'विषूची' इन तीन शब्दों का प्रयोग किया है[10]। श्रेय और प्रेय प्रकाश और अन्धकार के सदृश विवेक और अविवेक रूप से दूर हैं। इसलिए शंकराचार्य ने दोनों को 'अन्योन्य व्यावृत्त रूप' कहा है[11]। फिर दोनों के फल भी भिन्न-भिन्न बताये गये हैं–प्रेय संसार एवं श्रेय मोक्ष का कारण है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी काव्यात्मक शैली में दोनों का अन्तर बहुत ही सुन्दरता से स्पष्ट किया है–"प्रेय तो दैनिक सुखोपभोग की वस्तु है लेकिन श्रेय शाश्वत, नित्य एवं चिरंतन है। प्रेय के लिए यह शरीर ही सब कुछ है, किन्तु श्रेय की दृष्टि से वह गौण है। प्रेयार्थी आशान्वित रहता है कि कहीं उसका विषय–सुख समाप्त न हो जाय, किन्तु श्रेय अपने शाश्वत आनन्द में विभोर रहता है। इसलिए प्रेयार्थी केवल विषय–सुख के लिए मरता रहता है, लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



श्रेयार्थी दुःख का भी हलाहल पीने को तत्पर रहता है। मूल बात है कि प्रेय उपयोगितावादी दृष्टि रखना है जबकि श्रेय के लिए उपयोगी एवं अनुपयोगी दोनों ही समान हैं।[१२]" पाश्चात्य यूनानी चिंतक अफलातूं ने भी प्रेय और श्रेय के इस परस्पर विपरीत भाव को समझाते हुए दोनों के बीच आधारभूत अन्तर को स्वीकार किया है, लेकिन उसकी विशेषता यह है कि उसने दोनों के बीच विरोधों को बढ़ाने की अपेक्षा उनके समन्वय का प्रयास अपने अनुकृति-सिद्धांत के द्वारा व्यावहारिक एवं पारमार्थिक संसार में भेद करके किया है। यह विषय-युक्त संसार और इस जीवन का क्षणिक विषय-सुख वास्तव में अपनी कोई सत्ता नहीं रखते, ये तो उसी आदर्श परमार्थसत्ता की अपूर्ण प्रतिकृति हैं। यही कारण है कि हम सब में दो वृत्तियां काम करती हैं और वही हमें नियंत्रित एवं निर्देशित करती हैं। प्रेय की ओर हमारी जन्म-जात स्वाभाविक वृत्ति है, श्रेय की ओर हम विवेक और आत्म-संयम के द्वारा बढ़ते हैं। कभी तो दोनों के बीच समन्वय होता है कभी संघर्ष। यही कारण है कि कभी हमें प्रेय प्रभावित करता है कभी श्रेय[१३]।

अब प्रश्न है कि यदि दोनों आदर्श साधन, स्वभाव एवं फल इन तीनों दृष्टियों से इतने भिन्न ही नहीं बल्कि 'अन्योन्य व्यावृत्त' हैं तो फिर सामान्यजन प्रेय का ही क्यों वरण करते हैं? क्या यह मान लिया जाय कि मनुष्य स्वभाव से ही प्रेयाभिमुख है? मनुष्य को स्वभाव से विषयसुख की ओर प्रवृत्त मान लेने में कई प्रकार की दार्शनिक कठिनाइयां हैं जिनकी चर्चा का अभी प्रसंग नहीं। मनुष्य को यदि हम केवल पशुधर्मी मान लें तो फिर उसे प्रेयाभिमुख मानने में अधिक कठिनाई नहीं। किन्तु पशुधर्म के साथ-साथ मनुष्य में विवेक और नीति-धर्म भी है, इसलिए वह शुभ एवं शिव का भी वरण करता है। इस प्रकार श्रेय की कल्पना में सुखवाद की निषेधात्मक आलोचनाओं का एक सबल, भावात्मक उत्तर है। यही भावात्मक तत्त्व आत्म-संतोष, आत्मलाभ या आत्मप्रीति कहलाता है।

यदि हम बाह्य वस्तुओं के आकर्षण में बह नहीं जांय तो हम आत्मलाभ या श्रेयस् के रूप को जान सकते हैं। प्लेटो के अनुसार 'श्रेयस्' के रूप को स्पष्टतया देख लेने पर सब कुछ छोड़कर उसी को पाने की चेष्टा की जाती है। शारीरिक अपूर्णताओं से हम उस 'रूप' को धुँधला-सा देखते हैं। हम किसी गुफा में बन्द लोगों के समान हैं जो दीवारों पर बाहर प्रकाश में चलने वाली वास्तविक वस्तुओं का प्रतिबिम्ब मात्र ही देखते हैं। प्रतिबिम्ब वास्तविक वस्तुओं के सदृश ही लगते हैं। किन्तु जागरूक आत्मा उनके इस सादृश्य से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। हम सामान्य अनुभव से जिन चीज़ों को देखते हैं और जिन इच्छाओं की अनुभूति करते हैं वे दीवार पर प्रतिबिम्ब की भांति ही हैं। लेकिन प्रतिबिम्ब से परे भी कोई सत्य है और उस सत्य को पाने का प्रयास करना ही श्रेय की ओर जाना है। इसी को अरस्तू ने मनःप्रसाद (यूडेमोनिया) कहा है। यूनानी शब्द 'यूडेमोनिया' या मनःप्रसाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



का अर्थ सुख नहीं है बल्कि वरण एवं निवारण के अच्छे आन्तरिक सिद्धान्त हैं। मन:प्रसाद का अर्थ है कि मनुष्य अपनी आत्मा को स्वस्थ करके शारीरिक और सामाजिक स्थिति का उपभोग पूर्णता के साथ कर सके। इसीलिए सुख और सफलता को जीवन का उद्देश्य बनाने की अपेक्षा अरस्तू ने 'मनन' (थ्योरेटिकोस) को उद्देश्य माना है, जिसका तात्पर्य है "जीवन को दृढ़ता और सम्पूर्णता के साथ देखना।" चिंतन का निष्काम उपभोग व्यक्ति की सम्पूर्ण आत्मा की प्रामाणिक अभिव्यक्ति बन सकता है। पूर्ण की इसी भावना को लेकर हीगेल ने आत्मसिद्धि (सेल्फ रीयलाइज़ेशन) का आदर्श रखा है। आत्मपूर्णता आत्म-विकास पर निर्भर है। आत्म-विकास का अर्थ होता है कि व्यक्ति का अपने भीतर की नैसर्गिक शक्ति का विकास। ऐसा तभी होगा जब मानव अपनी निम्न प्रवृत्तियों को उच्च प्रवृत्तियों के अधीन कर दे। इसलिए ग्रीन ने आत्मविकास के लिए आत्मसमर्पण की बात कही है जिससे 'मैं' और 'तू' का भेद मिटाया जा सकता है। 'आत्म-ज्ञान', 'आत्म-विकास', 'आत्मपूर्णता' आदि शब्दों में 'आत्म' शब्द से भ्रम नहीं होना चाहिए कि यह 'अहंता' का बोधक है। कम से कम हीगेल के संदर्भ में तो यह सोचा ही नहीं जा सकता। किन्तु इसकी स्पष्टता के कारण ही एडम्सन ने कहा था—"आत्मपूर्णता एक शब्द-जाल है, कोई सामाधान नहीं।" केयर्ड ने 'आत्मत्याग के द्वारा आत्मपूर्णता' की कल्पना देकर इसको अधिक साफ किया। तो मूल प्रश्न है कि सच्चा 'स्व' (सेल्फ) क्या है? ब्रैडले एवं अद्वैत वेदान्त जिस 'स्व' की चर्चा करते हैं उसमें व्यक्ति का, कर्त्ता का 'स्व' उन सब व्यक्तियों के 'स्व' को लिए हुए चलता है जिनसे कर्त्ता सम्बन्धित है, इसीलिए वहीं 'तत्त्वमसि,' 'अहं ब्रह्मास्मि' की भूमिका है। किन्तु ऐसा व्यापक 'अहं' कर्त्ता भी माना जा सकता है या नहीं, इसमें हमें संदेह होता है।[१४] जो भी हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य जो कुछ करता है वह आत्मप्रीति के लिए ही करता है। यही आत्मकाम हमारी सम्पूर्ण कामनाओं में अभिव्यक्त होता है—'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति। आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।"[१५]

वास्तव में उपनिषद्–तत्त्वज्ञान में आत्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं—आत्म-व्यतिरेकेणाभावात्।[१६] इमानि भूतानि इदं सर्वं यदयमात्मा।[१७] प्रत्येक कला, अन्वेषण, काम और वरण का उद्देश्य अपना कोई न कोई हित होता है, किन्तु मनुष्य का परमहित या चरम शुभ तो आत्मकाम ही है।

लगता है जीव के समक्ष एक धर्म–संकट या नैतिक अन्तर्द्वन्द्व है कि वह प्रेय का वरण करे या श्रेय का। भगवद्गीता ने इसी विवेक के लिए बुद्धि के तामसी,[१८] राजसी[१९] और सात्विकी[२०] स्वरूपों का वर्णन किया है। शंकराचार्य ने इस नैतिक अन्तर्द्वन्द्व को तत्वज्ञान की भूमिका पर प्रतिष्ठित कर इसे विद्या और अविद्या के बीच संघर्ष माना है। अविद्याग्रस्त की दुर्दशा ठीक अन्धे की तरह होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है जो विषम मार्ग से होकर ले जाये जाने पर उसकी विषमता का अनुभव नहीं करते। दृष्टिहीनता के कारण उनके साथ मूढ़ता भी होती है। वित्तमोह एवं प्रमाद उनको इतना घेरे रहता है कि इस लोक से परे उन्हें कुछ सूझता ही नहीं। अयं लोको नास्ति पर [२१]। अतः शंकराचार्य के अनुसार यहीं पर मूल प्रश्न है ज्ञान का या आत्मज्ञान का। आत्मज्ञान तो दुर्लभ है ही–श्रेयोऽर्थी सहस्रेषु कश्चित् देवात्मविद्भवति [२२]। इस आत्मस्वरूप का निरूपण तो हर जगह किया गया है : वह अज, नित्य एवं शाश्वत है। इसलिए आत्मा के संदर्भ में 'हन्तु' और 'हतम्' दोनों शब्द निरर्थक हैं, क्योंकि–नायं हन्ति न हन्यते [२३]। आत्मा शरीरी होते हुए भी अशरीरी (अशरीरं शरीरेषु) और अनित्यों में नित्यस्वरूप (अनवस्थेषु अवस्थितम्)[२४] है, आदि–आदि। आत्मा ही सभी ज्ञान का भी आधार है–सर्वमेवत्वात्मना विज्ञेयम्। इसीलिए शंकराचार्य ने आत्मा को सर्वज्ञ भी माना है–यस्यात्मनोविज्ञेयं न किंचित् परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः [२५]। उपनिषद् के लिए आत्मज्ञता एवं ब्रह्मज्ञता पर्यायवाची हैं, इसलिए सर्वात्म दर्शन तार्किक रूप से प्रतिफलित होता है–य एवं पश्यति स एतदेवपश्यति, यत्प्रकृतं ब्रह्म [२६]। उपनिषद् ने 'एतद्वैतत्' पद का प्रयोग कर भेद-दृष्टि को ही ग़लत माना है। जो नानात्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु की ओर जाता है–मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति [२७]। शंकराचार्य ने 'कुतार्किक भेद-दृष्टि' एवं 'नास्तिक कुदृष्टि' [२८] के परित्याग करने एवं 'आत्मैकत्व दर्शन' पर ज़ोर दिया है।

इस प्रकार की आत्मदृष्टि यदि हमारे समक्ष रहेगी तो प्रेय एवं श्रेय व्यामिश्रभूत नहीं प्रतीत होंगे। इसलिए प्रेय-श्रेय-विवेक है। प्रश्न योग-क्षेम की उपेक्षा का नहीं, परम पुरुषार्थ के वरण का है। किसी भी प्रकार का विषय–सुख आख़िर तो हम आत्मा के लिए ही चाहते हैं, इसलिए विषय–सुख आदि साधन हुए, साध्य नहीं। इसलिए मूल चीज़ आत्म-लाभ ही है :

आत्मलाभात् परोनान्यो लाभः कश्चन विद्यते।
यदार्थाः वेदवादश्च स्मार्त्ताश्चापि तु यः क्रिया ।।

उपदेश साहस्री ।।

वास्तव में आत्मा ही परमात्मा है, अतः इसीको जान लेने से आत्मानंद मिल सकता है [२९]। श्रेय का वरण करने के अन्य कारण भी हैं। श्रेय नित्य, स्वयंलाभ एवं स्वतंत्र होता है जबकि प्रेय अनित्य, अन्यापेक्ष, अशुद्ध एवं अन्यदृष्टियुक्त होता है। वेदान्त परिभाषा [३०] में इसी सम्बन्ध में 'निरतिशय सुख' एवं 'सातिशय सुख' की चर्चा है। असल में निरतिशय सुख ही सच्चा सुख है, उसी का थोड़ा-सा प्रतिबिम्ब प्रेय में मिलता है। प्रेय श्रेयान्तर्गत समस्त, समग्र एवं शुद्ध सुख को इसलिए प्रकट नहीं कर पाता है कि मूल अविद्या है।

प्रेय और श्रेय के विषय में एक और भी गंभीर प्रश्न आ सकता है। क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्रेय और श्रेय 'परस्पर व्यावर्त्तक' हैं, जैसा उपनिषद्कार एवं शंकराचार्य आदि ने माना है, या वे 'परस्पर पूरक' हैं, जैसा गीता एवं अन्य हिन्दू शास्त्रों ने दिखाया है ? लगता है, सामान्य हिन्दू दर्शन जीवन को समग्रता में समझने का प्रयास करता है, इसीलिए यहां 'स्व' के साथ 'पर', 'स्वार्थ' के साथ 'परार्थ', 'अभ्युदय' के साथ 'निःश्रेयस्' का समन्वय बांधा गया है–"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् संसिद्धिः स धर्मः।" किन्तु यहीं एक कठिनाई है कि, यदि प्रेय और श्रेय, अभ्युदय एवं निःश्रेयस् परस्पर व्यावर्त्तक हैं तो फिर दोनों का समन्वय किस प्रकार सम्भव है ? इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि अभ्युदय एवं निःश्रेयस् मानव-जीवन के दो स्तरों के आदर्श हैं। जीवन व्यवहार भी है और परमार्थ भी। व्यवहार-दृष्टि से अभ्युदय चाहिये और परमार्थ दृष्टि से निःश्रेयस्। अफलातूं ने भी व्यवहार-जगत् को परमार्थ-जगत् की अपूर्ण प्रतिकृति मानकर यह बताने का प्रयत्न किया था कि हमारे व्यवहार-जगत् के क्षणिक सुखोपभोग आदर्श एवं पूर्ण आनन्द की ही प्रतिच्छाया मात्र हैं। व्यवहार-जगत् का सम्बन्ध चूंकि भूत द्रव्य से हो जाता है अतः यही श्रेयस् सांसारिक विषयसुख के रूप में पतित होकर प्रकट होता है। इस तरह स्तर-भेद के सम्बन्ध में यही अफलातूं एवं शंकराचार्य में साम्य दीखता है। दोनों ही विषय-सुख को परमानन्द की अपूर्ण एवं आंशिक अभिव्यक्ति मानते हैं। किन्तु जहां अफलातूं में प्रेय और श्रेय का परम निःश्रेयस् की अवस्था में समन्वय है वहीं शंकराचार्य के लिए ब्रह्मानन्द की स्थिति में कोई अन्तर्द्वन्द्व नहीं है, क्योंकि ब्रह्म तो एकमेवाद्वितीयम् है। इसलिए शंकराचार्य यह मानते हैं कि सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति ही परमानन्द है, वह निरतिशय सुख है और इसमें जो सीमाएं हैं वह मूला अविद्या है। इसी मूला अविद्या के स्थान पर अफलातूं ने हाइले या मैटर माना है जो एक जड़ तथा निष्क्रिय प्रक्रिया है। इससे अच्छी व्याख्या हम श्रेय का भावात्मक विकल्प प्रस्तुत कर कर सकते हैं। मानव अपनी प्रकृति में विभिन्नता के होते हुए भी एकता रखता है। उसकी प्रकृति में स्वहित और परहित, स्वार्थ और परार्थ दोनों को स्थान मिल जाता है। पूर्ण ही चिरंतन है, सत्य है। इसी प्रकार मानव-स्वभाव, मानव-प्रकृति भी अपनी सब भिन्नताओं को लेकर भी एक है, पूर्ण है, जिसमें सब भिन्नताओं को स्थान मिलता है। सर्वांगीण पूर्णता के लिए मानव को अपने स्वभाव एवं अपनी प्रवृत्तियों को किसी एक उच्चकोटि की व्यवस्था के अन्दर लाना होगा।

भागलपुर विश्वविद्यालय

---

**टिप्पणियां**

१ अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
कठोपनिषद् (शांकर भाष्य सहित, गोरखपुर, गीता प्रेस, षष्ठ संस्करण, सं० २०२८), २/१/१

२ संयुत्त निकाय, १/४/२/६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


३ संयुत्त–निकाय, ५/४/५/२

४ उदान (सम्पा.) एन. पी. चटर्जी (लन्दन, १६३०), पृ० ३०.

५ कठोपनिषद् १/२/१ तयो श्रेय: आददानस्य साधु भवति हीयते अर्थाद्य: प्रेयो वृणीते ।

६ धम्मपद (सम्पा.) स. राधाकृष्णन् (ऑक्सफोर्ड, १६५०), १६/१–१२.

७ उपरिवत्, १५/१–१२

८ मनुस्मृति १/११६ नि:श्रेयस् कर्मणां व गुण–दोष परीक्षणम् ।

९ कठोपनिषद् (शांकर भाष्य), २/१/१, पृ० ५०.

१० कठोपनिषद् (शांकर भाष्य), २/१/४, दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येतिज्ञाता ।

११ कठोपनिषद् (शांकर भाष्य), २/१/४, पृ० ५३.

१२ "पागल" शीर्षक लेख 'बंग दर्शन' से उद्धृत । सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त की पुस्तक "रवीन्द्रनाथ द पोयेट एण्ड फिलासफर," पृ० १११.

१३ प्लेटो, फीड्रस.

१४ भगवद्गीता, १८/१७ यस्य नाहंकृतोभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।

१५ बृहदारण्यक उपनिषद् (शांकर भाष्य) २/४/५/६.

१६ बृहदारण्यक उपनिषद् (शांकर भाष्य) ४/५/६.

१७ उपरिवत् ४/५/७.

१८ भगवद्गीता, १८/३२.

१९ उपरिवत्, १८/३१.

२० उपरिवत्, १८/२०, १८/३१.

२१ कठोपनिषद्, १/२/६.

२२ उपरिवत्, १/२/१८.

२३ कठोपनिषद् (शांकर भाष्य) २/१/३.

२४ उपरिवत् १/२/२२.

२५ कठोपनिषद्, १/२/१९. (शांकर भाष्य), २/१/३.

२६ उपरिवत् २/१/६.

२७ कठोपनिषद् २/१/१०.

२८ कठोपनिषद् (शांकर भाष्य), २/१/१५, पृ० १२३.

२९ सर्वसिद्धांत–संग्रह, श्लोक ६३२.

३० वेदान्त परिभाषा : तम सातिशयं सुखं विषयानु संगज नितान्त:करणवृत्ति तारतम्य कृतानन्यलेशाभिर्भव विशेषः निरतिशयं सुखं च ब्रह्मैव ।

३१ वैशेषिक सूत्र, १/१/१०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# कर्मवाद

डी. एन. द्विवेदी

कर्म का सिद्धान्त अधिकतर भारतीय दर्शनों में माना गया है। कर्म बन्धन का कारण और मुक्ति का साधन दोनों है। सबसे महत्वपूर्ण बात जो इसके पक्ष में कही जाती है वह यह कि कर्म का सिद्धांत मानव-जीवन की विसंगतियों की व्याख्या करता है। संसार में बहुत से लोग जो अच्छे आचरण वाले हैं उनका जीवन दु:खी है। दूसरी ओर बहुत से लोग जो दुराचारी एवं बेईमान हैं, सुखी जीवन बिताते हैं। ऐसा क्यों होता है ? कर्मवादियों के अनुसार इस विसंगति का एकमात्र कारण यह है कि प्रथम प्रकार के व्यक्तियों ने पूर्व जन्म में अच्छे कर्म किये थे और द्वितीय प्रकार के व्यक्तियों ने बुरे। इस जन्म में वे इन्हीं कर्मों का फल भोग रहे हैं। और इस जन्म में वे जो कर्म कर रहे हैं उनका परिणाम अगले जन्मों में पायेंगे। इस व्याख्या में कठिनाई यह है कि इसके द्वारा केवल विसंगतियों की व्याख्या ही नहीं होती अपितु उनका औचित्य भी सिद्ध होता है। यदि कोई व्यक्ति नीची जाति, निर्धन परिवार में जन्मा है, मां-बाप भूख से मर गये हैं, दिन भर चिथड़े में लिपटा या नंगा ही भीख मांगता है, भूख से परेशान रहता है, सर्दी में निमोनिया से मर जाता है, तो यह उसके पूर्व जन्मों के कर्मों का फल है। वह इसी योग्य था। इसमें किसी अन्य व्यक्ति या व्यवस्था का उत्तरदायित्व नहीं है। अर्थात् जो कुछ उसके साथ हुआ ठीक था, उचित था, ऐसी स्थिति में और कुछ किया ही नहीं जा सकता। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि कर्मवादी इस निष्कर्ष को इसी रूप में मान लेगा। किन्तु यह निष्कर्ष उसके सिद्धांत से अनिवार्य रूप से निकलता है, और यदि वह इसे नहीं मानता तो उसके मत में विरोध उत्पन्न होता है।

कर्मवाद की कई व्याख्यायें हैं और उनसे संलग्न कई कठिनाइयां भी हैं। मेरा उद्देश्य उन सब का उल्लेख करना नहीं है। मैं केवल इसके मूलरूप, महत्वपूर्ण मान्यताओं एवं प्रमुख कठिनाइयों को उठाना चाहता हूँ।

इस सिद्धांत की पृष्ठभूमि में एक मान्यता यह है कि, प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ परिणाम अवश्य होता है (या होना चाहिये)। ऊपर से देखने पर यह केवल मान्यता नहीं बल्कि वास्तविकता प्रतीत होती है। किन्तु विश्लेषण करने पर इस मान्यता का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यह सत्य है कि जो भी कार्य किया जाता है उसका परिणाम अवश्य होता है। कार्य एक प्राकृतिक घटना है और अन्य प्राकृतिक घटनाओं के समान इससे भी प्राकृतिक स्थिति में कुछ न कुछ प्राकृतिक परि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वर्तन उत्पन्न होता है। अर्थात् प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ प्राकृतिक परिणाम होता है। यदि अ ब को एक चपत मारता है तो ब को चोट लगती है। अ का कार्य म है और उसका परिणाम चोट लगना है। यहां मारने और चोट लगने में कारण-कार्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध पर ही कर्म-फल-सम्बन्ध की व्यख्या की जाती है। कारण-कार्य का नियम अनिवार्य और सार्वभौम माना जाता है। अतः प्रत्येक कर्म का फल होना आवश्यक है। अन्यथा कारण-कार्य का नियम भंग होता है। किन्तु कर्मवादी कारण-कार्य के इस प्राकृतिक नियम को नैतिक स्तर पर लागू करता है। जैसे कर्म का प्राकृतिक परिणाम होता है वैसे ही इसका नैतिक परिणाम भी होता है। कर्मवादी इस नैतिक परिणाम को ही मुख्य महत्व देता है। प्राकृतिक पक्ष में उसकी रुचि नहीं है। उसके अनुसार प्रत्येक कर्म का नैतिक परिणाम होता है, चाहे कर्मों को पृथक् पृथक् किया जाय या सामूहिक रूप में।

जब कर्मवादी प्रत्येक कर्म का नैतिक परिणाम मानता है तो वह कारण-कार्य नियम का नैतिक विस्तार करता है। अब कोई भी देख सकता है कि यह एक मान्यता है। जो बात निर्विवाद रूप से सत्य है वह कारण-कार्य का प्राकृतिक नियम है। कर्म का प्राकृतिक परिणाम से भिन्न नैतिक परिणाम भी होता है और कर्म तथा उसके नैतिक परिणाम में कारण-कार्य सम्बन्ध होता है, यह केवल कर्मवाद की मान्यता है। कर्मवादी यह नहीं सिद्ध करता है कि ऐसा होता है, या क्यों होता है। जब वह कहता है कि प्रत्येक कर्म का नैतिक फल होता है तब वह प्राकृतिक एवं नैतिक परिणामों को मिला देता है। इस मिलावट के कारण ही उसका सिद्धांत सत्य प्रतीत होता है।

इस मान्यता से संलग्न एक और मान्यता है: अच्छे कर्म का परिणाम अच्छा और बुरे का बुरा होता है। अच्छे और बुरे परिणाम के दो अर्थ हो सकते हैं: १. ऐसी परिस्थिति या परिस्थितियां, या ऐसी वस्तु या वस्तुएं, या ऐसी मानसिक अवस्था या अवस्थाएं जिन्हें सामान्यतः अच्छा या बुरा माना जाता हैं, और २. ऐसी परिस्थिति या परिस्थितियां, या ऐसी वस्तु या वस्तुएं, या ऐसी मानसिक अवस्था या अवस्थाएं जो कर्त्ता के अनुकूल या प्रतिकूल हों। अधिकतर स्थितियों में दोनों एक भी हो सकती हैं। किन्तु कुछ व्यक्तियों के लिए भिन्न भी हो सकती हैं। तब उनके लिए द्वितीय का ही महत्व है।

कर्म और उसके नैतिक परिणाम का सम्बन्ध सभी दर्शनों में एक-सा नहीं है। किन्तु इसे व्यापक रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: मनुष्य जो भी कर्म करता है उससे एक **शक्ति** उत्पन्न होती है। यह **शक्ति** स्वयं या किसी अन्य शक्ति द्वारा, समयानुसार, उन परिस्थितियों आदि को, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, उत्पन्न करती है या उत्पत्ति का एक हेतु बनती है। यह **शक्ति** जीव में तब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तक सुरक्षित रहती है जब तक परिणाम न उत्पन्न हो जाय। अ ने ब को चपत मारा। इसका प्राकृतिक परिणाम ब को चोट लगना हुआ। यह परिणाम समाप्त हो गया, किन्तु इस कर्म से एक **शक्ति** उत्पन्न हुई जो सुरक्षित रहती है और बाद में नैतिक परिणाम उत्पन्न करती है। ( कुछ दर्शनों के अनुसार, इसे समाप्त भी किया जा सकता है ) अब इस नैतिक परिणाम का प्राकृतिक कारण कुछ भी हो सकता है। मान लीजिये, अ का एक पैर पेड़ से गिरने के कारण टूट जाता है, या हैजे से उसकी मृत्यु हो जाती है। यहां पैर टूटने का कारण पेड़ से गिरना, और मृत्यु का कारण हैजे के कीटाणु हैं। किन्तु कर्मवादी इन प्राकृतिक कारणों की उपेक्षा करता है। उसके अनुसार अ ने पूर्व जन्म में कुछ अशुभ कार्य किया था जिसके फलस्वरूप उसका पैर टूटा या मृत्यु हुई।

यहां एक बात और स्पष्ट होती है। जैसे कर्मवादी की रुचि किसी कर्म के प्राकृतिक परिणाम में नहीं है वैसे ही उसकी रुचि फल के प्राकृतिक कारण में नहीं है। एक स्थिति की कल्पना कीजिये। अ, ब की हत्या कर देता है। अ के कर्म का प्राकृतिक परिणाम ब की मृत्यु है। किन्तु इस कर्म से एक **शक्ति** उत्पन्न हुई जो सुरक्षित रहती है। अगले जन्म में अ की मृत्यु हैजे से हो जाती है। यहां अ की मृत्यु का प्राकृतिक कारण हैजे के किटाणु हैं। कर्मवादी इन्हें वास्तविक कारण नहीं मानता। उसके अनुसार अ की मृत्यु का वास्तविक कारण उसके द्वारा ब की हत्या करने से उत्पन्न **शक्ति** है। इस प्रकार कर्मवादी ब की मृत्यु और हैजे के कीटाणु, दोनों की उपेक्षा कर अ की मृत्यु और ब की हत्या ( या हत्या से उत्पन्न **शक्ति** ) को सम्बन्धित करता है। उसके लिये न पिछले जन्म में ब की मृत्यु अ के कर्म का वास्तविक परिणाम है, न अगले जन्म में हैजे के कीटाणु अ की मृत्यु के वास्तविक कारण। इन दोनों का केवल गौण महत्व है। कर्मवादी प्राकृतिक परिणाम एवं कारण को गौण मानते हुए भी इसी **निदर्श** पर अपना तर्क देता है। उसके तर्क की प्रतीयमान शक्ति का कारण यही **निदर्श** है। यदि इन दोनों को गंभीरता से लिया जाय तो कर्मवाद की आवश्यकता ही न पड़े। प्रथम अनुच्छेद में जिस विसंगति की चर्चा की गयी है वह भी इसी उपेक्षा पर आधारित है। संसार में किसी मनुष्य को जो सुख-दुःख मिलते हैं उसके प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, आदि कारण हैं। इन कारणों से तथाकथित विसंगतियों की व्याख्या हो जाती है। प्रथम अनुच्छेद में जिस व्यक्ति की मृत्यु का उल्लेख किया गया है उसकी मृत्यु का आसन्न एवं दूरस्थ कारण निमोनिया तथा एक विशेष सामाजिक-आर्थिक ढांचा है। कर्मवादी इस व्याख्या से संतुष्ट नहीं होता और एक रहस्यात्मक सिद्धान्त की रचना करता है। पहले वह स्पष्ट आसन्न कारणों की उपेक्षा कर विसंगतियों का भ्रम उत्पन्न करता है और फिर उनकी व्याख्या के लिये कर्मवाद की कल्पना करता है। वास्तव में जिस विसंगति की व्याख्या के लिये कर्म-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वाद का आश्रय लिया जाता है वह स्वयं इसकी उपज है। यदि सुख-दुःख का संबंध नैतिकता से न माना जाय तो यह समस्या ही न उठे।

कर्म और फल के सम्बन्ध की व्याख्या कई तरह से की गयी है। इसे हम संक्षेप में दो रूपों में रख सकते हैं: (१) कर्म से उत्पन्न **शक्ति**, जो जीव में किसी न किसी रूप में सुरक्षित रहती है, समयानुसार स्वयं परिणाम उत्पन्न करती है, (२) स्वयं इस **शक्ति** में फल उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता, इसके अनुरूप फल उत्पन्न करने के लिये ईश्वर की आवश्यकता पड़ती है। प्रथम मत जैन, बौद्ध और मीमांसकों का है, दूसरा नैयायिकों एवं वेदान्तियों का। प्रथम मत के अनुसार ऋतु, अदृष्ट, अपूर्व या संस्कार आदि प्राकृतिक कारण--कार्य नियम की भांति फल उत्पन्न करता है। कर्मोत्पन्न **शक्ति** और फल में सीधा सम्बन्ध रहता है। दूसरे मत के अनुसार इस **शक्ति** या नियम में कारणात्मक सामर्थ्य नहीं हो सकता। यह सामर्थ्य केवल चेतन सत्ता में हो सकता है। यह सत्ता ईश्वर है। कर्म और फल का सम्बन्ध ईश्वर के माध्यम से ही संभव है। जर्मन दर्शन में कांट ने भी इसी आधार पर ईश्वर का आस्तित्व सिद्ध किया है। उसके अनुसार बौद्धिक तर्कों द्वारा ईश्वर का अस्तित्व नहीं सिद्ध किया जा सकता। किन्तु सद्गुण और प्रसन्नता में अवश्य सम्बन्ध होना चाहिये। अर्थात् कोई व्यक्ति जिस मात्रा में सद्गुणी है उसे उसी मात्रा में प्रसन्नता प्राप्त होनी चाहिये। किन्तु सद्गुणों में कारणात्मक शक्ति नहीं है। केवल ईश्वर इसकी व्यवस्था कर सकता है, अतः ईश्वर का अस्तित्व है।

किन्तु न तो भारतीय कर्मवादी यह बता पाते हैं न कांट कि क्या सद्गुण या दुर्गुण के अनुसार परिणाम अवश्य होता है और क्यों होता है? यह कथन क्यों न माना जाय कि सद्गुण स्वयं अपना पुरस्कार होता है? "नेकी कर, कुएं में डाल।" नैतिकता का हेतु स्वयं नैतिक कार्य है। आश्चर्य नहीं कि कांट पर सुखवादी होने का आरोप लगाया गया है। यदि परिणाम का अर्थ सांसारिक सुख-सुविधा न लगाया जाय, बल्कि कर्त्ता की मनोदशा लिया जाय, तब भी प्रश्न उठता है: ऐसी मनोदशा क्यों हो? वास्तव में सद्गुणी या अच्छा व्यक्ति अपने कार्यों को करने में ही प्रसन्नता का अनुभव करेगा।

इस पर कहा जा सकता है कि पुरस्कार और दण्ड स्वयं कार्य की मांगे नहीं हैं, न ये नैतिकता की अनिवार्य शर्तें हैं; किन्तु अच्छे कार्य का अच्छा और बुरे कार्य का बुरा परिणाम अवश्य होना चाहिये। स्वयं कर्त्ता इनसे प्रेरित नहीं होता—यदि होता है तो वह वास्तव में अच्छा व्यक्ति नहीं है—फिर भी उसे कार्य के अनुकूल फल मिलना चाहिये। इस बात पर विवाद की गुंजाइश है, किन्तु मैं इसे मान लेता हूं। (वैसे जो भी इसे मानता है, उसे इसके लिये उचित तर्क देना होगा) मैं यह भी मान लेता हूं कि ऐसा तभी हो सकता है जब ईश्वर का अस्तित्व हो। वे दर्शन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जो स्वयं कार्य, या कर्मोत्पन्न **शक्ति**, या नियम में कारणात्मक शक्ति मानते हैं, ग़लत हैं। इन दर्शनों में दो कठिनाइयां हैं। १. कर्म, **शक्ति** और नियम में फलोत्पादक सामर्थ्य मानना केवल मिथ है। यह शक्ति केवल चेतना सत्ता में हो सकती है। केवल जीव ही ऐसे परिणाम उत्पन्न कर सकता है। २. ऐसे दर्शन नैतिक मूल्य और प्राकृतिक गुणों को एक ही स्तर पर रखते हैं। कर्मवाद नैतिक मूल्यों पर आधारित है और नैतिक मूल्य प्राकृतिक गुण नहीं हैं। कोई भी वस्तु, घटना या कर्म मूल्यांकन से स्वतंत्र रूप में न शुभ है न अशुभ, न उचित है न अनुचित। नैतिक मूल्य इनका प्राकृतिक या स्वाभाविक गुण नहीं है। नैतिक मूल्य प्राकृतिक घटनाओं का उसी रूप में नियन्त्रण नहीं कर सकता जिस रूप में प्राकृतिक नियम करता है। मूल्यांकन के लिये ज्ञानात्मक चेतना आवश्यक है, चाहे सीमित जीव हो या असीमित ईश्वर। स्वयं कर्म, **शक्ति** या नियम में मूल्यांकन करने की योग्यता नहीं है। इनमें इस निर्णय की क्षमता नहीं होती कि क्या उचित है और क्या अनुचित, और यदि नैतिक मूल्य प्राकृतिक वस्तुओं, घटनाओं, कार्यों, प्रेरणाओं आदि में अनिवार्य रूप से विद्यमान होते तो नैतिक नियमों का उल्लंघन ही न होता और सर्वत्र एक सी स्थिति होती। किन्तु तब नैतिकता न होती। अतः तर्क के लिये हम कार्यानुकूल फल और ईश्वर की सत्ता मान लेते हैं।

किन्तु "होना चाहिये" और "है" का अर्थ एक ही नहीं है। न "होना चाहिये" "है" का प्रमाण है। मात्र "होना चाहिये" के आधार पर 'है" नहीं सिद्ध किया जा सकता। "होना चाहिये" और "है" दो पृथक् कोटियां हैं। जिस प्रकार "है" से "होना चाहिये" की निष्पत्ति नहीं हो सकती वैसे ही "होना चाहिये" से "है" की निष्पत्ति नहीं होती। "होना चाहिये" से 'है" की निष्पत्ति को **आदर्श-मूलक--तर्क दोष** कहा जा सकता है। यदि मान लिया जाय कि कर्म के अनुसार फल मिलना चाहिये तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कर्त्ता को अगले जन्म में कर्मोत्पन्न **शक्ति** के कारण, या ईश्वर के माध्यम से इसकी प्राप्ति अवश्य होती है। जैसा कि स्पष्ट है, यहां "होना चाहिये" के आधार पर तीन चीज़ों को एक-साथ माना जा रहा है: (१) फल की प्राप्ति, (२) पुनर्जन्म, (३) ईश्वर का अस्तित्व (कुछ दर्शनों में)।

उपर्युक्त विश्लेषण केवल उन दर्शनों के लिये सत्य है जो पुनर्जन्म और ईश्वर की सत्ता केवल नैतिक आधार पर मानते हैं। जो दर्शन इससे स्वतन्त्र रूप से पुनर्जन्म और ईश्वर की सत्ता मानते हैं वे इससे बच जाते हैं। मैं नहीं जानता कि पुनर्जन्म के लिये किसी दर्शन में नैतिकता से स्वतन्त्र तर्क दिया गया है। हां, ईश्वर की सत्ता अन्य तर्कों के आधार पर भी मानी गयी है। वे तर्क ठीक हैं या नहीं, मैं यहाँ इस प्रश्न को नहीं उठाना चाहता। मैं मान लेता हूं कि ईश्वर का अस्तित्व है। वह सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान और पूर्णतः न्यायी है। वह प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के अनुसार ( पृथक्-पृथक् या सामूहिक रूप से ) फल देता है। हमने मान लिया है कि (१) प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मानुसार फल मिलना चाहिये, (२) ईश्वर का अस्तित्व है, और (३) पुनर्जन्म होता है। क्या इन बातों को मान लेने पर कर्मवाद की व्याख्या हो जाती है ? मेरे विचार से नहीं।

ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान है। वह जैसा पुरस्कार या दण्ड चाहे दे सकता है। धनवान या निर्धन, बुद्धिमान या मूर्ख, सुखी या दुःखी आदि बना सकता है। किन्तु ज्यों ही उचित और अनुचित का प्रश्न उठाया जाता है, कठिनाइयां आ जाती हैं। नैतिक नियम ईश्वर बनाता है या समाज और व्यक्ति ? यदि नैतिक नियमों, उचित-अनुचित, का स्रोत ईश्वर है तो दो कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। (१) सभी कालों और सभी समाजों एवं व्यक्तियों के लिये एक ही नैतिक नियम होने चाहियें। किन्तु ऐसा नहीं है। भिन्न-भिन्न कालों एवं समाजों में अलग-अलग नैतिक नियम माने जाते हैं। क्या उचित है, क्या अनुचित, इसकी मान्यता बदलती रहती है। एक उदाहरण लीजिये : हिन्दू गोमांस खाना अनुचित मानता है, मुसलमान उचित। अब किसका कार्य उचित है ? कौन ईश्वर-कृत नियम का पालन करता है, कौन उल्लंघन ? या, ईश्वर ने इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाया ? (२) ईश्वर के नियमों का ज्ञान मनुष्यों को कैसे होता है ? नैतिक नियम प्राकृतिक नियमों जैसे नहीं हैं जिन्हें वैज्ञानिक विधियों द्वारा खोजा जा सके। तो क्या उन्हें सीधे ईश्वर व्यक्त करता है ? या वह अपने कृपापात्रों—ऋषियों, पैगम्बरों आदि द्वारा व्यक्त करता है ? फिर उनके उपदेशों में विरोध क्यों है ? सभी नैतिक एवं धार्मिक महापुरुषों एवं पुस्तकों के नैतिक-विधान एक-से नहीं हैं। इस विरोध की व्याख्या कैसे होती है ? तो क्या यह मान लिया जाय कि नैतिक-विधान के ज्ञान के बिना भी किसी व्यक्ति को किसी कार्य के लिये उत्तरदायी बना दिया जाय ? जब तक कोई व्यक्ति नहीं जानता कि जो कार्य वह करना चाहता है, या करने जा रहा है, वह उचित है या अनुचित, उसे उसके लिये उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। अन्तरात्मा की आवाज़ भी कोई सहायता नहीं करती। किसी भी कार्य पर कोई भी दो व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न आवाज़ें सुनते हैं। अतः स्पष्ट है कि ईश्वर नैतिक नियमों का स्रोत नहीं है। नैतिक विधान मानवीय हैं।

अन्य मूल्यों के समान नैतिक मूल्य भी मानव-कृत हैं : नैतिकता के मानदण्ड ही नहीं बल्कि विशेष उचित एवं अनुचित कार्यों की व्यवस्था भी मानवीय मूल्यांकन-क्रिया का परिणाम है। हम यहां यह प्रश्न नहीं उठायेंगे कि यह क्रिया कैसे, किन स्तरों पर और क्यों घटित होती है। इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि यह क्रिया सामूहिक या वैयक्तिक स्तर पर एक विशेष संस्कृति के अनुकूल या आपेक्षिक स्वतन्त्रता के साथ निरन्तर घटित होती रहती है। कम से कम जागरूक व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विहित कार्यों एवं स्वीकृत आदर्शों एवं मूल्यों को पुनः परीक्षा के पश्चात् ही स्वीकृत करता है। इस विकल्प को मान लेने पर ज्ञान का प्रश्न हल हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है या जान सकता है कि वह जो कुछ करना चाहता है या कर रहा है वह उचित है या अनुचित। अपने कार्यों के लिये वह उत्तरदायी है। उनके लिये उसे पुरस्कार या दण्ड दिया जा सकता है।

किन्तु यहां भी कठिनाई समाप्त नहीं होती। भिन्न-भिन्न कालों, समाजों (समाज में समूहों एवं व्यक्तियों) के आदर्शों एवं मूल्यों में अन्तर रहता है। ऊपर दिया हुआ उदाहरण फिर से लीजिये। हिन्दू गोमांस खाना अनुचित मानता है, मुसलमान उचित। किन्तु ईश्वर किसे उचित मानता है? वह हिन्दू को दण्ड देगा या मुसलमान को? ऐसे आदिवासियों की कल्पना कीजिये जो एक विशेष आयु, मान लीजिये ६० वर्ष, के ऊपर के स्त्री-पुरुषों को मार डालना उचित मानते हैं। उन्हें ईश्वर दण्ड देगा या नहीं? यदि आप कल्पना नहीं करना चाहते तो सती–प्रथा की लीजिये। इच्छा या अनिच्छा से सती होने वाली स्त्री के कर्म का परिणाम क्या होगा? अनिच्छा से सती होने वाली स्त्री से जो व्यक्ति यह "पवित्र" कार्य कराते हैं, क्या ईश्वर उन्हें पुरष्कृत करता है?

इस कठिनाई से बचने के दो मार्ग हो सकते हैं: (१) प्रत्येक समाज या / और व्यक्ति का अपना ईश्वर है; (२) ईश्वर एक ही है, किन्तु वह प्रत्येक समाज या / और व्यक्ति की नैतिक धारणा के अनुसार उन्हें फल देता है। प्रथम में सबसे बड़ी कमी यह है कि एक से अधिक ईश्वर की कल्पना ईश्वर के प्रत्यय के विरुद्ध है। दूसरे में यह कमी नहीं है। किन्तु इसे मानने से नैतिक-विधान ही भिन्न-भिन्न हो जाता है। नैतिकता की धारणा काल एवं समाज के अनुसार ही नहीं, व्यक्ति के अनुसार भी भिन्न हो सकती है। फलतः कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्य को नैतिक-औचित्य प्रदान कर सकता है और उसके प्रति प्रतिबद्ध हो सकता है। यह स्थिति भी मान्य हो सकती थी यदि व्यक्ति सामाजिक प्राणी न होता और उसे एक-दूसरे के साथ अन्तर्वैयक्तिक कार्य न करना पड़ता। जब दो या अधिक व्यक्ति दूसरे या दूसरों के साथ ऐसी क्रिया करते हैं जो उसे या उन्हें नैतिक रूप से मान्य नहीं, यद्यपि कर्त्ता उन्हें उचित मानता है, तो नैतिक निर्णय किस प्रकार होगा? अन्तर्वैयक्तिक व्यवहार का द्वन्द्व नैतिक निर्णय को असंभव कर देता है। एक बात और। इस चरम उच्छृंखलता की स्थिति में नैतिक मानदण्ड इतने लचीले हो जायंगे कि सभी व्यक्तियों के सभी कार्य उचित हो जायंगे; दूसरे शब्दों में, उचित और अनुचित का अन्तर समाप्त हो जायगा। फिर तो किसी व्यक्ति को कभी भी प्रतिकूल स्थिति या मनोदशा में नहीं रहना चाहिये। यह तो हुई तथ्य की बात। सैद्धान्तिक रूप से ऐसा मानदण्ड, जो उचित और अनुचित में अन्तर न करता हो, उपयुक्त मानदण्ड नहीं होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



किन्तु यह कहा जा सकता है कि उचित और अनुचित का अन्तर इस उच्छृंखल स्थिति में भी रह जाता है। मान लीजिये क एक नैतिक नियम को स्वीकार करता है। अब यदि वह इस नियम को स्वीकार करते हुए भी इसके विपरीत कार्य करता है तो वह अपने नियम का ही उल्लंघन करता है और उसका कार्य अनुचित है। यदि वह इसके अनुरूप कार्य करता है तो उसका कार्य उचित है। (यहां हम तर्क के लिये यह संभावना छोड़ देते हैं कि इस चरम व्यक्तिवादी स्थिति में कोई भी व्यक्ति कोई भी कार्य करते समय अपने नियम का उल्लंघन करने के स्थान पर नये नियम बनाना पसन्द करेगा) यदि अन्तर्वैयक्तिक व्यवहार की समस्या न उठाई जाय तो ईश्वर का कार्य सरल हो जाता है। किन्तु दूसरे लोग क की स्थिति की समीक्षा कैसे करेंगे? उनके लिये केवल एक आधार रह जायगा। उसका सुख-दुःख। यदि वह सुखी है तो सद्गुणी है, दुःखी है तो दुर्गुणी। किन्तु इसमें चक्रक दोष आ जायगा। कर्मवाद इस मान्यता पर आधारित है कि कोई अच्छे व्यक्ति को सुख और बुरे व्यक्ति को दुःख मिलना चाहिये। और अब हम इस स्थिति पर आ जाते हैं कि जो व्यक्ति सुखी है वह अच्छा है, जो दुःखी है वह बुरा है।

नैतिक नियम तभी स्वीकार हो सकते हैं जब वे अपने प्रयोग में निरपवाद हों। जब हम किसी के कार्य को देखकर कहते हैं कि इसके फलस्वरूप उसे सुखी या दुःखी होना चाहिये तो हमारे मन में एक निरपेक्ष मानदण्ड रहता है। हमें ज्ञात होना चाहिये कि अमुक कार्य उचित है या अनुचित। तभी हम उसके परिणाम की कल्पना करते हैं। यदि यह अन्तर ही स्पष्ट न हो तो कर्मवाद का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाता है। तब क्या कर्मवाद किसी भी रूप में स्वीकार नहीं हो सकता? मेरे विचार में कर्म का सिद्धान्त **व्याख्या** के रूप में नहीं, बल्कि **प्रस्ताव** या संस्तुति के रूप में माना जा सकता है।

नैतिकता का महत्व दो दृष्टियों से है: आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक दृष्टि से नैतिकता का उद्देश्य स्वयं नैतिकता है। ऐसा कोई नैतिक तर्क नहीं है जिससे सिद्ध किया जा सके कि अच्छे कार्य का अच्छा परिणाम मिलता है या मिलना चाहिये। कम से कम यह नैतिकता की अनिवार्यता नहीं है। किन्तु बाह्य दृष्टि से यह वांछनीय है कि व्यक्तियों को उनके कार्यों के अनुसार न्याय प्राप्त हो। अर्थात् अच्छे व्यक्ति को कष्ट न मिले और बुरे व्यक्ति को दण्ड मिले। नैतिकता का बाह्य उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था है। सामाजिक व्यवस्था तभी रह सकती है जब व्यक्तियों को उनके कर्मानुसार स्थान और सुविधाएं मिलें। सद्गुणों को प्रोत्साहित करने के लिये कर्मवाद की मान्यता, कि अच्छे कार्य के लिये अच्छा और बुरे कार्य के लिये बुरा फल मिले, उपयोगी है। किन्तु इस रूप में लेने पर कर्म का सिद्धान्त हमारी सांसारिक स्थिति की व्याख्या नहीं रह जाता, बल्कि अन्तर्वैयक्तिक आचरण को सुव्यवस्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करने का प्रस्तावित आदर्श हो जाता है। कर्म का नियम तात्त्विक सिद्धान्त के रूप में नहीं बल्कि आचरण के प्रस्तावित आदर्श के रूप में ही लिया जा सकता है। तात्विक पक्ष निकाल देने पर पुनर्जन्म एवं ईश्वर के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं रह जाती। समाज की जो विसंगतियां हैं उनकी व्याख्या सामाजिक ढांचे में ही निहित रहती है। किसी व्यक्ति के ग़रीब-अमीर होने का कारण सामाजिक-आर्थिक-ढांचा और उसकी स्वयं की परिस्थितियां एवं योग्यता है। इसी प्रकार अन्य पक्षों की व्याख्या भी संभव है। इसे मान लेने पर परिस्थितियों का औचित्य भी नहीं सिद्ध होता, और उन्हें परिवर्तित करने की आवश्यकता बनी रहती है। यह भी सत्य है कि यह आदर्श पूर्णतः प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिये केवल सतत प्रयास हो सकता है। इसी प्रकार इस आदर्श का पालन मानवीय निर्णयों, प्रयासों एवं संस्थाओं पर ही निर्भर है। अतः कर्म और फल में जैसा सम्बन्ध तात्विक रूप में स्वीकृत है वह भी संभव नहीं है। इतनी व्यवस्था ही पर्याप्त होगी कि अनुचित कार्यों के लिये कर्त्ता को दण्ड मिले और उचित कार्य में कोई मानवीय बाधा न पड़ सके। इस नियम में कठिनाइयां तभी उत्पन्न होती हैं जब इसे मात्र नैतिक आदर्श के रूप में न लेकर तात्विक विस्तार दे दिया जाता है।

इसका एक मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है। जब कोई व्यक्ति बुरा कार्य करता है, या चरित्र से ही बुरा रहता है, तो दूसरे लोग चाहते हैं कि इसे कष्ट मिलना चाहिये। यदि वह अच्छा कर्म करता है या चरित्र से अच्छा होता है तो वे चाहते हैं कि वह व्यक्ति सुखी रहे। प्रथम स्थिति में यदि उसे कष्ट मिलता है, किसी भी रूप में, किसी भी कारण से, तो वे कहते हैं कि वह इसी योग्य था। उसे यह मिलना चाहिये था। दूसरी स्थिति में, जब उसे सुख मिलता है, किसीं रूप में, किसी कारण से, तो लोग प्रसन्न होते हैं और कहते हैं कि उसे सुख मिलना चाहिये था। वह इसके योग्य था। इनसे विपरीत परिस्थितियों में दुःख होता है। किन्तु यदि कोई गंभीरता से शादिक अर्थ में इन परिणामों को उस व्यक्ति के कार्यों के नैतिक मूल्यों से सम्बन्धित करता है तब वह इस प्रस्तावित आदर्श का अनर्थ एवं दुरुपयोग करता है और तभी वह अप्राप्त लांछित स्थितियों को भूत एवं भविष्य से जोड़ता है।

"कर्म" के कई और साधारण प्रयोग हैं। इनमें कुछ का उल्लेख किया जा सकता है। एक इस वाक्य में व्यक्त हुआ है : "करम गति टारे नाहिं टरी"। यहां "कर्म" का अर्थ भाग्य लिया गया है। भाग्य चाहे व्यक्ति के कार्यों से निर्धारित होता हो, चाहे अन्य किसी कारण से, यह उतना ही अस्वीकार्य है जितना कर्म का सिद्धान्त। एक दूसरे अर्थ के अनुसार "वह अपने कर्मों का फल भोग रहा है" वाक्य का प्रयोग उन परिस्थितियों में किया जाता है जिनमें व्यक्ति अपने इसी जन्म के कुकृत्यों के कारण शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक इत्यादि कष्ट पाता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



या जब वह अपने अच्छे कार्यों के कारण उन्नति करता है। यदि कोई लड़का परिश्रम से पढ़ता है और पढ़ाई समाप्त होने पर एक अच्छी नौकरी पा जाता है, तो उसे उसके कर्मों का फल कहा जाता है। जब कोई साधारण व्यक्ति जन-सेवा एवं दल का कार्य करते हुए मुख्य मन्त्री बन जाता है तो यह उसके कर्मों का फल है, इत्यादि। इसी प्रकार, जब कोई व्यक्ति किसी की हत्या कर देता है और फांसी की सज़ा पाता है तो यह भी उसके कर्म का फल है। यदि कोई व्यक्ति लगातार, अत्यधिक मात्रा में, शराब पीता है और बाद में अस्वस्थ रहने लगता है, तो यह भी उसके कर्म का फल है। इन प्रयोगों में कुछ भी रहस्यात्मक नहीं है। व्यक्ति के कार्यों एवं परिणामों में स्पष्ट सम्बन्ध विद्यमान रहता है और इस सम्बन्ध की व्याख्या प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं ऐसे ही अन्य नियमों, प्रथाओं के द्वारा की जा सकती है। इसके लिये न ईश्वर को मानने की आवश्यकता है न पुनर्जन्म को, न नियमों में किसी रहस्यात्मक कारण-शक्ति को। एक तीसरे प्रयोग के अनुसार "कर्म-फल" की बात उस स्थिति में भी की जाती है जब कोई व्यक्ति अनैतिक कार्य करने पर अपराध-भावना का शिकार हो जाता है। इस अवस्था में उसे मानसिक रोग हो जाता है जिसकी अभिव्यक्ति प्रायः शारीरिक विकारों में भी होती है। यहां भी कहा जाता है कि वह अपने कर्मों का फल भोगता है। किन्तु यहां भी कुछ रहस्यात्मक एवं विचित्र नहीं है।

**नोट:**—हमने ईश्वर के सम्बन्ध में जो कठिनाइयां उठायी हैं उनके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि ईश्वर की कल्पना सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि समाज या सामाजिक आत्मा के रूप में की जाय, तो नैतिकता के स्रोत, ज्ञान और व्यवस्था की समस्याओं का समाधान हो जाता है। किन्तु तब नयी कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। विभिन्न समाजों की नैतिक मान्यताओं का विरोध विभिन्न समाजों को आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तरों पर रख कर दूर किया जा सकता है। इन स्तरों में डायिलेक्टिकल सम्बन्ध दिखाया जा सकता है। किन्तु जो भी इन समाजों को डायिलेक्टिकल सम्बन्ध में रखता है वह केवल निष्पक्ष, निर्वैयक्तिक विश्लेषण नहीं करता। उसके मन में मूल्यों का एक संस्थान रहता है, जिसमें वह मूल्यों को निम्नतम से सर्वोच्च्य मूल्यों के क्रम में रखता है। यह क्रिया स्वयं एक विशेष मूल्यांकन-दृष्टि पर निर्भर है। विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न क्रम हो सकते हैं। शायद ही दो दार्शनिक किसी एक क्रम पर सहमत हों। तब किसका विश्लेषण ठीक है? दूसरी कठिनाई यह है: समाज के पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिसके द्वारा एक व्यक्ति के दो जन्मों को सम्बन्धित कर उसे पुरस्कार या दण्ड दिया जा सके।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# पुस्तक-समीक्षा

विषय और आत्म, ले० यशदेव शल्य, प्रकाशक दर्शन प्रतिष्ठान जयपुर, विक्रेता—इंटर कांटीनेंटल बुक हाउस, चौड़ा रास्ता, जयपुर, पृ० सं० २१४, मू० २०.००.

**विषय और आत्म** श्री यशदेव शल्य की छठी मौलिक पुस्तक है। प्राक्कथन में उन्होंने बताया है कि इस पुस्तक में उनकी उस विचारधारा का विकास हो पाया है जिस विचारधारा की नींव उन्होंने सन् १९६७ में प्रकाशित **ज्ञान और सत्** नामक अपनी पुस्तक में रखी थी।

इस पुस्तक में शल्य जी के कुल मिलाकर तेरह उच्चकोटि के निबन्धों का संग्रह है। इनमें से दस निबंध तो सीधे दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित हैं, शेष तीन निबन्ध परिशिष्ट के रूप में संकलित किये गए हैं और उनका संबंध भारतीय संस्कृति, अहिंसा तथा प्रजातन्त्रवाद से है। इन तीन निबंधों में भी शल्य जी का दार्शनिक दृष्टिकोण ही मुखरित हुआ है।

लगभग इन सभी निबंधों में किसी-न-किसी रूप में विषय तथा आत्म से संबंधित दार्शनिक समस्याओं पर विचार किया गया है। वास्तव में, शल्य जी विषय तथा आत्म को दर्शनशास्त्र के मूल विषय मानकर चले हैं। अपने इस लेख में मैं प्रथम दस निबंधों पर, एक-एक करके, कुछ कहना चाहूँगा।

सबसे पहले निबंध में शल्य जी ने विशेष और सामान्य संबंधी समस्या पर विचार किया है। उन्होंने सामान्यों की सत्ता को स्वीकार किया है। उनका दावा है कि लोकसंज्ञान भी सामान्यों की सत्ता में विश्वास करता है। इसी दृष्टि से उन्होंने प्लेटो के सिद्धांत को भी सत्य माना है। 'विशेष' तथा 'विशिष्ट' में शल्य जी कोई अंतर नहीं देखते अतः वे इन दोनों शब्दों को समानार्थक रूप में प्रयुक्त करते हैं। उनके मत में विशिष्टों को देशकाल के आधार पर अलग-अलग व्यष्टियों में परिभाषित नहीं किया जा सकता, अतः प्रत्येक व्यष्टि एक विश्लेषणात्मक कल्पना है। इस प्रकार की विचार-प्रक्रिया उन्हें इस मान्यता की ओर ले जाती है कि भौतिक विश्व में और मानव-निर्मित वस्तु-विश्व में विशिष्टों के लिए कोई स्थान नहीं है (९)। तथापि उनके मतानुसार विश्व के दूसरे आयामों में, उदाहरणतः जैव-विश्व में और कला-जगत् में, अनेकानेक विशिष्ट उपलब्ध होते हैं। इन विशिष्टों के अतिरिक्त वे व्यक्ति को कठोरतम विशिष्ट मानते हैं। उनके कथनानुसार 'व्यक्तित्व' कर्तृत्वाभिमान के बोध का नाम है। उनकी दृष्टि में "व्यक्तित्व नेयार्थ का एकत्व है जो अपने अस्तित्व को संवेद के माध्यम से उपलब्ध करता है" (७९)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



दूसरे शब्दों में, व्यक्तित्व का स्फुटतम बोध आत्मताप के, अथवा प्रेम के, अथवा मूल्य के तीव्र अनुभव के क्षणों में रहता है—जब व्यक्ति बाह्योन्मुख वृत्तियों से विच्छिन्न होकर अपने आप में स्थित अपने को देखता है (११)। शल्य जी के मतानुसार, वैशिष्ट्य केवल गठन के आन्तर संयोजन से ही उपलब्ध होता है (७६)।

दूसरे, तीसरे, और चौथे निबंधों में शल्य जी ने विषय, आत्म तथा संवाद संबंधी दार्शनिक समस्याओं पर विचार किया है। वे 'विषय' को अभिमुखता से परिभाषित करते हैं और बताते हैं कि गोचर, कला, विज्ञान, तथा दर्शन–मूलक 'विषय' विभिन्न अभिमुखताओं के भिन्न-भिन्न व्यापार हैं। स्पष्ट है कि वे साधारण वस्तुओं को, जिन्हें हम साधारणतया विषय कहते हैं, 'प्रत्यक्ष विषय' मानते हैं। समस्या है इन प्रत्यक्ष विषयों के दार्शनिक विश्लेषण की। श्री शल्य ने इन विषयों का विश्लेषण 'अभिमुखता' प्रत्यय से किया है। उनके मतानुसार, विषयत्व का मूल धर्म उसकी परात्परता है। वह एक स्वतंत्र सत् है जो हमारे ज्ञान से निरपेक्ष किन्तु ज्ञान में प्रकट होने की सामर्थ्य से युक्त है। वह प्रस्तुत होता है, सर्जित नहीं होता (१४)।

'आत्म' को शल्य जी ज्ञान के बाहर एक मूल्य के रूप में देखते हैं और मूल्य उनकी दृष्टि में आत्म की वास्तविक अपूर्णता तथा अन्वेष्य पूर्णता के बीच तनाव है। उनका कहना है "मैं आत्मा संज्ञक किसी तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन नहीं कर रहा हूँ, बल्कि आत्म को नेयार्थ से परिभाषित कर रहा हूं और इस प्रकार इसे अनिवार्यतः ऐतिहासिक मान रहा हूँ" (६५)। "आत्म संवेद अथवा अव्यवहित आत्म-स्थिति नहीं होकर नेयार्थ, अथवा कहें कर्तृत्वाभिमान है। इस प्रकार इसकी अन्तर्वस्तु चरितार्थ्य मूल्य है, प्रस्तुत वस्तु नहीं।···आत्म मूल्यात्मक होने से संभावनात्मक नहीं होकर आदर्शात्मक है" (३१)।

शल्य जी के मतानुसार "हम अपने साधारण अनुभव में वस्तु के साथ युगपद् रूप से विषयीभाव का भी ग्रहण करते हैं और इस प्रकार वस्तु का उसकी परता में ग्रहण करते हैं" (३४)। इससे स्पष्ट होता है कि "विषय और आत्म (विषयी) एक-दूसरे के सापेक्ष हैं। विषय अपने को आत्म की सापेक्षता में ही स्थापित करता है। विषय और विषयी अनिवार्य रूप से परस्परानुविद्ध हैं और अभिमुखता द्वारा दोनों की युगपत् उत्पत्ति होती है" (३५)।

संवाद की संभावना के लिए शल्य जी "मेरे" अतिरिक्त एक दूसरे व्यक्ति का होना आवश्यक समझते हैं। दूसरा व्यक्ति ऐसा होना चाहिए "जो मेरे समान ही अर्थों का ग्रहण कर सके और उन्हीं अर्थों का ग्रहण कर सके जो मुझे अभिप्रेत हैं, और जो मैं किसी कथन अथवा संकेत द्वारा उसे संप्रेषित करना चाहता हूँ" (४२)। इस संबंध में वे इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि हम किसी दूसरे व्यक्ति को किस प्रकार जानते अथवा जान सकते हैं। जिस मत की वे करना चाहते हैं वह उन्हीं के शब्दों में यह है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



"संवाद दो आत्माओं के बीच होता है। इसमें प्रस्तुत इतर न विषय होता है, जो मेरा विनियोज्य है, न विषयी होता है.........। वह मेरे सम्मुख प्रस्तुत होते ही मुझे मेरे आत्म की सीमाओं से निर्बन्ध कर देता है.......जिससे वह भी उसी केन्द्र पर स्थित हो सके जिस पर केवल मैं था और जिस पर मैं अन्य किसी को स्वीकृति देने को तैयार नहीं था। इसे मैं कुछ कहता नहीं हूं, न वह मुझे कुछ कहता है। उसके उपस्थित होते ही बात आरम्भ हो जाती है जिसे हम दोनों सुनते हैं। और इस संवाद में भाषा गौण हो जाती है, क्योंकि अर्थ शब्दों की सीमाओं से बाहर फूट पड़ते हैं और प्रायः कोई भी शब्द कोई भी अर्थ देने में समर्थ हो जाता है।" (५३-५४)।

पांचवां और छठा निबंध आत्म और इतिहास तथा इतिहास-बोध के सम्बन्ध में हैं। आत्म और इतिहास के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में शल्य जी का मत पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि उन्होंने 'आत्म' तथा 'इतिहास' को एक ही तरह से परिभाषित किया है। वे दोनों को नेयार्थक ही मानते हैं। वे कहते हैं: "मैंने 'इतिहास' को 'नेयार्थ' से परिभाषित किया है" (५८)। और फिर: "मैं 'आत्म' संज्ञक किसी तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन नहीं कर रहा हूं बल्कि आत्म को 'नेयार्थ' से परिभाषित कर रहा हूँ और इस प्रकार इसे अनिवार्यतः ऐतिहासिक मान रहा हूं" (६५)। "आत्म ऐतिहासिक है" और 'आत्म' तथा 'इतिहास' समानार्थक शब्द हैं–ये दोनों बातें, मेरे विचार में, शल्य जी को मान्य हैं। कुछ भी हो, वे इतिहास को "अर्थान्वेषण की प्रक्रिया, अथवा नेयार्थ का आत्मोद्‌घाटन" कहकर परिभाषित करते हैं। और साथ-साथ यह भी मानते हैं कि "वैयक्तिक आत्म अनिवार्यतः ऐतिहासिक है, यद्यपि इतिहासोत्तरता इसका स्वरूप है" (६३)। मेरे विचार में, हम दोनों बातें इकट्ठी नहीं कह सकते कि आत्म और इतिहास, परिभाषा में, एक-समान हैं और तब भी स्वरूपतः आत्म इतिहासोत्तर है।

इतिहास-बोध में शल्य जी ने अपनी 'इतिहास' की धारणा को कुछ और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। वे अतीत घटनाओं के अनुक्रम मात्र को इतिहास नहीं मानते। उनके मतानुसार इतिहास उन अतीत घटनाओं के अनुक्रम का नाम है जिन घटनाओं में अनेक व्यक्ति भाग लेते हैं और जिसमें अवधारण की विशालता तथा आंतर-गति होती है। किसी ऐतिहासिक युद्ध और साधारण कलह में यही अंतर है कि युद्ध में घटनाएं मात्र घटनाएं न रहकर नेयार्थ की सिद्धि में साधन बनती हैं, जबकि कलह में यह बात नहीं होती। शल्य जी की दृष्टि से,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हरेक अतीत इतिहास नहीं बनता, "केवल वही अतीत इतिहास बनता है जिस अतीत को इतिहासकार किसी प्रसंग में, किसी लक्ष्य से, पुनारचित करता है। उस अवस्था में ये घटनाएं एक नेयार्थ से अनुप्रविष्ट हो जाती हैं और ऐतिहासिक बन जाती हैं" (७७)। दूसरे शब्दों में, अतीत की घटनाओं की ऐतिहासिक पुनारचना इतिहास-पुरुष की स्मृति होती है। श्री शल्य के मतानुसार यही इतिहास-बोध का स्वरूप है। इस सम्बन्ध में यह कहना ग़लत होगा कि वे इतिहास की इतिहासकार से स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते हैं। वे इतिहास की इतिहासकार से स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं और उसी सत्ता को संस्कृति से अभिन्न बताते हैं। वे इतिहास को 'संस्कृति' से परिभाषित करने का भी सुझाव देते हैं। उदाहरणतः उनके कथनानुसार, "इतिहास को संस्कृति के आत्मचरितार्थन की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।" (७६)।

**विषय और आत्म** का सातवां निबन्ध नैतिक मूल्यों में परिवर्तन के स्वरूप के सम्बन्ध में है। शल्य जी के मतानुसार नैतिक मूल्यों में देशकाल के सापेक्ष तो परिवर्तन होता ही है, परिवर्तन इस कारण भी होता है कि हम में नैतिकता के स्वयं एक मूल्य होने में अनास्था उत्पन्न हो जाती है। इस सम्बन्ध में वे नैतिक निर्णयों की सापेक्षता और निरपेक्षता के प्रश्न पर विचार करते हैं। उनके विचार में नैतिक निर्णय वस्तुस्थिति-सापेक्ष होते हैं वे फैशनों की तरह रुचि-सापेक्ष नहीं होते। यदि हम थोड़ा गहराई से देखें तो मालूम होता है कि नैतिक निर्णय अन्ततोगत्वा निरपेक्ष ही हैं, क्योंकि इनके आधार सापेक्ष नहीं होते; अर्थात् किसी स्थिति विशेष में कोई इससे भिन्न निर्णय नहीं दे सकता (८६)। वे सामाजिक उपयोगिता को भी नैतिक निर्णयों का प्रतिमान नहीं मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि से कोई कर्म सामाजिक उपयोगिता रखते हुए भी अनैतिक घोषित किया जा सकता है। अतः उनका कहना है कि सामाजिक रूढ़ियां नैतिकता की प्रतिमान नहीं हो सकतीं, वे नैतिक चेतना की अभिव्यक्ति की माध्यम ज़रूर होती हैं (८६)। शल्य जी अन्तःकरण प्रवृत्ति अथवा उत्कर्षानुभव को ही नैतिकता का प्रमाण मानते हैं। उनके मतानुसार, इस अन्तःकरण-प्रवृत्ति का कोई साक्ष्य नहीं है। तथापि, जिस प्रकार मनुष्य में विषय-विधान की प्रवृत्ति है उसी प्रकार उसमें औचित्य-विधान की भी प्रवृत्ति है। वह कुछ अवस्थाओं को उचित, उत्कृष्ट, शुभ के रूप में ग्रहण करता है, जिस प्रकार वह कुछ अवस्थाओं को 'यह और ऐसी' के रूप में ग्रहण करता है (९१)। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि नैतिक निर्णयों में गल्ती की संभावना ही नहीं। शल्य जी के मतानुसार, सच तो यह है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय में भी विमूढ़ता उसी प्रकार होती है जिस प्रकार सत्यासत्य के निर्णय में (९१)।

आठवां निबन्ध मूल्यान्वेषण और अर्थ-विवेक के सम्बन्ध में है। इसमें शल्य जी ने मूल्यांकन की भाषा के प्रश्न पर विचार किया है। उनके मतानुसार, आलोचक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



का मूल्यांकन अथवा मूल्य-निर्णय केवल सैद्धांतिक सुविधा या उपयोग की सुविधा से निर्धारित नहीं हो सकता। उनकी दृष्टि में, मूल्य-निर्णय के विषय स्वयं मूल्य-सृष्ट होते हैं जो कर्त्तव्य के अंतर्बोध के साथ उत्पन्न होते हैं (९८)। शल्य जी "मूल्य" को "कर्त्तृत्व तथा उसकी प्रयोजनवत्ता के बोध" से परिभाषित करते हैं। उनकी दृष्टि में, "कला में सत्य व्यंजित होता है, अन्वेषित नहीं। इसी प्रकार, कला में शिव प्रतिभासित होता है, सम्पादित नहीं" (१००)। "आलोचक का कार्य मूल्याविष्ट विषयों का अर्थ-विवेक कर पाठक को कलाकार के मूल्यान्वेषण का अनुभव कराने में सहायक होना है" (१०१)।

नवां निबंध फिनामिनलोजिकीय दर्शन-प्रणाली के सम्बन्ध में है। जैसाकि शल्य जी ने अपने 'प्राक्कथन' में कहा है, यह लेख उनका मौलिक निबन्ध नहीं है, विवरणात्मक निबन्ध है। और यह अपने उद्देश्य की दृष्टि से पूर्णतः सफल लेख है। दसवें निबंध में शल्य जी ने समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन का एक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। यह सर्वेक्षण सिद्ध दार्शनिक की कलम से है और पाश्चात्य दर्शन के विद्यार्थी के लिए इसकी उपयोगिता निर्विवाद है।

शल्य जी की समूची पुस्तक में 'दर्शन' शब्द को जिस ढंग से परिभाषित किया गया है वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है, यद्यपि उनके इस दार्शनिक दृष्टिकोण से मेरा गहरा मतभेद है। उनकी दृष्टि से, दर्शन उचित रूप से केवल आत्म-दर्शन ही हो सकता है—आत्म का पुरुषार्थ के रूप में और उससे विसंवादी का अनात्म के रूप में दर्शन (४०)। अन्यत्र वे दर्शन को "ज्ञान का आत्म साक्षात्कार" कहते हैं। वे इस परिभाषा को दर्शन का न केवल एक महत्त्वपूर्ण लक्षण मानते हैं अपितु एकमात्र लक्षण भी कहते हैं, और इस लक्षण के अन्तर्गत ज्ञान-मीमांसा के साथ-साथ तत्त्व-मीमांसा, ब्रह्माण्ड-मीमांसा और मूल्य-मीमांसा का भी समावेश करते हैं (६४)। इस प्रकार, उनके मतानुसार, दर्शन सम्पूर्ण अनुभव को अपना क्षेत्र मानता है और उसकी व्यवस्था की धुरी प्रेक्षण नहीं होकर मूल्य और व्यवस्था का आन्तर सामंजस्य होता है (२)। स्पष्ट है कि दर्शन की यह अवधारणा बहुत ही व्यापक है।

पुस्तक के अन्त में दी गई अनुक्रमणिका बहुत उपयोगी है।

हिन्दी में दर्शनशास्त्र पर अच्छी पुस्तकों की बहुत कमी है। शल्य जी की पुस्तक इस कमी को पूरा करने की दिशा में निस्सन्देह एक सराहनीय कदम है। एतदर्थ मैं उन्हें बधाई देता हूं और विश्वास रखता हूँ कि दर्शन-जगत् उनकी इस पुस्तक को वही आदर और सम्मान देगा जो इसे देना चाहिए।

**बी० के० भारद्वाज**
**दिल्ली विश्वविद्यालय**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजमेरा प्रिंटिंग वर्क्स, जयपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सम्पादक : यशदेव शल्य
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ष १९ अप्रैल १९७३ अंक २

पुस्तकालय 29/10/73
गुरुकुल कांगड़ी

# दार्शनिक त्रैमासिक

## विषय सूची


| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | जगन्मिथ्यात्ववाद और कांट | अभेदानंद | ६३ |
| २. | भारतीय दर्शन में ज्ञान का स्वरूप | नन्दकिशोर शर्मा | ६९ |
| ३. | डेकार्ट : दार्शनिक विवेचन | भगवती | ८७ |
| ४. | यूनानी प्रत्ययवाद तथा हेगल, ले. स्टेस | अनु. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर | १०७ |


**वार्षिक शुल्क**
संस्थाओं के लिए : १५.००
परिषद्-सदस्यों के लिए : १०.००

अखिल भारतीय दर्शन परिषद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय गुरुकुल काँगड़ी 29।1।73

# दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष १९ अप्रैल १९७३ अङ्क २

## जगन्मिथ्यात्ववाद और कांट

अभेदानन्द

कान्ट ज्ञानमीमांसा से अपनी तत्वमीमांसा में पहुँचते हैं। ज्ञानमीमांसा विषयक **शुद्ध बुद्धि की मीमांसा** नामक ग्रन्थ में कान्ट की प्रस्थापना है कि व्यावहारिक ज्ञान के लिये ज्ञान के माध्यम **बुद्धि विकल्प (कैटेगोरीज़)** एवं देशकाल हैं, इन्हीं के माध्यम से हमें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होते हैं। व्यावहारिक ज्ञान अवभासों (फिनोमिना) का ज्ञान होता है, वस्तुस्वरूप का नहीं। कान्ट का कथन है कि जो अवभास (अपीयरेन्स) नहीं है वह अनुभव का विषय नहीं बन सकता। बुद्धि संवेदन के उन नियमों का अतिक्रमण नहीं कर सकती जिनके माध्यम से वस्तुओं की उपस्थापना अवभास के रूप में होती है।[१] बौद्धिक ज्ञान के लिये संवेदन-प्राप्ति-हेतु देश-काल-आकार (फोर्म्स) हैं। इन्हीं आकारों के माध्यम से हमें स्वलक्षण वस्तुओं (थिंग्ज़ इन देम्सेल्व्स) के अवभास प्राप्त होते हैं, किन्तु देश और काल स्वलक्षण वस्तुओं को जानने के माध्यम नहीं हैं।[२] इसी कारण वस्तु-स्वरूपों का ज्ञान हमें तद्रूप में नहीं हो सकता, क्योंकि आकारों के माध्यम से प्राप्त संवेदनों के द्वारा ही हम जानते हैं और आकारों के द्वारा अवभास ही प्राप्त होते हैं, नकि वस्तुस्वरूप।[३] यही हमारे बौद्धिक ज्ञान की सीमा है। वस्तुस्वरूप हमारे मनोराज्य से परे हैं।

१. Critique of Pure Reason, P. 152. (N. K. Smith 1952)
२. H. J. Paton, Kant's Metaphysics of Experience-P.223, Vol.II.
३. Ibid.-P. 62, Vol.I. (III ed. 1961)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जो हमें अवभास प्राप्त होते हैं वे वस्तुस्वरूप-परमार्थों द्वारा उत्थापित हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि अवभास और वस्तुस्वरूपों में अंशांशीभाव है, अर्थात् अवभास वस्तुस्वरूपों के भाग हैं।[४] परमार्थ वस्तुस्वरूप तो अवश्य हैं किन्तु इससे कारणता की स्थापना हम नहीं कर सकते, क्योंकि कारणता की स्थापना के लिये भी कार्य-कारण के ज्ञान की आवश्यकता होती है। यहां पर कारणत्वेन वस्तुस्वरूपों का ज्ञान सम्भव नहीं।[५] कान्ट के अनुसार इन्द्रिय संवेदनों से जो भी ग्राह्य हैं वे अवभास हैं।[६] उनके अनुसार, अवभासों को उपस्थापित करने वाले कारणभूत–वस्तुस्वरूपों की सिद्धि करने की आवश्यकता नहीं है। वे इसी से सिद्ध हैं कि बिना उनके अवभास सम्भव नहीं।[७] इस प्रकार कान्ट के अनुसार हमें परमार्थ-वस्तुस्वरूपों का ज्ञान नहीं हो सकता, हम व्यावहारिक अवभासों को ही जान सकते हैं। जिस प्रकार अवभासों को उत्थापित करने वाले वस्तुस्वरूप अज्ञेय हैं उसी प्रकार कान्ट के अनुसार आत्मा का स्वरूप भी अज्ञेय है। हम जब भी आत्मा को जानते हैं उसे सोचने की प्रक्रिया में जानते हैं। वस्तुतः सोचने की प्रक्रिया को त्यागकर विशुद्ध अधिष्ठानस्वरूप आत्मा को हम नहीं जान सकते, क्योंकि वे भी हमारे मन से परे हैं।[८] जिन परमार्थ स्वलक्षणों से हमें अवभासात्मक ज्ञान प्राप्त होता है उनका स्वयं का ज्ञान, अर्थात् संवेदनात्मक ज्ञान, हमें प्रज्ञा या बुद्धि द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।[९] यहां पर एक समस्या खड़ी होती है कि कान्ट जब वस्तुओं को अज्ञेय कहते हैं तो उनके विषय में अज्ञेयात्मक कथन कैसे करते हैं? जिन्हें हम नहीं जानते या नहीं जान सकते क्या उनके विषय में कथन सम्भव है? कान्ट इस समस्या का सामाधान अन्य प्रकार से कर देते हैं, उनका कहना है कि हम निषेधात्मकरूप से वस्तुस्वरूपों को जानते हैं।[१०] कान्ट के अनुसार परमार्थ का भावात्मक ज्ञान सम्भव नहीं किन्तु निषेधात्मक ज्ञान सम्भव है, जोकि हमारे ज्ञान की सीमा को बतलाता है—कि हमारी पहुंच परमार्थ तक नहीं है। हम परमार्थ को अवभास के रूप में जान सकते हैं। एच. जे. पैटन का आक्षेप है कि जब कान्ट कहते हैं कि हम परमार्थ वस्तुस्वरूपों को जानते ही नहीं तब वे कैसे कह सकते हैं कि वस्तुस्वरूप नाना हैं? या वस्तुस्वरूप और

---

४. Kant's Metaphysics of Experience, P. 62 Vol. I.

५. Critique of Pure Reason-P, 193. N.K. Smith (MacMillan, 1952).

६. Kant's Metaphysics of Experience-415. Vol. II. (III ed. 1961)

७. Ibid.-P. 70. Vol. I.

८. Critique of Pure Reasons-P. 182, 183, 184. (1952)

९. Kant's Metaphysics of Experience, P. 74. Vol. I. (1961)

१०. Critique of Pure Reason, P. 156. (N. K. Smith 1952)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



आत्मा के स्वरूप में कैसे अन्तर किया जा सकता है ? अज्ञात वस्तुओं को एक-दूसरे से पृथक् करना कैसे सम्भव है ? कान्ट का उत्तर है कि हम वस्तुस्वरूपों को जान अवश्य नहीं सकते किन्तु उनके विषय में सोच सकते हैं। उनके विषय में 'वस्तु-स्वरूप अज्ञेय हैं' ऐसा सोच सकते हैं। पैटन का कहना है कि इस प्रकार के कथन से उक्त समस्या का समाधान नहीं होता। कान्ट के सामने यह समस्या अवश्य है कि निषेधात्मक ज्ञान से वस्तुस्वरूपों के नानात्व का ज्ञान कैसे सम्भव है ? वस्तु-स्वरूप एक है, नाना हैं, या किंरूप हैं–कैसे जाना जा सकता है ? जानने पर भी काल्प-निक ज्ञान होगा न कि तथ्यात्मक, क्योंकि तथ्यात्मक ज्ञान के लिये वस्तुस्वरूप शर्तें ही पूरे नहीं करते। वे शर्तें हैं देशकाल, जिनके माध्यम से अवभासों का संवेदन होता है, किन्तु वस्तुस्वरूपों का संवेदन नहीं हो सकता; वे इन आकारों की परिधि से परे हैं।

ऊपर दिये गये विवरणों से, बाह्य वस्तुओं की स्थिति कान्ट के अनुसार क्या है, स्पष्ट हो जाता है। कान्ट ज्ञात जगत् को प्रातीतिक कहते हैं। यह अन्तिम सत्य नहीं है। बल्कि कान्ट के अनुसार सत्य अपने में अज्ञेय होता है। जो ज्ञेय होगा वह सत्य कैसे होगा ? इसी कारण दृश्य वस्तुओं की सत्ता प्रातीतिक है। अन्तिम सत्य परमार्थ-वस्तुस्वरूप है।

अद्वैत वेदान्त में मान्य व्यावहारिक जगत् भी प्रातीतिक ही है। कान्ट देश–काल और बुद्धि-विकल्पों (कैटेगोरीज़) के माध्यम से ज्ञात वस्तुओं के अवभासों को प्रातीतिक सत्य कहते हैं। अद्वैत वेदान्त में प्रातीतिक वस्तुएं, जोकि स्वयं वस्तुएं न होकर ब्रह्म-वस्तु से वस्तुत्व अर्थात् तत्व प्राप्त करके तात्विक-सी लग रही हैं, वे सब दृश्यत्वेन मिथ्या हैं, ऐसा कहा गया है। 'दृश्य' शब्द से 'ज्ञेय' या 'ज्ञान-विषयत्व' अर्थ लिया गया है। ज्ञान-विषय ज्ञेय है, अत: 'दृश्यत्वेन सर्वं मिथ्या' है। यह अद्वैत का मत कान्ट के प्रपंचवाद से मिलता है। कान्ट भी परमार्थ को अज्ञेय कहते हैं। अद्वैत में भी यह आक्षेप किया गया है कि ज्ञान का विषय तो ब्रह्म ही होगा तब दृश्य होने के कारण मिथ्यात्व ब्रह्म में भी जानना चाहिये ? अद्वैतसिद्धि-कार ने उत्तर दिया है कि ब्रह्म में वृत्ति-व्याप्यता है, नकि फल-व्याप्यता।[१२] वृत्तिव्याप्यता का तात्पर्य है—मात्र अज्ञान का नाश होना, अर्थात् ब्रह्म विषयक अज्ञान की नाशकारक वृत्ति उदय होती है। उस स्थिति में भी ब्रह्म में विषयत्व किंचित् आता ही है। इसलिये अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है कि 'शुद्धंहि ब्रह्म न दृश्यम्

११. Kant's Metaphysics of Experience, P. 65,66, Vol. I. (III ed. 1961)

१२. अद्वैतसिद्धिः–पृष्ठ २३६ (निर्णय सागर १९१७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यत्तद्द्रेश्यमिति श्रुतेः' ।[१३] अतः ब्रह्म में दृश्यत्व नहीं आता । वृत्ति-विषयक होने पर ब्रह्म में उपाधि-अंशत्वेन मिथ्यात्व आ ही सकता है, किन्तु शुद्ध में यह दोष भी नहीं लगता, क्योंकि शुद्ध की स्थिति में ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता भेद न रहने के कारण वह ज्ञान का विषय भी नहीं बनता । इसी कारण अद्वैत में ब्रह्म को जानने वाले को "होने वाला" कहा गया है । कान्ट ने भी दृश्यत्व अर्थात् ज्ञान-विषयत्व परमार्थ स्वलक्षणों में नहीं माना है, अतः वे परमार्थ सत्य हैं । जगत्-प्रपंच प्रातीतिक होने से, अर्थात् अद्वैत के ही समान दृश्य होने से, व्यावहारिक प्रपंच है । इसकी सत्यता अपनी नहीं है, क्योंकि उसका उत्थान परमार्थ-वस्तुस्वरूपों से होता है, अर्थात् सम्पूर्ण प्रतिभास या अवभास अपने में परमार्थ से पृथक् रूप में असत्य है । जैसा कि अद्वैत में कार्य-कारण-विचार में कहा गया है कि 'ब्रह्माभिन्नत्वेन कार्यं नास्ति' अर्थात् कार्य परमार्थतः कारण से अनन्य है । अद्वैत में जिस प्रकार आत्मा में अहन्ता, ज्ञातृता, कर्तृत्वादि धर्मों को अध्यस्त या मिथ्या कहा गया है वैसा ही कान्ट भी आत्मा की चिन्तन-प्रक्रियादि स्थितियों को या उनसे सम्बन्धित आत्मा को आत्मा नहीं कहते । जैसा कि हमने ऊपर विचार किया है, कान्ट ऐसी आत्मा को शुद्ध परमार्थ आत्मा नहीं कहते जो हमारे चिन्तन का विषय बनती है । जो आत्मा बुद्धि का विषय बनती है वह शुद्ध परमार्थ कैसे हो सकती है ? बुद्धि का विषय बनने का तात्पर्य है देश और काल से ग्रस्त होना । और आत्मा को हम प्रतीति के अनुसार ही जानते हैं, न कि उसके अपने स्वरूप में । अतः ऐसी आत्मा प्रातीतिक, अर्थात् परमार्थात्मा नहीं है ।[१४] अद्वैत वेदान्त के अनुसार, आत्मा में चिन्तनादि, अर्थात् ज्ञातृत्वादि, अध्यस्त हैं । गरम लोहा जिस प्रकार जलाता है और लोग कहा करते हैं 'लोहा जलाता है,' किन्तु वस्तुतः लोहा नहीं जला सकता, जलाने का गुण अग्नि में है, परन्तु अग्नि के सान्निध्य से लोहे में वह गुण आरोपित किया जाता है । इसे अध्यास कहते हैं । इसी प्रकार आत्मा परमार्थतः शुद्ध चेतन है, फिर भी अज्ञान के कारण उसमें कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व, अहंतादि गुणों का आरोप होता है । इस प्रकार आरोपित गुण प्रातीतिक होने से मिथ्या हैं । इसी प्रकार 'अहम्' को, जोकि 'अहम् सुखी', 'अहं दुखी' आदि चिन्तन करता है, शुद्ध आत्मा नहीं कहा जाता, अपितु वह विषयों में अध्यस्त आत्मा है, जोकि अहंता है । वह आध्यासिक होने से मिथ्या है । इसी प्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता-भेद भी मिथ्या हैं ।[१५] फिर भी अद्वैत वेदान्त में जगत् को मिथ्या होने पर भी असत् या

---

१३. वही, पृष्ठ २३६ तथा २४२ ।

१४. Kant's Metaphysics of Experience-P. 416. Vol. II. (III ed. 1961)

१. पंचपादिका विवरण–२३५, २४४, २४५ । (मद्रास, १९५८)

१५. Kant's Metaphysics of Experience-P. 417, Vol. II. (III ed. 1961)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अलीक नहीं कहा गया। शंकर द्वारा बौद्ध विज्ञानवाद के प्रत्याख्यान में अद्वैत वेदान्त का पक्ष स्पष्ट हो जाता है। अद्वैताचार्य प्रतीति या उपलब्धि के आधार पर जगत् की सत्ता सिद्ध करते हैं, अर्थात् व्यावहारिक सत्ता। प्रातीतिक को अधीनत्वेन अर्थात् दृश्यत्वेन मिथ्या सिद्ध किया जाता है, और उसी हेतु से प्रतीति-अधीन होने से जगत् की सत्ता सिद्ध की जाती है। ऐसा इसलिये है कि दृश्यत्वेन मिथ्या का अर्थ असत् या अलीक नहीं और न ही उपलब्धि या प्रतीतित्वेन सत्य का अर्थ त्रैकालिक सत्य है; क्योंकि त्रैकालिक सत्य कभी बाधित नहीं होता, अतः जगत् न सत् है जैसा कि ब्रह्म, न असत् है, जैसा कि आकाशकुसुम, किन्तु मिथ्या है, यही व्यावहारिक है। न यह व्यक्तिगत भ्रम ही है। यह सार्वभौम है, सभी के लिये व्यावहारिक सत्य है, किन्तु पारमार्थिक नहीं। कान्ट भी जगत्-प्रपंच को प्रातीतिक कहने पर भी, अवभासात्मक कहने पर भी, भ्रम नहीं कहते, प्रातीतिक सत्य कहते हैं। भ्रम तो व्यक्तिगत होता है। तथाकथित जड़ वस्तुएं एवं आत्मा, जोकि परमार्थ वस्तु-स्वरूपों के अवभास हैं, कान्ट के अनुसार मिथ्या नहीं हैं। जैसा कि पैटन महोदय भी कहते हैं "कान्ट के लिये ऐसा सिद्धान्त, जो अवभासों को भ्रम कहता है, अचिन्तनीय है"।[१५] इसी कारण कान्ट को व्यवहार के ज्ञान में वस्तुवादी और परमार्थ के ज्ञान में विज्ञानवादी कहा जाता है। कान्ट वस्तुवादी इसलिये हैं क्योंकि वे यह कभी नहीं कहते कि व्यावहारिक अर्थात् प्रातीतिक जगत् हमारे मन द्वारा निर्मित है। यह प्रातीतिक जगत् उत्पत्ति के लिये मन-निरपेक्ष है। इनको परमार्थ-वस्तुएं अवभास के रूप में उत्थापित करती हैं, जोकि सत्य है। यह हमारे मन के द्वारा सृष्ट कल्पना का जगत् नहीं है।[१६] कान्ट के अनुसार यह जगत्-प्रपंच सार्वजनिक है, सबके लिये है, सत्य है, किन्तु इसमें व्यावहारिक सत्यता है। इसी कारण कान्ट व्यावहारिक वस्तुवादी हैं, जैसाकि अद्वैतवेदान्त व्यावहारिक वस्तुवाद का सिद्धान्त है। कान्ट विज्ञानवादी या प्रत्ययवादी हैं, किन्तु कान्ट बर्कले के प्रत्ययवाद से अपने प्रत्यवाद को भिन्न बताते हैं।[१७] कान्ट का कथन है कि "जो बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का प्रत्याख्यान करते हैं उन्हें प्रत्ययवादी नहीं समझना चाहिए, प्रत्ययवादी उन्हें कहना चाहिए जो परमार्थ बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को तो मानते हैं किन्तु उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मानते और इसलिये यह मानते हैं कि किसी उपाय से हम उनका निश्चित ज्ञान नहीं पा सकते।"[१८]

हमने देखा कि किस प्रकार अद्वैतमत का मिथ्यात्व और कान्ट का अवभास या प्रतिभास परस्पर साम्य रखते हैं। इस विषय में कान्ट और अद्वैत वेदान्त में अन्तर एक

१६. Ibid.-70. Vol. I.
१७. Ibid.-P. 71.
१८. Critioue of Pure Reasons-P. 193. (N. K. Smith) 1952)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विशेष बात में है। अद्वैत वेदान्ती मिथ्यात्व की कसौटी या मापदण्ड "बाध" को कहते हैं। शुक्ति-रजत के बाध के समान ब्रह्मज्ञान से बाधित होने के कारण जगत् मिथ्या है, अन्यथा अवगति पर्यन्त तो व्यावहारिक सत्यता है ही।[१] कान्ट के दर्शन में ऐसी बात स्पष्ट रूप से कहीं देखने को नहीं मिलती कि कभी परमार्थ के सत्यज्ञान होने पर प्रातीतिक जगत् का बाध होगा।

**गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार**

---

१. ब्रह्मसूत्रभाष्य, भामती–२। १। १४ पृ० ४५८ (निर्णय सागर १९३८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# भारतीय दर्शन में ज्ञान का स्वरूप

नन्दकिशोर शर्मा

१

प्रायः सभी मनुष्य यह दावा करेंगे कि उन्हें किसी न किसी प्रकार का ज्ञान है और कि उन्हें इस तथ्य का भी ज्ञान हैं। किन्तु जब हम ज्ञान की परिभाषा करने बैठते हैं तो पाते हैं कि हम अपने दावे के अर्थ अथवा स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं हैं। वाचस्पति मिश्र ने भामती में ज्ञान का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जिससे अर्थ अथवा विषय प्रकाशित हो वह ज्ञान है।[१] किन्तु जब हम पूछते हैं कि 'प्रकाशित होने' से क्या तात्पर्य है, तो इसके अतिरिक्त कि 'प्रकाशित करने' से अर्थ 'ज्ञान कराने' से है, हम कुछ नहीं कह सकते। वास्तव में ज्ञान एक सरल प्रत्यय है तथा सभी सरल प्रत्ययों की भांति इसकी भी परिभाषा कठिन है।

ज्ञान के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि 'ज्ञान' शब्द व्यापक तथा सीमित दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। व्यापक अर्थ में जहां भी चेतना का प्रकाश हो वह ज्ञान कहलाता है। प्रत्येक चेतना-स्थिति इस दृष्टि से ज्ञान-स्थिति है। इस दृष्टि से हमें यह स्वीकार करना होगा कि ज्ञान केवल मानव का एकाधिकार नहीं है। पशुओं को भी ज्ञान होता है। उच्च कोटि के प्राणियों में इस प्रकार के ज्ञान की संभावना में किसी को विशेष आपत्ति नहीं होगी। किन्तु जब हम निम्न कोटि के प्राणियों, उदाहरणार्थ एमीबा आदि के विषय में सोचें तो कठिनाई का अनुभव होना स्वाभाविक है। साथ ही, जब हम प्राणी वर्ग की निरन्तरता तथा तारतम्य को ध्यान में रखकर विचार करते हैं तो कोई ऐसी रेखा नहीं दिखलाई देती है जहां से चेतना का प्रारम्भ स्वीकार किया जा सके। इतना ही नहीं, जब हम प्राणि-वर्ग तथा वनस्पति वर्ग पर भी दृष्टि डालते हैं तथा इसका स्पष्ट निर्णय करने में असफल रहते हैं कि वास्तव में कहां से वनस्पति वर्ग की समाप्ति तथा प्राणि वर्ग का प्रारम्भ स्वीकार किया जाय, तब हमारी कठिनाई और भी बढ़ जाती है। हम देखते हैं कि कुछ वनस्पति वर्ग के तथा एमीबा आदि प्राणियों के व्यवहार में मूल

१. योऽयमर्थ प्रकाशः फलम् (भामती 1. 1. 4.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


भिन्नता नहीं है। ऐसी अवस्था में यह स्वीकार करना पड़ता है कि चेतना की दृष्टि से भी वनस्पति से लेकर मनुष्य तक निरन्तर विकास है। मानव में जो स्पष्ट चेतना है वह प्राणिवर्ग में निरन्तर धूमिल होती गई है तथा और अधिक धूमिल तथा अव्यक्त रूप में यह वनस्पति वर्ग में भी अवश्य वर्तमान है। जैन दार्शनिकों ने इसी कारण वनस्पति वर्ग को भी सजीव द्रव्य स्वीकार किया है। चेतना जीव का अपरिहार्य गुण है जो पुद्गल के आवरण से धूमिल तो हो सकता है किन्तु उसका उसमें सर्वथा अभाव असंभव है। शंकर तथा श्री अरविन्द आदि दार्शनिक चेतना की उपस्थिति सर्वत्र व्याप्त मानते हैं। श्री अरविन्द का कथन है कि जड़ पदार्थ भी वास्तव में चेतन रूप ही है, यद्यपि चेतना वहां सुप्त स्थिति में होती है। शंकर भी चेतना के अभाव को किसी भी स्थान पर असम्भव मानते हैं।

सीमित अर्थ में ज्ञान सदैव एक निर्णय (जज्मेंट) के रूप में होता है। इस दृष्टि से सविकल्पक चेतना ही ज्ञान की कोटि में आती है।

ज्ञान के इन दोनों रूपों में स्तर-भेद ही माना जा सकता है, कोटि-भेद नहीं। दोनों एक दृष्टि से ज्ञान की ही अवस्थाएं हैं। अतः हम सामान्य रूप से ही इस विषय पर विचार करेंगे। वनस्पति तथा पशु वर्ग में चेतना का क्या स्वरूप होता है तथा उनके ज्ञान का विश्लेषण किस प्रकार किया जा सकता है, यह एक अलग प्रश्न है तथा उस पर हम यहां विचार नहीं करेंगे।

२

ज्ञान के विषय में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि यह किस कोटि की सत्ता है? विभिन्न भारतीय दार्शनिकों ने इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं तथा इस दृष्टि से वे चार मुख्य श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। कुछ दार्शनिक ज्ञान को गुण के रूप में स्वीकार करते हैं। आगे यह सिद्धांत दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम के अनुसार ज्ञान को आगन्तुक गुण के रूप में स्वीकार किया गया है तथा दूसरे के अनुसार इसे अनिवार्य गुण के रूप में। ज्ञान को आगन्तुक गुण मानने वाले दार्शनिक फिर से दो शाखाओं में विभक्त हो जाते हैं। प्रथम चार्वाक दर्शन, जो ज्ञान को भौतिक तत्वों का ही आगन्तुक गुण स्वीकार करते हैं तथा दूसरे न्याय, वैशेषिक तथा प्राभाकर, जो ज्ञान के गुणी या धर्मी के लिए भौतिक तत्व को अपर्याप्त मानते हैं तथा इसीलिए उनका दावा है कि ज्ञान के गुणी के रूप में हमें एक अलग तत्व आत्मा को स्वीकार करना होगा। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है, भौतिक पदार्थों का नहीं। जो दार्शनिक ज्ञान को आत्मा का अनिवार्य गुण मानते हैं उनमें रामानुज, जैन आदि मुख्य हैं। इसके विपरीत भाट्ट मीमांसकों का मत है कि ज्ञान आत्मा के गुण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह आत्मा का कार्य है, गुण नहीं। जब मनुष्य ज्ञान प्राप्त नहीं कर रहा होता है तो वे इसे आत्मा में कर्म की योग्यता अथवा शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। ज्ञान के विषय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



में तीसरा मत सांख्य, अद्वैत वेदान्त व योगाचार दार्शनिकों का है जो ज्ञान को गुण अथवा कर्म के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ज्ञान स्वयं में द्रव्य है तथा किसी अन्य अधिष्ठान की उसे आवश्यकता नहीं है। ज्ञान के विषय में एक अन्य चौथे मत की चर्चा और की जा सकती है जो शून्यवादियों का है। यह मत उपर्युक्त सभी मतों से भिन्न है। ये दार्शनिक ज्ञान को उपर्युक्त किसी भी कोटि में अथवा अन्य किसी भी कोटि में रखने को सहमत नहीं हैं। इस मत को हम शून्यवादी मत कह सकते हैं। अब हम इन मतों का विस्तृत वर्णन करेंगे।

३

चार्वाक दार्शनिक पूर्णरूपेण भौतिकवादी हैं तथा किसी भी आध्यत्मिक सत्ता को स्वीकार करने के पक्ष में वे नहीं हैं। ऐसी अवस्था में जो स्पष्ट कठिनाई उनके सामने आती है वह है ज्ञान की व्याख्या। आत्मा, ईश्वर आदि आध्यात्मिक सत्ताओं का तो वे इस आधार पर खंडन कर सकते हैं कि उनका प्रत्यक्ष नहीं होता तथा प्रत्यक्ष के अतिरिक्त सभी प्रमाण वास्तव में प्रमाण नहीं हैं, किन्तु ज्ञान का खंडन इस तर्क के आधार पर नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान की सत्ता तो उन्हें भी अवश्य ही माननी होगी। चार्वाक ज्ञान की व्याख्या भौतिकवादी परिप्रेक्ष्य में ही करते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान के लिए किसी आध्यात्मिक तत्व को मानने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान भौतिक वस्तुओं का उसी प्रकार का गुण है जिस प्रकार रंग, रूप आदि उनके गुण हैं। उनका कहना है कि यह बात सही है कि ज्ञान किसी भूत विशेष में हमें दिखलाई नहीं देता, कुछ शरीर विशेषों में ही ज्ञान का उदय होता है, किन्तु जिस प्रकार मादक द्रव्यों से मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार भौतिक पदार्थों के देह के रूप में परिणत हो जाने पर इन्हीं तत्वों में चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। भौतिक तत्व जब एक निश्चित अनुपात में मिलकर शरीर रूप में एकत्रित होते हैं तो उनमें ज्ञान रूपी एक नया गुण उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान भौतिक पदार्थों का आगन्तुक गुण है। जब ये भूत विघटित होते हैं तो उनमें चैतन्य का यह गुण भी समाप्त हो जाता है।

अपने मत के पक्ष में चार्वाक दार्शनिकों का एक मुख्य तर्क यह है कि यदि पृथ्वी आदि चतुर्भूतों से किसी चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती तो सोकर उठने वाले व्यक्ति में यह चैतन्य-शक्ति कहां से आ जाती है? सोने के समय से पूर्व तो चैतन्य-शक्ति नष्ट हो जाती है। यदि शरीर और चैतन्य का कोई सम्बन्ध नहीं है तो शरीर में विकार के उत्पन्न होने से चेतना में विकृति क्यों हो जाती है?[२]

---

२. तेभ्य एव देहाकार परिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते। तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनष्यति। **सर्व दर्शन संग्रह।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'चैतन्य शरीर का गुण है' इस चार्वाक मत की विभिन्न भारतीय दार्शनिकों ने कटु आलोचना की है। वात्स्यायन का कथन है कि यद्यपि चैतन्य शरीर में ही दृष्टिगत होता है किन्तु केवल इसीलिए इसे शरीर का गुण नहीं माना जा सकता। द्रवता तथा उष्णता दोनों जल में विद्यमान होते हैं किन्तु जबकि द्रवता जल का अपना गुण है, उष्णता जल का गुण न होकर अग्नि का गुण है।

२. चैतन्य शरीर का उसी प्रकार गुण नहीं माना जा सकता जिस प्रकार रूप उसका गुण है। रूप शरीर में सदैव वर्तमान होता है। मृत्यु होने पर भी रूप का शरीर में अभाव नहीं होता किन्तु चैतन्य का निद्रा, मूर्च्छा तथा मृत्यु के समय अभाव हो जाता है।

३. चेतना समस्त शरीर में व्याप्त होती है। शरीर विभिन्न अंगों वाला होता है तथा इस प्रकार प्रत्येक अंग को अलग चेतन माना जाना चाहिए। किन्तु शरीर के विभिन्न अंगों को अलग-अलग रूप से चेतन नहीं माना जा सकता।

४. शरीर के गुणों का या तो बाह्य इन्द्रियों से ज्ञान हो सकता है अथवा फिर उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। ज्ञान न तो इन्द्रियों से होता है और न ही वह अप्रत्यक्ष है। उसका ज्ञान वास्तव में मन के द्वारा होता है तथा मन के द्वारा शरीर के किसी गुण का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः चैतन्य शरीर से भिन्न अन्य तत्व (आत्मा) का गुण है।[3]

५. उदयन का तर्क है कि यदि चैतन्य शरीर का गुण होता तो बचपन में किये गए अनुभवों का युवावस्था में स्मरण नहीं हो सकता था। शरीर में परिवर्तन होता रहता है। उसका विकास तथा क्षय होता है तथा युवावस्था में वही शरीर नहीं रहता जो बचपन में था। वह इससे भिन्न होता है। ऐसी अवस्था में जिस प्रकार चैत्र के द्वारा किए गए अनुभवों का मैत्र को स्मरण नहीं हो सकता उसी प्रकार बचपन में किये गए अनुभव युवावस्था में याद नहीं रहने चाहियें। किन्तु ऐसा होता नहीं है। हमें बचपन की स्मृति रहती है। इसीलिए शरीर से भिन्न आत्मा को मानने की आवश्यकता है जिसका गुण यह चैतन्य है। यदि यहां चार्वाक दार्शनिक यह कहें कि पूर्व शरीर का ज्ञान शरीरगत वासना अथवा संस्कारों के पूर्व शरीर से उत्तर शरीर में चले जाने (वासना संक्रमण) के कारण होता है तो उदयन कहते हैं कि तब तो माता को हुए ज्ञान का संतान को स्मरण होना चाहिए, क्योंकि माता के शरीर से ही संतान के शरीर की उत्पत्ति होती है। यदि यह कहा जाय कि संस्कारों का रक्षण इसीलिए होता है कि पूर्व शरीर उपादान कारण है तथा संस्कारों का कार्य है, तो

---

३. न्याय भाष्य iii. २. ४६, ४७, ५०, ५३; न्याय वार्तिक iii. २. ५५; न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका iii, २, ५१.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि हाथ के शरीर से अलग हो जाने पर हाथ के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त किया गया था उसका स्मरण नहीं रहना चाहिए था, क्योंकि हाथ तो शरीर का उपादान कारण नहीं है। न ही चार्वाक यह कह सकते हैं कि अणु नित्य हैं तथा उन परमाणुओं के कारण ज्ञान का शरीर में रक्षण होता है, क्योंकि परमाणु अदृश्य होते हैं तथा यदि ज्ञान परमाणुओं का गुण होता तो वह भी अदृश्य हो जाता।[४]

जयन्त का भी कहना है कि दो अवस्थाओं में शरीर भिन्न भिन्न होता है। ऐसी अवस्था में यदि चैतन्य को शरीर का ही गुण माना जाय तो स्मृति की व्याख्या नहीं हो सकती। शरीर में वृद्धि तथा क्षय होता रहता है; अतः यदि चैतन्य शरीर का ही गुण है तो इसके साथ-साथ चैतन्य में भी वृद्धि तथा क्षय होना चाहिए, जो नहीं होता।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर न्याय तथा प्रभाकर चैतन्य के अधिष्ठान अथवा धर्मी के रूप में शरीर से भिन्न एक आध्यात्मिक तत्व को स्वीकार करना आवश्यक समझते हैं। यह तत्व आत्मा है। किन्तु इतना होते हुए भी वे चार्वाक दार्शनिकों के इस मत से सहमत हैं कि चैतन्य अपने धर्मी का आगन्तुक गुण है, अनिवार्य गुण नहीं। आत्मा स्वयं में चेतन अथवा चैतन्यस्वरूप नहीं है। जब विषय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के साथ आत्मा का संयोग होता है तभी उसमें ज्ञान अथवा चैतन्य रूपी गुण की उत्पत्ति होती है। उनका कहना है कि यदि चैतन्य आत्मा का अनिवार्य गुण होता तो उसमें इसका कभी भी अभाव नहीं हो सकता था। किन्तु हम प्रायः देखते हैं कि सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में हम ज्ञान-शून्य होते हैं। इसका एक मात्र कारण यही है कि इस स्थिति में आत्मा का विषय आदि से संयोग नहीं रहता और इससे आत्मा में चेतना का अभाव हो जाता है।

न्याय, वैशेषिक तथा प्राभाकर मीमांसक अपने इस सुधार से एक ओर यह संतोष प्राप्त करते हैं कि ज्ञान के गुणी के रूप में वे एक नित्य द्रव्य को स्वीकार कर उन सभी आलोचनाओं से मुक्ति पा जाते हैं जो कि चार्वाक दार्शनिकों के विरुद्ध इसलिए की जा सकती हैं कि वे ज्ञान के आधार रूप में अनित्य तथा परिवर्तनशील शरीर को स्वीकार करते हैं, और दूसरी ओर अपने मत में वे उन सब विशेषताओं को भी पाते हैं जिनके कारण चार्वाक मत अन्य दर्शनों से अधिक तर्कयुक्त प्रतीत होता है। चार्वाक दार्शनिकों की भांति चेतना को आगन्तुक गुण स्वीकार कर वे इस प्रश्न से बच जाते हैं कि यदि चेतना नित्य आत्मा का गुण है तो उसमें सुषुप्ति आदि के समय इसका अभाव क्यों होता है?

---

४. न्याय कुसुमाञ्जलि, १.१५; न्याय कुसुमाञ्जलि मकरन्द, १.१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



किन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो न्याय मत उतना ही असंतोषप्रद सिद्ध होता है जितना कि चार्वाक मत। न्याय मत का भारतीय दार्शनिक संदर्भ में सबसे अधिक दुर्बल पक्ष है आत्मा की स्वयं में चैतन्य-रहितता। यदि आत्मा स्वयं में चेतना-शून्य है तब आत्मा के लिए अनुभव-प्रमाण संभव नहीं है। जहां अद्वैत वेदांत आदि दर्शनों में आत्मा के लिए सबसे प्रबल प्रमाण अनुभव है, जिसे कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता वहां न्याय आदि मतों में आत्मा का केवल चेतना के गुणी के रूप में अनुमान मात्र लगाया जा सकता है। चेतना को स्वयं में द्रव्य रूप न मान कर उसे केवल गुण रूप ही क्यों स्वीकार किया जाय, इसका न्याय के पास कोई उत्तर नहीं है। बौद्धों ने प्रबल तर्क के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गुणों से भिन्न किसी स्वतंत्र धर्मी अथवा गुणी को मानने का कोई आधार नहीं है। न्याय के तर्क यहां पर बौद्धों के तर्कों के सामने नहीं ठहरते हैं। दूसरे दार्शनिक, जो चेतना को आत्मा का गुण स्वीकार करते हुए भी उसे उसका अनिवार्य गुण कहते हैं, वे कह सकते हैं कि नित्य चेतन आत्मा का अनुभव के द्वारा ज्ञान होता है तथा इस प्रकार इसकी सत्ता प्रमाणित होती है। किन्तु न्याय इस तर्क का सहारा भी नहीं ले सकते तथा इस प्रकार आधार रूप में आत्मा को स्थापित करते समय वे अपने आपको बालू के टीले के ऊपर खड़ा पाते हैं, जिस पर टिके रहना उनके लिए कठिन हो जाता है।

आत्मा जैसे नित्य द्रव्य को ज्ञान का आधार मान लेने पर न्याय आदि मत को लगता है जैसे उन्होंने स्मृति आदि की व्याख्या सम्बन्धी समस्याओं को सुलझा लिया, जो चार्वाक दार्शनिकों के लिए कठिन हो रहा था। किन्तु यदि गम्भीरता से विचार करें तो लगता है वे यहां पर भी सफलता प्राप्त नहीं कर सके। किसी भी द्रव्य में जब कोई गुण विशेष उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है तब उसका उसमें क्या अवशेष रहता है? कोई वस्त्र अभी सफेद है, इसके पश्चात् इसको काला रंग लिया गया। अब प्रश्न है, क्या अब भी वह सफेद रंग उस वस्त्र में किसी न किसी रूप में सुरक्षित रहा हुआ कहा जा सकता है? न्याय दर्शन असत् कार्यवादी है तथा वहां नई उत्पत्ति तथा नाश ही के लिए स्थान है, आविर्भाव तथा तिरोभाव के लिए नहीं। अतः इस प्रश्न के लिए उनका एकमात्र उत्तर हो सकता है कि काला रंग दे देने पर श्वेत रंग का नाश हो गया तथा काले रंग की नई उत्पत्ति हुई। ऐसी स्थिति में एक ज्ञान-विशेष एक समय-विशेष पर आत्मा विशेष में उत्पन्न हुआ, इसके पश्चात् वह नष्ट हो गया। तब न्याय मत से यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि नित्य आत्मा का गुण होने से प्रातः सोकर उठने पर उस कल वाले ज्ञान का उदय उसमें फिर से स्वतः ही हो जायेगा। नैयायिक यहां यह तर्क कर सकते हैं कि मन आदि भी नित्य तत्व हैं तथा उन पर ज्ञान विशेष स्थायी रूप से प्रभाव छोड़ देता है। जब वह मन-आत्मा से फिर से संपर्क करता है तब उसमें वह प्राचीन ज्ञान पुनः स्मृति के रूप में जागृत हो जाता है यद्यपि उस समय आत्मा का विषय-विशेष तथा इन्द्रिय-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विशेष से संपर्क नहीं हो रहा। किन्तु ऐसा मानने पर प्रथम तो ज्ञान का आधार आत्मा न होकर मन हो जायगा; क्योंकि ज्ञान के संस्कार मन में ही रक्षित रहते हैं आत्मा में नहीं, और तब आत्मा को मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। और फिर यदि आत्मा को स्वीकार भी कर लें तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा को समस्त पूर्व ज्ञान की स्मृति सदैव सक्रिय रूप में रहनी चाहिए। मन के संयोग के बिना तो कभी ज्ञान संभव ही नहीं है। मन अणुरूप है, अतः जब सदैव सम्पूर्ण मन ही आत्मा से संयोग करेगा तब सारे के सारे पूर्व संस्कारों युक्त मन के आत्मा के साथ संयोग के कारण कोई भी स्मृति अनभिव्यक्त नहीं रह सकेगी। किन्तु ऐसा होता नहीं है।

केवल इसलिए कि सुषुप्ति आदि अवस्था में चेतना का अभाव प्रतीत होता है, ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण मान लेना अन्य भारतीय दार्शनिकों को स्वीकार्य नहीं है। वे न्याय के इस मत को ही चुनौती देते हैं कि सुषुप्ति आदि में चेतना का सर्वथा अभाव होता है। इन दार्शनिकों का तर्क है कि अनुभव के द्वारा ही यह सिद्ध होता है कि सुषुप्ति आदि अवस्था में भी चेतना विद्यमान होती है। जब हम सोकर उठते हैं तब हमारा यह अनुभव कि 'आज तो खूब अच्छी नींद आई' इस बात को प्रमाणित करता है कि उस काल में चेतना थी। यदि चेतना का उस समय सर्वथा अभाव होता तो हम इस प्रकार का अनुभव कदापि नहीं कर सकते थे। वास्तव में यदि न्याय-मत को स्वीकार कर लिया जाय तो हमें निद्रा जैसी वस्तु का ज्ञान कभी संभव ही नहीं होगा। हम सदैव ऐसा अनुभव करेंगे कि हम निरन्तर जागृत अवस्था में ही रहते हैं।

इस प्रकार मानव अनुभव में ज्ञान का सर्वथा अभाव किसी भी क्षण असम्भव मान लेने पर रामानुज, जैन आदि दार्शनिकों के लिए ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण न मानकर अनिवार्य गुण मान लेना सरल हो जाता है।

रामानुज के अनुसार आत्मा स्वयंप्रकाश है तथा ज्ञान इसका स्वरूप तथा विशेषण दोनों है। रामानुज आत्मा तथा ज्ञान के सम्बन्ध को समझने के लिए सूर्य की उपमा का सहारा लेते हैं। सूर्य स्वयंप्रकाश रूप है किन्तु प्रकाश उसका गुण भी है जिससे वह अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है। सूर्य का प्रकाश अपने स्वयं के सम्बन्ध में प्रत्यक् है जो किसी अन्य के लिए नहीं है। वह स्वयं अपने-आपको प्रकाशित करता है। किन्तु उसी प्रकाश से जब अन्य वस्तुएं प्रकाशित होती हैं तो वह पराक् है, जो अन्य के लिए है। इसी प्रकार आत्मा की सत्ता प्रत्यक् होते हुए भी धर्मभूत ज्ञान की दृष्टि से पराक है, जो अन्य (आत्मा) के लिए है। इस प्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है तथा ज्ञानाश्रय भी। आत्मा में धर्मी ज्ञान भी है तथा धर्मभूत ज्ञान भी। प्रथम आत्मा का अपना स्वयं का ज्ञान है तथा दूसरा विषयों का ज्ञान है। आत्मा अणुरूप है किन्तु धर्मभूत ज्ञान की दृष्टि से वह विभुरूप है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यहां पर भी सूर्य तथा उसके प्रकाश की उपमा हमें आत्मा तथा ज्ञान के सम्बन्ध को समझने में हमारी सहायता कर सकती है। सूर्य एक स्थान पर स्थित है किन्तु उसका प्रकाश सर्वत्र होने से विभुरूप कहा जा सकता है। किन्तु सूर्य के प्रकाश में सर्वत्र होने की क्षमता होते हुए भी वास्तव में वह सर्वत्र नहीं होता। जिस कमरे में मैं बैठा हुआ लिख रहा हूं वहां सूर्य का प्रकाश नहीं है अथवा किसी अत्यन्त अँधेरे कमरे में निश्चित रूप से सूर्य के प्रकाश का अभाव माना जाता है। किन्तु इस अभाव का कारण सूर्य के प्रकाश में किसी प्रकार की कमी नहीं है। हमने उस प्रकाश में कुछ रुकावटें (दीवारें, छत आदि) उत्पन्न कर दी हैं इसी से प्रकाश की गति उस स्थान पर नहीं हो रही है। ज्योंही उस रुकावट को दूर कर दिया जायगा, प्रकाश उस स्थान को भी प्रकाशित कर देगा। इस प्रकार प्रकाश स्वरूपतः विभुरूप होते हुए भी बाधाओं के कारण घटता-बढ़ता रहता है। किन्तु प्रकाश के इस ह्रास अथवा वृद्धि से प्रकाश के धर्मी सूर्य पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता, वह वैसा ही स्थित रहता है। इसी प्रकार रामानुज कहते हैं कि धर्मी आत्मा अणुरूप है। धर्मभूत ज्ञान उसका अनिवार्य गुण है जिसका उसमें कभी अभाव नहीं होता। रामानुज के अनुसार धर्म कभी भी धर्मी के बिना नहीं रह सकते हैं तथा धर्मी के निषेध से धर्मों का भी निषेध हो जायेगा। ज्ञान आत्मा का अपृथक्-सिद्ध विशेषण है। इस धर्मभूत ज्ञान की गति सर्वत्र है तथा सभी कुछ जानने की क्षमता इसमें है। हमारे कर्म इस ज्ञान के प्रसार में बाधारूप हैं इसीलिए कर्मों के कारण इसमें न्यूनाधिक्य होता रहता है। यदि कर्मरूपी बाधाओं का पूर्णरूपेण नाश कर दिया जाय तो आत्मा के ज्ञान का प्रकाश सर्वत्र फैल सकता है तथा उस समय उसे सभी वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होगा। किन्तु साथ ही धर्मभूत ज्ञान के इस न्यूनाधिक्य से धर्मी आत्मा अपने स्वरूप में बिना किसी परिवर्तन के स्थित रहता है।

रामानुज-दर्शन तथा सांख्य दर्शन में काफी समानता है। सांख्य दर्शन की भांति रामानुज ने भी पुरुष या आत्मा का बहुत्व स्वीकार किया है। किन्तु रामानुज को सांख्य की ज्ञानमीमांसा में कुछ मूलभूत कठिनाइयां प्रतीत हुईं तथा उन्हीं कठिनाइयों को दूर करने के लिए रामानुज ने धर्मभूत ज्ञान की कल्पना की। इस विषय पर हम सांख्य **दर्शन** के अनुसार ज्ञान के स्वरूप पर विचार करते हुए विचार करेंगे।

जैन दार्शनिक भी चेतना अथवा ज्ञान को जीव का गुण ही मानते हैं किन्तु उनका गुण का वही अर्थ नहीं है जो न्याय-वैशेषिक दार्शनिक मानते हैं। न्याय-वैशेषिक दार्शनिक द्रव्य तथा गुण को भिन्न-भिन्न द्रव्य स्वीकार करते हैं। ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार की सत्ताएं हैं जो समवाय-सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। जैन दार्शनिक प्रायः न तो द्रव्य और गुण का भेद ही स्वीकार करते हैं और न इस अर्थ में इन दोनों को समवाय द्वारा सम्बन्धित ही मानते हैं। जैन दार्शनिक द्रव्य के दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्रकार के विशेषण स्वीकार करते हैं जिन्हें वे गुण तथा पर्याय कहते हैं। गुण तथा पर्याय में क्या भेद है तथा इनमें क्या सम्बन्ध है, इस विषय को लेकर जैन दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र, हेमचन्द्र यशोविजय इस विषय पर अभेदवाद को मान्यता देते हैं। उनका कहना है कि गुण तथा पर्याय वास्तव में एक ही प्रकार के विशेषण हैं तथा इनमें नाममात्र का भेद है। किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, पूज्यपाद, विद्यानन्द आदि गुण तथा पर्याय में भेद स्वीकार करते हैं। कुन्दकुन्द का कथन है कि "हमारे ज्ञान के विषय द्रव्य होते हैं जो गुणों से विशेषित तथा पुनः पर्याय से सम्बन्धित होते हैं।"[1] गुण सहभावी होते हैं तथा पर्याय क्रमभावी, गुण अपरिवर्तित रहते हैं जबकि पर्याय बदलते रहते हैं। इस प्रकार गुण द्रव्य के आंतरिक विशेषण हैं जबकि पर्याय उसके वाह्य विशेषण माने जा सकते हैं। तीसरा मत भेदाभेद का है जिसको मानने वाले अकलंक तथा वादिदेव आदि हैं। इनके अनुसार गुण द्रव्य में कालाभेदापेक्षया स्थित होते हैं जबकि पर्याय कालविभेदापेक्षया। किन्तु दोनों ही धर्म्यपेक्षया होने से अभेदता भी रखते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रश्न यह है कि जैन दार्शनिक जब ज्ञान को जीव अथवा आत्मा का गुण मानते हैं तो उनके कहने का क्या आशय है? निश्चित ही उनका वह आशय नहीं है जो अद्वैत वेदान्त तथा सांख्य आदि का है। इनकी भांति वे द्रव्य और गुण में और इसलिए जीव तथा ज्ञान में पूर्ण अभेद नहीं मानते। और न ही वे नैयायिकों की भांति इन दोनों में पूर्ण भेद ही स्वीकार करते हैं। इस विषय में वे भेदाभेद को ही आदर देते हैं। अतः इस प्रकार जैन मत की अन्य मतों से भिन्नता स्पष्ट समझनी चाहिए।

साथ ही, यदि गुण तथा पर्याय को लेकर हम भेद अथवा भेदाभेद मत को आदर दें तो जैन दार्शनिक ज्ञान को जीव का गुण ही कहना पसन्द करते हैं पर्याय नहीं। वे ज्ञान को जीव से आवश्यक रूप से सम्बन्धित मानते हैं आकस्मिक रूप से नहीं, इनका सम्बन्ध अयुतसिद्ध है। ज्ञान का पूर्णतः अभाव जीव में कभी भी नहीं होता यद्यपि उसमें न्यूनाधिकता कर्म के आवरण के अनुसार होती रहती है।

किन्तु यहाँ पर जैन दर्शन में एक अन्य मुख्य प्रश्न उत्पन्न होता है। जैन दार्शनिक रामानुज की भांति अथवा न्याय-वैशेषिक की भांति द्रव्य तथा गुण में भेद स्वीकार नहीं करते और न ही अद्वैत वेदान्त की भांति हमारे सामान्य व्यावहारिक ज्ञान को वे विवर्त अथवा मिथ्या स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्था में उनसे पूछा जा सकता है कि यदि जीव के इस ज्ञान में कर्म-बन्धन के कारण न्यूनाधिकता है तब जीव का यह ज्ञान बदलते रहने के कारण ज्ञान को जीव का पर्याय ही कहना अधिक उपयुक्त होगा, गुण नहीं। ऊपर हम गुण तथा पर्याय का भेद स्पष्ट कर चुके हैं। गुण

1. Pr. S. K. U. chap. II.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अपरिवर्तित होता है पर्याय परिवर्तनशील। गुण में काल-क्रमिकता नहीं होती, पर्याय में काल-क्रमिकता होती है। और चूंकि जीव के ज्ञान में सदैव परिवर्तन होता रहता है, उसका ज्ञान सदैव एक-सा नहीं रहता। अतः उसे जीव का पर्याय ही माना जाना चाहिए, गुण नहीं।

इसका उत्तर जैन दार्शनिक यह कह कर दे सकते हैं कि कर्म-पुद्गल जीव पर बाह्य आवरण है तथा वे उसके स्वरूप को, पूर्ण ज्ञान भी जिनमें से एक है, कदापि नहीं बदल सकते। किन्तु ऐसी अवस्था में यहां एक ऐसा द्वैत उत्पन्न हो जायगा जिसे सँभालना जैन दार्शनिकों के लिए कठिन समस्या हो जायगी। क्या वे सर्वज्ञ जीव तथा अल्पज्ञ जीव दोनों को एकसाथ सत् मानेंगे या एक को सत् तथा दूसरे को असत्। दोनों ही स्थितियां उनको मान्य नहीं हो सकतीं। प्रथम अवस्था में एक ही वस्तु दो विरोधी अवस्थाओं में एक-साथ सत् कैसे मानी जा सकती है, तथा दूसरी में, जैन दर्शन उनके अपने विरोधी दर्शन अद्वैत वेदान्त के समकक्ष हो जायगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां तक जैन दर्शन जीव की ऐतिहासिक संसार-यात्रा तथा उसमें उत्पन्न हुए ज्ञान को वास्तविक स्वीकार कर उस व्यावहारिक ज्ञान को भी जीव का अनिवार्य गुण ही स्वीकार करते हैं वे ज्ञान को जीव का अनिवार्य गुण नहीं मान सकते। उन्हें इसे उसका पर्याय ही स्वीकार करना होगा। यह कहना कि ज्ञान-विशेष जीव का अनिवार्य गुण न होते हुए भी सामान्य रूप से ज्ञान तो जीव में सदैव रहता ही है, उसका तो उसमें कभी अभाव नहीं होता, अतः इस अर्थ में ज्ञान जीव का अनिवार्य गुण माना जा सकता है, कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। इसका अर्थ होगा कि ज्ञान-विशेष जीव का पर्याय है किन्तु वही ज्ञान सामान्य रूप में उसका गुण है। चूंकि जैन दर्शन न्याय की भांति सामान्य की विशेष से स्वतंत्र सत्ता नहीं मानता, उनका उपरोक्त कथन विरोध उत्पन्न करता है। एक ही वस्तु (ज्ञान) एक-साथ गुण तथा पर्याय दोनों नहीं माने जा सकते।

भाट्ट दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान आत्मा की क्रिया है, गुण नहीं। सुचरित मिश्र हमारे सामान्य ज्ञान के आधार पर ज्ञान को क्रिया के रूप में स्थापित करने का प्रयास करते हैं। जब मैं कहता हूं कि मैं जानता हूं, तो यह कथन इस बात को स्पष्ट प्रमाणित करता है कि जानना एक क्रिया है जिसका कर्त्ता आत्मा तथा विषय कर्म है। कुमारिल ने ज्ञान को आत्मा का धर्म भी कहा है, किन्तु यहां पर धर्म को उन्होंने अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है, गुण के अर्थ में संकुचित रूप से नहीं। धर्म से उनका आशय सामान्य विशेषण से है तथा ज्ञान-क्रिया भी आत्मा का इस प्रकार का सामान्य विशेषण है। पार्थसारथी ने ज्ञान को आत्मा की सकर्मक क्रिया माना है[५] जो विषय में उसी प्रकार फल उत्पन्न करती है जिस प्रकार पकाना

---

५. ज्ञान-क्रिया हि सकर्मिका (S. D. P. P. 56)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



चावलों में पाकता का फल उत्पन्न करता है। भाट्ट दार्शनिकों की मान्यता है कि अज्ञात विषय ज्ञात विषय से उसी प्रकार भिन्न होते हैं जिस प्रकार पके हुए चावल बिना पकाए हुए चावलों से भिन्न होते हैं। पाक क्रिया चावलों में 'पकाए हुए' का नया गुण उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान-क्रिया भी अज्ञात विषय में ज्ञातता का गुण उत्पन्न कर देती है तथा इस प्रकार वह विषय जो पहले अज्ञात था अब ज्ञात विषय हो जाता है। यदि ज्ञात विषय में ज्ञातता का यह नया गुण स्वीकार न करें तब ज्ञात विषय तथा अज्ञात विषय में कोई अन्तर नहीं रह जायगा तथा अज्ञात विषय भी ज्ञात विषय बन जायगा। किन्तु किसी वस्तु में कोई नया गुण बिना क्रिया के उत्पन्न नहीं किया जा सकता अतः अज्ञात विषय में ज्ञातता के गुण को उत्पन्न करने के लिए ज्ञान को क्रिया मानना आवश्यक है।

भाट्ट दार्शनिकों का कहना है कि ज्ञान आत्मा का गुण नहीं हो सकता। गुण किसी भी वस्तु का अकर्मक विशेषण होता है अतः विषय से सम्बन्धित फल की प्राप्ति वह नहीं करा सकता। गुण के लिए वस्तु किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती। 'पेन नीला है' इसमें पेन तथा नीला ये दो ही पदार्थ पर्याप्त हैं। इन दो के अतिरिक्त किसी अन्य तीसरे पदार्थ की यहां आवश्यकता नहीं है जिसके बिना कि इसकी व्याख्या असंभव हो जाय। (यहां हम सम्बन्ध रूपी तीसरे पदार्थ की चर्चा नहीं कर रहे हैं) किन्तु ज्ञान में आत्मा तथा ज्ञान के अतिरिक्त एक तीसरे पदार्थ, विषय, की भी आवश्यकता होती है। सभी गुणवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि बिना विषय के ज्ञान सम्भव नहीं है। ज्ञान सदैव किसी न किसी विषय का ही होगा। न्याय आदि सभी स्वीकार करते हैं कि विषय के अभाव में ज्ञान का भी अभाव हो जायगा। किन्तु इस पर मीमांसक कहते हैं कि तब तो ज्ञान को गुण न मान कर कर्म ही मानना अधिक उपयुक्त होगा। ज्ञान में विषय की मानसिक प्राप्ति होती है तथा इस प्राप्ति की तब तक कोई व्याख्या नहीं हो सकती जब तक कि ज्ञान को क्रिया न मान लिया जावे।

यहां पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्रिया में तो स्पन्दन आवश्यक है तथा आत्मा में, जो अभौतिक तत्व है, स्पन्दन नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हुए कुमारिल कहते हैं कि वैशेषिक की भांति गति ही क्रिया का एक मात्र रूप नहीं है। जो कुछ भी धातु अर्थ में प्रयुक्त किया जा सकता है क्रिया होती है तथा चूंकि 'ज्ञान' शब्द भी धातु अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, यह भी एक क्रिया है। कुमारिल आगे कहते हैं कि चूंकि आत्मा में संकल्प-शक्ति होती है अतः वह क्रियावान् है।

यहां पर फिर से प्रश्न पूछा जा सकता है कि सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि अचेतन अवस्थाओं में आत्मा की क्रिया का क्या होता है? यदि आत्मा स्वरूपतः क्रियाशील है तो इसे निष्क्रिय कदापि नहीं होना चाहिए। इसके उत्तर में कुमारिल का कहना है कि वास्तव में ज्ञान आत्मा की क्रिया-शक्ति अथवा योग्यता है। यह योग्यता प्रायः अभिव्यक्त होती रहती है किन्तु सुषुप्ति आदि में यह अव्यक्त रहती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


कुमारिल का दावा है कि उनका यह शक्ति का सिद्धांत न्याय तथा प्रभाकर के गुण-सिद्धांत से अधिक युक्तियुक्त है। गुण व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों नहीं रह सकता, वह या तो रहता है या नहीं रहता है। अतः न्याय मत में सुषुप्ति आदि अवस्था में अन्य अचेतन पदार्थों की भांति ही आत्मा को भी अचेतन मानना पड़ता है और तब आत्मा का अनात्मा से भेद करना कठिन हो जाता है जबकि भाट्ट मत के अनुसार सुषुप्ति आदि अवस्था में भी आत्मा तथा अन्य अचेतन पदार्थों में एक मूल भेद होता है। आत्मा में उस समय भी ज्ञान-क्रिया की शक्ति होती है, अन्य अनात्म तत्वों में यह शक्ति नहीं होती।

न्याय मत की तुलना में इस दृष्टि से भाट्ट मत की एक और भी विशेषता है। चेतना को गुण मानने पर, अचेतन अवस्था से चेतन अवस्था में आने के लिए आत्मा पूर्ण रूपेण अन्य वस्तुओं पर निर्भर रहता है। आत्मा स्वयं उस समय कुछ नहीं कर सकता। जब इन्द्रियां, मन, बुद्धि, विषय से उसका संपर्क करा दें तब उसमें ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु इस स्थिति में 'आत्मा जानता है', 'आत्मा ज्ञाता है', इन कथनों का कोई अर्थ नहीं होता। कहना यह चाहिए कि मन, बुद्धि आदि आत्मा में ज्ञान उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार न्याय आत्मा के ज्ञातृत्व की सफल व्याख्या नहीं कर पाता है। आत्मा पूर्ण रूप से परतंत्र बन जाता है तथा उसमें स्वतंत्रता को कोई स्थान नहीं रह जाता। इस प्रकार अन्य भौतिक पदार्थों से विशेष उसकी स्वतंत्र सत्ता स्थापित नहीं होती। इसके विपरीत भाट्ट मत में ज्ञान को आत्मा ही स्वेच्छा से प्राप्त करता है तथा इस स्वतंत्रता के लिए उसमें काफी अवकाश बचा रहता है। न्याय मत में आत्मा में कोई ऐसा संस्कार अथवा अन्य तत्व अवशेष नहीं रह जाता जो पुनः चेतन स्थिति में ला सके, जबकि भाट्ट मत में शक्ति रूप से ज्ञान आत्मा में सदैव विद्यमान रहता है जो कभी भी उसे अचेतनावस्था से चेतनावस्था में ला देता है।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या मोक्ष-स्थिति में भी चेतना की यह शक्ति उसमें विद्यमान रहती है? यदि हां, तो वह फिर कभी प्रस्फुटित क्यों नहीं होती? यदि यह कहा जाय कि उद्दीपन या निमित्त कारण का सदैव के लिए अभाव हो जाने से उसकी चेतना शक्ति सदैव के लिए सुप्त हो जाती है तथा वह केवल शक्ति के रूप में ही फिर वहां विद्यमान रहती है, तो यह उत्तर विशेष बल नहीं रखता। ऐसी शक्ति, जो अब कभी व्यक्त हो ही नहीं सकती, उसके अभाव के समान ही है। उसके वहां होने का प्रमाण भी क्या है? इस प्रकार यदि इस शक्ति का प्रादुर्भाव सदैव किसी बाह्य तत्व पर आधारित हो तब वास्तव में न्याय तथा भाट्ट मत में कोई मूल भेद नहीं रह जाता।

न्याय वैशेषिक तथा मीमांसा आदि द्वैतवादी दार्शनिकों के साथ सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त आदि दार्शनिकों का मुख्य विवाद इन दो तत्वों के संबन्ध को लेकर है। यदि ज्ञान अथवा चेतना स्वयं में गुण अथवा कर्म या कर्म शक्ति है तथा इस गुण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अथवा कर्म का आश्रय इससे भिन्न आत्म तत्व है तब प्रश्न उठता है कि ये दो भिन्न पदार्थ एक-दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित हो सकते हैं। नैयायिकों के समवाय-सम्बन्ध की शंकर ने अनेक स्थलों पर कटु आलोचना की है। इस आलोचना की हम अन्यत्र[६] चर्चा कर चुके हैं तथा इसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों के विपरीत सांख्य-योग ज्ञान को आत्मा का गुण अथवा कर्म मानने को तैयार नहीं हैं। चैतन्य स्वयं में तत्व है, किसी का गुण अथवा कर्म नहीं। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष अथवा आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप, निष्क्रिय, निर्विकारी, अभोक्ता तथा अपरिणामी है।

सांख्य दर्शन में 'ज्ञान' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रथम तो पुरुष को जब ज्ञानस्वरूप कहा है तब उसका अर्थ शुद्ध चैतन्य से है। इसीलिए पुरुष को वे शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चैतन्यस्वरूप से परिभाषित करते हैं। किन्तु साथ ही 'ज्ञान' शब्द को व्यावहारिक ज्ञान के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है तथा सांख्य के अनुसार ज्ञान के स्वरूप को समझने के लिए इन दोनों अर्थों के भेद को भली प्रकार समझना आवश्यक है।

सर्वप्रथम तो, सांख्य दर्शन में पुरुष को ज्ञानस्वरूप कहने से क्या तात्पर्य है, कहीं भी स्पष्ट नहीं किया गया है, तथा जब पुरुष के लक्षण बतलाते हुए ईश्वरकृष्ण उसे द्रष्टा, मध्यस्थ, साक्षी आदि भी कहते हैं तो कठिनाई और भी बढ़ जाती है। यहां पर यदि द्रष्टा तथा 'साक्षी' शब्दों का अर्थ केवल यह समझा जाय कि पुरुष स्वयं अपने आपको अपने आपके प्रति ही प्रकाशित करता है, अर्थात् वह स्वयं का ही साक्षी तथा द्रष्टा है प्रकृति रूप विषय का नहीं, तब यद्यपि वह कई कठिनाइयों से तो बच जाता है किन्तु उसका अद्वैत वेदान्त के मत से अभेद हो जाता है तथा व्यावहारिक ज्ञान भी मिथ्या तथा विवर्तरूप में सिद्ध हो जाने से सांख्य की यथार्थवादी आधार-शिला ही हिल जाती है। किन्तु यदि वह यह माने कि पुरुष स्वरूपतः ही विषयों का द्रष्टा तथा साक्षी है तब उसे शुद्ध, कूटस्थ, अपरिणामी आदि कहने में कठिनाई होती है। न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसादि दर्शन ज्ञान को आवश्यक रूप से सकर्मक मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान निश्चित रूप से किसी विषय का ही होता है। ऐसा ज्ञान जिसका कोई विषय न हो, विरोधाभास है। यदि सांख्य इस तर्क को स्वीकार कर लेता है तब इसका अर्थ यह होगा कि पुरुष रूप ज्ञान का भी कोई न कोई विषय सदैव रहता है। यह विषय स्वयं पुरुष नहीं हो सकता। सांख्य के अनुसार ज्ञाता तथा ज्ञेय, विषय तथा विषयी का भेद मूलभूत है जो कभी पट नहीं सकता। ऐसी अवस्था में एक ही पुरुष एक-साथ ज्ञाता तथा ज्ञेय कैसे हो सकता है? यदि इस पुरुष चैतन्य का विषय स्वयं पुरुष न होकर अन्य, जो केवल प्रकृति ही हो सकती है, हो

६. कारण-कार्य प्रकरण देखिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तब प्रकृति को तो सांख्य दार्शनिक परिणामी नित्य मानते हैं। उसमें विरूप या सरूप परिणाम सदैव होते रहते हैं तथा पुरुष चैतन्य का इन विषयों के ज्ञाता होने का सांख्य में सिर्फ एक अर्थ हो सकता है और वह है पुरुष का स्वयं विषयाकार होना। अपनी स्वरूप-स्थिति में पुरुष केवली होता है, अर्थात् अपने से अन्य सभी तत्वों से वह अलग रहता है। चैतन्य केवल पुरुष का लक्षण है, प्रकृति का नहीं। अतः प्रकृति के ज्ञान का अर्थ ही होगा चैतन्य का उससे प्रभावित होना या उसके आकार का होना। किन्तु ऐसी अवस्था में उसके शुद्धत्व, कूटस्थत्व या अपरिणामित्व का क्या होगा? यदि पुरुष को स्वरूपतः प्रकृति का साक्षी तथा द्रष्टा मान लिया जाय तो पुरुष कभी भी अपरिणामी नहीं माना जा सकता है। स्पष्टतः सांख्य को इन विरोधों से बचाने के लिए अद्वैत वेदान्त की भांति यही स्वीकार करना होगा कि पुरुष चैतन्य अथवा आत्म चैतन्य में विषय के लिए कोई स्थान नहीं है। वह त्रिपुटी-रहित शुद्ध चैतन्य है जहां ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान का भेद है ही नहीं। किन्तु यह मत तो अद्वैत वेदान्त का है तथा इस मत से पुरुष के बहुत्व का मेल नहीं बैठता है।

व्यावहारिक स्तर पर ज्ञान की व्याख्या सांख्य के लिए और भी कठिन है। जैसाकि कहा जा चुका है, सांख्य दर्शन मूल रूप से यथार्थवादी दर्शन है। उसके लिए पुरुष तथा अपने समस्त परिणामों सहित प्रकृति की वास्तविक तथा स्वतंत्र सत्ता है। साथ ही प्रकृति तथा उसके परिणाम रूप व्यक्त जगत् का ज्ञान भी यथार्थ है। पुरुष की निर्विकारता तथा शुद्धता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए सांख्य दर्शन व्यावहारिक ज्ञान में पुरुष का सक्रिय योगदान स्वीकार नहीं करते। सांख्य दार्शनिक ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पहले विषय इन्द्रिय के मध्यम से मन के साथ संयोग करता है, तत्पश्चात् मन उस विषय को बुद्धि तक पहुंचाता है। बुद्धि एक दर्पण के समान है। सत्व गुण प्रकाशक होता है तथा बुद्धि में सत्व गुण की प्रधानता होती है। इसीलिए विषय का बुद्धि के साथ जब संयोग होता है तब बुद्धि उसी विषय के आकार को ग्रहण कर लेती है। बुद्धि के इस विषयाकार होने को बुद्धि की वृत्ति कहा जाता है। किन्तु अन्ततः बुद्धि भी है तो प्रकृति का ही एक परिणाम हैं। बुद्धि का विषयाकार मात्र हो जाना ज्ञान उत्पन्न होना नहीं है। यदि बुद्धि के विषयाकार हो जाने मात्र से ही ज्ञान की उत्पत्ति मान ली जाती तो सांख्य में पुरुष तत्व को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। सांख्य चैतन्य तत्व को प्रकृति से भिन्न तथा स्वतंत्र तत्व मानता है। पुरुष के सहयोग बिना ज्ञान की व्याख्या पुरुष की निरर्थकता प्रमाणित करती है। अतः सांख्य दार्शनिक मानते हैं कि बुद्धि एक ओर तो विषय के आकार को ग्रहण करती है तथा दूसरी ओर पुरुष द्वारा प्रकाशित होती है। सतोगुण की प्रधानता के कारण तथा सान्निध्य के कारण केवल बुद्धि में ही पुरुष का प्रतिबिंबित होना स्वीकार किया गया है, अन्य तत्वों में नहीं और इसीलिए बुद्धि की वृत्ति के रूप में ही ज्ञान उत्पन्न हुआ माना जाता है। ज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उत्पन्न होने की यह प्रक्रिया न केवल सांख्य में बल्कि अद्वैत वेदान्त तथा रामानुज आदि में भी लगभग इसी रूप से मानी गई है।

पुरुष तथा प्रकृति के इस अलौकिक तथा विचित्र संयोग में सान्निध्य का जो प्रयोजन बतलाया गया है इसका अर्थ तनिक भी स्पष्ट नहीं है। बल्कि यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि किसी भी अर्थ में पुरुष का प्रकृति से सान्निध्य संभव नहीं है। प्रथम तो, यदि सान्निध्य को देश-काल की भाषा में समझें तथा पुरुष और प्रकृति के सान्निध्य से वही अर्थ लें जो दो भौतिक पदार्थों के पास पास होने से लिया जाता है, तो पुरुष तथा प्रकृति का इस प्रकार का सान्निध्य नहीं हो सकता। पुरुष अभौतिक तत्व है अतः प्रकृति के साथ उसका देश-कालिक सान्निध्य सम्भव नहीं है। पुरुष देश तथा काल से परे है। अतः वहां यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि उसकी प्रकृति से सन्निधि है। और फिर यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाय कि अभौतिक तत्वों का भी अन्य भौतिक अथवा अभौतिक तत्वों से सान्निध्य हो सकता है तब भी चूंकि पुरुष तो नित्य तथा विभु रूप है, उसका सान्निध्य अन्य सभी तत्वों से समान रूप से होगा, और तब यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि बुद्धि से ही पुरुष का सान्निध्य है अतः उसी में वह प्रतिबिंबित होता है अन्य तत्वों में नहीं। इसके अतिरिक्त, यदि सान्निध्य से तात्पर्य स्वरूप में सान्निध्य मानें, जिसका अर्थ होगा कि बुद्धि की पुरुष से स्वरूप की दृष्टि से सबसे अधिक समीपता या समानता है, तो यह भी सांख्य मत में स्वीकार नहीं किया जा सकता। पुरुष तथा प्रकृति का विरोध सांख्य में पूरा माना गया है। ये दोनों आपस में विपरीत स्वभाव वाले हैं अतः इनमें समानता या इस प्रकार की समीपता का प्रश्न नहीं उठता। यदि यह कहा जा सकता है कि दोनों के स्वरूपतः विपरीत होते हुए भी प्रकृति के विभिन्न तत्वों की पुरुष से भिन्नता में कुछ न्यूनाधिकता हो सकती है ; यद्यपि प्रकृति से उत्पन्न सभी तत्व पुरुष से भिन्न हैं तथापि कुछ तत्व कुछ अन्य तत्वों की अपेक्षा अधिक भिन्न हैं तथा बुद्धि में यह भिन्नता सबसे कम है, अतः केवल बुद्धि में ही पुरुष प्रतिबिंबित होता है अन्य तत्वों में नहीं। किन्तु इससे पहला तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि पुरुष सभी प्रकृति-तत्वों में न्यूनाधिक रूप से प्रतिबिंबित होगा तथा ज्ञान केवल बुद्धि की वृत्ति के रूप में ही उत्पन्न नहीं होगा बल्कि इन्द्रियों, यहां तक कि पंच भौतिक पदार्थों में भी, न्यूनाधिक रूप से अवश्य होगा। दूसरे, इस सामीप्य अथवा सान्निध्य का अर्थ वहां क्या होगा ? जैसा हम कह चुके हैं, पुरुष का प्रकृति-तत्वों से पूर्ण वैभिन्य है अतः प्रकृति-तत्वों का आपसी वैभिन्य भी किस प्रकार एक प्रकृति-तत्व को अन्य तत्वों की अपेक्षा उसे पुरुष के अधिक समीप ला सकता है ? यह सब तो तब होता जब कि पुरुष तथा प्रकृति-तत्वों में कुछ बातें समान तथा कुछ असमान होतीं तथा इनकी न्यूनाधिकता से ही एक तत्व दूसरे तत्व की अपेक्षा उससे अधिक समीप अथवा दूर होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्राय: ऐसा माना जाता है, जैसा कि सांख्य दर्शन में भी कई स्थलों पर स्पष्ट है, कि सत्व गुण पुरुष के सबसे अधिक समीप है अत: सत्व गुण का प्राधान्य ही बुद्धि का पुरुष के साथ सान्निध्य है। दीपक काली दीवार पर प्रतिबिंबित नहीं होगा, किन्तु कांच जितना स्वच्छ होगा उतना ही वह उसमें अवश्य ही प्रतिबिंबित होगा। यह बात सही है कि भारतीय परम्परा के अनुसार सत्वगुण की प्राप्ति अथवा उसकी प्रधानता आत्म तत्व की उपलब्धि में सबसे अधिक सहायक है। सत्व गुण की प्रधानता निश्चित रूप से आत्मबोध के लिए प्रयोजक मानी गयी है। जितना ही व्यक्ति रजोगुणी अथवा तमोगुणी है उतना ही वह आत्म॰ तत्व से दूर तथा जितना ही वह सतोगुणी है वह आत्मतत्व से समीप माना जाता है। इसलिए सामीप्य अथवा सान्निध्य से यहां तात्पर्य बुद्धि का यह सतोगुणी स्वभाव ही मानना चाहिए।

किन्तु तार्किक दृष्टि से जब इस पहलू पर विचार करते हैं तब यह मत भी बहुत आपत्तिजनक सिद्ध होता है। प्रथम तो प्रकृति का प्रत्येक तत्व किसी भी समय किसी शुद्ध गुण वाला नहीं होता, उसमें किसी गुण-विशेष की प्रधानता मात्र होती है। सत्वगुण-प्रधान तत्व में भी रजोगुण तथा तमोगुण विद्यमान होते हैं, यद्यपि वे गौण रूप से होते हैं, मुख्य रूप से नहीं। इसी प्रकार रजोगुण-प्रधान अथवा तमोगुण प्रधान पदार्थ में भी सदैव गौण रूप से सत्व की विद्यमानता अवश्य होती है। किन्तु ऐसा होने पर वही निष्कर्ष निकलता है जो हम ऊपर देख चुके हैं। सत्व गुण के सर्वत्र न्यूनाधिक रूप से उपस्थित रहने से तथा उसके साथ ही साथ सर्वत्र सदैव रजोगुण तथा तमोगुण की वर्तमानता के कारण पुरुष का प्रतिबिंब तथा फलस्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति की कमी प्रकृति-तत्वों में न्यूनाधिक रूप से अवश्य ही होनी चाहिए और तब मन, इन्द्रिय तथा पंच भूतों के विकार भी बुद्धि वृत्ति की भांति ज्ञान रूप ही होंगे।

साथ ही चेतना के प्रतिबिंब, अथवा चैतन्य के बुद्धि पर प्रकाश से ही क्या आशय है? पुरुष या चैतन्य को भौतिक प्रकाश-रश्मि की भांति तो समझा नहीं जा सकता जिससे यह समझ में आजाय कि जिस प्रकार दीपक कांच में प्रकाशित हो उसे स्वयं प्रकाशमय बना देता है उसी प्रकार चैतन्य भी बुद्धि में प्रतिबिंबित हो उसे प्रकाशित कर देता है। 'प्रतिबिंब', 'प्रकाश' आदि शब्दों को मात्र आलंकारिक अर्थ में लेना होगा जिसका सिर्फ यह अर्थ होगा कि किसी न किसी प्रकार चैतन्य इस भौतिक शरीर से सम्बन्ध स्थापित कर इसे प्रभावित करता है। किन्तु यह तो समस्या का कथन मात्र हुआ, उसका हल नहीं। यह तो स्पष्ट ही है कि ज्ञान की उत्पत्ति के लिए चैतन्य को शरीर को किसी न किसी रूप में अवश्य ही प्रभावित करना चाहिए। किन्तु इस प्रभाव या संयोग को कैसे समझा जाय, यह मूल दार्शनिक समस्या है। सांख्य दार्शनिक सान्निध्य तथा प्रतिबिंब की बात कर समस्या का कथन तो अवश्य करते हैं किन्तु उसका समाधान नहीं करते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि उन सभी दर्शनों में भी जो आत्म-तत्व तथा अनात्म-तत्व को भिन्न मान कर उन दोनों के किसी न किसी प्रकार के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं यह समस्या उत्पन्न होती है, किन्तु इन दर्शनों ने इस समस्या के महत्व को समझा नहीं है इसीलिए इसके समाधान की ओर उनका ध्यान भी नहीं गया। सांख्य पुरुष-तत्व तथा प्रकृति-तत्व के विपरीत स्वरूप को स्पष्ट कर अन्य दर्शनों की अपेक्षा कम से कम समस्या को महत्वपूर्ण रूप से प्रकाश में तो अवश्य ही लाया है तथा इसके समाधान का भी प्रयास किया है। समाधान कहां तक हो पाया है, यह अलग बात है। वैसे आत्मा तथा शरीर के परस्पर प्रतिक्रिया-वाद का सिद्धांत सदियों से दार्शनिकों को उलझन में डाले हुए है। यह सिद्धांत सामान्य अनुभव के सबसे समीप होते हुए भी कोई दार्शनिक समस्याएं उत्पन्न करता है जिनका संतोषप्रद समाधान हो नहीं पाया है।

इस संदर्भ में सांख्य दर्शन की देन इस बात को लेकर है कि इसने स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि आत्म-तत्व अथवा भौतिक-तत्व इन विरोधी गुणों का अंत-र्भाव करके उपयुक्त व्याख्या नहीं की जा सकती। इसलिए उसने बुद्धि तत्व के रूप में चेतन–अचेतन की एक ग्रंथी स्वीकार की है। बुद्धि-तत्व जड़ होते हुए भी चेतनवत् है और इसलिए बुद्धि में ही ज्ञान उत्पन्न होता है। यहां पर सांख्य की ज्ञानमीमांसा में हम ज्ञान को प्रकृति में नव्योत्क्रांत गुण (इमर्जेन्ट क्यालिटि) के रूप में समझें तो समस्या के समाधान में हमें सहायता मिलती है। नव्योत्क्रांति को मानने वाले दार्शनिकों का कहना है कि भौतिक विकास की एक विशेष अवस्था में उसमें प्राण तत्व तथा प्राणिक विकास की अवस्था-विशेष में चेतना का उद्गम होता है। सांख्य का इस सिद्धाँत के अनुकूल यह मानना है कि प्रकृति की अवस्था-विशेष, जिसे वे बुद्धि कहते हैं, ही चेतन तत्व के वहां उद्गम के लिए उपयोगी होती है। किन्तु उत्क्रामी विकासवादियों की भांति ही सांख्य भी केवल इससे कि ज्ञान का बुद्धि में उदय होता है, उसे बुद्धि का गुण मानने को तैयार नहीं है। चेतना को वे एक स्वतंत्र तथा नूतन तत्व मानते हैं बुद्धि से उत्क्रमण होता है। विकास की वह कौन सी विशेषता है जिससे उसमें चेतन तत्व उत्क्रमित होता है तथा केवल इस ही अवस्था में क्यों उसमें चेतना का उद्भव होता है—ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर अभी तक कोई वैज्ञानिक या दार्शनिक नहीं दे पाया है।

यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त उत्क्रांतिवादी व्याख्या न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों को भी मान्य हो सकती है किन्तु इसमें मुख्य कठिनाई यह उपस्थित होती है कि न्याय ज्ञान को आत्मा में उत्पन्न मानते हैं तथा आत्मा में किसी प्रकार के विकास के लिए स्थान नहीं है। सांख्य ज्ञान की उत्पत्ति बुद्धि में मान कर इस कठिनाई से बच जाते हैं।

यह कहना उचित नहीं होगा कि उपर्युक्त वर्णित उत्क्रामी विकास वाली व्याख्या सांख्य को पूर्ण रूप से मान्य होगी। यदि सांख्य यह मान लेता कि बुद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



चेतना हो जाती है अथवा चेतना बुद्धि का वास्तविक गुण है तब ही यह व्याख्या सांख्य को मान्य हो सकती है, किन्तु सांख्य यथार्थवादी तथा प्रत्ययवादी दृष्टिकोणों के बीच झूलता हुआ नज़र आता है। एक ओर तो वह यह देखता है कि बुद्धि किस प्रकार उससे बिल्कुल विपरीत स्वभाव वाले गुणों से युक्त हो सकती है और इसलिए वह बुद्धि के लिए केवल यह कहता है कि बुद्धि चेतन होती नहीं है 'चेतनवत्' प्रतीत होती है। किन्तु यह दृष्टिकोण वास्तव में अद्वैत वेदान्त का होना चाहिए, जहां ज्ञान वास्तविक नहीं वरन् प्रतीति मात्र है। किन्तु सांख्य इस स्थिति को भी स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। बुद्धि को चेतनवत् मानते हुए भी वह कहता है कि इससे उत्पन्न ज्ञान वास्तविक ही होता है, मिथ्या नहीं।

**राजस्थान विश्वविद्यालय**

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# डेकार्ट : दार्शनिक विवेचन

भगवती

डेकार्ट का दर्शन मुख्यत: दो बातों के लिए प्रसिद्ध है : (१) दर्शन की एक ऐसी विधि निश्चित करने के प्रयत्न के लिए जिससे इसे विज्ञान के समकक्ष और एक समग्र विज्ञान के रूप में प्रतिपादित किया जा सके, और (२) एक मौलिक असन्दिग्धता की खोज के लिए, जिसका मूल सार्वभौमिक सन्देह में है। किन्तु इस दर्शन में दो अन्य बातों का स्थान भी उतना ही महत्वपूर्ण है, और वे हैं (१) सन्देह के द्वारा निरस्त विश्व की पुनः प्रतिष्ठा और (२) आत्म की अपूर्णता के द्वारा पूर्ण ईश्वर का निगमन तथा इस पूर्ण ईश्वर के द्वारा विश्व के ज्ञान का प्रमाणीकरण। प्रत्यक् और पराक् के सन्दर्भ में भी डेकार्ट का दर्शन बहुत विशिष्ट है—जैसाकि हम आगे देखेंगे, इस दर्शन में न आत्म पराक् है और न ईश्वर; 'पराक्' के एक विशेष अर्थ में, केवल भौतिक विश्व पराक् है। ईश्वर ज्ञान की दृष्टि से प्रत्यक् है, किन्तु सत् की दृष्टि से पराक् है। जैसाकि हम आगे प्रसंग में देखेंगे, एक प्रकार से यही बात भौतिक विश्व के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, किन्तु केवल एक प्रकार से, और उससे बिल्कुल भिन्न प्रकार से जिस प्रकार से ईश्वर की पराक्ता के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

डेकार्ट एक महान् और मौलिक प्रतिभावान् गणितज्ञ थे और इसमें उन्होंने महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की थी। इससे उन्हें गणित की निगमनात्मक विधि को प्रत्येक ज्ञान-विधा के लिए उपयुक्त विधि मानने की प्रेरणा मिली। उनकी इस विधि का उनके मूलगामी ज्ञान-व्यापार (रैडीकल नोलेज फंक्शन) तथा आत्म-अस्तित्व की घोषणा से तथा ईश्वर की सत्ताविषयक प्रमाणों से घनिष्ट संबंध है। इस प्रकार डेकार्ट की दर्शन-व्यवस्था सुघड़ और सरल हैं और पूर्वप्रतिज्ञाओं से निष्कर्ष निगमनात्मक रूप से सम्बन्धित है। किन्तु इसके लिए पूर्वप्रतिज्ञाओं (प्रेमेसिस) का अत्यन्त सरल तथा न्यूनतम होना आवश्यक है। जिल्सों के शब्दों में "दार्शनिक ज्ञान के विषयों को गणित के विषयों से अधिक से अधिक अनुरूप बनाने के लिए उसने इन्हें तीन मूल विषयों—विचार, विस्तार तथा ईश्वर—में घटा दिया और इनकी अवधारणाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



को यथासंभव देश और संख्या की अवधारणाओं के समान सरल बनाने के लिए उसने निर्णय किया कि इसमें हरेक की अन्तर्वस्तु ऐसी है कि इसका एक ही प्रातिभ (इन्ट्यूशन) द्वारा पूरी तरह ग्रहण किया जा सकता है।"[१] किन्तु ये प्रत्यय या अन्तर्वस्तुएं वास्तव में न केवल सरल ही नहीं हैं बल्कि अत्यन्त जटिल हैं, जैसाकि जिल्सों ने भी आक्षेप किया है।

किन्तु सम्भवतः डेकार्ट पर जिल्सों का यह आरोप पूर्णतः उचित नहीं है। सर्वप्रथम, डेकार्ट इन प्रत्ययों या अवधारणाओं की जटिलता के सम्बन्ध में नहीं जानते रहे हों, यह कहना बहुत साहसपूर्ण होगा, क्योंकि उनके युग में ये अवधारणाएं विचार के मुख्य विषय थीं; और दूसरे, उनकी आत्म और ईश्वर की अवधारणाएं बहुत अर्थपूर्ण और अत्यन्त महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए उपकरण-भूत थीं। यह प्रयोजन था चैतन्य की संसार के बीच उपस्थिति का समाधान करना। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि डेकार्ट के पीछे एक ओर ईसाई दर्शन का उत्तराधिकार था और दूसरी ओर सन्देहवाद का। उन्होंने स्वयं सार्वभौम सन्देह के साथ, अथवा कहें, सर्वशक्तिमान मायावी की तत्त्वमीमांसीय कल्पना के साथ, आरम्भ किया और तब जिस सन्देहातीत की प्राण-प्रतिष्ठा की वह ईसाई-दर्शन की दृष्टि नहीं हो सकती थी, उसका उससे मूलतः भिन्न होना अनिवार्य था। सन्देहवाद के आघातों से सब कुछ को नहीं बचाया जा सकता था, न्यूनतम को ही रखा जा सकता था—वह जटिल आत्म नहीं हो सकता था, ऐसा आत्म ही हो सकता था जिसके अस्तित्व को सर्वशक्तिमान मायावी भी सन्देह में नहीं डाल सकता। डेकार्ट ने यह सन्देहातीत तत्व उस आत्म में देखा जो विचार-स्वरूप (रेस् कोजिटांस्) है और विचार-क्रिया (कोजिटो) द्वारा अपने अस्तित्व को प्रतिष्ठित करता है। इस तरह आत्म के द्वारा अपने स्वरूप की उपलब्धि शुद्ध विज्ञान की कैवल्य में स्थिति नहीं है बल्कि यह मूलगामी सन्देह के माध्यम से आत्म का अपने को घटित करना है।[२] इसी से डेकार्ट की मूल प्रतिज्ञप्ति–विचारता हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है—का रूप निगमनात्मक है, यद्यपि इसमें निगमन नहीं है। इसमें आत्म अपने अस्तित्व का विचार-क्रिया के माध्यम से, जो कि उसका स्वरूप है, अवगमन करता है; यहां यह विषयभूत विषयी है, अथवा कहें ज्ञाता है जो अपने को जानने के लिए आत्मोन्मुख होता है। कार्ल जास्पर्स के शब्दों में, "क्योंकि यहां असन्दिग्ध विषय साथ ही इसका विषयी भी है, इसलिए इसमें विषय और विषयी युगपद-

---

१. एटीने जिल्सों, दि यूनिटी आफ फिलासफीकल एक्स्पीरियेंस, पृ. १४६, शीड एण्ड वार्ड, १९३८।

२. जाको हिंटिक्का का लेखः कोजिटो, एर्गो समः इन्फेरेंस ओर पर्फोर्मेंस ? द्रष्टव्य विलिस डोने द्वारा सम्पादित **डेकार्ट**; पृ. सं. ११०, मैक्मिलन, लंडन-मैल्बोर्न, १९६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भाव घटित होता है : यह एक और अद्वय है और इस प्रकार न विषयी है, न विषय, किन्तु तब भी यह विषयी और विषय दोनों है।"[3] उसके अनुसार, "डेकार्ट जब, विचारता हूं इसलिए मेरा अस्तित्व है,' की असन्दिग्धता को विषय-विश्व के सत् के आधार के रूप में देखने हैं तब उनका कुछ ऐसा ही अभिप्राय प्रतीत होता है।"[4] कोजिटो—प्रतिज्ञप्ति के सम्बन्ध में यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि यह न केवल आत्म के अपने अस्तित्व के असंदिग्ध ज्ञान की वाचक है बल्कि ईश्वर और विश्व के ज्ञान की भी आधार है। यद्यपि ईश्वर तथा संसार अस्तित्वात्मक दृष्टि से स्वतंत्र सत्ताएं हैं—और वास्तव में, ईश्वर के मेरा तथा विश्व का स्रष्टा होने से उसकी सत्ता आदिम तथा मौलिक है जबकि आत्म और विश्व की सत्ता सापेक्ष और निर्भर है, किन्तु ज्ञान की दृष्टि से आत्म की सत्ता मौलिक और अन्य सत्ताओं को प्राप्त कराने वाली है।

यहां तीन कठिन समस्याएं सामने आती हैं जो डेकार्ट-दर्शन से समाधान की अपेक्षा करती हैं। ये हैं (१) आत्मज्ञान की अन्तर्वस्तु क्या है ? (२) विश्व और ईश्वर की सत्ताओं की आत्म से स्वतंत्रता कैसे सिद्ध होती है ? और (३) आत्म का इनसे क्या सम्बन्ध है ? डेकार्ट ने इनके समाधान का प्रयत्न किया हैं, किन्तु ये समस्याएं इतनी जटिल हैं कि कोई दार्शनिक इनकी गहराई की पूरी थाह नहीं पा सकता, और इसी से इनका कोई एक समाधान भी नहीं है। डेकार्ट की महत्ता इन समस्याओं को उस प्रकार देखने में है जिस प्रकार उसने इन्हें देखा, और उस तरह का समाधान देने में है जैसा समाधान उसने दिया। यहां हम इन समस्याओं पर डेकार्ट-दर्शन के सन्दर्भ में क्रमशः विचार करेंगे।

आत्म क्या है ? डेकार्ट का उत्तर है—एक विचार करती हुई वस्तु—(रेस कोजिटांस्), विचार करती हुई वस्तु क्या है ? यह वह वस्तु है जो सदेह करती है, समझती है, निषेध करती है, संकल्प (विल) करती है, संकल्प करने से अपने को रोकती है, और जिसे कल्पना-बिम्ब और संवेद-विषय विज्ञापित होते हैं।"[5] यहां दो बातें द्रष्टव्य हैं—आत्म विचार-समर्थ द्रव्य (सब्स्टांस) नहीं है, यह विचार-क्रिया ही है और इस क्रिया में ही इसका सत्व (बींग) और धर्म (एसेंस) निश्शेष हो जाता है। यहां एक प्रश्न किया जा सकता है कि यदि केवल एक ही विचार-क्रिया घटित हो

---

३. कार्ल जास्पर्स-**लिओनार्डो, डेकार्ट, मेक्सवेबर**; श्री एसेज, पृ.सं. ६८, रुटलज एण्ड केगन पॉल, लंडन, १९६५।

४. कार्ल जास्पर्स-वहीं, पृ. ६८-६९।

५. नार्मन कैंपस्मिथ द्वारा अनूदित तथा सम्पादित **डेकार्ट : फिलासफीकल राइटिंग्स**, पृ. १८६, (मैडीटेशन २) दि माडर्न लाइब्रेरी, न्यूयार्क, १९५८. अनुगामी उद्धरणों में केवल "डेकार्ट" द्वारा संकेतित.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तब क्या इसे आत्म के अस्तित्व का घटित होना कहा जायगा ? डेकार्ट ने संभवत: यह प्रश्न नहीं उठाया और संभवत: न किसी और ने ही डेकार्ट के संदर्भ में यह प्रश्न किया। किन्तु डेकार्ट के अनुसार इसका उत्तर केवल 'हां' में ही होना चाहिए। उदाहरण: डेकार्ट की व्याख्या करते हुए स्पिनोज़ा ने लिखा है—'वर्तमान में हम विचार कर रहे हैं' इस तथ्य से यह किसी भी तरह आपन्न नहीं होता कि हमारी विचार-क्रिया जारी रहेगी ।"[६] इसका अर्थ है कि काल मेरे अस्तित्व का अनिवार्य घटक है और कि मैं केवल एक विचार-क्रिया हो सकता हूं। किन्तु तब इससे विभिन्न विचार-क्रियाओं के परस्पर सम्बन्ध और आत्म की विभिन्न विचार-क्रियाओं में स्थिति सम्बन्धी कठिन समस्याएं उत्पन्न होती हैं। किन्तु यहां हम इन प्रश्नों पर विचार नहीं करेंगे। यहां जो बात स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है और जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है वह यह कि आत्म घटना-स्वरूप है और यह घटना विचारात्मक है और इस घटना के घटित होने के साथ आत्म का अपने अस्तित्व का बोध भी घटित होता है।

किन्तु विचार अनिवार्यत: किसी विषय के सम्बन्ध में होता है, और कम से कम इस रूप में इस विषय का अस्तित्व भी होता ही है, किसी दूसरी विधा में चाहे नहीं भी हो। इस तरह जब मैं अपने अस्तित्व का कथन करता हूं तब यह कथन अनिवार्य रूप से कुछ समझने के माध्यम से (कहें, त्रिकोण के सम्बन्ध में), अथवा सन्देह के माध्यम से (कहें, भौतिक विषयों में), होता है और इस प्रकार मेरे अस्तित्व का कथन अनिवार्य रूप से विषय के अस्तित्व का भी युगपत् कथन है। वास्तव में दूसरे ध्यान (मैडीटेशन) में डेकार्ट कहते प्रतीत होते हैं कि आत्म का ज्ञान विषयों के माध्यम से होता है : "यदि मैं निर्णय करता हूं कि मोम का अस्तित्व मेरे देखने से है, तो इससे और भी स्पष्ट रूप से आपादित होता है कि जब मैं इसे देखता हूं तब मेरा अस्तित्व है।"[७] किन्तु वास्तव में डेकार्ट को यह अभिप्रेत नहीं है, यदि होता तो वे प्राय: वही बात कह रहे होते जो कांट अथवा हुस्सर्ल अथवा सार्त्र ने कही है। वे वास्तव में इस ध्यान में आत्म की उन विषयों से भी अधिक असंदिग्धता का प्रतिपादन कर रहे हैं जिनका सत्त्व (बींग) किसी विचार की अन्तर्वस्तु होना मात्र है। इस तरह उपर्युक्त आपादन का आशय यह है कि सब विषय-अवधारण आत्म को पूर्व-कल्पित करता है, इसलिए तर्कत: भी आत्म विषय-अवधारण से प्रथम है। उनके लिए आत्म निर्विषय अवगम्य है। डेकार्ट का प्राविधिक सन्देह विश्व का चैतन्य से तात्त्विक निरास भी है और इस तरह विश्व से निर्वतित आत्म मूल ज्ञान-क्रिया में आत्म अवस्थित होता है। तेवनाज़ के शब्दों में—"डेकार्ट में विश्वाभिमुखता चैतन्य

---

६. बेरुच स्पिनोज़ा—दि प्रिंसिपल्स आफ डेकार्ट्स फिलासफी, पृ. सं. २६, ओपन कोर्ट क्लैसिक्स, १०६५.

७. डेकार्ट, पृ. १६१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की अविवेक की स्थिति है जिसका निरास चैतन्य की अपने में प्रतिष्ठा द्वारा होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि डेकार्ट के लिए मूलगामी आरंभ बिन्दु आत्मस्थ एवं आत्मोन्मुख चैतन्य के केन्द्र में स्थित है........डेकार्ट के लिए एक प्रत्यक्ष केवल अपने विषय की चेतना ही नहीं है बल्कि यह साथ ही अपनी चेतना भी है। इस आत्म चेतना में ही ज्ञातृत्वाभिमान का अपने साथ सहभाव–सहावस्थान–घटित होता है। यद्यपि यह सहावस्थान सदैव विद्यमान रहता है किन्तु यह अवधान (अटेंशन) विषय पर केन्द्रित होने के लिए आत्मभाव की उपेक्षा कर देता है। किन्तु जब अवधान आत्म के उत्तानीकरण (इंटेंसीफिकेशन) के लिए अपनी ओर उन्मुख होता है तब यह अत्यन्त ठोस किन्तु अस्फुट सहावस्थान अत्यन्त स्फुट हो जाता है। अवधानमय चैतन्य के लिए "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं हूं" "मैं हूं" हो जाता है, यह स्वतःसिद्ध अनिवार्यता का रूप ले लेता है।"[८] वे आगे कहते हैं—"डेकार्ट जब प्राविधिक संदेह द्वारा विश्व का निराकरण कर देता है तब वह अपने को भी विषय के रूप में देखने से इन्कार कर देता है। उसका लक्ष्य मन की अभिक्रिया को स्वयं अपने घटित होने में आत्मचेतन करना और इस प्रकार एक उत्कृष्टतर अव्यवहितत्व प्राप्त करना है।"[९]

यहां दो बातें देखने की हैं—एक तो यह कि आत्म का अव्यवहित ज्ञान अन्य किसी ज्ञान का प्रापक कैसे हो सकता है? यदि तात्त्विक सन्देह द्वारा केवल विश्व का निरास ही अभिप्रेत है तब सन्देहवाद में और डेकार्टीय स्थापना में क्या अन्तर होगा? क्योंकि सन्देहवाद भी सन्देह-क्रिया की असंदिग्धता को तो स्वीकार करता ही है। यदि तेवनाज़ की उपर्युक्त व्याख्या को स्वीकार किया जाय तो इसका समाधान केवल दो प्रकार से ही संभव है; एक यह कि सब विषय-जगत् को आत्म में निहित देखा जाय, और दूसरा यह कि सब असंदिग्धता को आत्मअसंदिग्धता—स्वतः प्रामाण्य—के स्तर पर उठाया जाय। किन्तु संभवतः तेवनाज़ को दोनों स्थितियां मान्य नहीं होंगी, क्योंकि उसके अनुसार विश्वाभिमुखता चैतन्य की अविवेक की स्थिति है। इसलिए उसका यह कथन कि "एक प्रत्यक्ष केवल अपने विषय की चेतना ही नहीं है बल्कि यह साथ ही अपनी चेतना भी है" विषय की आत्मअसंदिग्धता का प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि यह स्थिति अवधान के विषयोन्मुख होने पर ही होगी। इसके अतिरिक्त, डेकार्ट के आत्म विषयक प्रतिपादन में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि

---

८ पिअरें तेवनाज़–**व्हाट इज़ फिनोमिनलोजी** में दि क्वश्चन आफ दि रैडीकल प्वाइंट आफ डिपार्चर इन हुसर्ल एंड डेकार्ट. यहां श्री यशदेव शल्य द्वारा प्रस्तुत इस लेख के सारांश से उद्धृत; द्रष्टव्य उनकी पुस्तक–**विषय और आत्म**, पृ. १३१, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, १९७२.

९. वहीं १३८.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यह दो अन्य सत्ताओं के साथ एक सत्ता है—यह विस्तारवान् द्रव्य के **विपरीत** विचारवान् द्रव्य है और असीम द्रव्य के विपरीत ससीम द्रव्य है। किन्तु मेरे विस्तारवान् द्रव्य से **विपरीत** विचारवान् द्रव्य होने पर मेरा आत्मज्ञान विश्व-ज्ञान का आधार कैसे हो सकता है? और इसी प्रकार, मेरे ससीम और आश्रित सत्ता होने पर मेरा आत्म का ज्ञान भी असंदिग्ध कैसे हो सकता है? एक विचार-क्रिया का घटित होना उसके अस्तित्व को असंदिग्ध रूप दे देता है; किन्तु तब यह केवल एक पुनरुक्ति है। अन्यथा, इसका घटित होना आश्रित और आकस्मिक होने से, यह केवल संयोग है कि इसका अस्तित्व है। इसके अतिरिक्त, यह आकस्मिक घटना के रूप में आत्मचेतन होने पर भी उस **आत्म** की समतुल्य नहीं हो सकती जो अपने, विश्व के और ईश्वर के स्पष्ट और विविक्त प्रत्यय का अधिष्ठान है। यहां आत्म की ससीमता के प्रसंग में स्वयं डेकार्ट को उद्धृत करना समीचीन होगा "......स्पष्टतः असीम द्रव्य में ससीम द्रव्य की अपेक्षा अधिक सत्त्व (बींग) होगा और इसलिए एक प्रकार से मेरा असीम का ज्ञान मेरे ससीम के ज्ञान से पूर्वगामी होगा।"[१०] इतना ही नहीं, मैं स्वयंभू वस्तु भी नहीं हूं, मैं ईश्वर द्वारा सृष्ट हूं और इस प्रकार अपने ज्ञान और सत् दोनों के लिए उस पर आश्रित हूं और उसके द्वारा सृष्ट अनेक वस्तुओं में से एक हूं: "........इस प्रकार ईश्वर की असीम शक्ति को जान लेने पर मैं यह नहीं कह सकता कि उसने अन्य भी अनेक वस्तुओं की सृष्टि नहीं की हो सकती, अथवा कम से कम, उसमें यह सामर्थ्य है कि वह इनकी सृष्टि कर सकता है। इस प्रकार संभवतः उसने मुझे केवल वस्तु—समग्र के एक भाग के रूप में सत्त्व प्रदान किया है।"[११] अब यदि मैं न केवल अन्य के द्वारा सृष्ट हूं बल्कि अनन्त वास्तव और संभाव्य सृष्टि का एक भाग हूं, तब किस प्रकार अपने सत्त्व के सम्बन्ध में मेरा ज्ञान अव्यवहित और असंदिग्ध हो सकता है? शिलर इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं: "दूसरी ओर, मेरे लिए अपने सत्त्व पर सन्देह करना भी आवश्यक होगा। क्योंकि जो मेरा सत्त्व अव्यवहित रूप से निश्चित है वह मेरे लिए अनवगम्य है। मेरा अपने सत्त्व पर संदेह करना इस कारण आवश्यक है क्योंकि मेरा सत्त्व, अन्य सब संदिग्ध सत्त्वों के समान, आत्म-अधिष्ठित नहीं है, बल्कि केवल एक प्रकार का सत्त्व है, ऐसा सत्त्व, जो आश्रित और अतएव सन्दिग्ध है। सम्पूर्ण अनुभव-मूलक आगन्तुक अस्तित्व के समान मेरा अस्तित्व भी सत् और असत् के मध्य स्थित सत्त्व की एक विधा मात्र है, क्योंकि विचार भी अस्तिव की केवल एक अवस्था, एक विधा है।"[१२] इस प्रकार शिलर के अनुसार "विचारता हूँ में समाविष्ट "मैं हूँ" का अर्थ एक निरपेक्ष "मैं हूँ" परक नहीं है बल्कि

१०. डेकार्ट, पृ. २०५.

११. वहीं पृ. २१५.

१२. द्रष्टव्य कार्ल जास्पर्स, थ्री **एस्सेज**, पृ. ७२.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



केवल एक अस्तित्व विषयक है : मैं **एक प्रकार से हूँ**, एक विचारवान् सत्त्व के रूप में।"[१३]

यदि यह मान भी लिया जाय कि डेकार्ट में विस्तारवान् द्रव्य का स्थान गौण है और अतएव इससे आत्म के ज्ञान की निरपेक्षता को कोई क्षति नहीं होती, तो भी ज्ञान और सत्ता दोनों दृष्टियों से ईश्वर की आत्म से प्राथमिकता आत्म की स्थिति को सन्दिग्ध बना देती है। यह सही है कि मैं अपने अस्तित्व में सन्देह नहीं कर सकता, किन्तु यदि मैं सन्देह करने में प्रवृत्त ही नहीं होऊं ? डेकार्ट कहेंगे, इससे अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि सन्देह केवल एक प्रकार का विचार है, मेरे अस्तित्व का विधान किसी भी विचार से होता है। किन्तु यदि मैं सब समय बाह्योन्मुख ही रहता हूं, सब समय कल्पना और संवेद में ही तल्लीन रहता हूँ और कभी विचारता नहीं, तब ? ईश्वर के सर्वशक्तिमान् और पूर्णतः स्वतंत्र होने से, और मेरे पूर्णतः उस पर आश्रित होने से, ईश्वर ऐसा विधान करने में स्वतंत्र है कि मैं बाह्योन्मुख ही रहूं और इस प्रकार वह सदैव मुझे आत्मबहिष्कृत रख सकता है। संभवतः इसका उत्तर दिया जा सकता है कि मुझे मेरे धर्म से वंचित रखने का अर्थ है मेरी सृष्टि नहीं करना, किन्तु एक बार मेरी सृष्टि कर देने पर ईश्वर भी मुझे अपने धर्म से वंचित नहीं कर सकता। किन्तु तब मेरी सृष्टि करने का क्या अर्थ है ? मेरी विचार-क्रिया मेरा अस्तित्व है, क्या यह विचार-क्रिया किसी बाह्य कारण द्वारा सृष्ट हो सकती है ? डेकार्ट का स्पष्ट उत्तर है कि यह न केवल हो सकती है बल्कि होती है। उनका तर्क है कि, यदि मैं स्वयं अपना स्रष्टा होता तो मैं इसमें भी समर्थ होता कि मैं अपने को चाहे जो भी स्वरूप दूं और चाहे जितनी भी पूर्णता दूं, और तब मैं अपने को अपूर्ण नहीं रहने दे सकता था। किन्तु मैं स्पष्टतः अपूर्ण हूं, अतः मैं अपना सर्जक नहीं हो सकता।[१४] दूसरा तर्क मेरे अस्तित्व की आगन्तुकता से है। जैसाकि स्पिनोज़ा ने डेकार्ट के दर्शन की व्याख्या करते हुए लिखा है : वर्तमान समय में हम विचार रहे हैं, इस तथ्य से यह किसी भी तरह अनुगत नहीं होता कि हम आगे भी विचार करते रहेंगे। हमारी विचार की अवधारणा में उसके अस्तित्व की अनिवार्यता निहित नहीं है। क्योंकि यह मानते हुए भी कि विचार का अस्तित्व नहीं है, मैं उसका स्पष्ट अवधारणा कर सकता हूँ। (यह बात प्रत्येक व्यक्ति, जहां तक वह विचारवान् है, अपने अनुभव से जानता है)। किन्तु क्योंकि किसी कारण के स्वरूप में उसके कार्य की पूर्णता निहित होना आवश्यक है, इससे यह अनुगत होता है कि हममें अथवा हमारे से बाहर कुछ है····जिसमें अस्तित्व अनिवार्यतः निहित है। यह कुछ हमारे विचार के आरम्भ होने और अस्तित्व में बने रहने का आदि कारण है : क्योंकि, यद्यपि हमारा विचार अस्तित्व में आया किन्तु इसका स्वरूप और धर्म इसके अनिवार्य

१३, वहीं, पृ. ७२.
१४. डेकार्ट—पृ. सं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अस्तित्व को आपादित नहीं करता जिस प्रकार उस समय नहीं करता था जब यह अभी अस्तित्व में नहीं आया था।[१५]

यहां भिन्न वस्तुओं में भेद करना आवश्यक है, जिन्हें शायद डेकार्ट ने व्यामिश्रित कर दिया है। मनुष्य के आत्म को इसकी अपूर्णता के कारण भी ईश्वर पर निर्भर कहा गया है और इसके अस्तित्व की आगन्तुकता के कारण भी। किन्तु इसमें स्पष्ट भेद नहीं किया गया है। अन्य कारणापेक्षा-सम्बन्धी इन दोनों प्रतिपादकों में कुछ आधारभूत कठिनाइयां हैं। सर्वप्रथम यह द्रष्टव्य है कि विचार की अन्तर्वस्तु के साथ मेरा अभेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि जैसाकि हम आगे देखेंगे, अन्तर्वस्तु आत्म से बाहर है, अनात्म है। इसलिए मैं केवल विचार-क्रिया की आत्म-चेतना हूं। 'क्रिया', 'घटना' और 'अस्तित्व' शब्द 'काल' को पूर्वापेक्षित करते हैं। ऊपर हमने स्पिनोज़ा से जो मनुष्य के आत्म की आगन्तुकता विषयक उद्धरण दिया है उससे भी स्पष्ट है कि विचार-क्रिया काल में घटित होती है और यह कालापेक्षा ही उसके अस्तित्व की आगन्तुकता है। किन्तु क्या काल विचार-क्रिया का धर्म है और यह विचार-क्रिया आत्म-चेतन होने में अपनी कालिकता के सम्बन्ध में भी चेतन होती है? इस तरह, क्या कालापेक्षिकता की दृष्टि से यह घटना उसी प्रकार की है जिस प्रकार की कोई भी अन्य घटना, जैसे पत्थर गिरने की, है? स्पिनोज़ा की टिप्पणी में कुछ इसी प्रकार का आशय प्रतीत होता है। किन्तु अपनी इस प्रकार की कालिकता का अवधारण तभी सम्भव है यदि चेतन-क्रिया अपने पीछे जा सके और अपना आविर्भाव–तिरोभाव देख सके। किन्तु यह डेकार्ट का आशय नहीं हो सकता, क्योंकि डेकार्ट की चैतन्य-क्रिया अपना विषयकरण नहीं कर सकती, दूसरे शब्दों में, वह अपना अतिक्रमण नहीं कर सकती। डेकार्टीय चैतन्य-क्रिया काल को बर्गसोनीय "ड्यूरेशन" के रूप में, अपनी प्रवहमानता के रूप में, अनुभव कर सकती है। किन्तु अपनी प्रवहमानता का अनुभव अपने अस्तित्व की आगन्तुकता का अनुभव नहीं है। अपनी आगन्तुकता का ग्रहण अपने विषयकरण अथवा प्रत्ययीकरण द्वारा सम्भव है, किन्तु तब यह पूरी तरह डेकार्टीय नहीं है।

किन्तु मेरी ईश्वर पर निर्भरता सिद्ध करने के लिए उनका मेरी अपूर्णता और ईश्वर की पूर्णता पर आधारित तर्क इस बात की ओर संकेत करता है कि मैं विचार-क्रिया ही नहीं विचार की अंतर्वस्तु भी हूं। क्योंकि मेरी अपूर्णता मेरे विचार की अन्तर्वस्तु की अपूर्णता है और ईश्वर की पूर्णता विचार की अन्तर्वस्तु की विपुलता है। यह डेकार्ट के ईश्वर के अस्तित्वविषयक तर्क से पूरी तरह स्पष्ट है। इस प्रसंग में वे एक पूर्वकल्पना का भी सहारा लेते हैं और वह यह कि कार्य कारण से अधिक विपुल नहीं हो सकता। इस पूर्वकल्पना को स्वीकार कर लेने

१५. स्पिनोज़ा–दि प्रिंसिपल्स आफ डेकार्ट्स फिलासफी, पृ. ३०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पर डेकार्ट तर्क करते हैं कि मेरे में पूर्णता का प्रत्यय है, किन्तु मैं अपूर्ण हूं, इसलिए मैं इस प्रत्यय के होने का कारण नहीं हो सकता। तब कहा जा सकता है कि इसका कोई कारण हो ही, यह कैसे आवश्यक है, जिस प्रकार वस्तु-विश्व का प्रत्यय होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वस्तु-विश्व भी हो। इसका समाधान वे करते हैं कि क्योंकि यह प्रत्यय है, और क्योंकि इसका कारण होना आवश्यक है, और क्योंकि मैं अपने से विपुलतर कार्य का कारण नहीं हो सकता, इसलिए ईश्वर है। किन्तु तब मैं ईश्वर का, जोकि मेरे से विपुलतर है, अवधारण कैसे कर सकता हूं ? वे कहते हैं कि, मैं अपूर्ण हूं इसलिए मैं पूर्णता का अवधारण (कंप्रीहेंड) नहीं कर सकता, किन्तु तब भी मैं इसका स्पष्ट और विविक्त प्रत्ययन कर सकता हूं। वह कैसे ? इसका वे उत्तर देते हैं कि "अन्यथा मैं यह कैसे जान सकता हूं कि मैं सन्देह करता हूं और इच्छा करता हूँ ? अर्थात् कि मेरे में कोई न्यूनता है और मैं पूर्ण नहीं हूं ? यह मैं केवल अपने से अधिक पूर्ण के प्रत्यय के द्वारा ही जान सकता हूँ, जिसके साथ तुलना के द्वारा मैं अपनी अपूर्णता को जानता हूं।"[१६] किन्तु इसका अर्थ है कि मेरा पूर्णता का प्रत्यय मेरे अपूर्णता के प्रत्यय का सापेक्ष है, चाहे यह सापेक्षता निगमनात्मक प्रातिभ (डिडक्टिव इन्ट्यूशन) के रूप में ही क्यों न हो। किन्तु जिल्सों इसे " मैं विचारता हूं इसलिए मैं हूं" के बराबर रखते हैं। उनके अनुसार "क्योंकि सन्देह–क्रिया ही पूर्णता के प्रत्यय को आपादित करती है इसलिए हम जितना उचित रूप से यह कह सकते हैं कि "मैं सन्देह करता हूं, इसलिए मैं हूं" उतना ही उचित रूप से यह कह सकते हैं कि "मैं सन्देह करता हूं, इसलिए ईश्वर है।"[१७] किन्तु संभवतः यह उचित नहीं है, क्योंकि "मैं हूं" कथन (अफर्मेशन) "मैं विचारता हूं" से आपादित नहीं होता, यह कथन विचार-क्रिया का अपने साथ यौगपद्य घटित करना है,[१८] अथवा कहें, यह आत्म का अपनी ओर लौटना है (अटेंटिवली टर्निंग इन अपोन इटसेल्फ)।[१९] इसके विपरीत ईश्वर मेरे विचार की अन्तर्वस्तु की अपूर्णता से आक्षिप्त है। यद्यपि यह सही है कि यह आक्षेपन उतना ही युक्त है जितना गणित का और इसकी सत्यता उससे भी अधिक प्रामाणिक है जितनी गणित की, क्योंकि गणित की सत्यता इस बात पर निर्भर करती है कि मेरे विचारों का नियामक मायावी नहीं, ईश्वर है। किन्तु तब भी "मैं सन्देह करता हूं" और "ईश्वर है" के बीच अव्यवहितत्व का सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यदि अपनी

---

१६. डेकार्ट, पृ. २०५.

१७. जिल्सों-दि यूनिटी आफ फिलासफीकल एक्सपीरीएंस, पृ. १८१.

१८. 'यौगपद्य' के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए द्रष्टव्य हमारा लेख "प्रत्यक् और पराक्", दार्शनिक, १९७२ तथा यशदेव शल्य, **विषय और आत्म**, अ. ६.

१९. डेकार्ट, पृ. २९९ तथा २३२.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अपूर्णता का ग्रहण सन्देह-क्रिया में स्वरूपगत भी हो, जो हो नहीं सकता क्योंकि इसका कोई अर्थ नहीं है, तो भी पूर्णता का ग्रहण उसके अन्तर्गत नहीं हो सकता। इसे दो भिन्न प्रकार के उदाहरणों द्वारा देखा जा सकता है : कृतिकार अपनी कृति से सन्तुष्ट नहीं है, वह उसमें निरन्तर सुधार करता है। इसका अर्थ है कि उसे उस कृति की अपूर्णता का बोध है। यह बोध इस कृति के पूर्णत: निर्दोष रूप का आक्षेप करता है।[२०] किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कृतिकार को पूर्णता का भी अव्यवहित बोध हैं। निगमन के दूसरे प्रकार के उदाहरण के रूप में यह प्रतिज्ञप्ति लें "सब ज्ञात संख्याएं सीमित हैं और हम इनकी सीमितता के सम्बन्ध में निश्चित हैं, किन्तु इससे हम "सबसे बड़ी संख्या" का ग्रहण उसी के अंतर्गत नहीं कर सकते। इनमें प्रथम उदाहरण को डेकार्ट स्वीकार नहीं करेंगे किन्तु दूसरा उदाहरण उनके ईश्वर की असीमता के प्रतिपादन के पूरी तरह अनुरूप है, क्योंकि सब ज्ञात संख्याएं अपूर्ण हैं किन्तु "सबसे बड़ी संख्या" संभाव्य पूर्णतारूप नहीं है, क्योंकि ज्ञात अथवा ज्ञेय सब संख्याएं अपूर्ण हैं इसलिए "सबसे बड़ी संख्या" इनके क्षेत्र से बाहर और अतएव वास्तव होनी चाहिए। यहां आपत्ति की जा सकती है कि ज्ञात-ज्ञेय संख्याओं की अपूर्णता पूर्ण संख्या के होने को सिद्ध नहीं करती। किन्तु तब मेरी अपूर्णता भी ईश्वर की सत्ता को सिद्ध नहीं करेगी। वास्तव में एक प्रकार से डेकार्ट स्वयं भी यह स्वीकार करते प्रतीत होते हैं जब वे कहते हैं कि हम असीम का अवधारण (कंप्रीहेंड) नहीं कर सकते केवल प्रत्ययन (एप्रीहेंड) कर सकते हैं। इतना ही नहीं, वे यह भी कहते हैं कि मैं पूर्णता की ओर किसी भी सीमा तक बढ़ सकता हूँ, किन्तु पूर्ण नहीं हो सकता। इस प्रकार, यदि यह सही भी हो कि मेरी अपूर्णता का ग्रहण अव्यवहित होता है, तो भी इससे यह आपादित नहीं होता कि मेरे द्वारा पूर्णता का ग्रहण भी उसी प्रकार होता है। दूसरे, क्रिया के रूप में "मैं सन्देह करता हू" "मैं हू" को अपने में समाहित करता है और यह समाहितता अन्तर्वस्तु के रूप मैं नहीं है, यह क्रिया द्वारा अपने मूल में निर्वर्तित होने में है। यदि "मैं हूँ" अन्तर्वस्तु हो तो इसकी सत्यता उसी प्रकार सन्दिग्ध हो जायगी जिस प्रकार भौतिक विश्व या गणित की।

यहां यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दो भिन्न प्रकार की युक्तियों का प्रयोग किया है। एक युक्ति के अनुसार, जिसकी ओर जिल्सों के उपर्युक्त उद्धरण में संकेत है, एक ही मूल क्रिया युगपद् रूप से मुझे और ईश्वर को उद्घाटित करती है और दूसरी ईश्वर को एक प्रत्यय (अन्तर्वस्तु) के कारण के रूप में सिद्ध करती है। प्रथम युक्ति की कठिनाइयों की ओर हमने ऊपर संकेत किया है, किन्तु उस युक्ति का वास्तव आशय क्या है, यह हम आगे देखेंगे।

---

२०. इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य श्री यशदेव शल्य-संस्कृति: **मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या,** अध्याय २ तथा ८, तथा हमारा पूर्वोद्धृत लेख.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जहां तक उसके प्रत्ययात्मक स्वरूप का प्रश्न है, उसका अस्तित्व तर्कतः अनिवार्य है, आत्म-अन्यवहित नहीं—उसका अस्तित्व है क्योंकि उसका एक-साथ कथन वदतोव्याघात होगा। किन्तु तब ईश्वर की पूर्णता और अस्तित्वयुक्तता तर्क की सत्यता को पूर्वकल्पित करते हैं और यथा-कारण तथा-कार्य की प्राक्कल्पना एक तार्किक व्यवस्थापरक प्राक्कल्पना है। ईश्वर की पूर्णता यह भी पूर्वकल्पित करती है कि मेरे स्पष्ट और विविक्त प्रत्यय सत्य हों, नहीं तो ईश्वर श्रेयोमय और अतएव पूर्ण नहीं होगा। इस प्रकार डेकार्ट ने एक प्रकार से सत्य को ईश्वर से भी ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया है। क्योंकि सर्वप्रथम, यदि मेरे स्पष्ट और विविक्त प्रत्यय सत्य नहीं हों तो ईश्वर नहीं होगा, दूसरे, और उससे भी अधिक, पूर्णात्मक प्रत्ययों के कारण के रूप में स्वयं ईश्वर का अस्तित्व निश्चित नहीं रहेगा।[२१] इस प्रकार ईश्वर का अस्तित्व स्पष्ट और विविक्त प्रत्ययों की सत्यता के संधारक के रूप में आवश्यक होने के बजाय स्वयं इन प्रत्ययों की सत्यता की पूर्वकल्पना पर आधारित हो जाता है।

किन्तु स्पष्टतः डेकार्ट को यह अभिप्रेत नहीं था। उनके लिए ईश्वर का प्रत्यय आदिम प्रत्यय है। यहां हमें समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि कैसे। डेकार्ट के अनुसार, पूर्णता का प्रत्यय स्पष्ट और विविक्त प्रत्यय है और परिणामतः उसकी तथ्यता प्रदत्त है, जिस प्रकार अन्य सब स्पष्ट और विविक्त प्रत्ययों की है। किन्तु क्योंकि इस प्रत्यय की अन्तर्वस्तु पूर्ण है इसलिए इसका अस्तित्व भी निश्चित है, क्योंकि पूर्ण का अस्तित्व रहित होना वदतोव्याघात है। 'वदतोव्याघात' से यहां 'तार्किक वदतोव्याघात' अभिप्रेत नहीं है, यह पद यहां केवल उपमात्मक रूप से प्रयुक्त है। पूर्णता में अस्तित्व उसी प्रकार है जिस प्रकार मेज़ में एक दैशिक आकार का प्रत्यक्ष है। इनमें दूसरा प्रथम से आपादित नहीं है, यह अवधारणात्मक रूप से भी अन्तर्निहित नहीं है, परिणामतः 'ईश्वर का अस्तित्व है' विश्लेषणात्मक (एनेलिटिकल) प्रतिज्ञप्ति भी नहीं है, जिस प्रकार "यह मेज विस्तारवान् है" विश्लेषणात्मक नहीं है। यह प्रत्ययात्मक प्रातिभा (इन्टलेक्चुअल इन्ट्यूशन) है।

---

२१ प्रो. दयाकृष्ण ने अपनी पुस्तक ज्ञान मीमांसा पृ.५६, राजस्थाग हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1973, में इस प्रसंग में आपत्ति की है कि ईश्वर द्वारा असत् संसार का आभास देना उसे अनिवार्यतः अशिव नहीं बनाता, क्योंकि संभव है हमारे लिए यही स्थिति श्रेयस्कर हो। किन्तु यह आपत्ति डेकार्ट की दार्शनिक व्यवस्था के बाहर से है। उदाहरणः ईश्वर की लीलामय के रूप में (वल्लभ) अथवा मायात्मक के रूप में (शांकर वेदांत) कल्पनाएं भी की गई हैं। किन्तु वे डेकार्ट की दर्शन-व्यवस्था में रोपित नहीं की जा सकतीं। डेकार्ट की दर्शन—व्यवस्था मे, और बातों के इलावा, यह कहा जा सकता है कि ईश्वर के कोई प्रयोज नहीं हो सकते, 'प्रयोजन' अभाव का सूचक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ईश्वर-प्रत्यय के सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि यह एक अन्तर्वस्तु होने पर भी अन्य अन्तर्वस्तुओं के समकक्ष नहीं है, क्योंकि इसका न केवल अन्य वस्तुओं से भिन्न अस्तित्व स्वतःसिद्ध है, यह ऐसा सत्त्व भी है जिसकी ओर मेरा आत्म अपना अतिक्रमण करता है—इसकी असीमता मेरी ससीमता के साथ युगपद् रूप से प्रदत्त है। अब, मेरा आत्म प्रत्येक प्रत्ययन (थिंकिंग ए थाट) में अपने को घटित करता है और इस प्रकार यह सब अन्तर्वस्तुओं के साथ घटित होता है। किन्तु वह अपनी अपूर्णता का इन अन्तर्वस्तुओं के द्वारा ग्रहण नहीं कर सकता, इसका ग्रहण वह स्वयं इन क्रियाओं के मूल में प्रतिष्ठित होकर ही कर सकता है। इस तरह, क्रिया को स्वयं अपनी अन्तर्वस्तु भी होना होता है और केवल इस आत्म-अवस्थान में ही वह ईश्वर के सम्मुख प्रस्तुत हो सकता है। स्पष्टतः यह प्रस्तुति बौद्धिक नहीं हो सकती, जैसा कि डेकार्ट के प्रतिपादन से प्रथमतः प्रतीत होता है, वह अस्तित्वात्मक प्रस्तुति है, इसमें आत्म अपने को ऐसे सत्त्व के सम्मुख पाता है जो उत्कर्ष की पराकाष्ठा के रूप में स्थित है, जिस ओर उसका क्षुद्र सत्त्व अपना अतिक्रमण करता है। इस तरह ईश्वर के अस्तित्व विषयक उपर्युक्त दो प्रकार की युक्तियों में सामंजस्य देखा जा सकता है। किन्तु डेकार्ट के प्रतिपादन में ईश्वर का यह रूप नहीं मिलता, उसका सत्त्व केवल प्रत्ययात्मक है, और दो प्रकार की युक्तियों में असामंजस्य का निरास केवल यह है कि दोनों में उसका स्वरूप प्रत्ययात्मक है। इसका अपवाद केवल तीसरी मैडीटेशन का अन्तिम अनुच्छेद है।[२२]

**आत्म और विश्व**

डेकार्ट द्वैतवादी के रूप में प्रसिद्ध हैं, यद्यपि वे आत्म और भूत द्रव्यों के अतिरिक्त ईश्वर को भी एक पृथक् सत्त्व मानते हैं। यह बात अपनेआप से इस बात की द्योतक होनी चाहिए कि आत्म और ईश्वर पृथक् द्रव्य नहीं हैं। किन्तु तब भी ये पृथक् द्रव्य ही हैं, क्योंकि ईश्वर केवल मेरा स्रष्टा ही नहीं विस्तारात्मक द्रव्य का स्रष्टा भी है। और क्योंकि डेकार्ट के अनुसार कार्य में कारण से अधिक कुछ नहीं हो सकता इसलिए या तो ईश्वर में विस्तार-धर्म भी होना चाहिए, अथवा विस्तार को केवल प्रतीति होना चातिए। किन्तु क्योंकि डेकार्ट विस्तार को सत् मानते हैं इसलिए ईश्वर में विस्तार-धर्म को मानना भी उनके लिए आवश्यक हो जायगा। किन्तु किसी में विचार-धर्म और विस्तार-धर्म दोनों एक-साथ किस प्रकार रह सकते हैं, डेकार्ट ने इस पर विचार नहीं किया, न संभवतः किसी अन्य ने ही यह प्रश्न उठाया है। किन्तु डेकार्ट ईश्वर को विस्तारवान् द्रव्य का स्रष्टा मानते हैं और इसी आधार पर वे हमार विस्तार विषयक प्रत्ययों को सत्य मानते हैं, यह छठे ध्यान के आरम्भ में उनके प्रतिपादन से स्पष्ट देखा जा सकता है। उनके शब्दों में, "निस्सन्देह, ईश्वर

---

२२. डेकार्ट, पृ. २११.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



में वह सब सर्जित करने की शक्ति है जिसका मैं विविक्त रूप से अवधारण कर सकता हूँ।"[२३] यहां 'शक्ति' शब्द के प्रयोग से किसी को भ्रम नहीं होना चाहिए, क्योंकि पूर्ण में कुछ संभावनात्मक रूप से नहीं रह सकता, उसमें सब घटित—वास्तव-रूप में ही रह सकता है। अब, यदि यह स्वीकार किया जाय तब इससे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण निष्पत्ति यह निकलती है कि विचार विस्तारवान् का भी धारक हो सकता है। वास्तव में डेकार्ट ने यह तो स्वीकार किया है कि विस्तार का स्पष्ट और विविक्त प्रत्यय होता है समस्या केवल उसके सत्य होने की है। उसके सत्य होने के लिए विस्तारवान् द्रव्य का अस्तित्व होना आवश्यक है। किन्तु तब वही समस्या ईश्वर के लिए भी होगी, यदि वह स्वयं विस्तारवान् भी नहीं है तो। वास्तव में, यदि विस्तारवान् द्रव्य है और यदि ईश्वर पूर्ण है, तो उसके लिए यह अनिवार्य होगा कि वह विस्तारवान् भी हो। किन्तु यदि ईश्वर विचारवान् और विस्तारवान् दोनों है तब विचारवान् और विस्तारवान् द्रव्यों की उससे पृथक् आवश्यकता नहीं है, वह एक अकेला ही पर्याप्त है। यदि यह माना जाय तो एक प्रकार से डेकार्ट वही कह रहे थे जो बाद में स्पिनोज़ा ने कहा।

सीमित चेतना के पक्ष से देखने पर भी विश्व की स्थिति कम अनिश्चित नहीं है। सर्वप्रथम, विश्व का निरास किया जा सकता है और यह न तो ईश्वर के समान अपनी आंतर संरचना के द्वारा पुनः स्थापित किया जा सकता है और न यह आत्म के समान सहज बोधगम्य है, इसकी पुनःस्थापना डेकार्ट ने परोक्ष रूप से की है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट में पहले सब चीज़ का आत्म के अव्यवहित आन्तर बोध में अन्तर्भाव होना चाहिए और तब वह एक निगमनात्मक प्रक्रिया द्वारा स्थापनीय होना चाहिए। यह हम ईश्वर के सन्दर्भ में देख चुके हैं, यद्यपि ईश्वर का विपुलतर अर्थ इस सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। भौतिक द्रव्य सबसे पहले प्रत्यय की अन्तर्वस्तु के रूप में अव्यवहित प्रातिभ का विषय बनता है और तब ईश्वर की पूर्णता के द्वारा अपनी स्वतंत्र सत्ता में प्रतिष्ठापित होता है। अब, यहां यह देखना महत्वपूर्ण है कि डेकार्ट के अनुसार किसी वस्तु के सत् होने के लिए उसका स्पष्ट और विविक्त रूप से प्रत्येय होना आवश्यक है। ईश्वर भी इस व्यवस्था का उल्लंघन नहीं कर सकता।[२४] संवेद्य स्पष्ट और विविक्त रूप से ग्राह्य नहीं है इसलिए केवल शुद्ध असंवेध विस्तार ही सत् है, क्योंकि वह स्पष्ट और विविक्त रूप से ग्राह्य है। इसे डेकार्ट ने मोम के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है—मोम अनेक रूप और आकार ग्रहण कर सकती है, इसलिए कोई रूप और आकार मोम का रूप और आकार नहीं है, शुद्ध प्रत्येय धर्म-विस्तार ही उसका स्वरूप है। यदि यह सही है तो विस्तार-

---

२३. डेकार्ट, पृ. २३०.

२४. डेकार्ट. २३०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्रत्यय के होने के लिए भौतिक द्रव्य का होना आवश्यक नहीं है, किन्तु भौतिक द्रव्य के होने के लिए विस्तार-प्रत्यय का होना आवश्यक है। इस प्रकार, आत्म के लिए शरीर तथा विश्व चैतन्य की शरीर-वृत्ति तथा विश्व-वृत्ति ही हैं। किन्तु डेकार्ट शरीर तथा विश्व को वृत्तियों में निश्शेष नहीं मानते, उनके लिए इनका पराक् सत्त्व (ट्रांसेंडेंट बींग) भी है जो अनुभव का, आत्म द्वारा ग्रहण का, अतिक्रमण करता है। आत्म इसकी ओर कल्पना और संवेद के माध्यम से अतिक्रमण करता है। हेनरी गौहीर के शब्दों में "यह कहना ठीक नहीं है कि डेकार्ट ने आत्म को एक ओर रखा और शरीर को दूसरी ओर, बल्कि उसके लिए एक ओर शरीर की चेतना से युक्त मन है और दूसरी ओर शरीर का वह सत् है जो अपने सम्बन्ध में अवगति का अतिक्रमण करता है। यह पार्थक्य वास्तव में केवल उस व्यापकतर पार्थक्य का अंग है जो भौतिक विश्व के अनुभव से संयुत आत्म के तथा मेरे अनुभव का अतिक्रमण करने वाले विश्व के बीच है।"[२५]

यहां डेकार्ट में आत्म और विश्व के सम्बन्ध को लेकर दो विरोधी अभिवृत्तियों का तनाव देखा जा सकता है : जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, डेकार्ट का आत्म आत्मावस्थित होकर आन्तर बोध के माध्यम से विश्व को जानता है। उसके लिए ज्ञान का केवल एक मार्ग है—आत्मस्थ होकर प्रत्ययों का स्फुट ग्रहण। किन्तु दूसरी ओर डेकार्ट यह भी कहते हैं कि "कल्पना करते हुए यह वस्तुपिंड की ओर उन्मुख होता है और इसमें अपने में निर्मित प्रत्यय के अनुरूप वस्तु का अव्यहित ग्रहण करता है अथवा इन्द्रियों द्वारा संवेदन किये गए प्रदत्तों का ग्रहण करता है। अब, यदि वस्तुपिंड का अस्तित्व हो तो मैं सहज रूप से समझ सकता हूँ कि कल्पना (इमेजीनेश) इस प्रकार व्यापार कर सकती है।"[२६] छठे ध्यान में चेतना की इस भौतिक पिंडोन्मुखता का विवेचन होने पर भी यह कहना उपयुक्त होगा कि डेकार्ट सब ज्ञान का अधिष्ठान आत्म को ही मानते हैं : "डेकार्ट में जबकि आत्म आत्मावस्थित है और आत्म का आन्तर बोध विश्व के ज्ञान का आधार है...."[२७] इसी प्रकार जिल्सों के शब्दों में "डेकार्ट की दर्शन की अवधारणा यह थी : "एक मूल प्रातिभग्रहण (एन इनिश्यल इन्ट्यूशन), तब निगमन-प्रक्रिया द्वारा इस प्रथम प्रातिभ से अनुगत होते हुए अन्य प्रातिभ; और तब अन्त में मन द्वारा (निगमन के) इन अनुगामी चरणों का

---

२५. जेम्स एस. एडी—डेकार्ट एंड दि एंबोडीमेंट आफ कांश्यसनेस (लेख) **कार्टेशियन एस्सेज**, सप्मा—बर्नार्ड मेग्नस तथा बी. विल्बर, मार्टिनस निझोफ, दि हेग, १९६९ में संकलित, यहां श्री यशदेव शल्य द्वारा प्रस्तुत सारांश से उद्धृत, द्र० दर्शन समीक्षा, वर्ष २, अंक २, पृ. २३६.

२६. डेकार्ट, पृ. २३२.

२७ एडी, वहीं पृ. २३७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इस प्रथम प्रातिभ में पुन: समाहार करने के मार्ग से स्वयं निगमन के निरास का ही उत्कट प्रयत्न ।"[२८]

किन्तु डेकार्ट ने जबकि सब ज्ञान का अन्तर्भाव आत्म में कर दिया, सत्त्व की दृष्टि से वे सबका समाहार आत्म में नहीं कर सके । वे यह बात ईश्वर की सामर्थ्य में मानते हैं कि वह मुझे भौतिक पिंड-परक प्रत्ययों का बिना भौतिक पिंडों की सत्ता के भी सीधे सम्प्रेषण कर सके । अथवा, मैं स्वयं भी इन प्रत्ययों का सर्जन कर सकता हूं, किन्तु तब भी वे भौतिक वस्तुओं की, अथवा कहें प्रकृति की, सत्ता मानते हैं । यह सत्ता प्रत्ययों से पूर्णत: स्वतंत्र है, इसका न अवगमन संभव है और न संप्रेषण, यह पूर्णतः असंप्रत्ययात्मक और अतिक्रामी है, यद्यपि यह पूरी तरह प्रत्ययों के अनुरूप है ।

जैसाकि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, डेकार्ट में अद्वैतवादी और द्वैतवादी प्रवृत्तियों के बीच खींचातानी है । डेकार्ट जबकि उद्घोषित रूप से द्वैतवादी हैं, उनका यह द्वैतवाद एक आरोपित, बाहर से जोड़ा गया, प्रतीत होता है, क्योंकि भौतिक सत्ता को डेकार्ट ने दो प्राक्कल्पनाओं द्वारा प्रतिष्ठित किया है, एक प्राक्कल्पना प्रत्ययों की सत्यता के लिए तदनुरूप वस्तु का होना है और दूसरी ईश्वर की शिवमयता के लिए प्रत्ययों का सत्य होना है । ये दोनों प्राक्कल्पनाएं उनकी दर्शन-व्यवस्था में अंतरंग नहीं कही जा सकतीं । जैसा कि हमने पीछे देखा, ईश्वर की शिवमयता उसकी पूर्णता से निगमित होती है, किन्तु हमारे प्रत्ययों की सत्यता के लिए वस्तुओं की सत्ता-विषयक प्राक्कल्पना उससे आपादित नहीं होती । उदाहरणत: प्रत्ययवादी भौतिक वस्तुओं की सत्ता स्वीकार नहीं करते किन्तु तब भी वे प्रत्ययों को असत्य नहीं मानते । कांट स्वलक्षण प्रकृति की सत्ता स्वीकार करते हुए भी हमारे प्रत्ययों की सत्यता के लिए उसे आवश्यक नहीं मानते । इसी से कांट स्वलक्षण आत्म और स्वलक्षण प्रकृति की सत्ताओं को स्वीकार करते हुए होने पर भी द्वैतवादी नहीं कहे जाते ।

इस तरह स्पष्ट है कि डेकार्ट की ये प्राक्कल्पनाएं किसी तार्कित व्यवस्था में अनुस्यूत नहीं हैं, उनकी तार्कित व्यवस्था आत्म में निवर्तन के साथ पूर्ण हो जाती है । सर्वग्रासी सन्देह से निरस्त विश्व को किसी और मार्ग से प्रतिष्ठा देना उसके लिए आवश्यक नहीं था । वह (विश्व) शांकर दर्शन के समान यहां भी निरस्त रह सकता था, अथवा ब्रैड्ले-दर्शन के समान प्रातिभासिक रह सकता था । किन्तु डेकार्ट ने विश्व की विद्यमानता की समस्या को अधिक गंभीरता से लिया । वे विषय को प्रत्यय में अन्तर्भूत नहीं कर सके । उनके अनुसार, विश्व मेरी इच्छाओं का अनुसरण नहीं करता; दूसरे, उसके अन्य लक्षण, जैसे विस्तार, आत्म के लक्षणों में अन्तर्भूत नहीं हो सकते । यहां तक कि, इन विषयों की ग्राहिका इन्द्रियां और मनस् (कल्प-

२८. जिल्सों, पूर्ववत्, पृ. १८१.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नाएं, वासनाएं आदि) भी आत्म के अन्तर्गत नहीं हैं, ये भी प्रकृति के अंग हैं। विषय से इनका वैशिष्ट्य इस बात में है कि ये आत्म के लिए विषय की ज्ञापक हैं। इतना ही नहीं, विषय आत्म से स्वरूपतः बहिष्कृत है—वह विस्तार-स्वरूप है जबकि आत्म विचार-स्वरूप। विचार विस्तार का ग्रहण नहीं कर सकता, वह केवल अपना ही ग्रहण कर सकता है। प्रश्न किया जा सकता है कि तब गणित और तर्क का क्या होगा ? ये आत्म-लक्षण हैं या भूत-लक्षण ? डेकार्ट में इसका उत्तर सहज नहीं है, क्योंकि शुद्ध संख्याएं और उनके परस्पर सम्बन्ध, डेकार्ट के अनुसार, विस्तारात्मक नहीं हैं, वे स्पष्ट और विविक्त प्रत्यय हैं। किन्तु उनके सम्बन्ध में हमें भ्रम हो सकता है इसलिए वे आत्म के अन्तर्गत भी नहीं हो सकते। स्टेन्ले रोज़न के अनुसार, "डेकार्ट में विचार (थिंकिंग) को प्रायः विविक्त और स्वतःस्पष्ट प्रातिभ (इन्ट्यूशन) के रूप में, अथवा अचल एवं शाश्वत के अव्यवहित प्रत्यक्ष के रूप में, परिभाषित किया गया है। अब प्रश्न है कि ये प्रत्यय मानव–निर्मित व्यवस्था को प्रकट करते हैं या कि स्वतंत्र व्यवस्था को ? प्रत्यय को डेकार्ट इस प्रकार परिभाषित करते हैं: "प्रत्यय किसी भी विचार (थाट) का वह आकार (फोर्म) होता है जिसके अव्यवहित प्रत्यक्ष के द्वारा हम उस विचार का चेतन रूप से ग्रहण करते हैं। 'किसी विचार" से डेकार्ट का अभिप्राय संवेद, कल्पना, शुद्ध बोध-विषय (इन्टेलिजिबल्स) तथा संकल्प की अन्तर्वस्तु से है। दूसरे शब्दों में, प्रत्यय सब प्रकार की मनस्क्रियाओं की अन्तर्वस्तु है। यह डेकार्ट की संख्या की अवधारणा से भी देखा जा सकता है। उनके अनुसार, संख्या ऐसी सामान्य अवधारणा है जो मानसिक अथवा भौतिक किसी भी विषय को लागू की जा सकती है। अब यद्यपि इस सार्वभौमिक गणित के विषय अनिर्धारित (इंडिटर्मिनेट) होते हैं किन्तु यह गणित क्रम मान, अभिवृत्ति (डिस्पोज़ीशन) तथा अनुपात को ऐसे एकक के द्वारा निर्धारित करता है जो मन के द्वारा अपने विषयों से विशिष्ट कर पृथक् ग्रहण किया जाता है। इसे डेकार्ट "शुद्ध तथा सरल विषय" कहते हैं।.........**रेगुली** में किये गए प्रतिपादन के अनुसार, कल्पना में विस्तारात्मक मुद्राओं अथवा आकृतियों की प्रतिकृतियां उत्पन्न होती हैं और इस "चित्र" से संख्या का प्रतीकात्मक प्रत्यय विश्लिष्ट किया जाता है।"[२९] यहां दो बातें देखने की हैं—(१) संख्याएं "प्रतीक" और "शुद्ध तथा सरल विषय" हैं, किन्तु तब भी ये भौतिक विषय अथवा उनके कल्पना-चित्र नहीं हैं, ये प्रत्यय हैं। इनका भौतिक **वस्तुओं सम्बन्धी प्रत्यय** होना छठे ध्यान के आरंभ में भी प्रतिपादित किया गया है।[३०] (२) दूसरी बात है प्रत्यय का विचार की अन्तर्वस्तु के रूप में गम्य होना और इस अन्तर्वस्तु के द्वारा विचार का ग्रहण होना।

---

२९. स्टेन्ले रोज़न, ए सेंट्रल एंबिग्विटी इन डेकार्ट्स फिलासफी, द्रष्टव्य यशदेव शल्य-डेकार्ट, दर्शन समीक्षा, वर्ष २, अंक २, पृ. २२२–२३.

३०. डेकार्ट २३८ भी द्रष्टव्य.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


यहां विचार और अन्तर्वस्तु का भेद स्पष्ट है। स्पिनोजा ने इन्हें इस प्रकार परिभाषित किया है : "विचार (कोजीटेश्यो) पद के भीतर मैं उन सब मानसिक स्थितियों का समावेश करता हूं जिनके सम्बन्ध में हम अव्यवहित रूप से चेतन होते हैं।" "प्रत्यय ( आइडिया ) से मेरा अर्थ विचार के ऐसे किसी भी आकार से है जिसके सम्बन्ध में हम अव्यवहित प्रत्यक्ष के माध्यम से चेतन होते हैं।"[30] डेकार्ट ने 'आइडिया' शब्द का प्रयोग 'विचार की अन्तर्वस्तु' के अर्थ में ही किया हैं और उसी के अनुसार स्पिनोज़ा ने उसे परिभाषित किया है। अब, विचार जबकि असन्दिग्ध है, अन्तर्वस्तु असन्दिग्ध नहीं है। किन्तु यदि यह सन्दिग्ध है तब यह आत्म से बहिष्कार्य हो जाती है और तब यह नहीं कहा जा सकता कि विचार के आत्म-अवगमन के लिए प्रत्यय अनिवार्य है, क्योंकि यह कहें तो आत्म अनात्म पर, आगन्तुक पर, आश्रित हो जायगा। दूसरे, अनात्म की दो कोटियां हो जांयगी—एक प्रत्ययात्मक और दूसरी विस्तारात्मक। यद्यपि तब भी डेकार्ट का आत्म न तो फिनोमिनलॉजी दार्शनिकों के समान रचनात्मक पराक् ( कांस्टीट्यूटिव ट्रांसेंडेंटल ) होगा और न कांट के समान असंपृक्त पराक् (ट्रांसेंडेंट) अथवा अनुभव विषय, क्योंकि डेकार्ट के दर्शन में यह अपने अतिक्रामी मूल में प्रत्यक् है। किन्तु तब इसे प्रत्यय ( आइडिया ) के माध्यम से अपने को प्राप्त करने वाला नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर प्रत्यय की स्थिति का 'स्पष्टीकरण' भी आवश्यक होगा। डेकार्ट और रोज़न से ऊपर दिये गये उद्धरणों के अनुसार, प्रत्यय और विषय परस्पर सम्बन्धित हैं—किसी विषय की सत्ता नहीं हो सकती जब तक वह स्पष्ट और विविक्त रूप से प्रत्येय नहीं हो। सर्वशक्तिमान् ईश्वर भी इस नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता। और दूसरी ओर, विचार में उसी का बौद्धिक ( प्रत्यय ) रूप से ग्रहण होता है जिसका कल्पना में मूर्त रूप से, और जो देश में भौतिक रूप से अवस्थित है। किन्तु तब विचार और कल्पना में भेद केवल करणों का होगा, मौलिक नहीं, और इस प्रकार डेकार्ट का दर्शन मन और भूत का दर्पण-बिम्बपरक सम्बन्ध है; यह अन्तर्वस्तु-विहीन, रिक्त चेतना का अस्तित्व-विधान मात्र रह जाता है, क्योंकि अन्तर्वस्तु विषय और अतएव अनात्म है जो इसको आपूरित नहीं कर सकता।

इस तरह डेकार्ट के दर्शन को इस प्रकार समझने में अनेक कठिनाइयां हैं। यद्यपि इसकी उपर्युक्त व्याख्या उचित प्रतीत होती है किन्तु डेकार्ट को यह व्याख्या स्वीकार्य नहीं होगी। इस व्याख्या के विरुद्ध डेकार्ट का स्पष्टीकरण होगा कि उसने आत्म का स्वरूप चैतन्य नहीं विचार स्वीकार किया है और यह विचार चेतना और अन्तर्वस्तु में विभाज्य नहीं है, यह अविभाज्य विचार-क्रिया है, इसमें क्रिया और अन्तर्वस्तु का भेद नहीं है, यह प्रत्यय का प्रत्ययन ही है जो अपने को इस घटना में पुनः प्राप्त करता है। 'पुनः' शब्द यहां आत्म द्वारा अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


को इस क्रिया में पाने का–अपना अवगमन करने का–द्योतक है। अर्थात् आत्म विचार में केवल 'है" नहीं बल्कि "आत्म-अवगमन-पूर्वक है।" किन्तु प्रश्न किया जा सकता है कि क्या आत्म इस अवगमन में अपने को विषयकृत नहीं करता ? यह विषय चाहे कांट-दर्शन के समान "आनुभाविक" नहीं भी हो, हुस्सर्ल के समान "अर्थित" (मैंट) ही चाहे हो। किन्तु डेकार्ट को यह भी स्वीकार्य नहीं होगा, क्योंकि उस अवस्था में उसका प्रत्ययों की सत्यता के लिए भौतिक द्रव्य की सत्ता प्रतिपादित करना अस्थाने होगा। इस प्रकार डेकार्ट का आत्म–अवगमन आत्म का निर्विषय अवगमन है।

किन्तु उपर्युक्त व्याख्या डेकार्ट के अभिप्राय के निकटतम होने पर भी उससे पूर्णतः समंजस नहीं है, क्योंकि आत्म-अवगमन प्रत्यय-अवगमन का सहगामी है : मैं जानता हूं कि २+२=४ होता है, इसी प्रकार त्रिकोण के दो समकोणों के बराबर होने के प्रत्यय को जानता हूं जिसमें कि मैं भ्रान्त हो सकता हूं—यदि मेरा सर्जक मायावी है तो, और इस प्रत्यय-अवगमन में अपने को घटित और उपलब्ध करता हूं। यह डेकार्ट द्वारा मोम के स्वरूप के प्रत्ययात्मक प्रातिभ की व्याख्या से स्पष्ट देखा जा सकता है। इस प्रकार डेकार्ट का आत्म अनात्मगर्भ है और अपने अवगमन में उस पर निर्भर है। डेकार्ट की इस व्याख्या के साथ उनका यह प्रतिपादन और मिला दें कि 'जो स्पष्ट और विविक्त रूप से प्रत्येय नहीं है उसका अस्तित्व नहीं हो सकता' तो डेकार्ट एक प्रत्ययवादी के रूप में दिखाई देंगे। किन्तु उनके सिद्धान्त के दो अन्य पक्ष–आत्म का अनात्म के निरास के माध्यम से आत्म-अवगमन अथवा आत्मयौगपद्य की प्राप्ति तथा प्रत्ययों की सत्यता के लिए उनका वस्तु से आनुरूप्य आवश्यक होना, उसे एक ओर रहस्यवाद के निकट ला देता है और दूसरी ओर वस्तुवाद के। इसके अतिरिक्त, उसके ईश्वर के द्वारा सृष्ट होने और उसके सम्मुख प्रस्तुति का तथ्य भी है जो उसके सिद्धान्त में रहस्यवाद के तत्वों को प्रकट करता है।

**प्रत्यक् और पराक्**

जैसाकि हमने पीछे देखा, डेकार्ट के दर्शन में केवल आत्म ही प्रत्यक् है। किन्तु तत्त्वतः विश्व और ईश्वर दोनों पराक् हैं। इनकी तात्त्विक पराक्ता इनके आत्म से भिन्न और उससे पूरी तरह असंग तत्त्व होने में है। डेकार्ट में रचनात्मक पराक्ता (ट्रांसेंडेंटलनेस) के लिए कोई स्थान नहीं है। रचनात्मक पराक्ता केवल ऐसे आत्म में ही हो सकती है जो विश्व को अपनी विषयवृत्ति में रचित (कांस्टीट्यूट) करता है और इस विषयवृत्ति का जो भी कुछ फलन है वह विश्व या अनात्म है। इस प्रकार स्वयं आत्म निर्विषय रूप में अतिक्रामी (पराक्) हो जाता है। कहा जा सकता है कि तब ईश्वर भी रचनात्मक पराक् हो सकता है, क्योंकि आत्म और विश्व दोनों को उस

३१. स्पिनोज़ा, उपर्युद्धृत, पृ. २०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(ईश्वर) की विषयवृत्ति के फलन के रूप में देखा जा सकता है। किन्तु ईश्वर की धारणा के साथ यह संगत नहीं है कि वह अतिक्रामी (रचनात्मक पराक्) हो, जिसका अर्थ है कि वह अपने को विषय के माध्यम से जाने और विषय की संभावना के रूप में अनवगम्य रहे। ईश्वर के लिए अनिवार्य है कि वह विषय-वित् होने के साथ आत्मवित् भी हो। इसलिए केवल आत्म ही आत्मातिक्रामी हो सकता है और डेकार्ट का आत्म वह नहीं है। किन्तु यहां विचार्य है कि क्या डेकार्ट की व्यवस्था में विश्व और ईश्वर आत्मा के लिए पराक् हैं? विश्व और ईश्वर की परात्ता रचनात्मकता के अर्थ में अभिप्रेत नहीं है, यह केवल "आत्म के लिए अगम्य" के अर्थ में अभिप्रेत है। डेकार्ट के दर्शन को जिस प्रकार समझा गया है उसके अनुसार विश्व और आत्म दोनों आत्म से स्वतंत्र द्रव्य हैं इसलिए ये आत्मा के लिए पूर्णतः अग्राह्य भी होने चाहिएं। किन्तु क्या डेकार्ट के दर्शन को किसी और तरह भी समझा जा सकता है?

जैसाकि हमने पीछे देखा, डेकार्टीय ईश्वर की सत्ता इस बात से सिद्ध है कि मैं अन्य प्रत्ययों के साथ पूर्णता के प्रत्यय का भी ग्रहण करता हूँ और इस प्रत्यय का स्रोत मैं नहीं हो सकता, केवल पूर्ण ही हो सकता है। इस युक्ति से जितनी ईश्वर की सत्ता सिद्ध है उतनी ही उसकी अवगम्यता भी सिद्ध है। परिणामतः ईश्वर ज्ञानातिक्रामी (पराक्) नहीं है। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि ईश्वर के पृथक् द्रव्य होने से यह नहीं कहा जा सकता कि हमें उसका ज्ञान होता है, ज्ञान हमें केवल प्रत्यय का होता है और उस प्रत्यय के कारण के रूप में हम ईश्वर का अनुमान करते हैं। इसका उत्तर हो सकता है कि 'ज्ञान होने' का अर्थ तद्रूप होना नहीं है— 'मैं कमरे में मेज़ के होने को जानता हूँ' का अर्थ यह नहीं है कि मैं कमरे में मेज़ के होने का तथ्य हूँ, इसका अर्थ है कि यह तथ्य आत्म के अर्थों को भी प्रदत्त होता है। ईश्वर के प्रत्येय होने का यही अर्थ है। किन्तु इस पर आपत्ति हो सकती है कि मैं केवल विचार-स्वरूप हूं और मेरे लिए न केवल विस्तार ही अनात्म है बल्कि उससे सम्बद्ध कल्पना, संवेद आदि भी अनात्म हैं। इसके विपरीत, ईश्वर के पूर्ण होने से यह सब कुछ उसके स्वरूपगत है। क्योंकि यदि ईश्वर में भी यह सब प्रत्यय रूप में ही हो तो कुछ विस्तारात्मक नहीं हो सकता। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि, मैं प्रत्यय-रूप से सब कुछ का, ईश्वर की विपुलता का भी, ग्रहण करता हूं, इस प्रकार ईश्वर मेरे लिए ज्ञेय है, क्योंकि ज्ञान (प्रत्यक्ता) प्रत्ययन में ही है। वह पराक् अपने सत्त्व में है, क्योंकि उसका सत्त्व न केवल इस रूप में ही अधिक है कि उसकी प्रत्ययात्मक अन्तर्वस्तु विपुलतर है बल्कि वह अपने सत्त्व में उसका भी समावेश करता है जो मेरे लिए अनात्म है। इस तरह वह पराक् नहीं परा सत्ता है। वह ज्ञान में मेरा अतिक्रमण नहीं करता, सत्त्व में करता है।

उपर्युक्त विवेचन के बाद यह देखना सहज है कि विश्व–विस्तारात्मक द्रव्यपूर्ण रूप से ज्ञेय है। जहां तक इसके सत्त्व का प्रश्न है, यह मेरी अपेक्षा क्षुद्रतर है, इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यह मेरे सत्त्व का अतिक्रमण नहीं करता, किन्तु तब भी यह मेरे अन्तर्गत नहीं है; यह मेरे सम्मुख, मेरे इच्छा-संकल्प का अतिक्रमण करते हुए, अवस्थित है ।

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# यूनानी प्रत्ययवाद तथा हेंगेल[1]

१. हेगेल का यह दावा है कि उसके अपने विचारतन्त्र में पूर्ववर्ती समस्त दर्शनों का तत्त्व अन्तर्हित, सुरक्षित तथा सन्निविष्ट है। परन्तु दो प्रभाव उस पर ऐसे हैं जो शेष सभी के महत्त्व को कम कर देते हैं। ये प्रभाव यूनानियों का प्रत्ययवाद तथा कांट का आलोचनात्मक दर्शन है। हेगेल के आधारभूत सिद्धान्त यूनानियों तथा कांट के आधारभूत सिद्धान्त हैं। इस तथा अगले अध्याय में हमारा लक्ष्य पूर्ववर्ती विचारकों से इन सिद्धान्तों को अलग निकालना है। हमारा उद्देश्य प्लेटो, एरिस्टोटिल अथवा कांट के दर्शन को स्पष्ट करना नहीं है। हम यह मान कर चलेंगे कि पाठक उनके सिद्धान्तों की मुख्य रूपरेखा से पूर्वपरिचित है। उनके प्रतिपादनों को शब्दशः प्रस्तुत करने के स्थान पर उस तत्व को प्रस्तुत करना ही हमारा लक्ष्य है जो उनमें अन्तर्निहित हैं तथा जिसे हेगेल ने सतह के नीचे छिपे हुए आधार के रूप में पाया। जहां तक सम्भव है हम उस बात को दोहराना नहीं चाहते जो दर्शन के किसी भी उत्कृष्ट इतिहास में सुलभ है। विषयों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की हमारी कोई विशेष अभिरुचि नहीं है। परन्तु आगे यह स्पष्ट हो जायगा कि हेगेल के दर्शन के मूल आधार तथा ऐतिहासिक आधार में कोई अन्तर नहीं है। ऐतिहासिक पाण्डित्य से अथवा प्रोफेसर की कक्षा की सुपरिचित गपशप से हम पाठक को यथासम्भव कम पीड़ित करने का प्रयास करेंगे।

वालेस (Wallace) का कथन है, 'हेगेल का उद्देश्य किसी नवीन अथवा विशिष्ट सिद्धान्त को प्रस्तुत करना नहीं अपितु उस सार्वभौम दर्शन को प्रस्तुत करना था जिसकी धारा एक युग से दूसरे युग में प्रवाहित हुई है, जो कहीं सँकरी तो कहीं विस्तृत होते हुए भी तत्त्वतः वही रही है। प्लेटो तथा एरिस्टोटिल के विचारों के

१. दार्शनिक के इस अंक से हम स्टेस लिखित हेगेल पुस्तक का अनुवाद क्रमशः प्रकाशित करेंगे। इस पुस्तक के अधिकांश भाग का अनुवाद डा० राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपुर ने किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



साथ अपने तादात्म्य से गर्वित वह अपनी अविच्छिन्नता के प्रति सचेत है।'[२] परन्तु यह सार्वभौम दर्शन क्या है? स्पष्टतया यह न तो केवल प्लेटो का दर्शन है और न ही केवल एरिस्टोटिल का। इन व्यक्तियों के विचारतन्त्र एक ही सार्वभौम दर्शन के ऐसे विशिष्ट प्रस्तुतिकरण हैं जिन्होंने उनके हाथों, उस विशिष्ट युग तथा परिस्थिति में जिसमें वे रहे थे, एक विशिष्ट स्वरूप ग्रहण किया। वह सार्वभौम दर्शन उनके विचारों के आन्तरिक तत्त्व के रूप में विद्यमान है। यह वही है जिसे दोनों ने समान रूप से स्वीकार किया तथा जिसे प्रत्येक ने अपनी-अपनी दृष्टि दी। यही मूलभूत तत्व हेगेल का भी तत्त्व है।

२. परन्तु प्लेटो और एरिस्टोटिल के स्थान पर हम अपनी बात ईलिया के विचारकों से आरम्भ करेंगे, क्योंकि यहां भी पारमनिडीज़ तथा जीनो की अविविक्त टोह में अन्तर्हित उसी सार्वभौम दर्शन के महत्वपूर्ण लक्षण प्राप्त होते हैं।

### क: ईलिया दर्शन तथा हेगेल।

जैसाकि सर्वविदित है, ईलिया के विचारकों ने भवति ( बिकमिंग ), अथवा परिवर्तन,तथा बहुत्व की परामर्थता को अस्वीकार किया। उनका कथन था कि एकमात्र परमार्थ **सत्** (बींग) है। [३]वस्तुतः केवल **सत्** ही है। भवति है ही नहीं। यह भ्रम है। इसके अतिरिक्त, **सत् एक** है। केवल **एक** ही है। अनेक का अस्तित्व नहीं है। अनेकता भी भ्रम है। भवति तथा बहुत्व का अवास्तविक जगत् इन्द्रियों का जगत् है। वास्तव में यह साधारण जगत् ही है जिसे सामान्यतः हम अपनी आंखों, अपने कानों और हाथों, अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जानते हैं। **परमार्थ सत्** को केवल बौद्धिक चक्षु द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। वह इन्द्रियों के द्वारा ज्ञेय नहीं। उसे न देखा जा सकता है, न उसका स्पर्श किया जा सकता है और न उसकी अनुभूति ही संभव है। वह न यहां है न वहां, न तब था न अब है। केवल विचार अथवा बुद्धि के द्वारा ही हम उस तक पहुँच सकते हैं। यह सत्य है कि पारमनिडीज़ का यह कथन असंगत था कि **सत्** गोलक के आकार का है तथा स्थान घेरता है। **सत्** की इस धारणा को स्वीकार करना यह मानना है कि वह भौतिक है तथा इन्द्रियों द्वारा दृश्य होना चाहिए, परन्तु यह उन स्थूलताओं में से एक है जिनका आदि चिन्तन में होना स्वाभाविक है। पारमनिडीज़ के लिए **सत्** की एक चित्रात्मक **प्रतिमा** बनाना स्वाभाविक ही था,

---

२. फ़िलॉसोफ़ी ऑव मांइड पृ० ६।
( ) ये कोष्ठक मूल से सम्बद्ध हैं।
[ ] इन कोष्ठकों का प्रयोग स्पष्टीकरण के निमित्त किया गया है।

३. जहां किसी पद को अंग्रेजी में बड़े अक्षर से प्रारम्भ किया गया है वहां हिन्दी में उसके रूपान्तर को तदनुकूल भेद दिखाने के लिए, मोटे अक्षरों में दिया गया है। —अनु०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



और ऐसी सभी प्रतिमाओं को अनिवार्यत: किसी आकृति विशेष में ही ग्रहण किया जा सकता है। फलत: पारमनिडीज़ से यह असंगति हुई। परन्तु इसके विरुद्ध ईलिया के विचारकों का वास्तविक आन्तरिक सिद्धान्त यह विचार था कि सत् का न कोई देश है और न कोई काल और न ही वह इन्द्रियगम्य है।[४]

इससे संवेदन तथा बुद्धि का भेद स्पष्टतया व्यक्त होता है तथा यह कथन कि परमार्थ सत् केवल बुद्धि द्वारा ग्राह्य है, संवेदन द्वारा नहीं, समस्त यूनानी प्रकार के प्रत्ययवाद की विशेषता है। यह उस एक ही सार्वभौम दर्शन का अंग है। यह जितना ईलियावादी है उतना ही हेगेलवादी भी। यह सही है कि सत्य तथा मिथ्या, इन्द्रिय तथा बुद्धि के बीच यह **पूर्ण पार्थक्य** हेगेल द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ। उसकी दृष्टि में इन्द्रियजगत् का भी अपना सत्य है। परन्तु उस सार्वभौम दर्शन का यह हेगेलकृत एक रूपान्तरण है जिसकी चर्चा के लिए हम अभी तैयार नहीं हैं।

३. इन्द्रिय-विषय-विश्व परमार्थ–शून्य है, ईलियावादियों के इस कथन से हम क्या अर्थ लें ? हमारा प्रश्न यह नहीं है कि स्वयं ईलियावादियों ने इससे क्या अर्थ लिया, किन्तु प्रश्न यह है कि हम उससे क्या अर्थ ले सकते हैं ? यह संभव है कि अपने इस आदिम अन्वेषण में ईलियावादी स्वयं उस तत्त्व को बहुत कम समझ पाये जो उनके अस्पष्ट विचारों में निहित था। परन्तु ये अन्तर्हित संभावनाएं, अर्थात् वे विचार जो आवेष्टित, अव्यक्त एवं गुप्त थे तथा जिन्हें कदाचित् स्वयं ईलियावादी नहीं देख पाये, हमारे लिए वास्तव में मूल्यवान् हैं।

बहुत्व एवं गति, तथा वह इन्द्रियजगत् जिसकी वे प्रमुख विशेषताएं हैं, अपरमार्थ हैं। इसका क्या अर्थ है ? क्या इसका अर्थ यह है कि इन्द्रियजगत्, बहुत्व एवं गति, हैं **ही नहीं**, उनका अस्तित्व ही नहीं है ? यदि गति अपरमार्थ है तो क्या उसका यह अर्थ है कि लन्दन से ब्रिसल जाने वाली एक्सप्रेस गाड़ी हिलती ही नहीं, अर्थात् अपनी यात्रा के अन्त में भी वह लन्दन में ही रहती है ? यदि वैविध्य असत् है, यदि सत् निरपेक्षतया एक इकाई है, तो क्या इसका अर्थ यह है कि जब हम यह समझते हैं कि हमारे पास २० सोवरिन[५] हैं तो सत्य यह है कि हमारे पास केवल एक ही सौवरिन होता है ? स्पष्टतया यह अर्थहीन है। इस अर्थ में यह कहना कि इन्द्रिय जगत् का अस्तित्व नहीं है, कोई अर्थ नहीं रखता। किसी समझदार व्यक्ति ने कभी भी इसे अस्वीकार नहीं किया कि वस्तुओं का, इस मेज़ का, उस टोप का अस्तित्व है। बर्कले के विषय में साधारणतया ऐसा समझा जाता है कि

४. अपनी क्रिटिकल हिस्ट्री आव ग्रीक फिलासोफी, पृ० ४६--५२ में मैंने प्रो० बर्नेट के इस मत से कि पारमेनिडीज़ तत्त्वत: जड़वादी था, असहमति रखने के पूरे कारण दिये हैं। उन्हें यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

५. एक अंग्रेज़ी सिक्का। —अनु०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उसने इस अनर्गल मत का प्रतिपादन किया कि जड़ का अस्तित्व नहीं है। डा० जॉनसन ने जब यह सुना तो उन्होंने पत्थर को ठोकर मारकर इसका खण्डन किया। सामान्यतया डा० जॉनसन को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि वे एक ऐसे मूर्ख फिलिस्टिन[६] थे जो दर्शन नहीं समझते थे। परन्तु वास्तविकता यह है कि, यदि बर्कले ने वास्तव में यह पागलपन की बात कही होती जो उसके नाम के साथ जोड़ी जाती है, तो डा० जॉनसन का खण्डन पूर्ण तथा अन्तिम होता। वे मत जो बर्कले ने वास्तव में व्यक्त किये थे और जिन्हें कितनी भी ठोकरें खण्डित नहीं कर सकतीं, वे ये थे : केवल हमारे तथा ईश्वर के लिए, तथा हमारे एवं ईश्वर के मन में ही, जड़ का अस्तित्व है, उसका तत्त्व है उसका प्रत्यक्ष किया जाना, और उसकी दृश्य एवं स्पृश्य प्रतीति के पीछे कोई अज्ञात एवं अज्ञेय मूलाधार नहीं है। भौतिक जगत् का अस्तित्व बिल्कुल नहीं है, अर्थात् वह नहीं है, ऐसा जहां तक मैं जानता हूं, स्वीकार करने का साहस किसी समझदार व्यक्ति ने नहीं किया।[७] स्पष्टतया, भौतिक-जगत् है, जैसा डा० जॉनसन ने प्रमाणित किया। आप चाहें तो उसे स्वप्न, भ्रम अथवा आभास कह सकते हैं। परन्तु फिर भी स्वप्न, भ्रम अथवा आभास विद्यमान तो हैं ही। वे निश्चित रूप में अस्तित्वमान् हैं।

परन्तु यदि ईलिया दर्शन का यह आशय नहीं है कि बहिर्जगत् का अस्तित्व नहीं है, उसका यह अर्थ निश्चय ही है कि बहिर्जगत् वास्तविक सत् नहीं है, वह पारमार्थिक नहीं है। अतः स्पष्टतया इस दर्शन में सत् तथा अस्तित्व का भेद अंर्तहित है। जिस किसी का भी अस्तित्व है, चाहे वे हाथी हों, धूमकेतु हों, वैविध्य हो अथवा गति, सब केवल आभास है। केवल सत् परमार्थ है। परन्तु सत् का अस्तित्व नहीं है। क्योंकि वह न किसी देश में है, न किसी काल में। और जिस किसी का भी अस्तित्व होता है यदि वह किसी स्थान में न भी हो तब भी वह किसी समय में तो होना ही चाहिए। संक्षेप में इन निष्कर्षों को हम दो वाक्यों में रख सकते हैं। **प्रथम, अस्तित्व परमार्थ नहीं है। द्वितीय, जो परमार्थ है उसका अस्तित्व नहीं है।** हमारा मत है कि ये विचार ईलियादर्शन में निहित हैं। स्पष्ट है, इसका यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि ईलिया के विचारक स्वयं इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते अथवा कर सकते थे।

यह निष्कर्ष विरोधोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। अस्तित्व परमार्थ नहीं है, इसकी पुष्टि एक उदाहरण से की जा सकती है। जो कोई भी यह जानता है कि हिन्दुओं के अनुसार अस्तित्वमान् जगत् माया अथवा भ्रम है, वह इस धारणा से परिचित है। परन्तु जो परमार्थ है उसका अस्तित्व नहीं है,यह तो असह्य जान पड़ता है। हमें यह सन्देह

---

६. कूपमण्डूक। —अनु०

७. गौरजियस के अतिरिक्त। और गौरजियस कदाचित् अंशतः विदूषक था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



होने लगता है कि हम शब्द-जाल में फंस रहे हैं, कि यह उन चिरन्तन वितण्डों में से एक है जिन्हें तत्वमीमांसक आदि। परन्तु यहां हमें इस समस्या को अभी छोड़ना होगा। इन समस्याओं का शीघ्र ही समाधान होगा। इस समय जो बात हमें विशेषतया ध्यान में रखनी है वह यह है कि जिस निष्कर्ष पर हम पहुंचे हैं वह प्लेटो, एरिस्टोटिल तथा हेगेल[८] को समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है, चाहे उसकी किसी प्रकार भी व्याख्या दी जाय। वह एक ही सार्वभौम दर्शन का एक अंग है। हेगेल को न समझ पाने का तीन चौथाई कारण इस बात को नहीं समझना ही है।

### (क) प्लेटो तथा हेगेल

४. आजकल इस बात पर बड़ा विवाद है कि प्लेटो के दर्शन की सही व्याख्या क्या है? यहां तक कि इस बात पर भी विवाद है कि जिसे सदा प्लेटो का दर्शन माना गया है वह यथार्थतः सौक्रेटीज़ की कृति तो नहीं। इन विवादों से किसी भी रूप में हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारे विवेचन का आधार वही दर्शन है जो परम्परागत रूप में प्लेटो का दर्शन माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से वह सही अथवा ग़लत हो सकता है। इस प्रश्न से हमारा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि हमारा प्रयास हेगेल को समझने का है न कि प्लेटो को। और प्लेटो की इस परम्परागत व्याख्या ने ही हेगेल को प्रभावित किया था। जो कुछ हम यहां प्लेटो के दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने जा रहे हैं यदि उसे पूर्णतया काल्पनिक भी मान लिया जाय तब भी वह, वैसे ही, हेगेल के दर्शन की आधारशिलाओं में से एक होगा।

५. ईलियावादियों ने आभास तथा परमार्थ में, इन्द्रिय तथा बुद्धि में भेद किया। ये भेद, प्रोटेगोरस के समय तक रहे, जिसके विचार इन भेदों का लगभग निषेध करते हैं। प्रोटेगोरस का कथन था कि जो मुझे सत्य प्रतीत होता है वह मेरे लिए सत्य है तथा जो तुम्हें सत्य प्रतीत होता है वह तुम्हारे लिए सत्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो कुछ प्रतीत्यात्मक अथवा आभासित है वही यथार्थ है, अथवा कम से कम, इस प्रतीति अथवा आभास के अतिरिक्त कोई अन्य परमार्थ नहीं है। इस प्रकार परमार्थ तथा आभास एक ही हैं। इसके अतिरिक्त इन्द्रियां हमारे सम्मुख जो प्रस्तुत करती हैं वह वही है जो प्रतीत होता है। अतः जो ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा होता है वही सत्य है, एक प्रतीति दूसरी प्रतीति के समान ही है। जो कुछ मेरी इन्द्रियों को सत्य प्रतीत होता है वह उतना ही सत्य है जितना वह है जो मुझे इन इन्द्रिय-प्रदत्तों पर बुद्धि के प्रयोग के परिणाम स्वरूप सत्य प्रतीत होता है। अतः

---

८. परन्तु हेगेल के दर्शन में इसमें परिवर्तन हो जाते हैं। हेगेल के लिए **वास्तविक** (एक्चुअल) उनका समन्वय है जिन्हें हमने **परमार्थ** (रीअल) तथा **अस्तित्वमान** (एग्ज़िस्टेंट) कहा है। यह बात यथास्थान स्पष्ट की जायगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



परमार्थ ज्ञान में बुद्धि का कोई योगदान नहीं है। परमार्थ का पता संवेदन द्वारा ही चलता है। ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। बुद्धि तथा इन्द्रियों का भेद, अथवा किसी भी अवस्था में इस भेद का महत्व, आभास-परमार्थ के भेद के लोप के साथ ही लुप्त हो जाता है।

६. इस सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए, वस्तुतः जिसमें समस्त मूल्यों का निषेध निहित है, प्लेटो ने इन्द्रिय–संवेदन का विश्लेषण किया। उसने यह दिखाया कि कोरे संवेदन से ज्ञान प्राप्त होना तो दूर, हमें उससे किसी प्रकार की चेतना भी मुश्किल से प्राप्त होती है, यहां तक कि अपनी संवेदनाओं तक का ज्ञान, यथा जब मैं कहता हूं "मैं गरम हूं," ज्ञान के उन साधनों की ओर संकेत करता है जिनमें तथा भौतिक इन्द्रियों में कोई समानता नहीं है।

मान लीजिए, मैं यह जानता हूं कि मेरा शरीर उष्णता का अनुभव करता है। मैं इसे केवल इस रूप में "मेरा शरीर गरम है" अर्थात् एक उक्ति के रूप में, व्यक्त कर सकता हूं। यदि मैं उसे नहीं भी कहूँ, उसके विषय में केवल सोचूं, तब भी उसका वही रूप होगा। परन्तु यह मैं कैसे जानता हूं कि जो उष्णता का अनुभव करता है वह शरीर है? और यह बात मैं किस प्रकार जानता हूं कि जो इसे अनुभव होता है, वह उष्णता है? यह बात कि मेरा शरीर शरीर है, मैं केवल तभी जान सकता हूं जब मैंने दूसरे शरीरों को पहले देखा हो, और मैं इसकी उनसे तुलना कर सकूं और उसके फलस्वरूप उसे उनके सदृश पाऊं तथा यह देखूं कि वह मकान, पेड़ अथवा त्रिभुज जैसे अन्य विषयों से भिन्न है। मुझे जिसकी संवेदना होती है वह उष्णता है, यह मैं केवल तभी जानता हूं जब मैं उसकी तुलना पहले की समान संवेदनाओं से करता हूं और उसे लाली, कठोरता, मधुरता अथवा शीतलता जैसी अन्य संवेदनाओं से भिन्न पाता हूं।

इसमें वर्गीकरण निहित है। "शरीर" शब्द विषयों के वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है और "उष्णता" शब्द संवेदनाओं के वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रकार वर्गों के प्रत्यय (आइडियाज़) अर्थात् अवधारणाएं (कांसेप्ट्स), अत्यन्त ऐन्द्रिक ज्ञान में भी निहित होते हैं। कदाचित् व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को छोड़कर, जिनका कोई गुणार्थ नहीं माना जाता, प्रत्येक भाषा में प्रत्येक शब्द किसी अवधारणा का संकेत देता है। कारण कि केवल वास्तविक वस्तुओं की अवधारणाएं ही नहीं होतीं अपितु गुणों, कर्मों तथा सम्बन्धों की भी अवधारणाएं होती हैं। "देना" एक अवधारणा है, क्योंकि इससे कर्मों का एक समस्त वर्ग व्यंजित होता है। "यह" एक अवधारणा है, कारण कि वह केवल एक विशिष्ट वस्तु का ही संकेत नहीं देता अपितु समस्त वस्तुओं अथवा व्यक्तियों के सम्बन्ध में प्रयुक्त हो सकता है। प्रत्येक वस्तु "वह" है। "है" एक अवधारणा है, क्योंकि सभी वस्तुएं "हैं"। "मैं" एक अवधारणा है, कारण कि उससे सम्बन्धों के एक समस्त वर्ग का पता चलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



किसी भाषा में ऐसे कोई शब्द नहीं होते जो किन्हीं अवधारणाओं के लिए प्रयुक्त न होते हों। इस प्रकार ज्ञान का केवल कुछ अंश नहीं, अपितु समस्त ज्ञान अवधारणात्मक है। अतः मात्र कोरे संवेदन से कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। अवधारणाओं का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु वे उस बुद्धि (माइंड) का कार्य है जो इन्द्रियप्रदत्तों की समानताएं तथा विषमताएं देखती हैं तथा उनका वर्गीकरण करती हैं।

किसी विषय के सम्बन्ध में हम उन अवधारणाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं जान सकते जिन्हें हम उस विषय पर प्रयुक्त करते हैं। किसी विषय के सम्बन्ध में हम कुछ भी कहें, हमारे कथन का आशय केवल यही होता है कि विषय विशेष पर अमुक अवधारणा प्रयुक्त होती है। यह इसलिए कि हम जो कुछ भी कहेंगे वह शब्द होगा. तथा प्रत्येक शब्द किसी अवधारणा के लिए प्रयुक्त होता है। मैं कहता हूं कि मेरे सम्मुख स्थित यह विषय जो श्वेत, आयताकार, कोमल, भौतिक, ठोस तथा उपयोगी वस्तु है, कागज़ कहलाता है। ये सभी विशेष अवधारणाएं हैं। परन्तु यदि कागज के मेरे ज्ञान की यह प्रकृति है तो स्वयं कागज़ क्या है? अवधारणा स्वयं कोई विशिष्ट वस्तु नहीं है, वह तो एक सामान्य वर्ग है, वह एक "सामान्य" है। मैं कागज़ के विषय में जो कुछ भी जानता हूं वह यह है कि अमुक सामान्य अथवा अवधारणाएं उस पर प्रयुक्त होती हैं अथवा अन्य शब्दों में यह कि वह अमुक सामान्य वर्गों से सम्बन्धित हैं। तब "वह" क्या है? वह अनेक वर्गों से सम्बन्धित है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि कोई "ऐसी वस्तु" होनी चाहिए जो इन वर्गों से सम्बन्धित है, ठीक उसी प्रकार जैसे गति के सम्बन्ध में विचार करते समय यह मान लिया जाता है कि कोई ऐसी वस्तु अवश्य होगी जो गतिमान् होगी। उन वर्गों से अलग, जिनसे वह सम्बन्धित है, यह 'वह' क्या है? स्पष्टतया, यदि ऐसा कोई 'वह' है तो हम उसे नहीं जान सकते। वह हमारे लिए सदा अज्ञात रहेगा। क्योंकि हमारा समस्त ज्ञान अवधारणात्मक है अर्थात् वर्गों का ज्ञान है, अतः वर्गों से अलग कुछ भी यथा वह नहीं जाना जा सकता। परन्तु जिसका न हमें ज्ञान है और न हो सकता है, उसके अस्तित्व को स्वीकार कर लेना पूर्णतया निराधार है। कारण कि यदि उसका अस्तित्व होता भी तो भी हम उसे नहीं जान पाते। अतः उसके अस्तितत्व को मानना ऐसे विषय को मानना है जिसका हमें कोई ज्ञान नहीं है तथा जिसे मानने के लिए हमारे पास कोई संभावित प्रमाण नहीं है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कोई 'वह' नहीं है। यही नहीं, ऐसा 'वह' एक अकल्पनीय तथा आत्मव्याघाती विचार है, क्योंकि प्रत्येक विचार अवधारणात्मक होता है, किसी वर्ग का विचार होता है। 'वह' निज रूप में नहीं सोचा जा सकता, अतः वह पूर्ण रूप से अचिन्त्य है। कोई "वह" नहीं है। इस कागज़ के टुकड़े की समस्त प्रकृति इस तथ्य में निहित है कि यह भिन्न वर्गों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



से सम्बन्धित है। केवल वर्ग ही परमार्थ है। कागज़ केवल सामान्यों अथवा अवधारणाओं का संघात है। इसमें और कुछ भी नहीं है। अतः यदि हम यह स्वीकार करें कि कागज़ मेरी कल्पना का अंशमात्र नहीं है तथा मेरे मस्तिष्क से बाहर भी उसका अस्तित्व है तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि अवधारणाएं अथवा सामान्य वस्तुनिष्ठ रूप में, मेरे अथवा किसी के भी मस्तिष्क से स्वतन्त्र रूप में, अपना निजी अस्तित्व रखते हैं। इन वस्तुनिष्ठ सामान्यों को प्लेटो प्रत्ययों की संज्ञा देता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्यों के अतिरिक्त कोई परमार्थ नहीं है। यह सत्य है कि प्लेटो ने वस्तुओं के अरूप, अनिश्चित आधार, जिसे वह "जड़" कहता है, को स्वीकार कर अपने सिद्धान्त की संगति को हानि पहुंचाई है। यह जड़ केवल अज्ञेय "वह" है। प्लेटो यह देखने में असफल रहा कि "जड़" स्वयं भी एक सामान्य है। उसने "वह" का अस्तित्व स्वीकार कर लिया। परन्तु यहां उसके सिद्धान्त के इस पक्ष से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।

७. आजकल दार्शनिकों का एक ऐसा सम्प्रदाय है, अर्थात् नव्यवस्तुवादियों का, जो सामान्यों की पमार्थता अथवा "अवस्थिति" (सब्सिस्टेंस) को तो स्वीकार करते हैं परन्तु इस बात पर बल देते हैं कि वे "मानसिक" नहीं हैं। इस मत के अनुसार, उन्हें वस्तुनिष्ठ **अवधारणाएं** कहना ग़लत होता। यहां तक कि पारम्परिक प्लेटोवादी "प्रत्ययों" को ये दार्शनिक "आकार" (फोर्म्स) की संज्ञा देते हैं। यहां यह सन्देहास्पद है कि क्या यहां शब्दावली के अतिरिक्त कोई अन्य विवाद भी है। इस कथन से कि सामान्य "मानसिक" नहीं है उनका यह आशय प्रतीत होता है कि वे किसी व्यक्तिगत मन, मेरे आपके अथवा ईश्वर के मन के विचार नहीं हैं। वे मन से स्वतन्त्र रूप में "अवस्थित" हैं (सब्सिस्ट)। स्पष्टतया प्लेटो, ऐरेस्टोटिल, हेगेल तथा सभी प्रत्ययवादियों का यही अर्थ था। इस बात से कोई असर नहीं पड़ता कि हम प्रत्ययवादियों की पारिभाषिक शब्दावली में कहें कि वे "मानसिक" अर्थात् आत्मनिष्ठ नहीं हैं।[९]

८. जो भी हो, प्लेटो के अनुसार सामान्य परमार्थ हैं, वस्तुनिष्ठ हैं। यह केवल मैं ही नहीं हूं जो विषयों का वर्गीकरण करता हूं। स्वयं वर्गों की सत्ता मेरे मन से स्वतन्त्र है। परन्तु जिस स्रोत से हमें सामान्यों का ज्ञान प्राप्त होता है वह इन्द्रिय संवेदन नहीं, बुद्धि है। क्योंकि इन्द्रियों से हमें अवधारणाएं प्राप्त नहीं हो सकतीं। अवधारणाएं तर्कना के द्वारा अमूर्तीकरण से निर्मित होती हैं। अतः बुद्धि सत्य का स्रोत है तथा इन्द्रिय-संवेदन त्रुटि का। इन्द्रिय-संवेदन से हमें इन्द्रियजगत्, विशिष्ट विषयों के जगत् की प्राप्ति होती है। यह जगत् मिथ्या (फाल्स) है। जो वास्तव में परमार्थ

९. परन्तु इस प्रश्न पर निम्न अनुच्छेद ३३, ३४ भी देखिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हैं वे सामान्य हैं और इन्हें हम बुद्धि के द्वारा जानते हैं। इन्द्रिय संवेदन से हमें आभास प्राप्त होता है, बुद्धि से हमें परमार्थ प्राप्त होता है।

९. इस प्रकार न केवल इन्द्रिय तथा बुद्धि, आभास तथा परमार्थ के भेदों को पुनः स्वीकार किया जा रहा है, जो सार्वभौम दर्शन का अंग है, अपितु हम एक अन्य निष्कर्ष पर भी पहुंच गये हैं। यह है सार्वभौम दर्शन की तात्विक विशेषता, कि परमार्थ **सामान्य है**। यह समस्त[१०] प्रत्ययवाद का विशिष्ट तथा केन्द्रीय सिद्धान्त है, चाहे वह प्रत्ययवाद प्लेटो का हो अथवा एरिस्टौटिल या हेगेल का।

१०. यह निष्कर्ष उस विरोधाभास पर पर्याप्त प्रकाश डालता है जिस पर हम ईलियावादियों के विचारों के परिणाम के रूप में पहुंचे, यथा परमार्थ का अस्तित्व नहीं है। क्योंकि परमार्थ अब सामान्य है और सामान्य को अस्तित्वमान नहीं कहा जा सकता। श्वेत वस्तुओं का अस्तित्व होता है परन्तु स्वयं "श्वेतता" का कोई अस्तित्व नहीं है। वस्तुतः सुरंग घोड़ों, श्वेत घोड़ों, काले घोड़ों, दौड़ के घोड़ों तथा गाड़ी के घोड़ों का अस्तित्व है। परन्तु सामान्य "घोड़ा" अथवा सामान्य रूप में घोड़ा कहां कहां होता है? अस्तित्वमान् होने का अर्थ है विशिष्ट देश अथवा काल में अस्तित्व-मान् होना। परन्तु समस्त देश का अवगाहन कर लेने पर भी हम श्वेतता को उसके किसी भी प्रदेश में स्थित नहीं पायेंगे और न ही समस्त काल की छानबीन कर लेने के पश्चात् हमें ऐसा सामान्य घोड़ा मिलेगा जो न सुरंग हो, न श्वेत, न काला, न दौड़ने वाला घोड़ा हो और न गाड़ी का घोड़ा हो, अपितु केवल घोड़ा हो। अतः सामान्य न तो देश में होता है न और काल में। वह कभी भी और कहीं भी नहीं होता। और यह कहना कि कोई वस्तु कभी भी और कहीं भी नहीं है, यही कहना है कि उसका अस्तित्व नहीं है। हम इसी बात को दूसरे रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि अस्तित्वमान् होना किसी व्यक्ति (इंडीविडुअल) के रूप में अस्तित्वमान् होना है। जिस किसी का भी अस्तित्व है वह व्यक्ति है। किन्तु सामान्य केवल वही है जो व्यक्ति नहीं है। अतः सामान्य का अस्तित्व नहीं होता। स्पष्ट है कि यह उत्तर निरर्थक है कि मानवीय चेतना की धारा में एक संप्रत्यय के रूप में सामान्य का काल में अस्तित्व है। हम संप्रत्ययों अथवा मनोगत सामान्यों की बात नहीं कर रहे हैं अपितु उन वस्तुनिष्ठ सामान्यों की बात कर रहे हैं जिन्हें हमने मन से स्वतन्त्र सत्तावान् तथा वास्तविक के तत्व के रूप में पाया है।

११. अब हम ईलियाई स्थिति को कुछ अधिक गहराई से देख सकते हैं। **सत्** परमार्थ है, परन्तु वह न देश में है और न काल में। उसका अस्तित्व नहीं है। यह इसलिए संभव है कि **सत्** एक सामान्य है। यह सभी वस्तुओं का समान तत्व है।

१०. स्पष्टतया यहां बर्कले के आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद को मैंने नहीं लिया है। उसके दर्शन में प्रत्ययवाद का भिन्न अर्थ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


कारण कि सभी वस्तुएं "हैं", सत् "है-पन" (इज़नेस) है जो सभी वस्तुओं में समान है। "चेतना" न देश में है और न काल में; वह कोई विशिष्ट वस्तु नहीं है, अतः उसका अस्तित्व नहीं है। यह सत् के विषय में भी सच है। इस अश्व अथवा उस वृक्ष के समान यह कोई विशिष्ट सत् नहीं है। यह सामान्य सत् है, अथवा एक सामान्य है। यह नहीं मानना चाहिए कि ईलियाई स्वयं इस बात को समझते थे। फिर भी वे इसकी **खोज में** थे। यहां तक कि प्लेटो भी इस तथ्य तक नहीं पहुंचा कि वह सामान्यों अथवा **प्रत्ययों** के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक यह कहता कि उनका अस्तित्व नहीं है। परन्तु उसने यह कहा कि वे देशकाल में नहीं हैं, और इस कथन का भी वही अर्थ है।

१२. इस प्रकार सार्वभौम दर्शन की दृष्टि से सामान्य वास्तविक हैं तथा वास्तविक का अस्तित्व नहीं होता। यह बात अब कुछ सीमा तक बुद्धिगम्य है किन्तु पूर्णतया नहीं। अभी भी इस बात की आवश्यकता है कि 'वास्तविकता' एवं 'अस्तित्व' जैसे शब्दों की स्पष्ट परिभाषा प्रस्तुत की जाय। हम पहले वास्तविकता तथा आभास के भेद की स्पष्ट धारणा को प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। आपाततः यह भेद निरर्थक प्रतीत हो सकता है। कारण कि आभास भी तो वास्तविक होता है। यहाँ तक कि स्वप्न भी वास्तविक होता है। मन में उसका अस्तित्व उतना ही निश्चित है जितना जगत् में हाथियों का अस्तित्व। वह एक वास्तविक वस्तु है। अब, यह बात सच है। परन्तु इसी उदाहरण से यह तुरन्त समझा जा सकता है कि हम तत्वमीमांसा के सन्दर्भ के अतिरिक्त साधारण बोलचाल में भी वास्तविकता तथा आभास में अन्तर करते हैं, और इसका निश्चय ही कोई अर्थ, कोई आधार होना चाहिए। हम कहते हैं कि स्वप्न अथवा भ्रम अवास्तविक होता है। इसका क्या अर्थ है यह समझना अत्यन्त सरल है। वास्तविक पर्वत वह है जिसका हम से स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व है। स्वप्न के पर्वत को अवास्तविक कहा जायगा क्योंकि स्वप्न देखने वाले से स्वतन्त्र रूप में उसका अस्तित्व नहीं है। यह किसी प्रकार उसके मस्तिष्क के द्वारा उत्पन्न होता है। और उसी प्रकार हम कहते हैं कि छाया वास्तविक है। वस्तुतः छाया का अस्तित्व है। परन्तु लोक-धारणा की दृष्टि से वह विषय जो छाया डालता है, स्वतन्त्र रूप में, अपने ही आधार पर अस्तित्वमान् है, जबकि छाया का अस्तित्व उस विषय पर निर्भर है जो उसे डालता है। इसलिए हम विषय को वास्तविक तथा छाया को अवास्तविक कहते हैं।

ये लोक-प्रचलित भेद अस्पष्ट होते हैं। परन्तु उनमें आभास और वास्तविकता के दार्शनिक भेद के बीज सन्निविष्ट हैं। दार्शनिक विचार लोक-धारणा का स्पष्ट तथा सुसंगत विकास मात्र है। दार्शनिक अर्थ में, वास्तविकता वह है जिसकी सत्ता स्वाधीन है, जिसकी निजी सत्ता है, जो अपने कारण अस्तित्वमान है तथा जो अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य पर निर्भर नहीं है। आभास वह है जिसकी केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पराधीन सत्ता है।[११] इसकी सत्ता इसमें किसी अन्य के द्वारा प्रवाहित होती है, जो अपने में स्वाधीन सत् है, वास्तविक है। पाठक यह देखेंगे कि हम यहां स्वाधीन तथा पराधीन **अस्तित्व** की बात नहीं कर रहे हैं। हम अस्तित्व शब्द का प्रयोग नहीं कर रहे, अपितु उसके स्थान पर **सत्** शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। यह केवल इसलिए कि हम ने "अस्तित्व" शब्द को पहले ही एक दूसरा अर्थ दिया है। हम यह देख चुके हैं कि वास्तविक का अस्तित्व नहीं है। अतः हम उसकी यह परिभाषा नहीं दे सकते कि यह वह है जिसका स्वाधीन अस्तित्व है। इससे एक नई समस्या उत्पन्न होती है, यथा: "अस्तित्व" तथा "सत्" के भेद की प्रकृति। प्रश्न यह है, कि यदि सामान्यों का अस्तित्व नहीं है, तो उनकी सत्ता किस प्रकार की है। हम शीघ्र ही इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करेंगे।

१३. इस बीच हम एक दूसरे बिन्दु पर आते हैं। आभास वह है जो वास्तविकता पर निर्भर है। इसकी सत्ता किसी प्रकार वास्तविकता से तथा उसके द्वारा उत्पन्न होती है। अतः यदि हम यह कहते हैं कि सामान्य वास्तविक है, तथा इन्द्रिय-जगत् आभास है, तो हमारे लिये यह दिखाना आवश्यक हो जाता है कि इन्द्रिय-जगत् की उत्पत्ति सामान्य से होती है। वस्तुतः इसीलिए प्लेटो ने यह दिखाने का प्रयास किया कि **प्रत्यय** (आइडियाज़) वे सत् हैं जो वास्तव में जगत् को उत्पन्न करते हैं, तथा वे समस्त वस्तुओं के आदि आधार तथा कारण हैं। वास्तविकता की धारणा में यह अनिवार्य अथवा समवेत है। विश्व में यदि कुछ वास्तविक है, तथा अन्य सभी आभास है, तो इसका अर्थ यह है कि वह वास्तविकता इस आभास को उत्पन्न करती है। कारण कि सार्वभौम दर्शन के लिए वास्तविक सामान्य है। अतः अब हमें सार्वभौम दर्शन की एक और विशेषता का पता चलता है, अर्थात् **सामान्य वह निरपेक्ष तथा परम सत् है जो सभी वस्तुओं का आधार है जो जगत् को स्वतः अपने से उत्पन्न करता** है। कारण कि यह स्मरणीय है इस दर्शन के अनुसार वास्तविकता का अस्तित्व नहीं है केवल इतना ही नहीं है, अपितु, इससे भी अधिक यह है कि, जिसका अस्तित्व है वह वास्तविकता नहीं है। अतः जिसका भी अस्तित्व है, अर्थात् समस्त विश्व, वह आभास है तथा सामान्य से उत्पन्न होता है।

१४. हमें अब वास्तविकता तथा आभास की स्पष्ट धारणाएं प्राप्त हैं, और अब इसी प्रकार "अस्तित्व" की स्पष्ट धारणा प्राप्त करना शेष है। ऐसी धारणा,

---

११. ये विचार अधिकांश प्रत्ययवादी दर्शनों के सामान हैं। हेगेल के आभास के विशिष्ट सिद्धान्त में इन विचारों का समावेश है, परन्तु वह सिद्धान्त उन से आगे जाता है। और आभास की धारणा का अधिक पूर्ण रूप में विश्लेषण करता है। निम्नलिखित परिच्छेद २७१ तथा २७३ में हेगेल की परिभाषाएं देखी जा सकती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जो कुछ कहा जा चुका है, उसमें निहित हैं। केवल उसीका अस्तित्व है जो एक विशिष्ट वस्तु है, व्यष्टि है। "श्वत्व" का अस्तित्व नहीं है, कारण कि वह विशिष्ट विषय नहीं है। किन्तु मेरे श्वेत टोप का अस्तित्व है क्योंकि वह एक विशिष्ट विषय है। इसमें यह बात भी अन्तर्हित है कि अस्तित्व केवल देश अथवा केवल काल, अथवा दोनों से सम्बन्धित होता है। किसी विशिष्ट वस्तु का कम से कम किसी निश्चित समय में तो अस्तित्व होना ही चाहिए, और यदि यह कोई भौतिक वस्तु है तो इसका अस्तित्व किसी निश्चित स्थान में भी होना चाहिए। इसी बात को दूसरी तरह इस प्रकार कहा जा सकता है कि केवल उसीका अस्तित्व है जो चेतना के सम्मुख **अव्यवहित** रूप में प्रस्तुत है अथवा हो सकता है। कारण, जिसका किसी विशिष्ट देश अथवा काल में अस्तित्व है, वह है, वर्तमान है। स्पष्ट है कि ये मत आध्यात्मिक तथा भौतिक वस्तुओं पर समान रूप से लागू होते हैं। स्वप्न, अनुभूति, विचार, हैं। चेतन अवस्थाओं की धारा में इनका अस्तित्व एक निश्चित समय में है। और ये विशिष्ट वस्तुएं हैं: **यह** विशिष्ट अनुभूति, **यह** विचार, **यह** स्वप्न।

१५. सार्वभौम दर्शन के अनुसार समस्त अस्तित्व आभास है। अस्तित्व तथा आभास इन दोनों पदों की परिभाषाएँ अथवा गुणार्थ भिन्न हैं। आभास वह है जिसकी केवल पराधीन सत्ता है। अस्तित्व वह है जो व्यक्ति है तथा सामान्य नहीं, जो चेतना के सम्मुख अव्यवहित रूप में प्रस्तुत है अथवा हो सकता है, तथा जो किसी विशिष्ट स्थान पर अथवा समय में अथवा दोनों में ही वर्तमान है। परन्तु दोनों पदों के वस्त्वर्थ में तादात्म्य है। इसका अर्थ यह है कि जो अपरोक्षतः वर्तमान व्यक्ति है वह केवल पराधीन सत् है। वह बात इस स्थिति से निष्पन्न होती है कि एकमात्र वास्तविकता (स्वाधीन सत्) सामान्य है।

१६. निस्सन्देह इसका तात्पर्य यह है कि केवल भौतिक सत् ही आभास नहीं है, अपितु विशिष्ट विचार, अनुभूतियां तथा प्रयत्न जैसी मानसिक सत्ताएं भी आभास हैं। क्योंकि इन सभी का वैयक्तिक अस्तित्व है। कदाचित् इस पर सदा ध्यान नहीं दिया गया तथा प्लेटो इस बात को पूरी तरह स्वीकार करता है अथवा नहीं, यह भी सन्देह का विषय हो सकता है। यदि हम से यह पूछा जाय कि क्या इन विशेषताओं के अन्तर्गत "आत्मा" जैसी सत्ताओं को अस्वीकार किया गया है, तो हम यही उत्तर दे सकते हैं कि अधिकांश प्रत्ययवादियों के अनुसार अनुभूतियों, विचारों जैसी अपनी विशिष्ट अवस्थाओं से भिन्न आत्मा कोई विशिष्ट वस्तु नहीं है, अपितु वह एक सामान्य है, अतः वह वास्तविक है। परन्तु इस बात पर इस स्थल पर विचार हमें इस अध्याय के प्रमुख उद्देश्य से दूर ले जायगा।

१७. समस्त अस्तित्वमान् जगत् आभास है, यह निष्कर्ष आपाततः जन-साधारण की दृष्टि के लिए अग्राह्य निष्कर्ष प्रतीत हो सकता है। अतः यहां यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



स्पष्ट करना उचित होगा कि दर्शन साधारण दृष्टि की मान्यताओं से असम्पृक्त नहीं है। कारण कि यही सिद्धान्त धार्मिक चेतना में लोक-प्रचलित रूप में प्रकट होता है। **ईसाई मत** से हमें यह ज्ञात है कि ईश्वर ने सृष्टि की रचना की, परन्तु वह स्वयं अजन्मा तथा आदि सत् है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर अपनी सत्ता के लिए अपने अतिरिक्त किसी अन्य पर निर्भर नहीं, अतः वह वास्तविक है; परन्तु जगत् अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर निर्भर है जो इसकी सत्ता का स्रोत है, और इसलिए जगत् आभास है। परन्तु लोक-धारणा साधारणतया इस अस्पष्ट धारणा से प्रभावित प्रतीत होती है कि एक बार जगत् की सृष्टि कर के और उसे देश में चक्कर काटने के लिए फेंक कर ईश्वर ने उसे बाद में एक स्वाधीन अस्तित्व-सा ग्रहण करने के लिए छोड़ दिया। किसी अन्य आश्रय के बिना ही वह स्वतः गतिमान है। यह धारणा संभवतः ईसाई ईश्वर-मीमांसा के विपरीत है परन्तु यह अस्पष्ट रूप में लौकिक चेतना के मूल में निहित प्रतीत होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत् आभास है, यह बात सामान्य दृष्टि को क्यों अग्राह्य है। क्योंकि यह समझा जाता है कि जगत् की इस प्रकार की अर्ध-स्वाधीन सत्ता है, अतः उसे सत् मान लिया जाता है।

१६. परन्तु पौर्वात्य चिन्तन इससे भिन्न है। हिन्दु यह नहीं सोचता कि ईश्वर ने जगत् को सदा के लिये बना दिया तथा फिर उसे उस पर ही छोड़ दिया। उसके लिये जगत् सृष्टि नहीं है अपितु ईश्वर की **अभिव्यक्ति** है। इस से इस धारणा का पता चलता है कि जगत् अपने अस्तित्व के प्रत्येक पक्ष में ईश्वर पर इतनी पूरी तरह निर्भर है कि उसके बिना जगत् का अस्तित्व बना नहीं रह सकता। फलस्वरूप हिन्दू चेतना के लिये जगत् को आभास अथवा माया मानना पूर्णतया स्वाभाविक प्रतीत होता है। और अन्त में, यह बात पुनः कही जा सकती है कि इस सिद्धान्त से दार्शनिक ऐसी निरर्थक बात का प्रतिपादन नहीं करते जो सामान्यतया उनके नाम से जोड़ी जाती है। उनका यह अर्थ नहीं होता कि जगत् है ही नहीं, अथवा उसका अस्तित्व नहीं है। उसका अस्तित्व है, यह ऐसा अपरोक्ष एवं निर्विवाद तथ्य है जिसे, जैसा हम पहले कह चुके हैं, कोई स्वस्थ बुद्धि वाला व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। जगत् आभास है, इस कथन का अर्थ केवल यही है कि वह अपने अस्तित्व के लिए अधिक मौलिक सत् पर निर्भर है।

१८. क्योंकि दर्शन यह स्वीकार करता है कि वास्तविक के रूप में सामान्य जगत् का परम आधार है, वह अपने ऊपर यह स्पष्ट करने का कार्यभार ले लेता है कि इस परम सत् से जगत् की उत्पत्ति कैसे और क्यों होती है। प्लेटो ने इस दायित्व को स्पष्टतया पहिचाना तथा उसके निर्वाह का प्रयास भी किया। परन्तु यहां उसके दर्शन में अस्पष्टता तथा कुछ शैथिल्य सा आता प्रतीत होता है। वह कोई बुद्धि-संगत व्याख्या देने में समर्थ नहीं है अतः वह काव्यमय मिथकों तथा अलंकारों, तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



रूपकों का आश्रय लेता है। हमें इस समस्या के समाधान सम्बन्धी उसके प्रयास के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु उसकी रूपरेखाएं ये हैं। जगत् में जो वस्तुएं हैं वे सामान्यों अथवा प्रत्ययों की "अनुकृतियां" हैं। विशिष्ट अश्व अश्व के **प्रत्यय** की अनुकृतियां हैं। ये अनुकृतियां ईश्वर के द्वारा जड़ पर प्रत्ययों की प्रतिमाओं की छाप द्वारा बनी हैं। यह जड़ वह नहीं है जिसे हम इस पद द्वारा समझते हैं। यह लौह, उद्‌जन, पीतल आदि नहीं है। ऐसी वस्तुओं का निश्चित आकार होता है। वे पहले ही "वस्तुएं" हैं, और इस प्रकार प्रत्ययों की पूरी तरह बनी हुई अनुकृतियां हैं। प्लेटो का द्रव्य आकारहीन, गुणहीन एवं अनिर्धारित है। वह रिक्तता है। वह वस्तुओं का आकारहीन आधार है। वह वास्तव में "कोई वस्तु"–"वह"–है जो विभिन्न वर्गों से सम्बद्ध है, परन्तु स्वयं उसका कोई वर्ग नहीं है और जिसे हमने (छठे परिच्छेद में) आत्म-विरोधी तथा अचिन्त्य विचार पाया है। हमने यह देखा कि कोई विषय, यथा यह कागज़, सामान्यों का संघात है। ये सामान्य वे वर्ग हैं जिनसे यह सम्बद्ध है। परन्तु जब हम यह प्रश्न उठाते हैं कि सामान्यों के अतिरिक्त "वह" क्या है, तो हमें पता चलता है कि "वह" कुछ नहीं है। परन्तु प्लेटो ने सामान्यों के आधार इस "वह" को वस्तुतः अस्तित्वमान माना तथा उसे जड़ कहा। फिर भी उसने "वह" के अनस्तित्व को उस सीमा तक स्वीकार किया कि उसने द्रव्य को "अ-सत्" घोषित किया। फलस्वरूप वह विरोधाभासों से ग्रस्त हो गया। द्रव्य अ-सत्, कुछ नहीं, है। फिर भी उसका विचार है कि वह शाश्वत काल से विद्यमान है जिससे प्रत्ययों की प्रतिमाएं उस पर बनाई जा सकें। वह ऐसा विषय है जो प्रत्ययों से उत्पन्न नहीं हुआ, जो उनके समान ही मूलभूत है, अनिष्पन्न, स्वाधीन, और इसलिये, इस दृष्टि से, एक परम अ-सत् नहीं अपितु एक परम सत्, एक वास्तविकता है; क्योंकि जो स्वाधीन है तथा जो किसी अन्य से निष्पन्न नहीं, वह वास्तविक है। प्लेटो ने इस बाद की बात को नहीं देखा। यदि उसने इसे देख लिया होता तो उसने यह भी जान लिया होता कि उसकी द्रव्य की धारणा कितनी असंभव तथा आत्मविरोधी थी।

१९. एक दूसरी बात जिसकी ओर ध्यान देना हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि प्लेटो का प्रत्यक्षतः यह विश्वास था कि **प्रत्यय** सामान्य, देश तथा काल से परे किसी दूसरे लोक में अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं। सदाचारी लोगों की आत्माएं मृत्यूपरान्त इस लोक में जा सकती हैं तथा वहां वास्तव में इन **प्रत्ययों** को देख सकती हैं। इस प्रकार, वे सामान्य जिनसे यह कागज़ संरचित है, इस कागज़ का अंग होते हुए, केवल उस में ही नहीं है अपितु उस कागज़ के बाहर उनके अपने जगत् में उनका अस्तित्व स्वयं उन पर आश्रित है। इस बात को किस सीमा तक इसी अर्थ में लिया जाय अथवा किस सीमा तक उसे केवल कविता माना जाय यह अत्यन्त सन्देहास्पद है। कुछ भी हो, परिस्तालिन का विचार था कि प्लेटो का अर्थ शब्दशः यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



था। हमारे लिये इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि इसे शब्दशः ग्रहण करने का अर्थ है सार्वभौम दर्शन से हट जाना, इतना ही नहीं बल्कि उसका विरोधी बन जाना। क्योंकि इसका तात्पर्य है कि **प्रत्ययों** का **अस्तित्व** है; उनका अस्तित्व है अर्थात् वे अपने ही जगत् में हैं। परन्तु सार्वभौम दर्शन के लिए यह तत्त्व आवश्यक है कि सामान्य यद्यपि सत् हैं परन्तु उनका **अस्तित्व** नहीं है। सामान्य वह है जो **व्यक्ति** नहीं है। परन्तु अपने दर्शन के इस खण्ड में प्लेटो **प्रत्ययों** को किसी अदेशीय जगत् में वैयक्तिक सत्ताओं के रूप में स्वीकार करता प्रतीत होता है। स्पष्टतः यह आत्म-विरोधी है और इस से यही पता चलता है कि प्लेटो ने वास्तविकता तथा अस्तित्व के भेद को अपने स्थान में स्पष्ट रूप में नहीं रक्खा। उसने आरम्भ तो इसी भेद को स्पष्ट करते हुए किया, यद्यपि इन्हीं शब्दों में नहीं। क्योंकि उसने कहा कि इन्द्रिय-जगत्, अर्थात् अस्तित्व, वास्तविक नहीं है, और वास्तविक वे सामान्य हैं जो देश अथवा काल में नहीं हैं, अर्थात् उनका अस्तित्व नहीं है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह इस निम्न धारणा का प्रतिरोध करने में असमर्थ था कि वास्तविक का किसी रूप में अस्तित्व होना चाहिए, फलतः उसने प्रत्ययों के अस्तित्व के लिये एक लोकोत्तर जगत् की कल्पना की। कदाचित् यह बाद की धारणा केवल काव्यात्मक है, परन्तु यदि ऐसा है तो यह अत्यन्त भ्रामक है।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# दार्शनिक के नियम

1. दार्शनिक त्रैमासिक का कोई सैद्धांतिक पूर्वाग्रह नहीं है, इसलिए किसी भी दर्शन-प्रस्थान से सम्बन्धित लेख इसमें प्रकाशनार्थ स्वीकार किये जाते हैं।

2. दार्शनिक में प्रकाशनार्थ लेख श्री यशदेव शल्य, संपादक दार्शनिक, डी–14, बापूनगर, जयपुर को भिजवाएं।

3. संस्थाएं दार्शनिक का वार्षिक शुल्क सर्वश्री इंटरकोंटीनेंटल बुक हाउस, शारदा भवन के सामने, चौड़ा रास्ता, जयपुर को भिजवाएं और उन्हीं से पत्रिका की प्रतियां प्राप्त करें।

4. परिषद् के सदस्य अपना शुल्क डा० नन्दकिशोर शर्मा, बी–12; मंगल मार्ग, बापू नगर, जयपुर–4 को भिजवाएं और उनसे पत्रिका प्राप्त करें।

5. परिषद् संबंधी समस्त पत्र-व्यवहार प्रो. चाँदमल शर्मा, गणेश मार्ग, बापू नगर, जयपुर–4 से अथवा श्री यशदेव शल्य, डी–14, बापू नगर, जयपुर–4 से करें।

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, डी-14, बापू नगर, जयपुर से प्रकाशित तथा अजमेरा प्रिंटिंग वर्क्स, घी वालों का रास्ता, जयपुर से मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

संपादक : यशदेव शल्य

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

18/4/75
पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

वर्ष २०, अंक ३, जुलाई १९७५

# दार्शनिक त्रैमासिक

परिषद् के पूना विश्वविद्यालय में १७-१९ नवम्बर, १९७४ को सम्पन्न उन्नीसवें वार्षिक अधिवेशन की कार्यवाही। शेष कार्यवाही आगामी अंक में दी जायगी।

## विषय सूची


| | | |
|---|---|---|
| १. हमारा जातीय अनुभव (अध्यक्षीय भाषण) | यशदेव शल्य | १२१ |
| २. धार्मिक अनुभूति का स्वरूप (विभागाध्यक्षीय भाषण) | लक्ष्मीनिधि शर्मा | १३४ |
| ३. निश्चय और व्यवहार (गोष्ठी) | कमलचन्द सोगानी | १४१ |
| ४. जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार (गोष्ठी) | सागरमल जैन | १४७ |
| ५. मानव-समता (गोष्ठी) | अनंतगणेश जावडेकर | १५८ |
| ६. भारतीय तर्क-शैली | रघुनाथ गिरि | १३७ |
| ७. अद्वैत में अध्यास की परिकल्पना | सरल झिंगरन | १७३ |
| ८. हम किसका प्रत्यक्ष करते हैं | जगदीशसहाय श्रीवास्तव | १८० |
| ९. ऐतिहासिक ज्ञान (गोष्ठी) | धर्मेन्द्र गोयल | १९२ |
| १०. परिषद् के पदाधिकारियों का निर्वाचन | | २०० |


वार्षिक शुल्क : १५.००

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष २० जुलाई, १९७५ अंक ३

## हमारा जातीय अनुभव*

यशदेव शल्य

इस अधिवेशन की अध्यक्षता करने के लिए मुझे आमन्त्रित कर परिषद् की कार्यसमिति ने जो सम्मान मुझे दिया है उसके लिए मैं इसके प्रति बहुत आभारी हूं। इसे विचित्र संयोग ही कहना चाहिये कि मैंने गत वर्ष कार्यसमिति द्वारा इस प्रतिष्ठित पद पर मेरे चुनाव की भूल का मार्जन करने के लिए इस पद के लिए वास्तव में उपयुक्त विद्वान और विचारक डा० गोविन्दचन्द्र जी पांडे से इस पद को मंडित करने का अनुरोध किया था और उन्होंने कृपा कर मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली थी; किन्तु वे वर्तमान में कुलपति पद से संलग्न दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों के कारण इस अवसर पर उपस्थित नहीं हो सके और मुझे कार्यसमिति के प्रथम आदेशानुसार रीति-निर्वाह करना पड़ रहा है।

आज मैं आपके साथ हमारे जातीय अनुभव के स्वरूप पर विचार करने का प्रयत्न करूंगा। आज हम इतिहास के जिस मोड़ पर हैं वह सम्भवतः अभूतपूर्व संकट का समय है। इतिहास में हमें बाहर से अनेक बार चुनौतियां मिलती रही हैं और इनके सम्मुख हम अनेक बार खड़े और गिरे हैं, किन्तु कभी पहले किसी ने हमारे भीतर प्रविष्ट होकर हमारे स्वरूप का संकट उपस्थित नहीं किया था। आज हमारे सम्मुख

---

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के उन्नीसवें वार्षिक अधिवेशन (१७-१९ नवंबर, १९७४, पूना विश्वविद्यालय) के अध्यक्ष-पद से भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


वह संकट ही उपस्थित है। एक अन्य प्रसंग में मैंने वर्तमान भारत की दार्शनिक परिस्थिति पर विचार करते हुए कहा था कि हमारा आज का दार्शनिक लेखन हमारे अनुभव के प्रति सच्चा नहीं है, और "हमारे अनुभव के प्रति सच्चा नहीं होने" का अर्थ है कि यह लेखन हमारे जातीय अनुभव में प्रतिष्ठित नहीं है।[1] इस प्रतिपादन में "जातीय अनुभव" और "हमारा जातीय अनुभव" की अवधारणाएं स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखती हैं। वास्तव में आज का हमारा संकट इस अनुभव से विमुख होने से ही प्रसूत है। इसलिए इन प्रश्नों पर विचार नितांत प्रासंगिक है।

साधारणतः 'अनुभव' का अर्थ हम "संवेदन" समझते हैं और इस अर्थ के अनुसार अनुभव केवल वैयक्तिक ही हो सकता है, जातीय नहीं, क्योंकि संवेद शरीर-मूलक होता है और शरीर वैयक्तिक होता है। किन्तु न तो अनुभव को संवेद से अभिन्न मानना उपयुक्त है और न व्यक्ति को शरीर से। यह सही है कि संसार में व्यक्ति शरीर के माध्यम से होता है और व्यक्ति का बाह्य–निर्धारण (अन्यों द्वारा निर्धारण) उसकी शरीर में प्रतिष्ठा किये बिना असम्भव है। किन्तु न केवल व्यक्ति ही अपने को शरीर से अभिन्न रूप में नहीं देखता है, बाह्य दर्शक भी उसे मात्र शरीर रूप में नहीं देखता है। इसी प्रकार, सांवेदनिक अनुभव अनुभव का केवल एक प्रकार मात्र है, अन्य प्रकार के अनुभव भी हैं और ये सांवेदनिक नहीं हैं। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि, कोई अनुभव नहीं है जिसके साथ शरीर–व्यापार संयुक्त नहीं रहता और परिणामतः कोई अनुभव नहीं है जो शरीर-मूलक नहीं है। किन्तु इस आपत्ति में यह दोष है कि यह स्वरूप विषयक नहीं होकर घटना या तथ्य विषयक है। स्वरूप-विचार की दृष्टि से ही यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति स्वयं अपना अवधारण सदैव शरीरात्म के रूप में नहीं करता।[2]

सांवेदनिक अनुभव का मूल लक्षण उसकी देशकालात्मकता है, अन्तःकरण के अनुभव की केवल कालात्मकता। अन्य अनुभव देश–काल विशिष्ट नहीं होते। इस प्रकार कांट द्वारा देश-काल को सांवेदनिक आकार कहना उपयुक्त ही है, अनुपयुक्त केवल यह है कि उसने शेष अनुभव को अनुभव-क्षेत्र से निकाल दिया और इसे प्रागनुभविक आकार कह कर एक ओर इसे अनिवार्यतः संवेद-सापेक्ष बना दिया और दूसरी ओर अनुभवातीत कल्पना मात्र। इसके विपरीत सांख्य ने अनुभव के विभिन्न स्तर मानकर और सबको विषय कह कर अधिक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है, यद्यपि वह भी अनुभव को नितांत व्यक्तिमूलक ही मानता है और अनुभव

---

१. द्रष्टव्यः "भारत संक्रांति में : सन्दर्भ-समकालीन दार्शनिक परिस्थिति", दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रैल, १९७४।

२. इस पर विस्तृत चर्चा के लिए द्रष्टव्य यशदेव शल्य—**विषय और आत्म** में अध्याय ३ और ४, तथा भगवती—"सांख्य-विवेचन" (श्री गंगानाथ झा संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद की पत्रिका के आगामी अंक में प्रकाश्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की सब कोटियों के अस्तित्व के लिए भौतिक अथवा तन्मात्र देह को अनिवार्य मानता है, यद्यपि ये कोटियां धर्मतः और सत्तया (क्वा बींग) स्वतंत्र हैं। किन्तु वास्तव में सांख्य की कोटियों का इस पदावली में निरूपण सांख्य पर थोड़ा अतिचार है। उसके लिए संपूर्ण अनुभव आत्मौपाधिक है और इस प्रकार शरीर वास्तव में शरीरात्म रूप अनुभव है। इसी प्रकार तान्मात्रिक अनुभव अहंकारारूढ़ शुद्ध संवेदों का अनुभव है।[३] डेकार्ट में भी अनुभव केवल सांवेदनिक नहीं है, बल्कि सांवेदनिक अनुभव केवल गौणतः या अंशतः ही अनुभव कहा गया है, मूल और शुद्ध अनुभव बौद्धिक है।[४] किन्तु सांख्य के समान ही डेकार्ट में भी अनुभव केवल वैयक्तिक है।

किन्तु वास्तव में मानवीय अनुभव सब स्तरों पर वैयक्तिकता का सामूहिकता में अथवा सामान्यता में अतिक्रमण करता है। उदाहरण के लिए, मानवीय देश दृष्टिकोणों का परिप्रेक्ष्य है और इस प्रकार एक दृष्टिकोण अन्यों का अपेक्षी है;[५] अस्मत् युष्मत् का अनिवार्य अपेक्षी हो या नहीं हो, अन्य व्यक्ति की विद्यमानता मुझे "अन्य को प्रस्तुत अस्मद्भाव में अवश्य स्थापित कर देती है।[६] ये दो अनुभव व्यक्ति-अतिक्रमण के, अथवा युष्मदापेक्षा के, उदाहरण हैं। किन्तु अन्य अनुभव हैं जिनमें व्यक्ति केवल सामान्य की विशिष्ट अभिव्यक्ति मात्र होता है, अथवा कहें सामान्य के अन्तर्गत विशिष्ट मात्र होता है। उदाहरण के लिए, यहां मैं जो कुछ लिख रहा हूं वह निश्चय ही मेरा अनुभव है, किन्तु आकारतः यह सामान्य है, इसलिए यह किसी का भी विचार हो सकता है।[७] और वास्तव में जब मैं इसे विचार-विमर्श के लिए प्रस्तुत करता हूं उस समय यह सर्वसामान्य विषय होता है जिसके स्वरूप को बहुत से अन्य विचारक मेरे से अधिक गहराई में देख सकते हैं। इन अनुभवों को वास्तव में वैयक्तिक कहने का कोई अर्थ नहीं है, सिवाय इस बात के कि ये वैयक्तिक इतिहास के अंग होते हैं।

किन्तु ये अनुभव दो अन्य महत्वपूर्ण अर्थों में वैयक्तिक होते हैं। एक इस अर्थ में कि इनका ग्रहण अपूर्ण होता है और इस ग्रहण का एक विशिष्ट इतिहास और विशिष्ट विधा रहती है, दूसरे शब्दों में, यह किन्हीं उपाधियों के माध्यम से ग्रहण होता है जो व्यक्ति-विशिष्ट हैं। पूर्णता सत्य का लक्षण है और अपूर्णता उसके ग्रहण का। किन्तु ग्रहण की यह अपूर्णता व्यक्ति-लक्षण भी हो सकती है और

---

३. द्रष्टव्यः भगवती, वहीं।
४. भगवती डेकार्ट : दार्शनिक विवेचन, दार्शनिक त्रैमासिक।
५. **विषय और आत्म**, अध्याय २।
६. वहीं, अ० ४।
७. द्रष्टव्य यशदेव शल्य : **संस्कृतिः मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या**, अ० २ तथा **विषय और आत्म**, अ० ५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अतिव्यक्ति-लक्षण भी। व्यक्ति-लक्षणता दृष्टिकोण विशेष से अवगाहन में प्रकट होती है और अतिव्यक्ति-लक्षणता परिप्रेक्ष्यात्मकता में। कुछ प्रत्यय ऐसे होते हैं जो अपनी अन्तर्वस्तु की विपुलता के कारण सांस्कृतिक प्रत्यय का रूप ले लेते हैं और व्यक्ति केवल उनका संवाहक बनता है। दूसरे इस अर्थ में कि ये व्यक्ति अथवा जाति, जिसके भी इतिहास के अंग बनते हैं, उसी के अनुरूप लक्षित होते हैं।

यहां यह द्रष्टव्य है कि अनुभव की उपर्युक्त प्रकार की विशिष्टता और सामान्यता उसके आकारिक पक्ष से सम्बन्धित हैं, आनुभविक पक्ष से नहीं। उदाहरणतः इच्छा, उद्वेग आदि आकारतः पूर्णरूपेण विशिष्ट या व्यक्ति-लक्षण हैं, संवेदन और संवेद्य भी व्यक्ति-लक्षण हैं, इसके विपरीत दार्शनिक विचार आकारतः सामान्य-लक्षण हैं। इसके प्रतिवाद में कहा जा सकता है कि इच्छा, पीड़ा आदि में वास्तव अपने अस्तित्व में ही व्यक्ति-लक्षण होती हैं, किन्तु इनका एक प्रत्ययात्मक पक्ष या विषय-पक्ष भी होता है जिसमें ये भी सामान्य-लक्षण होती हैं। उदाहरणतः मेरी मिठाई खाने की इच्छा घटनात्मक रूप में विशिष्ट है किन्तु विचार्य या स्मृत रूप में सामान्य का एक उदाहरण है।[८] यह सही है, किन्तु यहां इसका घटनात्मक पक्ष ही प्रसंगोपात्त है क्योंकि वही ठीक-ठीक अर्थ में इच्छा है, विचार्य या स्मृत रूप में यह इच्छा नहीं है। किन्तु कुछ अनुभव हैं जो न घटनात्मक रूप में सामान्य हैं और न आकारिक रूप में, न वे दोनों रूपों में वैयक्तिक ही होते हैं। उदाहरणतः आर्केस्ट्रा और सामूहिक नृत्य, उससे भी अधिक मधुमक्खी छत्ते का जीवन, देखे जा सकते हैं। इन्हें संस्थानात्मक (पैटर्न्ड) अनुभव कहा जा सकता है। संस्थानात्मक अनुभव से अभिप्राय है ऐसा सावयव अनुभव जिसमें वैयक्तिक अनुभव अवयव विशेष के रूप में घटित होता है। ये अनुभव केवल आकारतः ही संस्थानात्मक नहीं होते, अस्तित्वतः भी संस्थानात्मक होते हैं। छत्ता मधुमक्खियों के जैव अनुभव का नियामक होता है इसलिए इसका नियमन अधिक सबल होता है, आर्केस्ट्रा या सामूहिक नृत्य प्रत्ययात्मक (कलात्मक प्रत्यय परक) अनुभव होते हैं और परिणामतः व्यक्ति-चेतना का उसी स्तर पर नियमन करते हैं। मनुष्य में संस्थानात्मक अनुभव अनेक रूपों में और अनेक स्तरों पर देखा जा सकता है—सामाजिक संस्थाएं इसी अनुभव की अभिव्यक्तियां हैं। उदाहरणतः परिवार को लें, यह आवेगों, मूल्यों और विचारों की एक जटिल व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति अंगभूत होते हैं और इस व्यवस्था की अभिव्यक्ति के सामूहिक रूप से माध्यम बनते हैं। इस व्यवस्था का एक प्रत्ययात्मक पक्ष होता है जिसकी कुछ व्यापकता रहती है और अपने से छोटी व्यापकताओं का समावेश करती है। उदाहरणतः विवाह-संस्था परिवार के अन्तर्गत संस्था है। इसी तरह दूसरे प्रकारों की संस्थाएं हैं, उदाहरणतः राज्य संस्था, विश्वविद्यालय आदि, जो अपने अस्तित्व में अतिवैयक्तिक हैं। अतिवैयक्तिक

---

८. विषय और आत्म, अ० ६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अस्तित्व अतिवैयक्तिक अनुभव पर प्रतिष्ठित है। ऐसा नहीं है कि इसका प्रत्ययन व्यक्ति नहीं कर सकता, किन्तु व्यक्ति द्वारा इसका प्रत्ययन केवल आकारिक ही होता है, अनुभवात्मक नहीं, जैसे कलह में एक पक्ष का व्यक्ति दूसरे पक्ष के व्यक्ति के दृष्टिकोण की सूचना तो रख सकता है किन्तु उसके औचित्य का अनुभव नहीं कर सकता। किन्तु कलह में वास्तव में पाक्षिकता केवल आकारिक होती है क्योंकि इसमें कोई समग्रता नहीं होती; इसके विपरीत संस्था एक समग्र अनुभव है, इसके भीतर व्यक्ति उस अनुभव का अपने स्थान विशेष से ग्रहण करता है जो स्वरूपतः अनेक स्थानात्मक है। इस प्रकार संस्था में हम चेतना की उससे भिन्न अवच्छिन्नता पाते हैं जो व्यक्ति में।

इस प्रकार अतिवैयक्तिक अस्तित्व और अतिवैयक्तिक अनुभव की संभावना सिद्ध है और इससे जातीय अनुभव की संभावना भी सिद्ध हो जाती है। किन्तु तब भी यह निश्चित करना रह जाता है कि जाति के निर्धारक लक्षण क्या हैं। साधारणतः जाति को राज्य के प्रभुत्व-विस्तार से या प्रदेश से परिभाषित किया जाता है, और कभी कभी संस्कृति से भी परिभाषित किया जाता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि ये तीन लक्षण परस्पर बहुत भिन्न प्रकार के हैं। प्रदेश जब कि एक भौतिक विस्तार है और नितान्त आगंतुक है, राज्य का प्रभुत्व प्रदेश पर और उसके निवासियों पर एक संस्थात्मक प्रकार के अधिष्ठातृत्व का है। यह विस्तार भी नितांत आगन्तुक है क्योंकि यह कभी भी बदला जा सकता है। यद्यपि इसके संस्था होने से इसका स्वरूप प्रत्ययात्मक ही है किन्तु इसका अस्तित्व बाह्यारोपित प्रभुत्व के रूप में होता है। इस दृष्टि से यह परिवार से भिन्न है जिसका अस्तित्व जैव, भावनात्मक और बोधात्मक (नैतिक) तीनों स्तरों पर होता है। यद्यपि राज्य में भी ये तीनों स्तर न्यूनाधिक समाविष्ट रहते हैं, किन्तु इसमें ये आगन्तुक रूप से संलग्न रहते हैं, ये इसके आन्तर धर्म नहीं होते। संस्कृति का स्वरूप भी प्रत्ययात्मक ही है, किन्तु यह प्रत्यय संस्थात्मक प्रत्ययों से मूलतः भिन्न होता है। सब संस्थात्मक प्रत्यय प्रयोजनमूलक होते हैं और ये प्रयोजन उनकी आंतर और बाह्य सीमाओं के निर्धारक होते हैं। इस प्रकार राज्य और परिवार परस्पर भिन्न और व्यावर्तक होते हैं। किन्तु संस्कृति प्रयोजनमूलक प्रत्यय नहीं है, यह स्वयंभू है और इसका व्यावर्तन इसकी आन्तर उपाधि से होता है। किन्तु इसे केवल इस लक्षण से भी परिभाषित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह लक्षण भाषाओं, कलाओं और शास्त्रों का भी है। संस्कृति इन सबसे इस बात में भिन्न है कि यह इन सबको अन्तर्व्याप्त करती है—व्यक्ति के विभिन्न व्यवहारों और भावों में अन्तर्व्याप्त आत्मा के समान।

इस पर हमने अन्यत्र[६] विस्तार से चर्चा की है इसलिए यहां इस पर आगे चर्चा नहीं करेंगे। यहाँ हम इस विमर्श के आधार पर इस बात का कुछ संकेत पा सकते

६. संस्कृतिः मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या में अ० २—"संस्कृति का अधिष्ठान"।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हैं कि "जातीय अनुभव" का क्या अर्थ हो सकता है। इसका एक साधारण अर्थ हो सकता है कि यह "सांस्कृतिक आत्म से अभिनिविष्ट समाज की अपनी परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया है।" किन्तु यह परिभाषा उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि इसमें आत्म को परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया का कर्तृत्व दिया गया है किन्तु तब भी इसमें अनुभव को परिस्थिति-सापेक्ष और चेतना की बाह्योन्मुख वृत्ति-रूप कल्पित किया गया है। यद्यपि यह अर्थ भी अनुभव को संवेदन से व्यापकतर रूप में ग्रहण करता है किन्तु इसमें इसे संवेदन के समान ही प्रतिक्रिया माना गया है। मानवीय अनुभव की विशेषता उसकी स्वरूपोन्मुखता में है और उन क्षणों में अनुपलब्ध रहने में है जिनमें वृत्ति स्वरूपोन्मुख नहीं होकर बाह्योन्मुख रहती है। और क्योंकि हमारी वृत्ति अधिकांश में बाह्योन्मुख ही रहती है इसलिए हमें अपना अनुभव अनुपलब्ध, अनवगत रहता है। यह जितना व्यक्ति के लिए सत्य है उतना ही जाति के लिए भी सत्य है। उदाहरण के लिए, यह जानना अत्यधिक कठिन है कि हम क्या चाहते हैं, क्योंकि तथाकथित इच्छित की प्राप्ति होने पर हम अपने को प्रायः उतना ही असन्तुष्ट पाते हैं जितने उसके पूर्व थे। इसी प्रकार, अधिकांश में हम अपने कार्यों के वास्तव प्रयोजनों को नहीं जानते होते और उन्हें ग़लत नाम दिये रहते हैं। वह व्यक्ति के जितना ही जातियों में भी होता है। जातियों के अधिकांश व्यापार, अधिकांश प्रयत्न, अपने अनुभव की सच्चाई से च्युत ही नहीं रहते प्रतिकूल भी होते हैं। यह कभी विरले क्षणों में ही होता है कि कोई जाति अपने अनुभव को ठीक-ठीक पहचान पाती है अथवा उसे पहचानने के निकट होती है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता के बाद हमने अपने स्वभाव के विपरीत रास्ता चुना—बाह्य परिवेश के नियमन द्वारा अपने को चरितार्थ करने का, जोकि यूरोप ने भी चुना। किन्तु यह रास्ता हमारे अनुभव के अनुकूल नहीं था। एक दूसरे पथ का अनुसरण हमने गान्धी जी के माध्यम से किया था, वह पथ हमारे अनुभव के अनुकूल था। ठीक शब्दों में, हम वर्तमान अनुसरण में अपने में प्रतिष्ठित नहीं हैं और गान्धी-युग में उसमें प्रतिष्ठित थे। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि हमने वास्तव में गान्धी-भाव का ग्रहण ही कहां किया था, हमने न उसे समझा था और न अपनाया था। सही है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह भाव हमारा स्वानुभव नहीं था। उसकी हमारे अनुभव में प्रतिष्ठा इस बात से सिद्ध है कि वह जन-जन द्वारा बिना समझे और बिना समझने का प्रयत्न किये भी समाहृत और स्वीकृत था। व्यक्ति या जाति की अपने अनुभव में प्रतिष्ठा उसकी चेतना द्वारा आत्मयौगपद्य घटित करना है, अन्यथा हम बाह्य वृत्ति में प्रतिष्ठित रहते हैं। अनुभव में प्रतिष्ठा या आत्मयौगपद्य का अवसर साधारणतः चेतना के किसी आघात द्वारा चौंकने पर उपस्थित होता है। जातियों में इन अवसरों को युग-प्रवर्तन अथवा युगान्तर के अवसर कहते हैं। गान्धीजी के रूप में यही अवसर उपस्थित हुआ था और आज उस अनुभव के वैपरीत्य की अवस्था है। आत्मानुभविक स्थिति के तीन रूप हैं—स्वानुभव में प्रतिष्ठा या आत्मयौगपद्य, अनुभव के अनुकूल बाह्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


वृत्ति और अनुभव की अनुपलब्धि अथवा प्रतिकूल उपलब्धि। उदाहरणतया यूरोप के अनुभव की उपलब्धि वैज्ञानिक दृष्टिकोण के रूप में देखी जा सकती है और अनुपलब्धि इसके अर्थ के अनुपयुक्त ग्रहण में। वैज्ञानिक दृष्टिकोण सत्य का तर्कोचित निरूपण है किन्तु यूरोप ने इसका अनुवाद भौतिक प्रकृति के ऐन्द्रिय वासनाओं के अनुरूप नियोजन में कर लिया। प्रश्न हो सकता है कि यह कैसे माना जाय कि यूरोप का अनुभव प्रकृति का ऐन्द्रिय सुख के लिए नियोजन ही नहीं है? इसका उत्तर होगा कि इसमें सांस्कृतिक अर्थ होने योग्य विपुलता ही नहीं है। दूसरे यह कि यह मानव-आत्म के अनुरूप प्रत्यय ही नहीं है, यह उसके नितान्त विरूप है। तीसरे, और यह उत्तर अधिक स्पष्ट है, आधुनिक यूरोप ने जिनको अपने सांस्कृतिक वैतालिकों के रूप में मान्यता दी: डेकार्ट, कांट, गेलिल्यो, न्यूटन और आइंस्टीन तथा हुस्सर्ल आदि: ये ऐन्द्रिय सुख के अनुसन्धाता नहीं हैं। इस तीसरे उत्तर से हमारे जातीय अनुभव के स्वरूप के सम्बन्ध में भी संकेत मिल सकता है। हमने जिन्हें अपने सांस्कृतिक वैतालिक स्वीकार किया है वे सब परमार्थ-साधक ही रहे, इहलोक-साधक नहीं। हमारे दोलन के जो दो छोर रहे वे हैं इस संसार के स्थान को लेकर: कि यह परमार्थ की विपुलता की अभिव्यक्ति है याकि उसका वैपरीत्य है?

यहां ऊपर आत्म का स्वरूप स्वतःस्पष्ट मान लिया गया है जबकि पिछले प्रश्न में वही मूल विवेच्य है। अब, आत्म से अनुकूलता और प्रतिकूलता किन लक्षणों से आंकी जाय? और जातीय अनुभव के प्रसंग में, यह कैसे जाना जाय कि किसी जाति की क्या संस्कृति है और कि उसके कौनसे व्यवहार और अनुभव उसकी संस्कृति से अनुकूल या प्रतिकूल हैं?

वास्तव में मानव द्वारा आचरित सभी प्रत्यय आत्मसम्बद्ध प्रत्यय होते हैं, उनकी आचरणीयता उनकी प्रेयता से प्राप्त होती है और प्रेयता आत्मसम्बद्धता से। इसलिए ऐन्द्रिकता उतनी ही आत्मसम्बद्ध है जितनी अनैन्द्रिकता। यह सही है, किन्तु साथ ही यह भी सही है कि ऐन्द्रिकता का विवेचन इसकी आत्म से विपरीतता प्रकट करता है। इस विवेचन का प्रसंग उन अर्थों से प्राप्त होता है जिनमें ऐन्द्रिकता का अतिक्रमण होता है। उदाहरण के लिए चित्रकला को ही लें, जो ऐन्द्रिक अनुभव को ही निरूपित करती है। किन्तु इसका यह निरूपण ऐन्द्रिक के अतिक्रमण के साथ आरम्भ होता है, इसमें ऐन्द्रिक भोग्य नहीं निरूप्य होता है और यह निरूपण अन्तःकरण और बुद्धि की उपाधियों के आश्रय से निरुपाधिक की ओर संकेत करता है। वास्तव में यह बात सब अतिक्रमणों के साथ है—ये उपाधियों के माध्यम से निरुपाधिक को अभिव्यंजित करते हैं। किन्तु ऐन्द्रिकता में कोई अतिक्रमण संभव नहीं है, इसीलिए इसमें आत्मार्थ की कोई अभिव्यंजना नहीं है। इस पर आपत्ति हो सकती है कि तब तो ऐसे समाज में कला, दर्शन आदि का विकास ही नहीं होना चाहिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जबकि यूरोप में हम इनका भरपूर विकास देखते हैं। इसका उत्तर होगा कि इनका विकास केवल इस समाज में आत्मार्थ की दुर्दम्यता प्रकट करता है, किन्तु यह दृष्टि-भ्रम के कारण निरन्तर निषिद्ध रहता है। इसमें कलाओं, दर्शन आदि के रूप में ऐन्द्रिकता का अतिक्रमण होता है और यह अतिक्रमण औपाधिक मात्र के अतिक्रमण को ही अभिव्यंजित भी करता है, किन्तु दृष्टि-भ्रम के कारण इसके यथार्थ स्वरूप का ग्रहण नहीं होता और इनका नियोजन ऐन्द्रिकता की पुष्टि के लिए ही होता है। उदाहरण के लिए तार्किक प्रत्यक्षवादी दर्शन और उसके विभिन्न शास्त्रों और कलाओं में रूपांतर इस बात के प्रमाण हैं। इस प्रकार इन्द्रियवृत्तिकता किसी जाति का सच्चा अनुभव नहीं हो सकता, यह केवल दृष्टि-भ्रम ही हो सकता है। मानवीय अनुभव का तत्त्व औपाधिक के माध्यम से निरुपाधिक की झलक देखना है और संस्कृति ऐसा ही औपाधिक अनुभव है। अन्यत्र[10] हमने संस्कृति को रचनात्मक अर्थ कहा था। रचनात्मकता वास्तव में निरुपाधिक की औपाधिक व्यंजना ही है। इसे इस व्यंजना का व्यापार भी कह सकते हैं। इस व्यंजना को ही हमने वहां अपूर्ण और पूर्ण के बीच, कालिक और कालोत्तर के बीच, तनाव कहा है। यथार्थ सांस्कृतिक अनुभव इस तनाव का अनुभव ही कहा जा सकता है: हम औपाधिक के जिस स्तर पर स्थित होते हैं वह हमारा अस्तित्व होता है और इसके निरुपाधिक संकेत और तज्जन्य तनाव में हमारा यथार्थ स्वरूप।

वैयक्तिक स्तर पर भी अनुभव का यथार्थ ग्रहण उसके अतिक्रमण से ही होता है, उसके साथ तादात्म्य से नहीं। अनुभव के साथ तादात्म्य अनुभव के स्वरूप का प्रकाशन नहीं कर सकता; यह प्रकाशन, जैसाकि हमने ऊपर कहा, उसके साथ यौगपद्य से प्राप्त होता है, अर्थात् उससे विच्छेदपूर्वक सायुज्य के साथ। इसमें अनुभव का अनिवार्य विषयकरण होता है, किन्तु बिना इस विच्छेद के आत्म अनुभव-विषय में ही निश्शेष हो जाता है। पाशव अनुभव और मानवीय अनुभव में यही अन्तर है कि प्रथम में अनुभव के साथ तादात्म्यभाव रहता है और दूसरे में यौगपद्य। यह बात दूसरी है कि यौगपद्य की पर्याप्तता मनुष्य को भी दुर्लभ है। अनुभव का निर्वर्तित दृष्टि को प्रस्तुत होना, दूसरे शब्दों में, आत्म-सम्बद्ध होना, अनुभव के साथ यौगपद्य प्राप्त होना है। वास्तव में अनुभव के संबंध में भ्रान्ति का मूल भी यह निवर्तन ही है। निवर्तन विषयवृत्तिक अनुभव का आत्म की ओर अतिक्रमण है। वास्तव में सभी अतिक्रमण आत्म में अतिक्रमण ही होते हैं और इस प्रकार निवर्तन और अतिक्रमण पर्यायवाची शब्द हैं। और यह निवर्तन विषयवृत्तिक अनुभव को सार्थकता के सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है। किन्तु इस अतिक्रमण में अनुभव के एक ओर अन्यान्य विषयों में खो जाने का प्रसंग रहता है और दूसरी ओर सार्थकता के सन्दर्भ के भ्रान्त ग्रहण का। उदाहरण के

---

१०. वहीं, विशेषतः प्रथम दो अध्याय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लिए, "क्या मैं इस व्यक्ति से वास्तव में प्रेम करता हूं ?" टाल्स्टाय के अन्ना केरेनिन उपन्यास में एक प्रसंग आता है, जहां अन्ना मृत्यु-शैया पर है और उसका प्रेमी रोंस्की उसके पास खड़ा है। टाल्स्टाय उसकी मनोदशा का वर्णन करते हुए कहता है : "और उसे अनुभव हुआ कि उसने तब तक उसे वास्तव में कभी प्रेम नहीं किया था।" (पेंग्विन संस्करण, पृ. ४४७) (जबकि टाल्स्टाय ने पहले कई सौ पृष्ठों में उसके "प्रेम" का वर्णन ही किया है।) अनुभव के इस भ्रान्त ग्रहण का प्रसंग अनुभव से पूर्णतः निवर्तन घटित नहीं होने और आत्ममूलक सार्थकता के ग्रहण में भ्रम के कारण उपस्थित होता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि प्रेम वास्तव में निर्वतित दृष्टि को प्रस्तुत आत्म-सम्बद्ध अनुभव ही है, कोई मूल अनुभव नहीं है। **और यह उन सब अनुभवों के लिए सत्य है जो मनुष्य के लिए ध्यातव्य होते हैं।**

जातीय अनुभव में भ्रान्त और अभ्रान्त ग्रहण की प्रायः वही शर्तें हैं जो वैयक्तिक अनुभव के ग्रहण की हैं—केवल इस महत्वपूर्ण अन्तर के साथ कि जातीय अनुभव शरीर के स्तर पर घटित नहीं होता, और यह अन्तर इन दो प्रकार के अनुभवों में बहुत अन्तर डाल देता है। सामूहिक अनुभव प्राण और मनस् के स्तर तक घटित हो सकता है, किन्तु यह अनुभव "जातीय अनुभव" नहीं कहा जा सकता। जातीय अनुभव अहंकारावच्छिन्न बुद्धि के स्तर पर ही घटित होता है, यद्यपि तनाव के क्षणों में यह मनस् के स्तर पर भी प्रकट होता है।

× × ×

उपर्युक्त विवेचन के सन्दर्भ में देखने पर हम पाते हैं कि वैयक्तिक और जातीय दोनों स्तरों पर अनुभव हमारे लिए अधिकांश में अनवगम्य ही रहता है और हम संस्कार और विषयवृत्ति में प्रतिष्ठित रहते हैं। किन्तु विषयवृत्ति भी हमारे अनुभव के अनुकूल या प्रतिकूल हो सकती है। अनुकूल-भाव होने पर भी यह कहना उपयुक्त होगा कि हम स्वानुभव में ही प्रतिष्ठित हैं। प्रतिकूल-भाव में प्रतिष्ठा का अर्थ प्रतिकूल विषयों से साम्मुख्य नहीं है। बल्कि, प्रतिकूल विषय-साम्मुख्य स्वानुभव का बोध अधिक प्रखरता के साथ देता है। प्रतिकूल विषय-भाव में प्रतिष्ठा अनुभव के प्रतिकूल विषय को अनुकूल मानना है। आज हम जातीय रूप से इस भाव में ही प्रतिष्ठित हैं। भारत में मुस्लिमों के आगमन पर एक बार हमारी चेतना में आंदोलन उत्पन्न हुआ था और तब भक्ति-सुधा प्रवाहित हुई थी। वह आन्दोलन शांत हो गया और हम संस्कार-विजड़ित भाव में शताब्दियों तक पड़े रहे। अंग्रेजों के आगमन पर एक बार फिर आन्दोलन हुआ, और इसमें परम हंस, श्री अरविंद और गांधीजी आदि के माध्यम से हमारा जातीय अनुभव व्यक्त हुआ, किन्तु तब भी हम उसका वांछित ग्रहण नहीं कर पाये। किन्तु राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद हम प्रतिकूल विषयवृत्ति में प्रतिष्ठित होकर अपने अनुभव से न केवल दूर जा पड़े हैं बल्कि अपने को खो भी रहे हैं। आज हम उस विषयवृत्ति में प्रतिष्ठित हैं जो यूरोपीय अनुभव की प्रतिफल है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


किन्तु जो उस अनुभव का भी असम्यक्, अथवा कहें भ्रष्ट, अनुवाद है। वास्तव में यूरोपीय मानस् धार्मिक सत्य और तार्किक सत्य की खोज के दो ध्रुवों के बीच आन्दोलित रहा है। सत्रहवीं शताब्दी से धार्मिक सत्य की खोज ने अपने को उपेक्षित और तार्किक सत्य की खोज ने अपने को भौतिक प्रकृति की खोज में परिसीमित पाया और यह खोज यंत्र के अद्भुत् विकास में परिणत हुई। यांत्रिक विकास अर्थ और काम के संवर्धन में उपकरण बन गया और यूरोप ने इसी को अपनी खोज का वांछित फल मान लिया। किन्तु यह ऐसा ही है जैसे कोई ज्ञान की आकांक्षा का संतोष विश्वविद्यालय की डिग्री पाने में माने। भारतीय अनुभव पारमार्थिक सत्यपरक है। इसकी सहज प्रतिभा केवल इस भाव का ही समुचित ग्रहण कर सकती है। यही कारण है कि हमने राजनीतिक क्षेत्र में भी महात्मा गांधी को जन्म दिया और उस माध्यम में अपने अनुभव को चरितार्थ पाया; दर्शन में श्री अरविन्द, डा० भगवानदास और जड्डु कृष्णमूर्ति जैसों को ही प्रतिष्ठा मिली, वैज्ञानिकतावाद या भाषाविश्लेषण के वैतालिकों को नहीं।

यहां कहा जा सकता है कि हम विभिन्न मानव-शास्त्रों में आज उन विचारों और अभिनिवेशों का विकास देख रहे हैं जो स्वभाव में पाश्चात्य हैं—उदाहरण के लिए मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और राजनीति आदि। यह सही है, किन्तु यह विकास उसी वर्ग में है जो अपने निजी अनुभव से कटा हुआ, अप्रतिष्ठित और अजनबी है। यह वर्ग सचमुच आंखन की देखी बात नहीं कह रहा है, केवल कागद की लेखी रट रहा है, यद्यपि निश्चय ही इसका शब्द-भंडार काफी विपुल है। दुर्भाग्य की बात यह कि यही वर्ग आज शक्ति-सम्पन्न होने से हमारी शिक्षण-संस्थाओं, प्रशासन और राजतंत्र सब को अधिशासित कर रहा है, किन्तु इसके पास अपनी कोई भी दृष्टि नहीं है, केवल शब्दबाज़ी—लफ्फाज़ी है।

× × ×

जातीय अनुभव को 'स्वरूपगत' कहने और व्यक्ति या जाति की अपने अनुभव में प्रतिष्ठा की श्रेष्ठता बताने में यह आपादित प्रतीत होता है मानो अनुभव किसी स्वरूपविश्रान्त द्रव्य का स्थिर गुण हो और मानो अनुभविता इससे बहिष्कृत और इस प्रकार आत्मविमुख तो रह सकता हो किन्तु इसमें परिवर्तन नहीं हो सकता हो। ये अत्यन्त जटिल और दुरूह प्रश्न हैं और इन पर यहां विस्तृत चर्चा संभव नहीं है। इन प्रश्नों पर हम अन्यत्र[11] कुछ विचार कर चुके हैं। तो भी यहां इन प्रश्नों पर संक्षिप्त चर्चा स्थाने होगी।

---

११. द्रष्टव्य—**संस्कृतिः मानव-कर्तृत्व की व्याख्या** में अध्याय १-२ तथा **विषय और आत्म** में अध्याय ३ तथा ६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



आत्म को हमने द्रव्य नहीं माना है। जैसाकि हमने पीछे देखा, यह अनिवार्यतः ऐतिहासिक है। इसके द्रव्य नहीं होने से इसका कोई स्थिर गुण या लक्षण मानने का भी कोई प्रसंग उपस्थित नहीं होता। किन्तु इससे यह भी आपादित नहीं होता कि यह अर्जित गुणों की समष्टि है अथवा एक प्रकार की योग्यता है। इस प्रकार के मत आत्म को भाषाजनित भ्रम मानते हैं, या ऐसी ही कोई और व्याख्या देते हैं। ये मत आज आंग्ल-अमरीकी देशों में और हमारे देश के अनुकरण-शील बुद्धि-व्यवसाइयों में बहुत समादृत होने पर भी विचार करने योग्य नहीं है।

अस्तित्ववादियों ने अस्तित्व को धर्म से प्रथम और आदिम कह कर आत्म के वैलक्षण्य या वैशिष्ट्य को तो सिद्ध कर लिया किन्तु उसे निःस्वभाव भी बना दिया और इस प्रकार स्वभाव के लिए इसे अनात्म-निर्भर बना दिया। किन्तु आत्म अद्रव्य होते हुए भी अर्जित नहीं है और विलक्षण होते हुए भी निःस्वभाव नहीं है। यह अर्जित नहीं होकर आदिम है। इसे अर्जित मानने में देह को आदिम मान लिया गया है, जबकि वास्तव में आत्म देह-पर्यन्त सब उपाधियों का मूल है। आत्म के बिना देह निर्वैयक्तिक भौतिक सत्ता मात्र रह जाती है। अवश्य ही बाह्यार्थ वृत्ति में इसकी निःस्वभावता प्रकट होती है, क्योंकि इस वृत्ति में यह अनात्ममूलक अर्थों में रिक्त रहता है, किन्तु यह इसका आत्म-बहिष्करण है जो अन्ततः इसके लिए प्रवास-जन्य खेद और थकान का कारण बनता है। पाश्चात्य सभ्यता आज इसी आत्म-प्रवास की थकान से पीड़ित है। किन्तु यह इसका स्वरूप और स्वभाव नहीं है। यदि ऐसा होता तो इसमें वह थकान और निरर्थकता-बोध दृष्टिगत नहीं होता जो आज हम इसमें देख रहे हैं।

आत्म का स्वरूप बाह्यार्थों के निषेध से अपने को पाने में चरितार्थ होता है[13] जोकि आत्म-यौगपद्य अथवा आत्म-साम्मुख्य का घटित होना है। सांख्य द्वारा बाह्यार्थ का निषेध और वेदान्त द्वारा आत्मार्थ की सिद्धि (अर्थात् प्रकटतः बाह्यार्थ की यथार्थतः आत्मस्वरूपता का ज्ञान) दोनों आत्मयौगपद्य के ही दो भिन्न प्रकार से निरूपण हैं। यह यौगपद्य आत्म को उसके ऐश्वर्य और विपुलता से मंडित करता है। यह जितना सत्य व्यक्ति के लिए है उतना ही जाति के लिए भी है। जातीय आत्म अपने को सांस्कृतिक प्रत्यय के माध्यम से घटित करता हैं। बाह्योन्मुख वृत्ति में जाति आत्म-प्रवासित होकर क्षयोन्मुख होती है और अन्तरोन्मुख वृत्ति में प्रत्यय की स्वरूप-सिद्धि के माध्यम से आत्मगत वैभव को प्राप्त करती है। उदाहरणतः ग्रीक संस्कृति को ही लें जिसका मूल प्रत्यय बुद्धि अथवा लोगोस था। यह प्लेटो और अरस्तू में अन्तरोन्मुख वृत्ति में दृष्टिगत होता है; यही कांट, ह्यूम और उत्तरवर्ती दार्शनिकों में बाह्योन्मुख वृत्ति में दृष्टिगत होता है। भारतीय संस्कृति का मूल प्रत्यय

१२. यशदेव शल्य-निर्विषय ज्ञान, दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर १९७३.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अध्यात्म-साधना है। यह वेदान्त, सांख्य और बौद्ध तथा जैन दर्शनों में अन्तरोन्मुख वृत्ति में दृष्टिगत होता है और भक्ति तथा कर्मकांडीय मार्गों में बाह्योन्मुख वृत्ति में। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि ये सर्वथा स्वतंत्र प्रत्ययों के रूप में देखे जा सकते हैं, एक प्रत्यय के अन्तर्गत नहीं। किन्तु ऐसा नहीं है। ये सब मार्ग वास्तव में एक ही प्रत्यय की विविध अभिव्यक्तियां हैं। जो आपत्ति उचित प्रतीत हो सकती है वह यह कि ये भी वास्तव में बाह्यार्थवृत्तिक नहीं हैं क्योंकि इन्होंने कभी इन साधनाओं को पृथक् मार्ग नहीं माना, केवल परम मार्ग के लिए तैयारी मात्र माना। इस पर हम यहां इतना ही कहेंगे कि यह दृष्टि होने पर यह वृत्ति उचित रूप से बाह्योन्मुख नहीं होगी, अन्यथा होगी।

इससे संदेह हो सकता है कि ऐसी जाति के जीवन में विज्ञान, कला, शास्त्रों आदि के लिए क्या स्थान हो सकता है? वास्तव में जीवन के जितने स्तर हैं उतने ही अनुभव के स्तर भी हैं और चेतना उन सब स्तरों पर रचनात्मक अर्थों के माध्यम से संचरित होती है। ये सब अर्थ इस अर्थ में सांस्कृतिक कहे जा सकते हैं कि ये चेतना के सृजनात्मक या रचनात्मक व्यापार हैं। और जब हम कलात्मक अनुभव, वैज्ञानिक अनुभव आदि की बात करते हैं तब इसका आशय यह होता है कि ये चेतना की अन्तरोन्मुख वृत्ति में प्रस्तुत होकर आत्म की स्वरूप-प्राप्ति या स्वरूपानुसंधान में निमित्त बनते हैं। इस प्रकार कला-साधना या विज्ञान-विमर्श चेतना के आत्म-वृत्तिक व्यापार हैं और इनमें नियुक्त चेतना आत्मानुध्यायी होती है। किन्तु इनमें निरूपित आत्म केवल व्यंग्यतया ग्राह्य होता है और इसकी व्यंजक उस स्तर की उपाधि बनती है। प्रायः होता यह है कि हम व्यंग्य का ग्रहण छोड़कर उपाधि का ही भजन करने लगते हैं और इस प्रकार ये व्यापार व्यंजक के बजाय उपाहक बन जाते हैं। इस प्रकार इनमें अनुभव की केवल बाह्यार्थवृत्ति ही प्राप्त होती है। किन्तु महान् कला और विज्ञान सदैव अपने से परे आत्मस्वरूप को अभिव्यंजित करते हैं और उसके प्रकाश में औपाधिक अनुभव को निरूपित करते हैं।

× × ×

ऊपर हमने "अनुभव" और "अनुभव में प्रतिष्ठा" के अर्थ पर विचार किया। यह भी देखा कि हमारे जातीय अनुभव का मूल स्वरूप क्या है। किन्तु आज हम जिस स्थिति में हैं, बाहरी और भीतरी संकट की अवस्था में, उसमें हमारा अनुभव क्या है।

जैसाकि हमने ऊपर संकेत किया, वास्तव में आज हमारा संकट अपने अनुभव से च्युत होने से ही उत्पन्न संकट है। अनुभव से यह च्युति दो प्रकार से होती है; एक, किसी जाति के प्राण-तत्त्व में ही क्षय रोग उत्पन्न हो जाने से, जब यह जाति भीतर संस्कृति को और बाहर सर्जन-व्यापार को खो बैठती है। मानव-इतिहास में इस प्रकार के क्षय के अनेक उदाहरण हैं—सुमेरी, माया, ग्रीक आदि सभ्यताएं इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्रकार क्षय-ग्रस्त हुईं; कुछ जातियां सभ्यता के स्तर तक उठ ही नहीं पायीं। दूसरे प्रकार की च्युति अननुभव को अनुभव समझने से होती है। हमारा संकट अभी केवल दूसरे प्रकार का ही है। किन्तु यह संकट व्यापक और गंभीर होने पर प्रथम प्रकार के संकट को भी उत्पन्न करता है। वास्तव में अधिकांश में, जातियों में प्राण-तत्त्व का ह्रास इस कारण ही आरंभ होता है कि ये सुख-सम्पदा को, सर्जनशीलता की बाह्य परिणतियों को, ही यथार्थ अनुभव समझ बैठती हैं। किन्तु हमारे साथ इस समय स्थिति इससे भी भिन्न और विकटतर है। हम ऐन्द्रियवाद का दर्शन के रूप में अनुधावन कर रहे हैं और ऐन्द्रिय सुखों का मूल्य के रूप में अन्वेषण। इसमें आशा की किरण केवल यह है कि यह स्थिति दर्शन और मूल्य के रूप में अभी केवल ऊपरी सतह तक ही है; बल्कि, यह सतह हमारे गहनतर अनुभव से कटी हुई है। अभी केवल स्थिति यह है कि समाज का वह वर्ग, जो अनुभव को मनन-दृष्टि के लिए प्रस्तुत करता है, अथवा कहें, जो जातीय अनुभव का अनुध्यायी होता है, वही आज पराङ्मुख है और इस प्रकार हम आज विमूढ़ावस्था में हैं।

——=——

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# धार्मिक अनुभूति का स्वरूप*

लक्ष्मीनिधि शर्मा

धर्म के हमें अनेक परस्पर विरोधी रूप देखने को मिलते हैं। धर्म की इस विविधता एवं विषमता के कारण धर्म-दार्शनिक एक विचित्र उलझन में पड़ जाता है। इस वैविध्य के फलस्वरूप धर्म के स्वरूप के बारे में कोई निश्चित धारणा बनाना कठिन हो जाता है। जब वह धर्म के मूल स्वरूप का निर्णय करने की चेष्टा करता है तो उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। धर्म में मूर्ति-पूजा तथा मूर्ति-खण्डन दोनों को समान महत्त्व दिया जाता है। आत्मवाद, ईश्वरवाद एवं कर्मकाण्ड के साथ-साथ अनात्मवाद एवं अनीश्वरवाद आदि धर्म के रूप में स्वीकार किये गये हैं। इन विरोधी मान्यताओं के संदर्भ में धर्म के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण प्रायः असम्भव-सा लगता है। यदि परस्पर विरोधी सिद्धान्त एवं व्यवहार समान रूप में धार्मिक माने जाते हैं तो क्या धर्म आत्म-विरोधी नहीं ?

इसी प्रकार ज्ञान, कर्म, भाव तथा संस्कार आदि के बारे में भी धर्म में अत्यधिक वैषम्य पाया जाता है। इनमें से कौनसा तत्त्व धर्म में केन्द्रीय स्थान रखता है, इस प्रश्न पर काफी विवाद देखा जाता है। अधिकांश विचारक यह स्वीकार करते हैं कि धर्म का मूल स्वरूप किसी क्रिया, संकल्प अथवा सिद्धान्त की अपेक्षा अनुभूति में निहित है। धर्म किसी कर्म, विश्वास अथवा मान्यता पर आधारित नहीं है। यद्यपि ये सभी तत्त्व धर्म में महत्त्वपूर्ण होते हैं, तथापि ये उसके अनिवार्य स्वरूप के द्योतक नहीं होते। वस्तुतः व्यापक चिन्तन के फलस्वरूप आज यह माना जाता है कि धार्मिक अनुभूति ही धर्म का प्राण है तथा इसके अभाव में समस्त धार्मिक व्यवहार और मान्यताएं कोरी और निरर्थक हैं। अनुभूति की पृष्ठभूमि पर ही समस्त धार्मिक तथ्य सार्थक प्रतीत होते हैं। अनुभूति-रहित धार्मिक आचरण और कथन एक ऐसे बालक के प्रेमाचरण और प्रेमालाप के समान हैं जिसे कभी वास्तविक प्रेम की अनुभूति नहीं

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के उन्नीसवें वार्षिक अधिवेशन में धर्म-दर्शन विभाग के अध्यक्ष-पद से भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


हुई है। केवल अनुभूति के संदर्भ में ही धर्म का वास्तविक अर्थ समझा जा सकता है।

यही करण है कि प्रायः सभी धार्मिक परम्पराओं में हमें पैगम्बर और पुरोहित का संघर्ष देखने को मिलता है। पुरोहितवाद और पैगम्बरवाद का यह परम्परागत विरोध धर्म में अनुभूति-पक्ष की न्यूनता और प्रधानता पर आधारित होता है। कई कारणों से जब धर्म में अनुभूति का अभाव होने लगता है तो परम्परा को जीवित रखने के लिए पुरोहित वर्ग धर्म के केवल बाह्य रूपों को महत्त्व देने लगता है। इस अवस्था में आडम्बर, रूढ़ियां एवं कर्मकाण्ड धर्म के प्रमुख अंग बन जाते हैं और आन्तरिक अनुभूति गौण हो जाती है। इस प्रवृत्ति के दुष्प्रभाव की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए पैगम्बर बाह्य आचरण और कोरे विश्वास की अपेक्षा आन्तरिक अनुभूति पर विशेष बल देता है तथा धर्म के बाह्य पक्ष की उपेक्षा करता है। धर्म का इतिहास यह सिद्ध करता है कि अनुभूति धर्म का वह निरवच्छिन्न स्रोत है जिससे सभी धार्मिक कर्म-काण्ड एवं विश्वास उत्पन्न होते हैं। इस स्रोत के सूख जाने पर धर्म क्षीण और मृतप्राय होकर कोरा आडम्बर और रूढ़ि बन जाता है।

धर्म को समझने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को किसी न किसी मात्रा में धार्मिक अनुभूति उपलब्ध हो। जो व्यक्ति कभी जीवन में धार्मिक अनुभूति के किसी भी रूप से परिचित नहीं हो सका है वह धर्म के स्वरूप को समझने में असमर्थ है। धर्म का सफल अध्ययन एवं विवेचन केवल अनुभूति के माध्यम से संभव है। ऑटो जैसे विचारकों ने इस तथ्य पर काफी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार समस्त धार्मिक विचार एवं व्यवहार अनुभूति-परक होते हैं। धर्म-दर्शन के अध्ययन से भी यह निष्कर्ष स्थापित होता है।

## II

धार्मिक अनुभूति क्या है? कुछ विद्वानों के अनुसार यह धार्मिक व्यक्तियों को उनकी विशिष्ट मनःस्थिति में उपलब्ध होने वाली अनुभूति है। अथवा, जो अनुभूति व्यक्ति को धार्मिक परिवेश में प्राप्त होती है उसे धार्मिक अनुभूति कहा जा सकता है। अपने मूल रूप में धार्मिक अनुभूति एक विशिष्ट ज्ञान, बोध अथवा दृष्टि की द्योतक है। यह एक प्रकार की प्रज्ञा है जिसमें अदृश्य अथवा अगम्य का साक्षात्कार होता है। यह एक ऐसी अन्तर्दृष्टि है जहां बाह्य और आन्तरिक का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है और व्यक्ति को परमार्थ की अपरोक्षानुभूति होती है। यह 'साइकिल का अनुभव', 'अध्यापन का अनुभव' तथा 'सेवा का अनुभव' जैसे वाक्यों में प्रयुक्त 'अनुभव' से भिन्न है। धार्मिक अनुभूति उस अनुभव की द्योतक है जो व्यक्ति को 'धर्म-परिवर्तन', 'अन्तर्दृष्टि,' 'आत्म-बोध' अथवा 'दिव्य-ज्ञान' के क्षणों में प्राप्त होती है। किसी रूढ़िवादी अथवा कर्मकाण्डी व्यक्ति की अपेक्षा यह संतों, पैगम्बरों और योगियों को उपलब्ध होने वाली रहस्यानुभूति है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


धार्मिक अनुभूति की प्राप्ति वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण, आन्तरिक असन्तोष, कुण्ठा, संकट, आत्मचिन्तन तथा रहस्य-बोध की स्थिति में हो सकती है। कभी-कभी देश-काल के स्वरूप पर गहन चिन्तन करने पर भी यह उपलब्ध हो सकती है। जिन वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप धार्मिक अनुभूति प्राप्त होती है वे प्रायः असामान्य तथा अद्भुत होती हैं। असामान्य दृश्य अथवा घटना का अनुभव होने पर कुछ संवेदनशील व्यक्तियों को यह सहज प्राप्त हो सकती है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें विशाल प्राकृतिक दृश्य (समुद्र, मरुस्थल, आकाश, वन-पर्वत) अथवा विचित्र पदार्थों के प्रत्यक्षीकरण मात्र से व्यक्तियों को धार्मिक अनुभूति सुलभ हुई है।

धार्मिक अनुभूति के विविध रूप दिखाई पड़ते हैं। अनुभूति की गहनता के आधार पर हम इन रूपों में क्रमिक भेद कर सकते हैं। प्रारम्भिक, अस्थिर एवं अल्पकालिक अनुभूति से लेकर तीव्र एवं पूर्ण विकसित रहस्यानुभूति तक कई स्तर-भेद किये जा सकते हैं। यह प्रारम्भ में अस्पष्ट, अल्प एवं अस्थिर होती है। किन्तु जैसे-जैसे व्यक्ति की धार्मिक प्रगति होती है, यह उत्तरोत्तर गहन, स्पष्ट एवं स्थायी होने लगती है। धार्मिक लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति अथवा पूर्ण समाधि की अवस्था में धार्मिक अनुभूति की पराकाष्ठ होती है।

धार्मिक अनुभूति में तीन तत्त्व निहित रहते हैं। प्रथम, यह एक विशिष्ट संवेग अथवा भाव की अवस्था है। दूसरे, इसमें जीवन और सत्य की एक पूर्ण स्वायत्त व्याख्या तथा मूल्यांकन निहित है जो 'पावन' का प्रतीक है। तीसरे, यह पदार्थों के शाश्वत स्वरूप का सहज ज्ञान है जो बौद्धिक ज्ञान से स्वतंत्र है। यह पौराणिक गाथाओं, प्रतीकों और प्रत्ययों के रूप में विकसित होता है। ये तीन तत्त्व मानव चेतना में निहित भाव, संकल्प एवं ज्ञान पक्ष के द्योतक हैं।

इन तीन तत्त्वों में कौनसा तत्त्व धार्मिक चेतना में केन्द्रीय स्थान रखता है, इस प्रश्न पर दार्शनिकों में काफी मतभेद पाया जाता है। अधिकांश विचारकों के अनुसार ज्ञान और संकल्प की अपेक्षा भाव धर्म में प्रधान होता है। भाव धार्मिक अनुभूति का प्राण है। भाव के अभाव में अनुभूति संभव नहीं। किन्तु इसके विपरीत कुछ विचारक ज्ञान अथवा संकल्प को धर्म का प्रधान अंग मानते हैं। वास्तव में ये सभी मत एकांगी एवं सीमित हैं। धार्मिक अनुभूति को किसी एक तत्त्व तक सीमित करना संभव नहीं। व्यक्तियों के स्वभाव एवं परिस्थिति के आधार पर उनकी अनुभूति में किसी एक तत्त्व की प्रमुखता हो सकती है किन्तु यथार्थ में ये तीनों तत्त्व प्रत्येक अनुभूति में उपस्थित रहते हैं। धार्मिक अनुभूति स्वयं में तत्त्वातीत एवं अवर्णनीय होती है। इसे भाव, संकल्प आदि की परिधि में बांधना संभव नहीं। यदि भाव, संकल्प आदि को धार्मिक अनुभूति का मूल स्वरूप माना जाता है तो यह सामान्य न होकर एक विशिष्ट भाव अथवा संकल्प होगा। इसमें किसी न किसी रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



में चेतना के सभी मुख्य तत्त्व विद्यमान रहेंगे । इसीलिए प्रायः सभी धार्मिक परम्पराओं में इसका 'अपरोक्षानुभूति' के रूप में वर्णन किया गया है ।

कुछ बार्थवादी विचारकों के अनुसार धार्मिक अनुभूति सर्वथा स्वतंत्र अनुभूति नहीं हो सकती । यह एक इन्द्रियातीत सत्य के साक्षात्कार से उत्पन्न होती है अतः इसकी व्यक्तिपरक व्याख्या समुचित तथा सफल नहीं हो सकती । धार्मिक सत्य एवं वातावरण के संदर्भ में ही इसका पूर्ण अर्थ समझा जा सकता है । यह सदैव एक 'पर' तत्त्व की ओर संकेत करती है, उसी से प्रेरित होती है तथा वही इसका मूल स्रोत है । चूंकि यह अनुभूति 'पर' केन्द्र से जीवित रहती है अतः इसकी मानवपरक व्याख्या की अपेक्षा इसकी ईश्वरपरक व्याख्या होनी चाहिये । मूलतः यह धार्मिक सत्य अथवा ईश्वर के प्रति उत्पन्न होने वाली मानव-अनुभूति है । दूसरे शब्दों में, पर सत्य जब स्वयं को व्यक्ति के सामने प्रकाशित करता है तब धार्मिक अनुभूति प्रकट होती है । इस प्रकार धार्मिक सत्य का स्वयं-प्रकाशन ही धार्मिक अनुभूति है ।

किन्तु कई विचारक इस बार्थवादी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते । धार्मिक सत्य का निर्णय करने के लिये हमारे पास धार्मिक अनुभूति के अतिरिक्त अन्य कोई साधन उपलब्ध नहीं है । अनुभूति से स्वतंत्र सत्य की स्थापना संभव नहीं । अनुभूति ही वह माध्यम है जिसके द्वारा हमें सत्य का ज्ञान हो सकता है । अतः अनुभूति को सत्य पर आश्रित करने की अपेक्षा हमें अनुभूति की प्राथमिकता एवं स्वायत्तता स्वीकार करनी होगी ।

## III

धार्मिक अनुभूति के स्वरूप का विवेचन करने पर हमें यह पता लगता है कि वह मूलतः द्वन्द्वात्मक होती है । इसके स्वरूप की अभिव्यक्ति प्रायः द्वैधपरक होती है । संतों और योगियों ने इसका वर्णन विरोधाभास के रूप में किया है । इसका कारण संभवतः यह है कि धार्मिक अनुभूति में व्यक्ति प्रस्तुत से अप्रस्तुत, दृश्य से अदृश्य, अपर से पर की ओर 'गमन' करता है । यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें 'यहां' से 'वहां' की छलांग निहित है । इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप धार्मिक अनुभूति के वर्णन में 'इस पार' और 'उस पार' के द्वन्द्व की बहुलता रहती है । धर्म तथा रहस्यवाद में दोनों किनारों को जोड़ने की चेष्टा अनुभूति के माध्यम से स्पष्ट परिलक्षित होती है ।

धार्मिक परम्पराओं में मार्ग और लक्ष्य की कल्पना महत्त्वपूर्ण होती है । 'ताओ', तीर्थंकर, प्रज्ञा-पारमिता जैसी कई धारणाएं धर्म में मिलती हैं । मार्ग और लक्ष्य की कल्पना के आधार पर संसार और निर्वाण, व्यवहार और परमार्थ का द्वन्द्व धर्म में कई प्रकार से प्रकट होता है । इस द्वन्द्व की अभिव्यक्ति दृश्य-अदृश्य, सीमित-असीमित, विद्या-अविद्या, आत्मा-परमात्मा, भय-प्रेम, बन्धन-मोक्ष आदि रूपों में देखी जाती है । यह द्वन्द्व वस्तुतः संसार और निर्वाण की खाई को पाटने की प्रक्रिया का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



द्योतक है। इस प्रक्रिया का लक्ष्य धार्मिक अनुभूति के माध्यम से दृश्य और अदृश्य की सीमा को लांघकर अदृश्य का दर्शन कराना है। द्वन्द्व का प्रथम चरण 'दर्शन' की पूर्व भूमिका का द्योतक है जिसकी परिसमाप्ति द्वन्द्व के दूसरे चरण में होती है। इसीलिये प्रायः सभी धार्मिक परम्पराओं में दुःख, अभाव, सीमा, मृत्यु, शून्य आदि की अनुभूति से धार्मिक प्रगति प्रारम्भ होती है। द्वन्द्व के प्रथम चरण की अनुभूति ही धार्मिक चेतना की प्रतीक है। संतों और पैगम्बरों के जीवन में यही नियम देखा जाता है।

यह द्वन्द्वात्मक अनुभूति प्रत्येक धर्म में अनिवार्य स्थान रखती है। यदि प्रारम्भ में किसी धर्ममें इस द्वन्द्व का एक चरण अनुपस्थित रहता है तो उत्तरकाल में दूसरा चरण भी प्रकट हो जाता है। उदाहरण के लिये प्रारम्भिक इस्लाम में 'प्रेम' आदि तत्त्वों का अभाव देखा जाता है। किन्तु उत्तरकालीन इस्लाम में ये तत्त्व सूफी आदि सम्प्रदायों में विकसित हो जाते हैं। इस द्वन्द्व की अभिव्यक्ति करते हुए संत ऑगस्ताइन कहते हैं 'मैं शून्य और सर्व हूं।' कबीर की वाणी में तथा शिव के स्वरूप की कल्पना में द्वन्द्व का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग दिखाई पड़ता है।

## IV

धार्मिक अनुभूति को ज्ञानात्मक कहां तक माना जा सकता है? धार्मिक व्यक्तियों को अनुभूति के क्षणों में दिव्य सत्य का जो ज्ञान होता है उसे कहां तक वास्तविक ज्ञान कहा जा सकता है? उदाहरण के लिये, विषपान करते समय मीरा को अथवा अग्नि में बैठे हुए प्रह्लाद को जो अनुभूति हुई क्या उसे ज्ञान माना जा सकता है? स्पष्टतः धार्मिक अनुभूति के क्षणों में व्यक्ति को जो ज्ञान प्राप्त होता है वह सामान्य ज्ञान से भिन्न होता है। इन्द्रिय अथवा बौद्धिक ज्ञान की अपेक्षा यह दिव्य दृष्टि, प्रज्ञा, अन्तर्बोध अथवा सहजज्ञान का प्रतीक है। धार्मिक अनुभूति में जो ज्ञान प्राप्त होता है वह सौन्दर्य ज्ञान के समान है। रसानुभव के समान यह कोरा बौद्धिक अथवा एन्द्रिक ज्ञान नहीं। यह एक विशिष्ट ज्ञान का द्योतक है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का सामान्य द्वैत नहीं रहता।

अनुभूति ही वास्तव में समस्त ज्ञान का स्रोत है। अनुभूति से ही ज्ञान प्रारम्भ होता है और अनुभूति में ही ज्ञान का अन्त होता है। बुद्धि एवं इन्द्रियां अनुभूति की साधन हैं। अनुभूति पर आधारित होकर ही वे कार्य करती हैं। अनुभूति परोक्ष न होकर अपरोक्ष होती है। और अपरोक्षानुभूति ही धार्मिक अनुभूति का मूल स्वरूप है। यह बाह्य पदार्थ, कर्म-काण्ड तथा तर्क आदि के माध्यम से प्रकट हो सकती है, किन्तु उनका परिणाम नहीं होती। इसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी समाप्त होकर केवल प्रज्ञा शेष रहती है।

धार्मिक अनुभूतिजन्य ज्ञान को वास्तविक ज्ञान कहां तक कहा जा सकता है? इस संदर्भ में धार्मिक अनुभूति की प्रकृतिवादी, मनोविश्लेषणवादी व्याख्याएं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विचारणीय हैं। मार्क्स, फ्रायड तथा अन्य प्रकृतिवादी विचारक धार्मिक ज्ञान को आर्थिक-सामाजिक अथवा भौतिक परिस्थितियों की उपज मानते हैं। धर्म इनके अनुसार एक ऐसा भ्रम है जिसके द्वारा व्यक्ति की मनोकामना की पूर्ति होती है।

ऐसे सभी प्रकृतिवादी दृष्टिकोणों का विवेचन न करते हुए यहां इतना ही उल्लेख करना समुचित होगा कि धार्मिक अनुभूति की प्रकृतिवादी व्याख्या समुचित अथवा पूर्ण नहीं हो सकती। उत्पत्ति की विधि का विवेचन सत्य और मूल्य का प्रतीक नहीं हो सकता, प्रकृतिवादी व्याख्या धर्म के सत्य का निर्णायक नहीं हो सकती। धर्म आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य परिस्थितियों के द्वारा प्रभावित हो सकता है किन्तु उनसे उत्पन्न नहीं होता। कीचड़ में कमल खिलता है किन्तु यह कमल का कारण नहीं। इसके अतिरिक्त धर्म स्वयं इन परिस्थितियों पर प्रभाव डालता है और उनको परिवर्तित करता है। धार्मिक अनुभूति केवल सीमित अर्थ में उत्पन्न और विकसित होती है। वास्तव में यह नित्य और अपरोक्ष होती है। धार्मिक अनुभूति की प्रकृतिवादी व्याख्या पूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकृतिवादी व्याख्याओं में भी परस्पर विरोध है।

मनोविश्लेषण भी धर्म के सत्य की व्याख्या नहीं कर सकता। यद्यपि यह सत्य है कि धार्मिक अनुभूति प्रायः असामान्य जीवन के संदर्भ में प्रकट होती है, तथापि यह उसके मूल्य और सत्य का निर्णायक नहीं है। संभवतः असामान्यता एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा धार्मिक अनुभूति प्रकट होती है। काम तथा अचेतन इच्छाओं की तृप्ति का माध्यम मानने से भी धार्मिक अनुभूति की भ्रामकता अथवा आत्मनिष्ठता सिद्ध नहीं होती। प्रेय अथवा तृप्तिकारक होने के कारण ही व्यक्ति इसकी ओर आकर्षित होता है। मन्दिर में उपासना, कीर्तन आदि की ओर व्यक्तियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये धर्म में कई आकर्षक उपायों का प्रयोग किया जाता है। उपनिषद् में आत्मरति तथा आत्मानन्द की धारणा इसीलिए महत्त्वपूर्ण है। आत्मा अथवा ब्रह्म ही एकमात्र पूर्ण रस है।

यह एक सामान्य तथ्य है कि अधिकांश संत और महात्माओं का जीवन प्रायः असामान्य रहा है। जनसाधारण की दृष्टि में वे प्रारम्भ में पागल दिखाई पड़ते थे। मीरा, बुद्ध, महर्षि रमण आदि के जीवन से यह स्पष्ट हो जाता है।

इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि धार्मिक अनुभूति की आत्मनिष्ठता सिद्ध न होने पर भी उसकी प्रामाणिकता स्थापित नहीं होती। यदि धार्मिक अनुभूति को वास्तविक मान लिया जाय तब भी उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। धार्मिक अनुभूति में जो सत्य सम्बन्धी दावा निहित है वह कहां तक ठीक है; इस प्रश्न पर विचार करते समय सर्वप्रथम हमें धार्मिक अनुभूति की स्वायत्तता स्वीकार करनी होगी। नैतिक, कलात्मक तथा व्यावहारिक अनुभूति के समान धार्मिक अनुभूति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भी स्वायत्त होती है। अन्य अनुभूति के मापदण्ड से इसका निर्णय नहीं हो सकता। धार्मिक अनुभूति की सत्यता का प्रमुख चिह्न यह है कि उससे व्यक्ति के जीवन पर अद्भुत् कल्याणकारी प्रभाव पड़ता है। यही नहीं, धार्मिक व्यक्ति के सम्पर्क में आने वाले अन्य मनुष्यों पर भी शुभ प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार पारस मणि के सम्पर्क से लोहा भी स्वर्ण बन जाता है उसी प्रकार धार्मिक अनुभूति से तुच्छ मनुष्य भी संत बन जाता है। वाल्मीकि जैसे अनेक उदाहरण धर्मों में देखने को मिलते हैं।

क्या धार्मिक अनुभूति सर्वथा व्यक्तिगत होती है? क्या इसकी कोई सार्वभौम कसौटी संभव है? एक प्रकार से निजी होने पर भी धार्मिक अनुभूति सार्वभौम हो सकती है। समुचित योग्यता, साधन तथा प्रयत्न के द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार रंग को वही देख सकता है जिसमें देखने की क्षमता हो उसी प्रकार धार्मिक अनुभूति को केवल वही प्राप्त कर सकता है जिसमें समुचित क्षमता हो। इसी संदर्भ में दैवी-अनुग्रह, दिव्य दृष्टि, दिव्य चक्षु आदि का उल्लेख धर्म में मिलता है। विज्ञान के समान धर्म के क्षेत्र में भी हमें विशेषज्ञ स्वीकार करने होंगे। संत, पैगम्बर तथा भक्त धर्म के विशेषज्ञ होते हैं और धार्मिक प्रश्नों पर उनका निर्णय हमें स्वीकार करना चाहिये। अंतिम एवं पूर्ण प्रमाण जीवन में कहीं उपलब्ध नहीं होता। वाह्य वस्तुओं की सत्ता एवं स्वयंप्रमाण के बारे में भी अभी तक सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो सका है।

यह प्रश्न उठता है कि धर्म के क्षेत्र में विविधता एवं विरोध क्यों दिखाई पड़ता है? किन्तु विचार करने पर सिद्ध होता है कि धर्म के क्षेत्र में भी एक प्रकार की मूल एकता है। धार्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति में भिन्नता और विरोध हो सकता है किन्तु स्वयं अनुभूति में कोई विरोध नहीं होता। जो विविधता दिखाई पड़ती है, वह परिस्थिति, दृष्टिकोण और वातावरण पर निर्भर होती है। संभवतः यह विविधता अधिकारी-भेद पर आधारित है। व्यक्तियों के स्वभाव, योग्यता आदि के आधार पर उनकी अनुभूति भी भिन्न हो सकती है।

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

---

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

**गोष्ठी**

# निश्चय और व्यवहार

कमलचन्द सोगानी

विश्व के धार्मिक इतिहास में ऐसे अनेकों व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभव को जीवन का चर्मोत्कर्ष स्वीकार किया है। ऐसे व्यक्ति किसी देश, जाति, समाज आदि के बंधन से बंधे हुए नहीं हैं। विभिन्न वातावरण, व विभिन्न देशकाल, विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में उत्पन्न व्यक्तियों ने एक ही प्रकार के आध्यात्मिक अनुभवों की घोषणा की है। इससे प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक अनुभव वैज्ञानिक अनुभव की भांति मानव-जाति की सम्पत्ति है। इन आध्यात्मिक अनुभव करने वालों को विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। उदाहरणार्थ योगी,सन्त, तीर्थंकर, केवली,बोधिसत्व, सूफी, शुद्धोपयोगी, अर्हन्, स्थितप्रज्ञ इत्यादि। सभी योगियों, तीर्थंकरों आदि ने उस अनुभव को परामानसिक एवम् इन्द्रियातीत घोषित किया है। उसे एक अपूर्व अन्तर्दृष्ट्यात्मक अनुभव कहा गया है। भाषा के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति एक समस्या है। मौन के द्वारा ही वह उत्तम रूप से अभिव्यक्त हुआ है। वह अनुभव शान्त एवम् निश्शब्द है। पर जब इस अन्तर्दृष्ट्यात्मक आध्यात्मिक अनुभव की अभिव्यक्ति का प्रयास किया जाता है तब हम तुरन्त मानसिक–बुद्ध्यात्मक स्तर पर उतर आते हैं। बुद्धि के द्वारा उसको समझने का प्रयास प्रारंभ होता है। बुद्धि विश्लेषणात्मक होती है। वह दृष्टियों के माध्यम से अनुभव को पकड़ना एवम् अभिव्यक्त करना चाहती है। वह इस अनुभव को दूसरों के लिये बुद्धिगम्य बना देना चाहती है। बौद्धिक स्तर अनुभव को सामाजिक बनाने का प्रयास है। इस प्रयास में अनुभव अपनी मौलिकता खो देता है और वह एक अर्थ में सामाजिक बन जाता है। बुद्धि प्रत्ययों के माध्यम से कार्य करती है। इसलिए वह आध्यात्मिक अनुभव के खण्ड-खण्ड कर देती है। पर मानव के पास इस अनुभव को दूसरों तक पहुँचाने का बुद्धि और भाषा के अतिरिक्त और कोई माध्यम भी तो नहीं है। अनुभव के सामाजीकरण के लिए बुद्धि और प्रत्ययात्मक भाषा एकमात्र शरण है। जैन दर्शन में उस आध्यात्मिक अनुभव को व्यक्त करने के लिये जिस शैली का उपयोग किया गया है उसे हम "नय" शैली कहते हैं और जिन नयों का उपयोग किया गया है उन्हें हम निश्चय-नय और व्यवहार-नय कहते हैं। पर यह ध्यान रहे कि अनुभव इन दोनों नयों से अतीत है। आचार्य कुन्द कुन्द ने कहा है: "नय पक्ष से रहित जीव आत्मा का अनुभव करता हुआ दोनों नयों के कथनों को मात्र जानता है। और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उन्हें किंचित मात्र भी ग्रहण नहीं करता"। (समयसार १४३) इसका अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक अनुभव नयातीत है।

जैन दर्शन की यह नय शैली उसके अनेकान्तवाद का परिणाम है। वस्तु के स्वरूप को कहने के लिए जैन दार्शनिकों ने विभिन्न नयों का उपयोग किया है। उन सब नयों का विभाजन हम दो प्रकार से कर सकते हैं :

(१) तथ्यात्मक

(२) मूल्यात्मक

द्रव्यार्थक और पर्यायार्थक नय तथा इन्हीं के भेद रूपों में नैगम, संग्रह आदि सात नय तथ्यात्मक हैं। निश्चय और व्यवहार मूल्यात्मक नय हैं और इनका उपयोग जीव की आध्यात्मिक यात्रा को व्यक्त करने के लिए ही किया जाता है। नयों का यह उपर्युक्त विभाजन ऐसा ही है जैसे जैन दर्शन में ७ तत्त्वों और छह द्रव्यों का है। सात तत्वों का उद्देश्य मूल्यात्मक है जो जीव की निम्नतम अवस्था से उच्चतम अवस्था की ओर अग्रसर होने के मार्ग को अभिव्यक्त करता है। छः द्रव्यों का वर्णन तात्त्विक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है। अर्थात् मनुष्य के सामने जब प्रश्न जीव के विकास का होता है तब दृष्टि मूल्यात्मक होती है और सात तत्त्वों का सहारा ग्रहण करती है। पर जब प्रश्न जगत् के अन्तिम तत्वों को समझने का होता है तो दृष्टि तथ्यात्मक होती है और द्रव्यों के रूप में प्रकट होती है। यहां यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि तथ्य और मूल्य का विभाजन वस्तुस्थिति में नहीं होते हुए भी बुद्धि के दृष्टिकोण से अवश्य उपस्थित है।

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि जैन दर्शन की निश्चय और व्यवहार शैली जीव के विकास का उद्घाटन करने वाली मूल्यात्मक शैली है। इस शैली को परिपक्व अवस्था तक पहुंचाने का श्रेय आचार्य कुन्द कुन्द को है। उनके समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थ इस शैली का निरूपण करने वाले अद्वितीय ग्रन्थ हैं। निश्चय नय जीव के शुद्ध स्वरूप का कथन करने वाली दृष्टि है और व्यवहार नय उसके अशुद्ध स्वरूप का कथन करती है। इसलिए समयसार में कहा गया है कि निश्चय नय भूतार्थ है और व्यवहार नय अभूतार्थ है। (समयसार ११) मूल्यात्मक दृष्टि से जीव का शुद्ध स्वरूप ही ग्राह्य है और जीव का अशुद्ध स्वरूप अग्राह्य है। यदि निश्चय नय आत्मापेक्षी है तो व्यवहार नय समाजापेक्षी है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राग और द्वेष, शुभ और अशुभ, मान और अपमान, घृणा और प्रेम आदि समाजलक्षी हैं। "दूसरे" के अस्तित्व के बिना इन द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति संभव नहीं है। इसलिए कहा गया है कि यह सब व्यवहार है। आत्मा राग-द्वेष-रहित है, मान-अपमान-रहित है, ऐसा जो कहा गया है वह आत्मापेक्षी दृष्टि है इसलिए निश्चय नय है। मैं यहाँ यह प्रश्न उपस्थित नहीं कर रहा हूं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



क्या आत्मापेक्षी दृष्टि समाजापेक्षी नहीं हो सकती ? मेरा मानना यह है कि आत्मापेक्षी दृष्टि वाला ही शुद्ध सामाजिक दृष्टि वाला हो सकता है। इस बात का अधिक विवेचन करना अप्रासंगिक होगा। निश्चय और व्यवहार के संदर्भ में मैं यही कहना चाहता हूं कि आत्मापेक्षी होना निश्चय है और परापेक्षी होना व्यवहार है। परापेक्षी का अर्थ है राग-द्वेष, शुभ-अशुभ, तथा शरीर एवं अन्य की दृष्टि वाला होना। उदाहरणार्थ, निश्चय नय से जीव रूप, रस गन्ध-रहित चेतना गुण वाला, किसी चिह्न से ग्रहण न होने वाला तथा आकार-रहित है। (समयसार ४६)। किन्तु व्यवहार-नय से जीव रूप, रस, गंध वाला, राग द्वेष का कर्त्ता, सुख-दुःख का भोक्ता तथा स्वदेह परिमाण वाला है। जीव कर्मों से स्पर्शित है, यह व्यवहार-नय की दृष्टि है। किन्तु जीव कर्मों से अस्पर्शित है, यह निश्चय नय की दृष्टि है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि निश्चय-नयी व्याख्या सार्वभौमिक होती है जबकि व्यवहार-नयी व्याख्या सीमित और एकदेशीय होती है। जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्या के लिए इन दोनों नयों का उपयोग किया है। सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान,और सम्यक्चारित्र की व्याख्या इन दोनों नयों की शैली पर की गई है। इसी कारण इन तीनों की व्याख्या सर्वदेशीय और एकदेशीय बन गई है। जैसे सम्यग्दर्शन को लें। निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है किन्तु व्यवहार-नय के दृष्टि से सम्यग्दर्शन की व्याख्या अलग अलग समयों में अलग अलग कर दी गयी है। कभी कहा गया है सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, कभी कहा गया है देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार निश्चय नय से सम्यक्चारित्र का अभिप्राय है आत्मा में रमण। व्यवहार नय से सम्यक्चारित्र की व्याख्या शुभ-अशुभ भावों पर आश्रित होने के कारण परिवर्तनशील है। शुभ-अशुभ भाव पर की अपेक्षा रखते हैं तथा सामाजिक मूल्यों पर उनकी व्याख्या आश्रित होती है। सामाजिक मूल्य सार्वकालिक नहीं हो सकते हैं इसलिए व्यवहार-नय से सम्यक्चारित्र की व्याख्या भी सार्वकालिक नहीं हो सकती। कभी हमें चारित्र के बाह्य पक्ष को पकड़ना पड़ता है और कभी आन्तर पक्ष को। इसलिए व्यवहार की व्याख्या परिवर्तनशील ही होती है। निश्चय-नय की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का अर्थ है आत्मज्ञान, किन्तु व्यवहार-नय की दृष्टि से पर-वस्तु का ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है। इस तरह से निश्चय-नय परिवर्तनशील व्याख्याओं को स्वीकार न कर अपरिवर्तनशील व्याख्याओं का हामी होता है।

इतना सब कुछ होते हुए भी व्यवहार-नय निश्चय-नय की दृष्टि को हृदयंगम कराने वाला होता है। जिन लोगों को निश्चय-नय का कथन बुद्धिगम्य नहीं होता और इस कारण वे उस मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते उनके लिए व्यवहार-नय उपयोगी होता है। आचार्य अमृतचंद्र कहते हैं कि अज्ञानी जीवों को समझाने के लिए व्यवहार-नय का उपयोग किया जाता है। (पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, ६) जैसे किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



व्यक्ति को शुद्धोपयोग की बात समझ में न आये तो उसको शुभ-अशुभ भावों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार व्यवहार-नय निश्चय-नय का निमित्त बन सकता है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति व्यवहार-नय में ही अटक जाय और उसीको अन्तिम मान ले तो वह व्यवहाराभासी कहलाएगा। ऐसे व्यक्ति धर्म के सार्वभौमिक तत्त्व को जाने बिना धर्म के बाह्य रूपों से ही संतुष्ट हो जाते हैं। वास्तव में देखा जाय तो व्यवहार-नय उसी समय व्यवहार-नय होता है जिस समय वह निश्चय-नय की ओर दृष्टि को मोड़ने वाला बने, अन्यथा वह व्यवहाराभास ही है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति को विचारे बिना निश्चय-नय की दृष्टि से अपने को शुद्ध मान बैठे और शुभ भावों को बन्ध का कारण जानकर हेय कह दे तो वह व्यक्ति निश्चयाभासी होगा। निश्चय-दृष्टि को व्यवहार की अपेक्षा है तो व्यवहार-दृष्टि को निश्चय की।

ये दोनों नय अध्यात्म के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं क्योंकि मनुष्य आत्मानुभव पर तुरन्त ही छलांग नहीं लगा सकता। वह शनैः शनैः ही उस ओर अग्रसर होता है। ऐसे समय में निश्चय नय उस दिशासूचक यंत्र की भांति होता है जो सही दिशा में चलने की प्रेरणा देता रहता है और व्यवहार नय को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता। व्यवहार को निश्चय का अनुगमन करने वाला बनाये रखता है। यदि यह कहा जाय कि निश्चय के बिना व्यवहार अन्धा है और व्यवहार के बिना निश्चय कोरा काल्पनिक है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। मानसिक स्तर पर ये दोनों परस्परापेक्षी हैं। जैसा कहा जा चुका है, अनुभव-स्तर पर न निश्चय है और न व्यवहार।

हमें यहां यह नहीं भूलना चाहिये कि निश्चय और व्यवहार का वास्तविक अनुभव सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है। सम्यग्दृष्टि आत्माएं दो स्तरों पर जीती हैं। एक स्तर पर वे अनन्त की ओर उन्मुख हैं तो दूसरे स्तर पर वे सान्त से सम्बद्ध हैं। इन्हें भान हो चुका है कि जिस स्तर पर वे जी रही हैं वह अन्तिम नहीं है। अतः वे अनन्त में छलांग लगाने के लिये सदैव उद्यत हैं। ये ऐसी आत्माएं हैं जिनमें अनन्त के प्रति जागरूकता उत्पन्न हो चुकी है। उनके जीवन में अनन्त और सान्त का संघर्ष मूर्तिमान हो उठा है। ऐसी आत्माओं के अनन्त और सान्त स्तर को भी निश्चय और व्यवहार कहा जा सकता है। वे जीती हैं व्यवहार-स्तर पर, उन्मुख हो चुकी हैं निश्चय की ओर। सम्यग्दृष्टि के लिये व्यवहार एक विवशता है क्योंकि आखिर उसे उस स्तर से उठ कर निश्चय स्तर में जीना ही है। जीवन के इन दो स्तरों का अनुभव केवल सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है। मिथ्यादृष्टि जीव इनका अनुभव नहीं कर सकते क्योंकि उनमें अनन्त के प्रति जागृति का पूर्ण अभाव है। इसलिए कुन्द कुन्द ने समयसार में कहा है "सर्व लोक के काम, भोग संबंधी बन्ध की कथा तो सुनने में आ गई, परिचय में आ गई और अनुभव में आ गई, इसलिये सुलभ है, किन्तु आत्मा का भिन्नत्व न तो सुना है, न परिचय में आया है और न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अनुभव में आया है, अतः एकमात्र वही सुलभ नहीं है"। यह बात आचार्य ने उन जीवों के लिये कही है जो केवल शरीर-स्तर पर ही जी रहे हैं। वे चाहते हैं कि मनुष्य इस स्तर की सीमाओं को जानकर अनन्त की ओर अग्रसर हो। क्योंकि सिंह को सर्वथा नहीं जानने वाले पुरुष के लिये जैसे बिल्ली ही सिंह रूप दिखाई देने लग जाती है, उसी प्रकार निश्चय नय के स्वरूप से अपरिचित पुरुष के लिये व्यवहार ही निश्चय नय के रूप में दिखाई पड़ने लग जाता है।

निश्चय और व्यवहार के इस सैद्धान्तिक विवेचन के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि अध्यात्म के मूलभूत पहलुओं का इन दो दृष्टियों से मूल्यांकन कैसे किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किस प्रकार जीव, पुण्य-पाप, आश्रव-संवर आदि तत्त्वों को तथा कर्त्ता-कर्म आदि विषयों को इन दो दृष्टियों से परखा जा सकता है? निश्चय दृष्टिकोण से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हो सकते किन्तु व्यवहार नय जीव और शरीर की एकता प्रतिष्ठापित करता है। (समयसार २७) इसी प्रकार निश्चय से मैं एक हूं, सदा शुद्ध हूं, दर्शन-ज्ञानमय हूं, अरूपी हूं, पर द्रव्य किंचिन्मात्र भी मेरा नहीं है। (समयसार ३८) जीव के वर्ण नहीं है, गंध नहीं है, राग और द्वेष भी नहीं है, ऐसा कथन करना निश्चय नय है और जीव के ये सभी हैं, ऐसा व्यवहार नय से कहा जाता है (समयसार ५० से ५६) जैसे मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ देखकर "यह मार्ग लुटता है" इस प्रकार लोक में व्यवहार होता है किन्तु निश्चय से विचार किया जाय तो मार्ग तो नहीं लुटता, मार्ग में जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है। इसी प्रकार जीव में शरीर के संबंध से रूप, रस, गंध का व्यवहार होता है। निश्चय से जीव तो शुद्ध स्वरूप है, उसे सांसारिक केवल व्यवहार से ही कहा जाता है।

कर्त्ता-कर्म के संबंध में भी इन दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। यह कहना कि जीव राग-द्वेष पुद्गल-कर्मों का कर्त्ता है और उन्हीं का भोक्ता है, यह व्यवहार है। निश्चय नय से यह आत्मा अपने शुद्ध भावों का कर्त्ता और भोक्ता है। (समयसार ८३, ८४) यदि निश्चय से यह आत्मा पुद्गल कर्म को करे और उसी को भोगे तो यह पर द्रव्य का करने वाला हो जायगा, जोकि युक्ति संगत नहीं है। व्यवहार से यह कहा जाता है कि यह आत्मा घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओं को और क्रोधादि कर्मों को करने वाला है। यदि इसी को निश्चय से मान लिया जाय तो यह आत्मा पर-द्रव्यमय बन जायगा। निश्चय-दृष्टिकोण से शुभ-अशुभ भावों का कर्त्ता और भोक्ता आत्मा नहीं हो सकता। वह तो केवल शुद्ध भावों का ही कर्त्ता हो सकता है, क्योंकि उसीसे उसकी तन्मयता संभव है। अतः कहा जा सकता है कि आत्मा अपने को ही कर्त्ता है और अपने को ही भोक्ता है, अन्य को नहीं। (समयसार ८३) इसका अभिप्राय यह नहीं है कि राग-द्वेष आदि परिणामों का उत्तरदायित्व जीव पर न हो। जीव अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ है, इसलिये कर्मों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



निमित्त पाकर राग-द्वेषादि परिणाम जीवों के होते हैं इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। बात यह है कि जिस भूमिका में जीव होता है उस संबंधी भावों का कर्त्ता व भोक्ता होता है। कहा है अज्ञानी के भाव अज्ञानमय और ज्ञानी के भाव ज्ञानमय होते हैं (समयसार १३०, १३१)।

निश्चय और व्यवहार-दृष्टि से पुण्य और पाप पर भी विचार किया जा सकता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अहिंसा आदि व्रतों का धारण करना पुण्य है तथा क्रोध, मान, माया, लोभादि कसायों के वशीभूत होकर नाना प्रकार के हिंसादि कुकर्म करना पाप है। इन्हीं को शुभ-अशुभ कर्म भी क्रमशः कहा जाता है। चारित्र के क्षेत्र में अशुभ तो त्याज्य है ही। उसके लिये तो कोई स्थान है ही नहीं। पर शुभ ग्रहण करने योग्य है। अध्यात्म में प्रश्न यह है कि क्या निश्चय दृष्टिकोण से शुभ को ग्राह्य कहा जाय? जब यह प्रश्न उठता है तो आचार्य कुन्द कुन्द कहते हैं कि पुण्य भी एक सोने की बेड़ी है। (समयसार १४६) इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिये कि शुभ कर्म जीवन में पूर्णतया हेय है। जब तक मनुष्य आत्मानुभव की भूमिका पर अवस्थित नहीं होता तब तक शुभ कर्म उपादेय है। उस भूमिका को प्राप्त करने के पहले ही यदि शुभ कर्मों को हेय मान लिया जायगा तो व्यक्ति अशुभ से बचने के लिये किसका सहारा लेगा? इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिये कि वह शुभ करते करते शुद्ध को प्राप्त हो जायगा। शुद्ध भावों की प्राप्ति तो शुद्ध भावों से ही होती है, शुभ से नहीं। दूसरे शब्दों में, निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति सविकल्प अवस्था से नहीं हो सकती। संभवतया इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्य कुन्द कुन्द ने कहा "प्रतिक्रमण, निन्दा आदि विषकुंभ हैं"। (समयसार ३०६) यदि इस बात को सुनकर कोई आत्मा बिना शुभ में स्थित हुए शुभ को छोड़ दे तो ध्यान रहे वह आत्मा अशुभ में चला जायगा। इसलिये सामान्य जीवों के लिये शुभ ही एकमात्र सहारा है। जहां जहां शुभ को व्यवहार कहकर त्याज्य कहा गया है वहां वहां निश्चय की अपेक्षा से ही ऐसा है।

जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार के इस विवेचन के पश्चात् हमें यह देखना है कि अद्वैत वेदान्त के परमार्थ और व्यवहार का इससे क्या भेद है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही परमार्थ रूप से सत्य है, भौतिक तत्त्व व्यावहारिक रूप से सत्य है। इस तरह यहां सत्ता के परमार्थ और व्यवहार रूप से भेद हैं। जैनों का व्यवहार नय वस्तुओं की सत्ता को नहीं छूता है। वह तो केवल आत्मा के पतन की ओर संकेत करता है और निश्चय नय उच्चतम अवस्था तक पहुँचने की ओर प्रेरित करता है। जैन दर्शन में सत्ता के विभाग पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप से नहीं किये गये हैं। इस तरह से जैन दर्शन के निश्चय और व्यवहार वैसे नहीं हैं जैसे अद्वैत वेदान्त के परमार्थ और व्यवहार। दोनों में मौलिक भेद है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोष्ठी

# जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार

सागरमल जैन

## नये दृष्टि की आवश्यकता

जिज्ञासा या सत्याभीप्सा अपूर्ण मानव की एक सहज वृत्ति है। अपनी इस सत्याभीप्सा या जिज्ञासा की सन्तुष्टि के लिए मानव के पास दो साधन हैं—१. इन्द्रियां, २. तर्क-बुद्धि। मानव अपने इन्हीं सीमित साधनों के द्वारा 'तत्त्वाधिगम' का प्रयास करता है। मानव-मन कभी भी इन्द्रियानुभूति या प्रतीति से सन्तुष्ट नहीं होता है, वह उस प्रतीति के पीछे भी झांकना चाहता है। वस्तु तत्त्व के दृश्य स्वरूप से सन्तुष्ट न होकर उसके सारतत्त्व को समझने का प्रयास करना यह मानवीय बुद्धि का नैसर्गिक स्वभाव है। ज्ञान-प्राप्ति के इन दो साधनों के आधार पर मानवीय ज्ञान भी द्विविध होता है—एक वह, जो इन्द्रियानुभूति या प्रतीति है, और दूसरा वह जिसका निश्चय तर्क-बुद्धि करती है। जिन दार्शनिकों ने ज्ञान की इन दो विधाओं में से किसी एक की अवहेलना की उनका ज्ञान वस्तुतत्त्व की एक सर्वांगीण व्याख्या दे पाने में असमर्थ रहा। जिन्होंने केवल इन्द्रियानुभूति के द्वारा प्रदत्त ज्ञान को ही प्रामाणिक माना उन्हें किसी सत्ता के अतीन्द्रिय पक्ष के अस्तित्व से ही इन्कार करना पड़ा, और जिन्होंने केवल तार्किक ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान को ही प्रामाणिक माना उन्हें ऐन्द्रिय ज्ञान को अयथार्थ कह कर त्यागना पड़ा। इस प्रकार दोनों ही प्रकार की ऐकान्तिक विचारधाराएं वस्तुतत्त्व की एक सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत करने में असमर्थ रहीं।

## मानवीय ज्ञान की सापेक्षता

वास्तविकता यह है कि वस्तुतत्त्व की एक सर्वांगीण व्याख्या के लिए हमें विवक्षा या नय का अवलम्बन लेना ही होता है। सामान्य मानव के लिये निरपेक्ष ज्ञान संभव नहीं है। क्योंकि जहां एक ओर ज्ञाता की अपूर्णता अर्थात् सीमित ज्ञान क्षमता तथा उसके ज्ञान प्राप्ति के साधनों की द्विविधता उसके ज्ञान को आंशिक एवं सापेक्षिक बना देती है, वहां दूसरी ओर ज्ञेयतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता के कारण भी निरपेक्ष ज्ञान सम्भव नहीं हो पाता है। इसीलिये जैन आचार्यों का कथन है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तुतत्त्व की विवेचना बिना अपेक्षा के सम्भव नहीं है।[1]

---

१. न विवेचयितुं शक्यं विनाऽपेक्षां हि मिश्रितम्। अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ४, पृष्ठ १८५३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष है ?**

जैन दर्शन में यह माना गया है कि सर्वज्ञ या केवली सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष है ? इस सन्दर्भ में जैन दार्शनिकों में मतभेद पाया जाता है। कुछ जैन विचारक सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष मानते हैं जबकि दूसरे कुछ विचारकों के अनुसार सर्वज्ञ का ज्ञान भी सापेक्ष होता है। श्री दलसुखभाई मालवणिया ने स्याद्वाद मजरी की भूमिका में सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष सत्य बताया है[२] जबकि मुनि श्री नगराज जी ने जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान नामक पुस्तिका में यह माना है कि सर्वज्ञ का ज्ञान भी कहने भर को ही निरपेक्ष है क्योंकि 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' से परे वह भी नहीं है।[३] किन्तु मेरे विनम्र विचार में, जहां तक सर्वज्ञ के वस्तु-जगत् के ज्ञान का प्रश्न है, उसे निरपेक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके ज्ञान की विषय-वस्तु तो अनन्त धर्मात्मक है। अतः सर्वज्ञ भी वस्तुतत्त्व के अनन्त गुणों एवं अनन्त पर्यायों को उनकी अनन्त अपेक्षाओं से ही जानता है। वस्तुगत ज्ञान या वैषयिक ज्ञान (ऑब्जेक्टिव नॉलेज) कभी भी निरपेक्ष नहीं हो सकता, फिर चाहे वह सर्वज्ञ का ही क्यों न हो। क्योंकि जैन आचार्यों के अनुसार दीप से लेकर व्योम तक वस्तु मात्र स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित है।[४] किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि जहां तक सर्वज्ञ के आत्म-ज्ञान का प्रश्न है, वह निरपेक्ष हो सकता है। संभवतः इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द को यह कहना पड़ा था कि व्यवहार दृष्टि-से ही सर्वज्ञ सभी पदार्थों को जानता है, किन्तु परमार्थतः तो वह आत्मा को ही जानता है।[५] वस्तुस्थिति यह है कि सर्वज्ञ का आत्म-ज्ञान तो निरपेक्ष होता है, किन्तु वस्तु-विषयक ज्ञान सापेक्ष होता है।

**क्या निरपेक्ष कथन संभव है ?**

पुनश्च, सर्वज्ञ या पूर्ण के लिये भी, जोकि सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, सत्य का निरपेक्ष कथन या अभिव्यक्ति संभव नहीं है; सम्पूर्ण सत्य को चाहे जाना जा सकता हो किन्तु कहा नहीं जा सकता। उसकी अभिव्यक्ति का जब भी कोई प्रयास किया जाता है वह सापेक्षिक बन जाता है। जैन आचार्यों का कथन है कि

---

२. स्याद्वादमंजरी—जगदीशचन्द्र एम.ए. द्वारा अनूदित, पृष्ठ २५।

३. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान, मुनि नगराज, पृष्ठ २३।

४. आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।

—अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक ५।

५. जाणदि पस्सदि सव्वं,ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।

—नियमसार, १५८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जगत् में जो कुछ भी कहा जाता है वह सब वास्तव में किसी न किसी विवक्षा या नय से गर्भित होता है।[६] सर्वज्ञ को भी सत्य की अभिव्यक्ति के लिये उसी भाषा का सहारा लेना होता है जो सीमित एवं अपूर्ण है तथा अस्ति और नास्ति की विचार-कोटियों से घिरी हुई है। ऐसी अपूर्ण एवं सीमित भाषा पूर्ण सत्य का प्रकटन कैसे कर सकती है ? चाहे निरपेक्ष ज्ञान को संभव भी मान लिया जाय किन्तु निरपेक्ष कथमपि सम्भव नहीं है। यही कारण है कि जैन आचार्यों को यह कहना पड़ा कि जिन-वचन या सर्वज्ञ की वाणी भी नय या अपेक्षा-रहित नहीं होती है।

जैन दर्शन के अनुसार सत्य की अभिव्यक्ति निरपेक्ष न होकर साक्षेप ही होती है। सत्य तभी असत्य बनता है जबकि हम उस दृष्टिकोण या अपेक्षा को अपने विचार से ओझल कर देते हैं जिससे कि वह कहा गया है। अतः वस्तुतत्त्व के सम्यक् विचार के लिये दृष्टिकोण या नय अपेक्षित है। वाणी में प्रकट सत्य को समझने के लिये नय या विवक्षा का विचार आवश्यक है। जैन दर्शन का नयवाद इसी बात को स्पष्ट करता है। जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रियानुभूति, बुद्धि और वाणी सभी अपनी सीमितताओं के कारण अनन्त या पूर्ण के एकांश का ही ग्रहण या प्रकटन कर पाते हैं और यही एकांश का बोध या कथन नय कहलाता है।[७] वस्तुतत्त्व के अनन्त पक्षों को जिन-जिन दृष्टिकोणों से देखा जाता है अथवा कहा जाता है वे सभी नय कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में, नाना धर्मों से युक्त वस्तु तत्त्व के किसी एक धर्म को मुख्य-रूपेण कहने वाले वक्ता का अभिप्राय विशेष नय कहलाता है।[८] वैसे ही सत्य की अभिव्यक्ति के लिये भाषा के कितने रूप हो सकते हैं उतने ही नयों के भेद माने गये।[९] किन्तु प्रस्तुत विवेचन में हम केवल निश्चय और व्यवहार इन दो मूलभूत नयों पर ही विचार करेंगे, क्योंकि इन दोनों में सब नयों का अन्तर्भाव माना गया है।

**निश्चय और व्यवहार नय**

वैसे तो ग्रंथों में नयों का सप्तविध वर्गीकरण बहुचर्चित है किन्तु जहां तक प्राचीन जैन आगमों का प्रश्न है उनमें हमें मुख्यतः निश्चय और व्यवहार ऐसे दो

---

६. नत्थि णएहिंविहूणं, सुत्त अत्थो च जिण-मय किंचि।
—विशेषावश्यक भाष्य

७. अनन्तधर्मा ध्यासिते वस्तुन्येकांश ग्राहको बोध इत्यर्थः।
अभिधान राजेन्द्र ४,१८५३

८. णाणाधम्मजुदं पि य, एवं धम्मं पि बुच्चदे अत्थं।
तस्सेव विवक्खादो, णत्थि विवक्खा हु सेसाणं।।
कार्तिकेयानुप्रेक्षा २६४

९. विशेषावश्यक भाष्य २२६२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नयों का विवेचन ही दृष्टिगत होता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में नयों का यह द्विविध वर्गीकरण मान्य रहा है। सर्वप्रथम हमें आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार आदि ग्रन्थों में तथा श्वेताम्बर आगम, भगवती सूत्र में नयों का यह द्विविध विवेचन परिलक्षित होता है। जैनागम भगवती सूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति) में व्यवहार और निश्चय दृष्टि का प्रतिपादन बड़े ही रोचक ढंग से किया गया है। गौतम भगवान महावीर से पूछते हैं, भन्ते ! फाणित–प्रवाही गुड़ में कितने रस, वर्ण, गन्ध और स्पर्श होते हैं ? महावीर इसके उत्तर में कहते हैं कि गौतम ! मैं इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से देता हूं, व्यावहारिक नय (लोक दृष्टि) की अपेक्षा से तो वह मधुर कहा जाता है लेकिन निश्चय नय (वास्तविक दृष्टि) की अपेक्षा से उसमें पांच रस, पांच वर्ण, दो गन्ध और आठ स्पर्श होते हैं। इस प्रकार वहां अनेक विषयों को लेकर उनका निश्चय एवं व्यवहार दृष्टि से विश्लेषण किया गया है।[१०] इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने भी समयसार में निश्चय और व्यवहार दृष्टि का विस्तार से विवेचन किया है। वस्तुतः यह निश्चय एव व्यवहार नयों का विश्लेषण हमें यही बताता है कि सत्य न उतना ही है जितना वह हमें इन्द्रियों के माध्य से प्रतीत होता है और न उतना ही है जितना कि बुद्धि उसके स्वरूप का निश्चय कर पाती है। वस्तुतः नयों का यह विवेचन न केवल जैन दर्शन में ही स्वीकृत रहा है, अपितु पौर्वात्य और पाश्चात्य अनेक दर्शनों में इसे स्वीकृत किया गया है। प्राचीन बौद्ध धर्म में इसे नेयार्थ सूत्र और नीतार्थ सूत्र के रूप में, विज्ञानवाद में परिनिष्पन्न और परतंत्र के रूप में, शून्यवाद में लोक संवृति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में तथा शंकर के दर्शन में परमार्थ और व्यवहार के रूप में इसे प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों से हेराक्लिाइटस ने केटो (Kato) और एने (Ane) के रूप में, परमेनीडीज़ में मत और सत्य के रूप में, सुकरात ने जगत् और आकार के रूप में, प्लेटो ने संवेदन और प्रत्यय के रूप में, स्पिनोजा ने पर्याय और द्रव्य के रूप में, कांट ने प्रपंच और वस्तुतत्त्व के रूप में, हेगल ने विपर्यय और निरपेक्ष के रूप मे तथा ब्रैडले ने आभास और सत् के रूप में प्रकारान्तर से इसी दृष्टिकोण-भेद को स्पष्ट किया है। भले ही इनमें नामों की भिन्नता रही किन्तु उनका मन्तव्य वही है जिसे जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार के रूप में प्रकट किया गया है।[११]

**निश्चय और व्यवहार नय का अर्थ**

आचार्य अमृतचन्द्र ने निश्चय नय को आत्माश्रित और व्यवहार नय को पराश्रित माना है।[१२] दूसरे शब्दों में, वस्तुतत्त्व की स्वभाव-दशा को निश्चय नय

---

१०. भगवती सूत्र १८-६
११. आत्माश्रित निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः–समयसार टीका
१२. समयसार ७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



और विभाव दशा को व्यवहार नय का विषय माना गया है। पर-निरपेक्ष, जो अवस्था है उसका प्रतिपादन निश्चय नय करता है जबकि पराश्रित अवस्थाओं का प्रतिपादन व्यवहार नय करता है। उदाहरण के लिये, निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा अबद्ध, कर्म फल से रहित एवं शुद्ध ज्ञान मात्र है, जबकि व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा बंधन में आता है और मुक्त भी होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय नय की अभेदगामी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए समयसार में बताया है कि व्यवहार नय से यह कहा जाता है कि आत्मा में ज्ञान, दर्शन और चरित्र है, किन्तु निश्चय नय से तो वह शुद्ध ज्ञान मात्र है, न उसमें ज्ञान है, न दर्शन है और न चरित्र है।[१३] इस प्रकार निश्चय नय अभेदगामी है, जबकि व्यवहार नय भेदगामी है। आलाप पद्धति में निश्चय नय का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि जो अभेद और अनुपचार दृष्टि से वस्तुतत्त्व का निश्चय करता है वह निश्चय नय है;[१४] अर्थात् निश्चय नय में दो बातें मुख्य होती हैं—१. वस्तुतत्त्व का वह स्वरूप जो कि उनका स्व स्वभाग है और, २. अभेदगामी दृष्टिकोण। द्रव्यानुयोगतर्कणा में वस्तुतत्त्व के तात्त्विक स्वरूप को निश्चय नय का विषय और लोक-व्यवहार को व्यवहार नय का विषय माना गया है।[१५] यहां तात्त्विक स्वरूप का अर्थ वस्तुत्त्व के युक्तिसिद्ध बौद्धिक स्वरूप से ही है,[१६] जबकि लोक–व्यवहार का अर्थ वस्तु के प्रतीत्यात्मक स्वरूप से है। निश्चय दृष्टि सत्ता के सामान्य, अभेदात्मक, आन्तरिक, परनिरपेक्ष, स्वाभाविक शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन करती है जबकि व्यवहार-दृष्टि सत्ता के विशेष, भेदात्मक, बाह्य एवं वैभाविक अवस्थाओं का प्रतिपादन करती है। दूसरे शब्दों में, व्यवहार नय वस्तुतत्त्व के ऐन्द्रिक या प्रतीत्यात्मक स्वरूप का अथवा सत्ता के आगन्तुक लक्षणों का किंवा उन अवस्थाओं का विवेचन करता है जो कि अस्थायी है।

**निश्चय और व्यवहार नय के प्रकार**

यद्यपि प्राचीन जैन आगमों में निश्चय और व्यवहार नयों के प्रकारों का कोई उल्लेख नहीं है किन्तु मध्यकालीन साहित्य में निश्चय और व्यवहार नयों के प्रकारों का उल्लेख पाया जाता है। प्रथमतः निश्चय नय को शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय ऐसे दो भागों में विभाजित किया गया है। वस्तुतः शुद्ध निश्चय नय वस्तुतत्त्व के नित्य पक्ष का प्रतिपादन करती है, जैसे–आत्मा ज्ञानस्वरूप है,

---

१३. अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः–आलाप पद्धति।

१४. तत्त्वार्थं निश्चयो वक्ति व्यवहारश्च जनोदितम्।

–द्रव्यानुयोगतर्कणा ८२३

१५. तत्त्वार्थ युक्ति सिद्ध अर्थ वक्ति-अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ४, पृ. २०५५

१६. बाह्यस्या भ्यन्तरत्व यद् बहुव्यवत्तेरमेदता यच्च द्रव्यस्थ नैर्मल्यमिति निश्चय गोचराः। अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ४, पृ. २५५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कर्म मल से रहित है। अशुद्ध निश्चय नय वस्तुतत्त्व के अनित्य पक्ष का विवेचन करती है, जैसे–आत्मा राग-द्वेष का कर्त्ता है। दूसरे शब्दों में, शुद्ध निश्चय नय द्रव्यार्थक नय है और अशुद्ध निश्चय नय पर्यायार्थक नय है। वैसे अशुद्ध निश्चय नय प्रकारान्तर से व्यवहार नय ही प्रतीत होता है, केवल नैतिकता के क्षेत्र में निश्चय नय के रूप में प्रयुक्त होने के कारण ही उसे निश्चय नय के वर्ग में रखा जाता है। वस्तुतः शुद्ध निश्चय नय तात्त्विक निश्चय नय है और अशुद्ध निश्चय नय नैतिक निश्चय नय है। पुनः, व्यवहार नय को भी सद्‌भूत व्यवहार नय और असद्‌भूत व्यवहार नय के रूप में वर्गीकृत किया गया है। प्रकारान्तर से, व्यवहार नय के चार भेद भी बताये गये हैं : १–अनुपचरित सद्‌भूत। २–उपचरित सद्‌भूत, ३–अनुपचरित असद्‌भूत। ४–उपचरित असद्‌भूत। व्यवहार नय के इन चारों भेदों को समझने के पूर्व हमें उपचार और सद्‌भूत के अर्थ समझ लेना होगा। उपचार का अर्थ है–किसी पर किसी अन्य के गुणों का आरोपण करना और सद्‌भूत का अर्थ है प्रतिपाद्य कथन का यथार्थ (सत्य) होना।

१–अनुपचरित सद्‌भूत–दो अभिन्न तथ्यों के लिये भेद रूप (विश्लेषणात्मक) भाषा का प्रयोग करना अनुपचरित सद्‌भूत व्यवहार नय कहा जाता है, जैसे जीव ज्ञानवान् है या द्रव्य गुणों का आश्रय स्थान है। यहां पर जीव और ज्ञान या द्रव्य और गुण के अभिन्न होते हुए भी उनके लिये विश्लेषणात्मक भाषा का उपयोग किया गया है। यहां किसी अन्य के गुण का आरोपण नहीं होने से इसे अनुपचरित और प्रतिपाद्य कथन के यथार्थ होने से सद्‌भूत कहा गया है।

२–उपचरित सद्‌भूत-किसी अन्य के सद्‌भूत लक्षणों का किसी अन्य पर आरोपण करना उपचरित सद्‌भूत है, जैसे राग-द्वेष का कर्त्ता आत्मा है। वहां पर द्वेष का जो कि आत्मा के स्वलक्षण नहीं है, आत्मा पर आरोपण किया गया है यद्यपि इसका प्रतिपाद्य कथन आत्मा में राग द्वेष का होना यथार्थ है।

३–अनुपचरित असद्‌भूत–जब किसी श्लिष्ट किन्तु अयथार्थ तथ्य का निरूपण किया जाता है तो वह अनुपचरित असद्‌भूत नय कहलाता है, जैसे–शरीर आत्मा है। यहां पर शरीर का आत्मा पर आरोपण तो नहीं है, क्योंकि दोनों श्लिष्ट हैं इसलिये यह अनुपचरित तो है किन्तु इसका प्रतिपाद्य कथन अयथार्थ है, क्योंकि शरीर आत्म द्रव्य का नहीं अपितु पुदगल द्रव्य का है।

४–उपचरित असद्‌भूत–जब किसी अन्य का किसी अन्य पर असत्य आरोपण किया जाता है तो उसे उपचरित असद्‌भूत नय कहते हैं–जैसे धन–सम्पदा आत्मा की है। यहां पर धन-सम्पदा का, जोकि वस्तुतः आत्मा की नहीं है, आत्मा पर आरोपण किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**क्या निश्चय नय निरपेक्ष सत्य है—**

सामान्यतया यह समझा जाता है कि निश्चय नय निरपेक्ष सत्य है और इसी आधार पर उसे वेदान्त के परमार्थ से तुलनीय भी माना जाता है, किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। अन्यथा हमें व्यवहार को मिथ्या कहना होगा। जैन दर्शन में व्यवहार को मिथ्या नहीं कहा गया है अतः निश्चय नय को भी सापेक्ष सत्य या आंशिक सत्य ही मानना होगा। एक नय का कथन दूसरे नय की अपेक्षा से तो सापेक्ष सत्य ही होगा। जब निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा को कर्ममल से रहित शुद्ध कहा जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन दर्शन में बंधन एक काल्पनिक अवस्था है। वस्तुतः निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि दोनों आत्मा की दो यथार्थ अवस्थाओं के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हैं और इसलिये अपेक्षा-भेद से दोनों ही सत्य हो सकती हैं, और दोनों के अपेक्षा-भेद से सत्य होने का अर्थ है दोनों का सापेक्ष सत्य होना।

**निश्चय और व्यवहार में कौन सत्य ?**

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में निश्चय नय को भूतार्थ (सत्यार्थ) और व्यवहार नय को अभूतार्थ (असत्यार्थ) बताया है। यदि हम आचार्य के उक्त कथन को निरपेक्षतया स्वीकार करते हैं तो जैन दर्शन के अनुसार भी व्यवहार को मिथ्या मानना होगा, किन्तु व्यवहार की अभूतार्थता का यह कथन केवल सम्यक् दृष्टित्व को प्राप्त करने के लिये ही किया गया है। उनका कथन है कि व्यवहार अभूतार्थ है और निश्चय नय भूतार्थ है क्योंकि उसके आश्रय से जीव को सम्यक् दृष्टित्व प्राप्त होता है।[१८] किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहार निरपेक्ष रूप से मिथ्या है, यह व्यवहार के मिथ्यात्व का सापेक्षिक कथन है। जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार दोनों को स्वापेक्षा से ही सत्य माना गया है, अतः पर अपेक्षा से इन्हें मिथ्या कहा जा सकता है। निश्चय-दृष्टि की अपेक्षा से व्यवहार-दृष्टि का कथन अभूतार्थ हो सकता है किन्तु इसी आधार पर व्यवहार-दृष्टि की अपेक्षा से निश्चय दृष्टि के कथन को भी मिथ्या कहा जा सकता है। जब निश्चय नय की अपेक्षा से हम यह कहते हैं कि 'आत्मा स्वभावतः शुद्ध होता है,' 'पानी स्वभावतः निर्मल होता है' तो इससे व्यवहार नय के ये कथन–कि 'आत्मा रागद्वेष से युक्त होता है,' 'यह पानी गन्दा है' असत्य नहीं हो जाते हैं। यदि व्यवहार नय का कथन निरपेक्षतया असत्य होता तो निश्चय को निरपेक्ष सत्य या भूतार्थ मान सकते थे, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वस्तुतः व्यवहार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन अपेक्षा-विशेष से ही हो सकता है। एक अपेक्षा से दूसरी अपेक्षा का समग्र निषेध संभव नहीं है और इसलिये उनमें से किसी एक को

१८. ववहारो भूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दू सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो। समयसार ११,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भी निरपेक्ष रूप से मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। उनका मिथ्यात्व और सत्यत्व दोनों ही अपेक्षा-भेद पर आधारित हैं। वस्तुतः निश्चय और व्यवहार वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में दो दृष्टियां हैं, उनमें से किसी एक को भी निम्नस्तरीय या अयथार्थ नहीं कहा जा सकता। दोनों ही स्वापेक्षा से सत्य हो सकती हैं। जिस प्रकार दो भिन्न स्थितियों से खींचे गए एक वस्तु के दो चित्रों में से कोई भी मिथ्या नहीं होता उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार में से कोई भी मिथ्या नहीं है, दोनों ही स्वापेक्षा से सत्य हैं। वस्तुतः दोनों में कोई तुलना करना ही असंगत है।

**आचार दर्शन के क्षेत्र में निश्चय और व्यवहार-दृष्टि**

जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार नामक जिन दो नयों का प्रतिपादन किया गया उन्हें तत्त्वज्ञान और आचार-दर्शन दोनों के लिये स्वीकार किया गया है किन्तु तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में किया जाने वाला निश्चय और व्यवहार का प्रयोग आचार-दर्शन के क्षेत्र में किये जाने वाले निश्चय और व्यवहार के प्रयोग से भिन्न है। तत्त्वज्ञान की निश्चय एवं व्यवहार-दृष्टि आचार विषयक निश्चय एवं व्यवहार-दृष्टि से भिन्न अर्थ की सूचक है। पं. सुखलाल जी के शब्दों में, निश्चय और व्यवहार नय ये दो शब्द भले ही समान हों पर तत्त्वज्ञान और आचार के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न अभिप्राय से लागू होते हैं। तत्त्वगामी निश्चय और व्यवहार-दृष्टि क्रमशः वस्तुतत्त्व के स्वाभाविक एवं वैभाविक स्वरूप का विवेचन करती हैं जबकि आचारगामी निश्चय और व्यवहार-दृष्टि मोक्ष-पुरुषार्थ की अपेक्षा से आचरण के आन्तरिक एवं बाह्य पक्ष पर विचार करती हैं। प्रथमतः तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय दृष्टि यह बताती है कि सत्ता का वास्तविक मूल स्वरूप क्या है और व्यवहार-दृष्टि यह बताती है कि सत्ता का इन्द्रिय-ग्राह्य बाह्य स्थूल स्वरूप क्या है, जबकि आचार दर्शन के क्षेत्र में निश्चय दृष्टि कर्ता के प्रेरक के आधार पर और व्यवहार-दृष्टि कर्म के बाह्य परिणामों के आधार पर आचरण का मूल्यांकन करती है। तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय दृष्टि के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व का वास्तविक स्वरूप साधारण जिज्ञासु कभी भी प्रत्यक्ष नहीं कर पाते जबकि आचार-दर्शन के क्षेत्र में कोई भी जागरूक साधक अपनी आन्तरिक सत्-असत् प्रवृत्तियों को और उनकी तीव्रता और मन्दता के तारतम्य को सीधा प्रत्यक्ष कर सकता है। संक्षेप में, नैश्चयिक आचार का प्रत्यक्ष व्यक्ति के स्वयं के लिए संभव है जबकि नैश्चयिक तत्त्व का साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति के लिए संभव नहीं है।[१६]

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय दृष्टि आत्मा के बन्धन, मुक्ति, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि प्रत्ययों को महत्व नहीं देती है, वे उसके लिए गौण होते हैं, क्योंकि वे आत्मा की विभाव दशा को ही सूचित करते हैं। जबकि आचार-लक्षी निश्चय-दृष्टि में तो

---

१६. देखिए—दर्शन और चिन्तन, भाग २, पृ ४६६.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



बन्धन और मुक्ति, आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व, ऐसी मौलिक धारणाएं हैं जिन्हें वह स्वीकार करके ही आगे बढ़ती है।

**आचार के क्षेत्र में निश्चय नय का अर्थ**

जैन आचार-दर्शन का नैतिक आदर्श मोक्ष है; अतएव आचरण का वह पक्ष, जिसका सीधा सम्बन्ध हमारे बन्धन और मुक्ति से है, नैश्चयिक आचार है। वस्तुतः बन्धन और मुक्ति का सीधा कारण आचरण का बाह्य स्वरूप नहीं होता वरन् व्यक्ति की आभ्यन्तर मनोवृत्तियाँ ही होती हैं, अतः वे चैतसिक तत्त्व या आभ्यन्तर मनोवृत्तियां, जो हमारे बन्धन और मुक्ति का सीधा कारण बनती हैं, आचार दर्शन में निश्चय के सीमा-क्षेत्र में आती हैं। वस्तुतः राग, द्वेष और मोह की मनोदशाओं का सम्बन्ध हमारे नैश्चयिक आचार से है। संक्षेप में, आचरण का आन्तर पक्ष आचार-लक्षी निश्चय नय का सीमा-क्षेत्र है। नैतिक निर्णयों की वह दृष्टि, जो कर्म के बाह्य परिणामों से निरपेक्ष मात्र कर्म-प्रेरक को लक्ष्य में रखकर शुभाशुभ का विचार करती है, निश्चय दृष्टि है। आचार-दर्शन के क्षेत्र में नैश्चयिक आचार सदैव एकरूप होता है, नैश्चयिक दृष्टि से जो शुभ है, वह सदैव शुभ है, जो अशुभ है, वह सदैव अशुभ है। देश, काल एवं वैयक्तिक भिन्नताओं में भी उसके नैतिक मूल्य में विभिन्नताएं नहीं होती हैं। वस्तुतः आचार-दर्शन के क्षेत्र में नैश्चयिक आचार वह केन्द्र है जिसके आधार से व्यावहारिक आचार के वृत्त बनते हैं जिस प्रकार एक केन्द्र से खींचे गये अनेक वृत्त बाह्य रूप से भिन्न २ प्रतीत होते हुए भी अपने केन्द्र की दृष्टि से एक ही रूप माने जाते हैं, उनमें परिधिगत विभिन्नता होते हुए भी केन्द्रगत एकता होती है। उसी प्रकार नैश्चयिक आचार में वृत्तिगत एकता होती है। जैन दृष्टि के अनुसार निश्चय आचार-बाह्य आचरण का वह केन्द्र या सार होता है जिस पर उसकी नैतिकता निर्भर रहती है।

**आचार के क्षेत्र में व्यवहार-दृष्टि**

नैतिकता के क्षेत्र में व्यवहार-दृष्टि आचरण के बाह्य पक्ष पर बल देती है, उसमें एकरूपता नहीं विविधता होती है। डॉ॰ सुखलालजी संघवी के शब्दों में, व्यावहारिक आचार ऐसा एकरूप नहीं होता। नैश्चयिक आचार की भूमिका से निष्पन्न ऐसे भिन्न २ देश-काल-जाति-स्वभाव-रुचि आदि के अनुसार कभी २ परस्पर विरुद्ध भी दिखाई देने वाले आचार व्यावहारिक आचार की कोटी में गिने जाते हैं।"[२०] व्यावहारिक आचार देशकाल एवं व्यक्ति-सापेक्ष होता है, उसका स्वरूप परिवर्तनशील होता है। वह तो उन परिधियों के समान है जो सम-केन्द्रक होते हुए देश में अलग होती हैं। आचार-दर्शन के क्षेत्र में व्यवहार-दृष्टि कर्ता की प्रेरणा को गौण कर कर्म के परिणामों का लोक-दृष्टि से विचार करती है। जहां तक आचरण के शुभत्व और

२०. दर्शन और चिन्तन– भाग २, पृ. ४६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अशुभत्व के मूल्यांकन करने का प्रश्न है, आचरण के आभ्यन्तर पक्ष या कर्म के प्रेरक के आधार पर कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का मूल्यांकन नैतिकता की निश्चय-दृष्टि करती है जबकि आचरण के बाह्य पक्ष या कर्म परिणाम के आधारभूत उसके शुभत्व और अशुभत्व का निश्चय नैतिकता की व्यवहार-दृष्टि करती है। जैन विचारणा के अनुसार कर्मों के इस द्विविध मूल्यांकन में ही उनका समुचित मूल्यांकन सम्भव होता है, यद्यपि यह भी सम्भव है कि कोई कर्म निश्चय दृष्टि से शुद्ध या नैतिक होते हुए भी व्यवहार-दृष्टि से अशुद्ध या अनैतिक हो। जैसे साधु का वह व्यवहार जो शुद्ध मनोभाव और आगमिक आज्ञाओं के अनुकूल होते हुए भी लोक-निन्दा या लोक-घृणा का कारण है, वह निश्चय दृष्टि से शुद्ध होते हुए भी व्यवहार-दृष्टि से अशुद्ध है। इसी प्रकार कोई कर्म या आचरण का रूप व्यवहार दृष्टि से शुद्ध या नैतिक प्रतीत होते हुए भी निश्चय दृष्टि से अशुद्ध या अनैतिक हो सकता है, जैसे फलाकांक्षा से किया हुआ तप अथवा परोपकार व्यवहार दृष्टि से शुद्ध होते हुए भी निश्चय दृष्टि से अशुद्ध है।

संक्षेप में, नैतिकता की नैश्चयिक दृष्टि का सम्बन्ध वैयक्तिक नैतिकता से है। नैश्चयिक नैतिकता में क्रिया या आचरण का महत्व नहीं है, महत्व है मनोभावों का। नैश्चयिक नैतिकता क्रिया या आचरण की अवस्था नहीं वरन् अनुभूति या साक्षात्कार की अवस्था है। इसमें शुभाशुभत्व का माप इस आधार पर नहीं होता कि व्यक्ति क्या करता है वरन् इस आधार पर होता है कि वह कहां तक आत्मसिद्धि या परम तत्त्व का साक्षात्कार कर पाया है।

व्यावहारिक नैतिकता का संबंध आचरण के उन बाह्य विधि-विधानों से है जिनके पालन की नैतिक साधक से अपेक्षा की जाती है। समाज-दृष्टि या लोक-दृष्टि ही व्यावहारिक नैतिकता के शुभाशुभत्व का आधार है। व्यावहारिक नैतिकता कहती है कि कार्य चाहे कर्म-प्रेरक की दृष्टि से शुद्ध हो लेकिन यदि वह लोक-विरुद्ध या जन-भावना के प्रतिकूल है तो उसका आचरण नहीं करना चाहिए।

नैतिकता की व्यवहार-दृष्टि आचरण को सामाजिक सन्दर्भ में परखती है। यह आचरण शुभाशुभत्व के मापन की समाज-सापेक्ष पद्धति है जो व्यक्ति के सम्मुख सामाजिक नैतिकता को प्रस्तुत करती है। इस परिपालन का वैयक्तिक साधना की दृष्टि से इतना महत्व नहीं है जितना समाज या संघ-व्यवस्था की दृष्टि से। यही कारण है कि वैयक्तिक साधना की परिपूर्णता के पश्चात् भी जैन नैतिकता में आचार नियमों के परिपालन पर ज़ोर दिया गया है।

**नैतिक दृष्टि से निश्चय और व्यवहार में कौन महत्वपूर्ण है ?**

जैन दर्शन में जिन निश्चय और व्यवहार नयों का विवेचन किया गया है उनमें से किसे महत्वपूर्ण माना जाय यह प्रश्न विचारणीय है। आचार्य कुन्दकुन्द ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अपने समयसार नामक ग्रन्थ में निश्चय नय को भूतार्थ (सत्यार्थ) और व्यवहार नय को अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिये कि निश्चय नय ही महत्वपूर्ण है और व्यवहार नय का कोई महत्व नहीं है। निश्चय या परमार्थ की उपलब्धि के लिये व्यवहार को आवश्यक माना गया है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना शक्य नहीं है। आराधना-सार नामक ग्रन्थ में यह स्पष्ट रूप से बताया गया कि व्यवहार मार्ग में प्रवेश किये बिना जीव निश्चय मार्ग को जानने या अनुभव करने में समर्थ नहीं हो सकता। प्रारम्भ में व्यवहारगत शुभ प्रवृत्तियों के द्वारा अशुभ संस्कारों का निरोध होता है और तत्पश्चात् चित्त शुद्धि हो जाने पर शुद्ध उपयोग के द्वारा शुभ संस्कारों का भी निरोध हो जाता है और इस प्रकार योगी नय पक्षों से ऊपर उठकर आत्म-रमण की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। महात्मा गांधी के आध्यात्मिक गुरु रायचन्द भाई ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

निश्चय वाणी सांभली साधन तजवाँ नोय।
निश्चय राखी लक्ष मां साधन करवां सोय॥
निश्चय राखी लक्ष मां पाले जे व्यवहार।
सो नर मोक्ष पामशे संशय नहीं लगार॥

—भोपाल विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# मानव-समता

अनन्तगणेश जावडेकर

## १. समता का वर्णनात्मक विचार

अ और व समान हैं । इस वाक्य का अर्थ वर्णनात्मक भी होता है और मूल्यात्मक भी । प्रथम हम वर्णनात्मक अर्थ का विचार करेंगे और बाद में मूल्यात्मक अर्थ का ।

वर्णनात्मक अर्थ में वस्तुस्थिति का यथार्थ वर्णन करने का प्रयास है । यह सही भी हो सकता है और ग़लत भी । क्या दो पदार्थों में समता होने का वर्णन यथार्थरूप में सत्य हो सकेगा ? केवल गाणितिक अथवा तर्कशास्त्रीय दृष्टि से ही यह वर्णन कुछ अंश तक सत्य हो सकता है । हम पदार्थों के स्वरूपों को देखेंगे तो इनमें संपूर्ण समता मिलना अशक्य है । यह तो प्रसिद्ध तत्त्व है कि जिन दो पदार्थों में संपूर्ण अभिन्नता है वे दो न रह कर एक ही पदार्थ होगा । तात्पर्य यह हुआ कि किन्ही भी दो पदार्थों में संपूर्ण समता कभी नहीं पायी जाती । इस तथ्य पर बल देकर वैज्ञानिकों ने 'विशेष' नामक स्वतन्त्र 'पदार्थ' का आग्रह रखा है । सभी यथार्थवादियों ने न्यूनाधिक रूप में पदार्थों की असमता स्वीकृत की है । बहुत्ववाद और द्वैतवाद अनिवार्यतः भेदवाद में परिणत होता है । मध्वाचार्य का भेदवाद प्रसिद्ध है । हर एक पदार्थ विशिष्ट है, विभिन्न है । जैनों का अनेकान्तवाद विशेषवादी दृष्टि का ही परिपाक है ।

विभिन्नता होते हुए भी जब हम दो पदार्थों की तुलना करके उन्हें समान हैं कहते हैं तब हमारा मतलब यह होता है कि, अमुक संदर्भ में पदार्थों की भिन्नता ध्यान देने योग्य नहीं है, या उस भिन्नता पर लक्ष केन्द्रित करना असंबद्ध है । दो विद्यार्थियों को परीक्षा में समान गुण मिल सकते हैं, यद्यपि अन्य भिन्नताएं उनमें होती ही है । इसका अर्थ यह हुआ कि संदर्भ की अपेक्षा से ही समता होती है । जब तक संदर्भ नहीं दिया जाता तब तक समता-वाचक कथन अप्रतिष्ठित ही रहेगा ।

"मानव-व्यक्ति समान हैं" इस वाक्य का अर्थ संदर्भ कहकर हम कर सकते हैं । किस अर्थ में मानव समान हैं और किस अर्थ में नहीं हैं यह हम देख सकते हैं । मानव जिन तत्त्वों का बना है वे तत्त्व सभी मानवों में पाये जाते हैं । पंच भौतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



देह, प्राण, मन, बुद्धि सभी मानवों के समान घटक हैं। जब हम कहते हैं कि सभी मानव जन्मतः समान हैं, तब इसका अर्थ इतना ही है कि सभी मानव एक ही तरीके से जन्म लेते हैं। हर एक मानव एक ही प्रकृति का विकार होने के कारण सचमुच सब समान हैं। तथापि यह समानता इतनी ही है। जिन तत्त्वों से मानव बना है उनमें अंशात्मक न्यूनाधिक्य होने के कारण हर एक व्यक्ति भिन्न हो जाता है। किसी का शरीर जन्मतः सबल और किसी का दुर्बल होता है। मानवों के रक्त में भिन्नता होती है, इन्द्रियों के सामर्थ्य में भिन्नता होती है, आनुवंशिक गुण भिन्न होते हैं। एक ही दम्पती के पुत्र-पुत्रियों में, आनुवंशिक गुण-दोष होने पर भी उनमें वैविध्य तथा भिन्नता होती है। सभी व्यक्तियों में आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि सहज प्रवृत्तियाँ होती हैं, तथापि इन प्रवृत्तियों में अंशात्मक न्यूनाधिक्य दिखाई देता है। कोई अधिक भावनाशील होते हैं, कोई अधिक संवेदनशील होते हैं, कोई धीर प्रकृति के होते हैं तो कोई भयशील होते हैं। सभी मानवों का मानसिक बल समान कभी नहीं होता। उसी तरह उनका बुद्धितत्त्व असमान होता है। बुद्धिलब्धि ( इंटेलीजेंस कोशेंट ) की दृष्टि से मानवों का वर्गीकरण मनोविज्ञान में किया ही है। किसी की गति गणित में होती है, और किसी की भाषा और साहित्य में। किसी की इतिहास में रुचि होती है तो किसी की ज्योतिश्शास्त्र में। भिन्न रुचिर्हि लोकः। कोई अंतर्मुख होते हैं, और कोई बहिर्मुख। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व विशिष्ट हो जाता है। कोई व्यक्ति किसी और व्यक्ति से संपूर्ण रूप से समान हो ही नहीं सकता।

सांख्य-वेदान्त की दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति वैविध्य के माध्यम से ही हो सकती है, और सब विविधता का अन्तिम वर्गीकरण कम से कम चार विभागों में किया जाता है। सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की या तो समानता होती है किंवा असमानता या विषमता। इस प्रकार सृष्ट पदार्थ १. गुण साम्यावस्था, २. सत्त्वगुणाधिक्य, ३. रजोगुणाधिक्य और ४. तमोगुणाधिक्य इन चार प्रकारों में विभाजित किये जा सकते हैं। इसको ही सृष्टि का चातुर्वर्ण्य कहते हैं। चार प्रकार से वर्णन किया जाता है यही चातुर्वर्ण्य है। मूल प्राकृतिक सृष्टि का यह चातुर्वर्ण्य मानवों को भी लागू है।

सभी सृष्टिविज्ञान सृष्टि की विविधता और समरूपता जानने के लिये उद्युक्त होता है। प्रत्येक पदार्थ के गुणधर्म जानकर उनका वर्गीकरण करना और उनके कर्मों के या वर्तन के नियम जानना यही विज्ञान का कार्यक्षेत्र है। पदार्थों में असमानता नहीं होती तो विज्ञान की आवश्यकता भी नहीं होती। 'अविभक्तं विभक्तेषु' जानने का प्रयास ही ज्ञान विज्ञान की प्रेरणा है। तथापि पदार्थों का वैशिष्ट्य जानने से ही उनके प्रति यथार्थ और यशस्वी व्यवहार करने का सामर्थ्य मानव को प्राप्त होता है। जो बात भौतिक विज्ञानों की है वही मानवीय विज्ञानों की भी है। मानवों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


का समानत्व भी जानना चाहिये और हर एक का असमानत्व अथवा विभिन्नत्व अथवा वैशिष्ट्य भी जानने की आवश्यकता है ।

अब तक मैंने मानव के प्राकृतिक स्वरूप का ही विचार किया और उस दृष्टि से मानव-व्यक्ति के शारीरिक, जैविक, मानसिक और बौद्धिक घटकों का सामान्यत्व तथा उन प्रत्येक घटकों का भिन्न व्यक्तियों में असमानत्व भी दिखाया ।

जो लोग केवल प्रकृति को ही मानते हैं उनके लिये ऊपर का विचार तथ्य-वर्णन के लिये पर्याप्त है । तथापि ऐसे अन्य दार्शनिक भी हैं जो यह वर्णन अपर्याप्त मानते हैं । मानवत्व का विश्लेषण करने वाले दार्शनिक मानव के अंतर्यामी आत्मतत्त्व को भी अन्तिम महत्व का घटक मानते हैं । सभी धर्म किसी न किसी प्रकार से मानव को आत्मरूप मानते हैं । इन धर्मों में तथा उनके आधारभूत दर्शनों में प्रायः आत्मा का अनेकत्व स्वीकृत है । उनमें से कुछ दर्शनों में आत्माओं का अथवा जीवों का भिन्नतादर्शक वर्णन मिलता है । इसका अर्थ यह हुआ कि मानवों में आत्मतत्त्व के अस्तित्व की समानता है तथापि कुछ अंश तक आत्माओं के स्वरूपों में असमानता है । दूसरे बहुत से दर्शन आत्माओं की संख्या अनेक मानते हुए भी सभी आत्माओं का स्वरूप समान मानते हैं । इस दृष्टि से मानवों में प्राकृतिक असमानता होती है तथापि आध्यात्मिक समता रहती है । भिन्न दर्शनों में आत्मा के स्वरूप के बारे में भिन्नता होने पर भी इन दर्शनों में जो भी आत्मा का स्वरूप है वह सभी व्यक्तियों में समान रूप में है । जैसेकि न्याय दर्शन में आत्मा में ज्ञान का गुण मनःसंयोग से उत्पन्न होता है, इसलिये ज्ञान आकस्मिक गुण है । तथापि सभी मानवों में यह आत्मा का स्वरूप संपूर्णतः समान है । सांख्य में ज्ञान तो आत्मा का तात्त्विक गुण है जो समवाय सम्बन्ध से सभी व्यक्तियों में समान रूप से रहता है । अद्वैत वेदान्त में आत्मा ज्ञान-स्वरूप है और आनन्द-स्वरूप भी । अन्य वेदान्त-सम्प्रदायों में ज्ञान और आनन्द माने हैं, तथापि वे आत्मा के आवश्यक गुण हैं, स्वरूप नहीं । ये मतभेद क्यों न हो, किन्तु इन सम्प्रदायों में सभी मानव-व्यक्तियों में आत्मा समानरूप से रहता है । इसका अर्थ यह है कि ऐसे अनेक दर्शन हैं जो मानव की प्राकृतिक भिन्नता तथा आध्यात्मिक समानता स्वीकृत करते हैं ।

एकमात्र अद्वैत वेदान्त ऐसा दर्शन है जिसके अनुसार आत्मा का अनेकत्व नहीं है । उस दर्शन ने आत्मैकत्त्व प्रस्थापित किया है । आत्मा स्वरूपतः सच्चिदानन्द है ही, तथापि उसकी न केवल समानता व्यक्तियों में है अपितु उसकी एकता है । परमार्थतः आध्यात्मिक स्तर पर मानवों में न केवल समता है, अपितु एकता है और इसके भी आगे जाकर, सभी प्राणियों में और तथाकथित जड़ जगत् में एकमेव अद्वितीय सच्चिदानन्द,नित्य,शुद्ध, बुद्ध,मुक्त आत्म तत्त्व विराजमान है । परमार्थतः आत्मैकत्त्व सिद्ध वस्तु है, नकि प्राप्तव्य अथवा साध्य आदर्श है । यह अध्यात्मिक, पारमार्थिक तथ्य का वर्णन है । व्यावहारिक वर्णन में सृष्ट पदार्थों में वैविध्य है, अनेकता है, असमा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नता है, संघर्ष है, तथापि उनमें समानता की, एकरूपता की, परस्परावलंबिता की, परस्परपूरकता की, संवादिता की भी गतिशीलता दिखाई पड़ती है। इस संवादी गतिशीलता का मूल स्रोत पारमार्थिक या आध्यात्मिक एकत्व में है।

## २. समता का मूल्यात्मक विचार

अब हम 'अ और ब समान हैं' इस वाक्य का मूल्यात्मक अर्थ देखेंगे। भले ही मानवों में वैविध्य और भिन्नता हो तथापि हमें उनके प्रति समान दृष्टि और व्यवहार रखना चाहिये। मानव-मानव में मानवता की दृष्टि से समता होनी चाहिये, उनमें भेद या पार्थक्य करना उचित नहीं है।

प्लेटो ने कहा कि स्त्री-पुरुष में राजकीय क्षेत्र में भेद नहीं करना चाहिये। यद्यपि कुछ आत्माएं अधिक विकसित होते हैं, ऐसा उसने माना है, ऑरिस्टॉटल ने सिखाया है कि स्वतंत्र नागरिकों में समता रखनी चाहिये। लेकिन उनमें भी कुछ एक स्वभावतः गुलाम होते हैं, ऐसा वह मानता है। स्टोइकों ने प्रथम बार सामान्यरूप में मानव-समता का पुरस्कार किया है। प्रत्येक मानव बुद्धिवान् होने के कारण हर एक में सद्‌गुण संपादन की समान शक्ति रहती है। फाँडिल्लक और हेल्वेशियस ने कहा है कि भेद भिन्न परिस्थिति और अनुभव से उत्पन्न होते हैं। यदि अनुकूल परिस्थिति दी जाय तो हर एक व्यक्ति में पूर्णता प्राप्त करने की क्षमता रहती है। रूसो के मत में, कृत्रिम जीवन-पद्धति के कारण मानवों में वैषम्य पैदा होता है, निसर्गतः भेद नहीं होता, इसलिये कृत्रिम वैषम्य मिटाना चाहिये। कांट के अनुसार मानव-समाज में प्रत्येक व्यक्ति साध्य है नकि साधन। और प्रत्येक व्यक्ति में सत्संकल्प का साक्षात्कार करने की क्षमता समानरूप से रहती है।

उन्नीस सौ अड़तालीस में मानवीय अधिकारों की जो अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा हुई, उसकी मूल प्रेरणा मानव-समता के आदर्श में है। सभी मानव जन्मतः स्वतंत्र हैं, मुक्त हैं। सममहत्त्व के, समसम्मानार्ह, समान अधिकार धारण करने वाले और सभी क्षेत्रों में समान न्याय प्राप्त करने के लायक हैं।

नकारात्मक रूप से देखा जाय तो समता का आदर्श सिद्ध करने के लिये सभी प्रकार की विषमता, जो समाज में देखी जाती है उसका निराकरण करना चाहिये। राजकीय, आर्थिक, सामाजिक, वैधानिक, शैक्षणिक, वांशिक, रंगभेदात्मक, लैंगिक, सांस्कृतिक, नैतिक, धार्मिक इत्यादि क्षेत्रों में जहां भी विषमता की जाती है उसके विरुद्ध आन्दोलन करके समता प्रस्थापित करनी चाहिये। इन सभी क्षेत्रों में भेद-भाव प्राचीन काल से चलते रहे हैं, उन भेद-भावों को नष्ट करना ही हमारा कर्त्तव्य है। बाहर से लादी हुई शासकीय सत्ता, जन्म से प्राप्त हुए सामाजिक हित-संबंध और विशेष अधिकार, आर्थिक विषमता से उत्पन्न हुई विषम परिस्थिति, वर्ण-विद्वेष, जाति-विद्वेष, रंग-विद्वेष के कारण फैली हुई दुःखकारक विषमता सहन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करने लायक नहीं हैं। विषमता के कारण ही जटिल समस्याएं पैदा होती हैं जिनका न्यायसम्मत निराकरण समता-प्रस्थापन पर ही अवलंबित है।

समाजवाद और साम्यवाद समता के आदर्श से प्रेरित हैं। उनका सामाजिक दर्शन मुख्यतः आर्थिक और राजकीय है। सब प्रकार के विषमता का मूल इन क्षेत्रों में ही रहता है। समानता प्रस्थापित करने के लिये प्रथमतः समाजवाद की भूमिका निर्माण करना और बाद में उसकी ही परिणति साम्यवाद में हो जाने की आवश्यकता है। सब सम्पत्ति समाज के अधीन हो जानी चाहिये। धनोत्पादक साधनों पर, उनके वितरण पर और उपभोग पर समाज का ही नियंत्रण होना चाहिये। समाजवाद और साम्यवाद में कुछ बातों में भेद है, वह कालान्तर में आर्थिक पद्धति का विकास होने पर नष्ट हो जाएगा, ऐसा साम्यवादियों का ख्याल है।

समाजवाद में सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार रहेगा तथा सहकारी रूप से भी खेती और उद्योग होंगे। साम्यवाद में ये दोनों प्रकार नहीं रहेंगे। सब प्रकार की साधन-सामग्री लोगों की ही सरकार के अधीन रहेगी। समाजवाद में खेत में काम करने वालों में और अन्यत्र काम करने वालों में भेद रहेगा। साम्यवाद में यह भेद भी नष्ट किया जायगा। समाजवाद में शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम में भेद रखा है। वह साम्यवाद नहीं मानता। नगर-विस्तार और ग्राम-विस्तार में समाजवाद में भेद है, वह भी आर्थिक व्यवस्था के विकास से साम्यवाद में नहीं रहेगा। आर्थिक व्यवस्था के कम-अधिक विकास के कारण ही धन के वितरण के प्रकार में भेद होता है। समाजवाद में इस तत्त्व पर वितरण होगा कि हर एक को उसके काम के अनुसार धन मिलेगा। उस काम में अंश और गुण का भेद भी किया जायगा। काम कितना किया है और किस दर्जे का किया है, यह देखा जायगा। साम्यवाद में केवल हर एक की आवश्यकताओं के अनुसार ही धन दिया जायगा। समाजवाद में हर एक की कार्यशक्ति का विचार होता है, जो भिन्न-भिन्न होती है। साम्यवाद में इस भेद पर ज़ोर न देकर प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की तरफ ध्यान दिया जायगा। दोनों व्यवस्थाओं में व्यक्तियों और वर्गों की निजी संपत्ति नहीं रहेगी। सब संपत्ति सरकार के अधीन होगी। परन्तु जो वर्ग समाजवादी व्यवस्था में रहते हैं, जैसे कि खेतकरी, कामकरी और बुद्धिजीवी में वर्गभेद भी साम्यवादी अवस्था में नष्ट हो जायेंगे। एकमेव साम्यवादी विचार-प्रणाली ही रहेगी जिसके अनुसार सभी लोग अपना जीवन-व्यवहार समता से करेंगे। कोई व्यक्ति या वर्ग किसी और पर अधिसत्ता जमाकर नहीं बैठेगा। साम्यवाद की दृष्टि में जैसे सामाजिक वर्ग नष्ट हो जायेंगे वैसे राष्ट्रों में भी भेद नहीं रहेंगे। वैसे तो शासक और शासित का भेद भी अंतिम अवस्था में नष्ट होने की आकांक्षा साम्यवाद में रखी है। शासनविहीन समाजव्यवस्था आदर्श में रहेगी। विज्ञान, यन्त्रज्ञान, संस्कृति और लोकतंत्रीय स्वायत्त राज्य-व्यवस्था का स्वरूप जैसा-जैसा विकसित होता रहेगा वैसा-वैसा ही यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


आदर्श प्रत्यक्ष में आविष्कृत होगा, जिस अवस्था में कि मानवमात्र में समता प्रस्थापित होगी। इस व्यवस्था में हरएक से कार्य-शक्ति के अनुसार काम लिया जायगा और हर-एक को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार उपभोग्य पदार्थ दिये जायेंगे। इसी में सभी का निरपवाद सामाजिक और वैयक्तिक कल्याण हो सकेगा। इस आर्थिक, भौतिक विकास के अनुसार मानव-व्यक्तित्व का भी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक और नैतिक विकास होगा। मानव-मानव में सामंजस्य रहेगा और व्यक्ति और समाज में भी सामंजस्य रहेगा। ऐसी शोषण-रहित समाज-व्यवस्था में ही सचमुच समता रहेगी।

साम्यवाद ने मानव-समता-प्रस्थापन करने के लिए जो आदर्श सामने रखे हैं वे अवश्य विचारणीय हैं। सोवियत रूस में और चीन में इस आदर्श को प्रस्थापित करने के प्रयास जारी हैं। तो भी साम्यवाद की सम्पूर्ण परिणति होने के लिए भविष्य की ओर ध्यान देना पड़ेगा। अभी तक स्वप्न अधूरा रहा है, लेकिन साम्यवादियों के अनुसार, जो प्रयत्न हो रहे हैं वे आशाप्रद हैं और स्वप्न साकार कभी न कभी होगा ही, ऐसा उनका विश्वास है।

## ३. समता-विषयक तारतम्य

ऊपर की चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि मानवों में दो प्रकार की असमता हमें दिखाई देती है : एक स्वाभाविक और दूसरी अस्वाभाविक। एक असमानता का उद्भव निसर्ग में है और दूसरी असमानता या विषमता का उद्भव मानवकृत है, इसलिए कृत्रिम है। इष्ट समाज-व्यवस्था वह है जिसमें कृत्रिम वैषम्य का अभाव होगा और प्राकृतिक समानता के बारे में व्यक्ति और समाज के हित में हितप्रद व्यवस्थापन होगा।

एक बात तो यह है कि प्राकृतिक असमानता सामाजिक स्वास्थ्य और हितप्रद व्यवस्था की दृष्टि से वरदान ही हैं नकि विषम अनिष्ट परिस्थिति। समानता एक इष्ट मानवीय मूल्य ज़रूर है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी प्रकार की प्राकृतिक असमानता शापरूप है। समाज-धारणा के लिए ही केवल नहीं, लेकिन सम्पूर्ण सृष्टि की धारणा के लिए नानात्व और असमानता अनिवार्य हैं। न्याय-वैशेषिक का एक विधान है—"व्यवस्थातो नाना।" कुछ मूल्य ऐसे होते हैं कि जो मूल-प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण मूल्यत्व-धारण करते हैं। सृष्टि में विभिन्न असमान रंग है, यह बहुत अच्छी बात है। अन्न में षड्रस हैं, केवल एक ही रस नहीं है, यह क्या वांछनीय नहीं है? तात्पर्य यह है कि सृष्टि में उपलब्ध असमानता की को हमें अवांछनीय नहीं मानना चाहिए।

समाज-धारणा के लिए अनेक प्रकार के गुणों और कर्मों की आवश्यकता रहती है। जिस व्यक्ति के जैसे स्वाभाविक गुणों और कर्मों की क्षमता होगी उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


अनुरूप उसका स्थान उसको मिलने का उसका अधिकार है और उस प्रकार का ही उसका कर्त्तव्य भी रहेगा। इसमें व्यक्ति और समाज दोनों का हित है। प्रत्येक की प्राकृतिक क्षमता के अनुसार ही समाज में व्यवस्थापन शक्य होगा। असमानता भी एक धारक तत्त्व और मूल्य है। समानता का यह अर्थ कभी नहीं होगा कि मानवों में यांत्रिक एकरूपता होनी चाहिये। मानव-समाज में सभी एक ही प्रकार के पुरुष होते या स्त्रियां होतीं तो क्या समाज अच्छा होता ? लिंगभेद भी अच्छी बात है और हर एक व्यक्ति में जो गुण-कर्मात्मक भेद हैं वे भी अच्छे हैं। उन सभी के साथ व्यवहार करने में हमें विषमता की दृष्टि नहीं रखनी चाहिये। जो अनिवार्य भेद हैं वे इष्ट भी कैसे होंगे, इसका ही विचार सामाजिक दार्शनिकों को करना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि प्राकृतिक असमानता में कुछ इष्ट है और कुछ अनिष्ट है। जो इष्ट असमानता है उसका निराकरण करने की कुछ आवश्यकता नहीं है। तथापि जो अनिष्ट है, जो विकृत स्वरूप में है, उसका तो निराकरण जितना हो सके उतना करना ही चाहिये। अन्धत्व, पंगुत्व जैसी शारीरिक असमता अनिष्ट है। उसका निराकरण करना यदि शक्य हो तो करना ही चाहिये। प्राकृतिक विकृतियों के कारण जो अनिष्ट असमानता आती है वह वैयक्तिक विकास में बाधक हो जाती है। ये वैयक्तिक कठिनाइयां कम करने की आवश्यकता है।

वैयक्तिक अनिष्ट कुछ अंश तक हम मिटा भी सकते हैं और दुरुस्त भी कर सकते हैं। वैज्ञानिक और यांत्रिक प्रगति पर यह बात अवलंबित है।

असमान व्यक्तियों के साथ हमारा वर्तन कैसे होना चाहिये ? क्या यह व्यवहार समान हो सकेगा ? सब व्यक्तियों के बारे में हमें समान विचार रखना चाहिये यह तो आदर्शभूत बौद्धिक तत्त्व है। लेकिन यह व्यवहार में कैसे लाएंगे ? समतापूर्ण दृष्टिकोण के कारण ही क्या असमान व्यक्तियों से साथ हमें असमान व्यवहार उचित नहीं है ? असमान व्यक्तियों की आवश्यकताएं भिन्न होने के कारण उनकी पूर्ति के लिये हमें उनके साथ असमान व्यवहार करना ही इष्ट है। हमारा बालकों के साथ, स्त्रियों के साथ, सज्जनों के साथ, चोरों के साथ, गुरुओं के साथ, मूर्खों के साथ, पागलों के साथ, अधिकारियों के साथ क्या यांत्रिक समता से उचित व्यवहार होगा ? जो ऐसा व्यवहार करेगा वह समता का ग़लत अर्थ समझेगा। ऐसा सम व्यवहार केवल मूर्ख ही कर सकता है।

आर. एच. टॉनी (R. H. Tawney) कहते हैं "The more anxiously a society endeavours to secure equality of consideration for all its members, the greater will be the differentiation of treatment which, when once the common human needs have been met, it accords to the special needs of different groups and individuals among them" (Equality, p. 39) तात्पर्य यह है कि जितना अधिक समता का दृष्टिकोण हम रखेंगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


उतना ही अधिक सूक्ष्म असम व्यवहार औचित्यपूर्ण होगा। असम व्यवहार के औचित्य को समझकर भी हम असम व्यवहार के आदर्श का आग्रह नहीं कर पाते, इसका एक कारण यह है कि असमता या विषमता इस शब्द को अनिष्ट अर्थ ही प्राप्त हुआ है। 'असम व्यवहार' याने 'अन्याय्य व्यवहार' ऐसा अर्थ लोग समझते हैं। अन्य एक विचार ऐसा है कि, जब हम समता का आदर्श रखते हैं तब हमारे मन में एक पूर्व-धारणा भी रहती है कि हमारी समता का क्षेत्र कौनसा रहेगा, उसकी क्या मर्यादाएं रहेंगी। एक धार्मिक सम्प्रदाय के लोग या एक आर्थिक हित-सम्बन्ध रखने वाले लोग, या एक सामाजिक हित-सम्बन्ध रखने वाले लोग आपस में समता रखने की इच्छा रखेंगे और उनके गुट के बाहर के लोगों के साथ अनिष्ट विषम दृष्टिकोण और व्यवहार रखेंगे। जैसे, जो मुसलमान नहीं हैं वे काफिर हैं। जो स्वतंत्र नहीं हैं वे गुलाम ही रहेंगे। जो काले वर्ण के हैं या नीच जाति में जन्मे हैं वे समता के क्षेत्र में नहीं आ सकते क्योंकि उनके बारे में यह शायद पूर्ण धारणा रहेगी कि इनका स्तर ही स्वभावतः नीचा है। यदि यह पूर्ण धारणा का क्षेत्र विस्तृत होकर सभी मानव-समाज के लिये सीमित कर दिया जायगा तो भी यह प्रश्न कोई भी उठा सकता है कि क्या मानवेतर जीव-सृष्टि समताक्षेत्र में आने योग्य नहीं है? क्या खाली मानव के हित-सम्बन्ध ही हम सुरक्षित रखेंगे? हमारी नैतिक उन्नति का यह एक मापदंड होगा कि हमारे समदृष्टि के क्षेत्र में जीवसृष्टि ही क्या अचेतन सृष्टि भी आ सकती है। गीता का यह सुप्रसिद्ध श्लोक देखिए :

विद्याविनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥

नैतिक उच्च कोटि यही है कि हमारा कर्तव्य न केवल मानव-समाज तक मर्यादित होना चाहिए अपितु पशुओं, अन्य जीवों तथा अचेतन पदार्थों तक, याने सभी सृष्ट पदार्थों तक विश्वव्यापी होना चाहिये। सभी सृष्टि हमारा धर्मक्षेत्र है। जीवों के तथा अचेतन पदार्थों के हमारे बारे में कर्त्तव्य नहीं होते, लेकिन सुधी मानव के उनके बारे में कर्त्तव्य जरूर होते हैं। मानव स्वहित में समता का अधिकार रखेगा और बेचारे अमानव जीव और जड़ पदार्थ भी अपना अस्तित्व रखने के लिये अधिकारी है यह नहीं समझेगा तो यह स्थिति मानव-समदृष्टि की उच्च नैतिक भूमिका के लिये बिल्कुल शोभनीय नहीं है। यह धार्मिक आध्यात्मिक जागृति मानव में होने की आवश्यकता है।

परन्तु मैं पूछता हूं, क्या समता ही एक ऐसा अन्तिम महत्व का मूल्य है जिसकी प्रस्थापना के लिये हम उद्युक्त हों? जब फ्रेंच क्रान्ति हुई तब स्वातंत्र्य, समता और बंधुता इन तीन मूल्यों की घोषणा की थी। समता पर जोर देकर साम्य-वाद में व्यक्ति-स्वातंत्र्य छीन लिया जाता है। वर्गविग्रह पर जोर देकर बन्धुता का मूल्य समाप्त कर दिया जाता है। क्या यह स्थिति चिंतनीय नहीं है? सच में बन्धुता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


की प्रेरणा से समता अर्थवान् होती है। बन्धुता प्रेम और सहानुभूति पर निर्भर है। सभी के साथ प्रेम से व्यवहार होना चाहिये। प्रेम का व्यवहार आत्मैक्य दृष्टि से बलवत्तर हो जाता है। हम केवल परस्पर के बन्धु नहीं हैं। हम एक ही हैं। एकता की दृष्टि समता की दृष्टि से भी उच्चतर है। हमारे मूल्य होने चाहियें एकता, पारस्परिकता और संवादिता जो श्री अरविंद ने आइडियल ऑफ ह्यूमन यूनीटी ग्रंथ में सूचित किये हैं, और उनका क्षेत्र न केवल मानव-जाति तक मर्यादित रहेगा अपितु सभी सृष्टि की धारणा के लिये विश्वव्यापी होगा। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने विचार, उच्चार और आचार में इस आदर्श को संवर्धित करें।

म. स. विश्वविद्यालय, बड़ोदा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# भारतीय तर्क-शैली

रघुनाथ गिरि

किसी भी शास्त्र का विचार दो दृष्टियों से किया जा सकता है : एक उसके प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से और प्रतिपादन शैली की दृष्टि से । विषय की दृष्टि की स्पष्टता और व्यापकता के कारण शास्त्रों का विचार प्रायः इसी दृष्टि से होता है और शैली की दृष्टि उपेक्षित ही रहती है । इसका मुख्य कारण यह है कि विषय का दिग्दर्शन अनुबन्ध चतुष्टय (विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध, अधिकारी) में स्पष्ट रूप से कर दिया जाता है और विवादास्पद स्थलों के लिए उपक्रमोपसंहार[1] आदि मान्य मापदण्डों के आधार पर विषय का निर्धारण संभव माना जाता है । किन्तु शैली के सम्बन्ध में न तो शास्त्र में कहीं चर्चा होती है और न उसके निर्धारण का कोई मापदण्ड ही उपलब्ध होता है । यहां तक कि शैली क्या है ? एक ऐसा प्रश्न है जिसके उत्तर में एकान्तता संभव ही नहीं है । यहाँ हम शैली उस विधि या पद्धति को मान रहे हैं, जिसका आश्रय विषयप्रतिपादन तथा प्रयोजन (तत्त्व निर्णय एवं विषय) की सिद्धि के लिए किया जाता है । इस प्रकार यहाँ शैली के मुख्य दो पक्ष हैं—एक का सम्बन्ध विषय-प्रतिपादन से है और दूसरे का सम्बन्ध प्रयोजन की सिद्धि से । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शैली के निरूपण में विषय तथा प्रयोजन की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । फिर भी हम इस बात का प्रयास करना चाहते हैं कि शैली का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत हो जिसमें विषय सम्बन्धी जटिलता एवं विविधता का कम से कम निर्देश करना पड़े ।

शैली की दृष्टि से भारतीय तर्क के इतिहास को मुख्य पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

१. प्रारम्भिक रूप, २. व्यवस्थाभिमुख रूप, ३. व्यवस्थित रूप, ४. विकासाभिमुख रूप और ५. विकसित रूप ।

**शैली का प्रारम्भिक रूप**—इसके उदाहरण के रूप में बन्दी-अष्टावक्र सम्वाद,

---

१. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलं । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य निर्णये ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जनक-अष्टावक्र सम्वाद,[२] जनक-सुलभा सम्वाद[३] एवं मिलिन्द-पन्नहो[४] आदि में निर्दिष्ट तार्किक विवेचन को प्रस्तुत किया जा सकता है। इन स्थलों पर तार्किक विवेचन के लिए जो विधि अपनायी गयी है वह या तो पहेली और हल के रूप में या प्रश्नोत्तर के रूप में। बन्दी-अष्टावक्र सम्वाद में, वादी-प्रतिवादी में एक, दो, तीन आदि संख्याओं की सार्थकता के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाते हैं और विविध शास्त्रीय प्रक्रियाओं के आधार पर इनका उत्तर दिया जाता है। गौतम के न्याय-सूत्र में इसे संख्यैकान्तवाद[५] के नाम से उल्लेख कर इसका खण्डन किया गया है। जनक-अष्टावक्र सम्वाद एक 'पहेली हल' के समान है। जनक एक पहेली के रूप में अष्टावक्र से यह पूछते हैं कि वह कौन है जिसमें ३६० अंश हैं, १२ भाग हैं, ३० उपभाग हैं और २४ जोड़ हैं, क्योंकि ऐसी वस्तु की जानकारी रखने वाला ही विद्वान कहला सकता है। अष्टावक्र इस पहेली को भलीभाँति समझते हुए दूसरी पहेली के रूप में ही इसका हल प्रस्तुत करता है कि वह वस्तु सतत चलता हुआ एक चक्र है जिसमें २४ (पक्ष) जोड़ हैं, ६ (ऋतुएं) नाभि हैं, १२ (मास) वृत्तांश हैं और ३६० (दिन) आरा हैं। अर्थात् वह एक वर्ष है।

मिलिन्द पन्नहो को भी इसी शैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है। यहां भी मिलिन्द नागसेन के समक्ष एक के बाद एक प्रश्न पूछता है और नागसेन हां या ना में उसका उत्तर देता जाता है और अन्त में मिलिन्द नागसेन से अपनी बात मानवाने की स्थिति का अनुभव करता है। इसके बाद नागसेन मिलिन्द से उसी प्रकार एक के बाद एक प्रश्न पूछता जाता है और मिलिन्द उसका उत्तर देता जाता है और अन्त में नागसेन यह सिद्ध करने में सफलता प्राप्त कर लेता है कि जैसे रथ एक व्यावहारिक नाममात्र है उसी प्रकार नागसेन या आत्मा व्यवहार चलाने के लिए नाममात्र हैं।

**व्यवस्थाभिमुख रूप**—प्रारम्भिक शैली की अपेक्षा इसमें स्पष्टता एवं व्यवस्था अधिक है किन्तु अभी भी इस स्तर पर शैली व्यवस्थित नहीं हुई है। इस शैली के उदाहरण के रूप में कौटिल्य अर्थशास्त्र (तन्त्रयुक्ति) एवं चरक संहिता में निर्दिष्ट तार्किक विवेचन को रखा जा सकता है। तन्त्र-युक्ति में ३२ पारिभाषिक शब्दों[६] का

---

२. महाभारत, वनपर्व, अध्याय १३२–१३४।

३. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ३२० (७८–९४)।

४. मिलिन्द पन्नहो।

५. गौतम, न्याय सूत्र ८/१/४१।

६. **पारिभाषिक शब्द**—अधिकारी, विधान, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ, उद्देश्य, निर्देश, उपदेश, अपदेश, अतिदेश, प्रदेश, उपमान, अर्थापत्ति, संशय, प्रसंग, विपर्यय, वाक्यशेष, अनुमत, व्याख्यान, निर्वंचन, अपवर्ग, स्वतन्त्रता, पूर्वपक्ष, उत्तर-पक्ष, एकान्त, अनागतावेक्षण, अतिक्रान्तावेक्षण, नियोग, विकल्प, समुच्चय, उह्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विवरण उपलब्ध होता है जिससे शैली-निर्धारण को दिशा मिलती है। चरक-संहिता ने और भी स्पष्ट रूप से तार्किक सिद्धान्तों को तीन मुख्य वर्गों में रखकर तार्किक शैली का स्पष्ट दिग्दर्शन करा दिया है। ये तीन वर्ग इस प्रकार हैं—

१. **कार्याभिनिर्वृत्ति**—जिसके अन्तर्गत कारण, कार्य, कार्यफल, अनुबन्ध, देश, काल, प्रवृत्ति, उपाय आदि का वर्णन है।

२. **परीक्षा**—के चार मापदण्ड (१. आप्तोपदेश, २. प्रत्यक्ष, ३. अनुमान, ४. युक्ति) माने गये हैं।

३. **सम्भाषा विधि या वाद-विधि**—के अन्तर्गत सम्भाषा की विशेषता, दो प्रकार की संभाषा (गुरु-शिष्य एवं विजयेच्छुओं के बीच), त्रिविध प्रतिपक्षी, परिषद्, वादोपाय, वादमर्यादा एवं वाद-मार्ग आदि का निरूपण है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस स्तर पर प्रतिपाद्य विषय का निरूपण एवं चार प्रमाणों से उनका परीक्षण शैली का एक अंग है तथा किसी परिषद् में सभापति के सम्मुख वादी-प्रतिवादी द्वारा तत्त्व-निर्णय अथवा विजय-पराजय के लिए तार्किक विवेचन शैली का दूसरा अंग है। तात्पर्य यह है कि विषय-प्रतिपादन में वर्णन एवं परीक्षण-शैली तथा तत्त्व-निर्णय एवं विजय रूप प्रयोजन हेतुवाद विवादात्मक शैली का उपयोग इस स्तर पर हुआ है। फिर भी यहाँ शैली इस रूप में पूर्ण व्यवस्थित नहीं हो पायी है।

**व्यवस्थित रूप** :— तर्क-शैली का यह रूप हमें न्याय दर्शन के सूत्र, भाष्य एवं वार्तिक आदि में उपलब्ध होता है। न्यायभाष्य[७] में वात्स्यायन ने प्रतिपादन-शैली का उल्लेख भी किया है कि इस शास्त्र की प्रवृत्ति (प्रतिपादन-शैली) तीन प्रकार की है : उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा। नाम द्वारा पदार्थ मात्र का कथन उद्देश्य है, अतत्त्व-व्यवच्छेदक धर्म लक्षण है। लक्षण लक्ष्य में घटित होता है या नहीं, प्रमाणों द्वारा यह निश्चय परीक्षा है। इस सम्बन्ध में उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में यह प्रश्न उठाया है कि इस शास्त्र की एक चौथी विभागात्मक प्रवृत्ति क्यों न मानी जाय, क्योंकि उक्त तीन प्रवृत्तियों में विभाग का अन्तर्भाव नहीं होता और इस शास्त्र में सर्वत्र विभाग उपलब्ध होता है, और इस प्रश्न का उत्तर यह कह कर दिया है कि वास्तव में विभागात्मक प्रवृत्ति अलग नहीं है, वह उद्देश्यात्मक प्रवृत्ति में ही सम्मिलित है। क्योंकि सामान्य नाम से पदार्थ का कथन उद्देश्य है और विशेष नाम से पदार्थ का कथन विभाग है। इसलिए विभाग को चौथी प्रवृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

---

७. न्यायभाष्य—१।१।१ त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः
उद्देश्योलक्षण परीक्षा चेति।
नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः
तत्रोद्दिष्टस्यातत्त्व व्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्
लक्षितस्य यथा लक्षणमुपपद्यते नवेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तत्त्व-निर्णय एवं विषय रूप प्रयोजन-सिद्धि के लिए वाद-विवादात्मक शैली के समस्त अंगों का स्पष्ट एवं विशद वर्णन भी हमें न्यायसूत्र एवं न्यायभाष्य आदि में उपलब्ध होता है। जब हम न्याय के सोलह पदार्थों को देखते हैं तो प्रतीत होता है कि उनमें से अधिकांश पदार्थों का विशद वर्णन शैली या पद्धति के स्पष्टीकरण के लिए ही है, जैसे त्रिविध कथा: — वाद, जल्प और वितण्डा, साधर्म्यसम-वैधर्म्यसम आदि २४ प्रकार की जातियाँ, प्रतिज्ञा-हानि, प्रतिज्ञान्तर आदि २२ प्रकार के निग्रह-स्थान आदि।

न्याय-सूत्र एवं भाष्य आदि में पञ्चावयवात्मक अनुमान को भी प्रयोजन-सिद्धि के लिए पद्धति के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु जितना व्यापक एवं विशद विवेचन वादात्मक शैली के अंगों का हुआ है उतना विशद विवेचन अवयव एवं हेत्वाभास आदि का नहीं हुआ है।

**विकासाभिमुख रूप**—तर्क-शैली के इस रूप का प्रतिनिधित्व प्रमाण-शास्त्र (विशेषकर जैन-तर्क तथा बौद्ध-तर्क) एवं प्रकरण शास्त्र करते हैं। इस स्तर पर लक्षण, परीक्षा-विधि का परिमार्जन, संशोधन एवं परिवर्द्धन हुआ है किन्तु पदार्थ के रूप में, विशेषकर प्रमाण तथा उसके भेद-उपभेद को ही, तर्क का विषय बनाया गया है। प्रकरण-शास्त्रों ने तो अन्य पदार्थों को प्रमाण के अन्तर्गत दिखलाने का प्रयास किया है और इसलिए तर्क में केवल प्रमाण पदार्थ के लक्षण, परीक्षण तक अपने को सीमित रखते हुए भी अन्य पदार्थों की चर्चा की है। इस स्तर पर एक ओर कथा (वाद, जल्प, वितण्डा) अथवा वादात्मक शैली को तो दूसरी ओर अनुमानात्मक शैली को महत्व दिया गया है।

इसके प्रमाण के रूप में हम जैनों के सूत्र कृतांग के वाद के विविध प्रकार,[८] स्थानाङ्ग सूत्र के उदाहरण,[९] और दोष के भेद[१०] तथा देवसूरी के नय तत्त्वालोका-

---

८. वितर्क (वितम्क) तर्क (तम्क) पक्ष (पम्ख) छल।

९. आहरण (पूर्ण समानता), आहरण तद्देश (आंशिक समानता), आहरण तद्दोष (सदोष समानता), उपन्यासोपनय (आख्यायिका को उदाहरण रूप में रखना)।

१०. दोष:—१– तज्जातदोष (क्रोधजन्य दोष)
२– मतिभंग (स्मृति-नाश)
३– प्रशास्तृ दोष (सभापति द्वारा पक्षपातज)
४– परिहरण दोष (प्रतिपक्ष के आक्षेप की अवहेलना)
५– लक्षण-दोष (अतिव्याप्ति, अव्याप्ति आदि)
६– कारण-दोष (वाद में असमर्थता)
७– हेतु-दोष (हेत्वाभास)
८– संक्रमण-दोष (विषयान्तर में चला जाना)
९– निग्रह-दोष (न समझना)
१०– वस्तु-दोष (वाद-विषय की ... सम्बन्धी दोष)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


लंकार के अवयव-भेद को उद्धृत[11] कर सकते हैं। बौद्ध तर्क में इस शैली के उदाहरण के रूप में नागार्जुन के 'उपाय कौशल्य हृदय-शास्त्र,' मैत्रेय के 'सप्तदश भूमि-शास्त्र' एवं वसुबन्धु के तर्कशास्त्र को देखा जा सकता है।

दिङ्नाग के प्रमाण-समुच्चय, न्याय-प्रवेश, धर्मकीर्ति के न्याय-बिन्दु तथा भासर्वज्ञ के न्यायशास्त्र से यह स्पष्ट होने लगता है कि यहां वाद की अपेक्षा अनुमान-प्रक्रिया का महत्व अधिक होने लगा है।

**विकसित रूपः— नव्य-न्याय की शैली**

नव्य न्याय में उद्देश्य-लक्षण-परीक्षा की शैली को संशोधित एवं विकसित किया गया है।

लक्षण में (असाधारण धर्म इतरव्यावर्त्तक, अतिव्याप्त्यादि दोष-रहित होना लक्षण का लक्षण है।) लक्ष्य में लक्षण का समन्वय, अलक्ष्य में लक्षण का घटित होना आदि दिखलाकर लक्षण की स्पष्टता सिद्ध की जाती है।

**परीक्षा के अन्तर्गतः—**

प्रतिपद व्यावृत्ति, अर्थात् लक्षणघटक प्रत्येक पद को हटाकर होने वाले दोषों की खोज की जाती है क्योंकि लक्षण-कुक्षी में कोई भी पद यदि निरर्थक रह जाता है तो व्यर्थ विशेषण घटित लक्षण हो जाता है। इसलिए प्रत्येक पद की सार्थकता का प्रदर्शन आवश्यक हो जाता है।

**लक्षण परिष्कारः—**

लक्षण घटक प्रत्येक पद की अस्पष्टता एवं संदिग्धता के कारण होने वाले दोषों के निवारण-हेतु अवच्छेदकता का निरूपण कर लक्षण का परिष्कार किया जाता है।

**अवच्छेदकः—**

यह साधारणतया दो प्रकार का होता हैः धर्म एवं सम्बन्ध। प्रत्येक पद वाच्य में विद्यमान धर्म, अपने समानाधिकरण कार्यता, कारणता, आधारता, आधेयता आदि का अवच्छेदक होता है। जैसे घटनिष्ठ कार्यता का अवच्छेदक घटत्व, दण्डनिष्ठ कारणता का अवच्छेदक दण्डत्व आदि। उसी प्रकार जो वस्तु जिस सम्बन्ध से कार्य या कारण बनती है वह सम्बन्ध कारणता, कार्यता आदि का अवच्छेदक होता है, जैसे घट तादात्म्य सम्बन्ध से कार्य होता है तो कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य है और दण्ड संयोग सम्बन्ध से कारण होता है तो कारणतावच्छेदक संयोग-सम्बन्ध है।

**सम्बन्ध की स्पष्टता—**

साधारणतया संयोग, समवाय, स्वरूप एवं तादात्म्य इन चार सम्बन्धों का विचार होता है किन्तु इन सम्बन्धों के अतिरिक्त परिस्थितिवश अनेक सम्बन्ध बन जाते

११— पक्ष-प्रयोग, हेतु-प्रयोग, दृष्टान्त, उपनय, निगमन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, जैसे जन्य-जनक-भाव, आधाराधेय-भाव, वाच्यवाचक-भाव, निरूप्यनिरूपक भाव-सम्बन्ध आदि। इन सम्बन्धों को स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है।

**सम्बन्ध दिशा—**

सम्बन्ध चाहे शुद्ध हो या मिश्र दोनों के दो छोर होते हैं और इन दो छोरों की दृष्टि से विचार करने से सम्बन्ध की दिशा ज्ञात होती है। जैसे— **भूतल पर संयोग सम्बन्ध से घट है।** यहां भूतल में संयोग-सम्बन्ध अनुयोगिता सम्बन्ध तथा घट में प्रतियोगिता सम्बन्ध से रहेगा और इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए भूतलानुयोगिक घट प्रतियोगिक संयोग कहना होगा। साथ ही घट–स्वनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपित संयोगानुयोगिता सम्बन्ध से भूतल में रहेगा और भूतल स्वनिष्ठानुयोगिता निरूपित संयोग प्रतियोगिता-सम्बन्ध से घट में रहेगा।

**प्रतिबद्ध प्रतिबन्धक भाव**—कार्यकारण विवेचन के साथ प्रतिबद्ध प्रतिबन्धक भाव, अभाव प्रतियोगी के साथ विरोध आदि का विवेचन नव्यन्याय की शैली का प्रमुख अंग है।

अनुमान के विविध अंगों के विशद विवेचन–जैसे व्याप्ति, पक्षता, अवयव, हेत्वाभास आदि, से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ स्वपक्ष-सिद्धि के लिए अनुमान की ही प्रमुखता है।

यह नव्यन्याय-शैली का एक दिग्दर्शन मात्र है। नव्यन्याय में तार्किक विचार में सूक्ष्म, गम्भीर एवं स्पष्ट निरीक्षण एवं परीक्षण की पद्धति का विकास हुआ है। अतः इसे विकसित शैली या शैली का विकसित रूप कहा जा सकता है।

काशी विद्यापीठ
वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# अद्वैत में अध्यास की परिकल्पना

## एक समीक्षात्मक अध्ययन

सरल झिंगरन

जगन्मिथ्यात्ववाद अद्वैत दर्शन का एक आधारभूत सिद्धान्त है। अनेक अद्वैतियों के अनुसार तो परमार्थाद्वैत एवं संसार का मिथ्यात्व एक ही सत्य के दो पक्ष हैं तथा संसार का मिथ्यात्व परमार्थाद्वैत के सिद्धान्त में निहित है।[1] जगत् अविद्या की सृष्टि है, जो उसका वास्तविक परिणामी कारण है, जबकि निरपेक्ष ब्रह्म उसका विवर्त कारण मात्र है। ब्रह्म के विवर्त-कारणत्व का अर्थ, अद्वैतियों के अनुसार, अविद्या के अध्यास का विषयत्व है।

इस प्रसंग में अद्वैत दर्शन में अध्यास की एक विशिष्ट परिकल्पना विकसित की गई है। शंकर सर्वप्रथम अध्यास भाष्य में इस परिकल्पना का उपयोग जीव के जीवत्व अथवा बन्धन की व्याख्या करने के लिए करते हैं। उनके अनुसार आत्मा का जीवत्व (कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि) अविद्या अथवा अनात्मा के मिथ्या गुणों के शुद्ध आत्मा पर अध्यास का परिणाम होने के कारण मिथ्या है, जीव का स्वरूप नहीं। इस कारण जीव के लिए अपने इस मिथ्या जीवत्व अथवा बन्धन से मोक्ष-लाभ करना सम्भव है।

किन्हीं विशिष्ट कारणों से शंकर अध्यास भाष्य में अनात्मा अथवा संसार और आत्मा के द्वैत को पूर्वस्वीकृत कर चलते हैं।[2] इस कारण शंकर अध्यास की एक अत्यन्त ही द्वैत-परक परिभाषा देते हैं—"स्मृति रूपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः" अर्थात् अध्यास में पूर्वकाल में कहीं अन्यत्र अनुभव की हुई वस्तु का वर्तमान अनुभव की विषय-वस्तु के अधिष्ठान पर आभास होता है, जिसका कारण अविद्या है।

---

१. देखें—दार्शनिक त्रैमासिक (जनवरी, १९७२) में नारायण शास्त्री द्राविड़ का अद्वैत वेदान्त पर निबन्ध–(पृ. २९)।
तथा जी. आर. मल्कानी–द मैटाफिजिक्स ऑफ अद्वैत वेदान्त, पृ. १३८, १४६, से १४८ इत्यादि।

२. युष्मदस्मत्प्रत्यय गोचरयोर्विषयविषयिणोरतमःप्रकाशवद्विरुद्ध स्वभावयोः, अध्यास भाष्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यास अथवा भ्रम-ज्ञान में इस प्रकार दो तत्त्वों का सम्मिलन होता है, उनमें एक (शुक्ता) सत्य है, दूसरा (रजत) असत्य ।[३]

उपर्युक्त परिभाषा को स्पष्ट करते हुए शंकर दो अन्य परिभाषाएं देते हैं। वस्तु-परक दृष्टिकोण से, अध्यास में एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु के रूप में प्रतीत होती है ।[४] ज्ञान के दृष्टिकोण से, अध्यास एक वस्तु का किसी दूसरी वस्तु के रूप में प्रत्यक्ष है । [५]

विवर्तवाद तथा अध्यास की परिकल्पनाओं के द्वारा अद्वैत विचारक अपने दो प्राथमिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहते हैं—ब्रह्म का निरपेक्षत्व तथा संसार का मिथ्यात्व । अपने इस उद्देश्य में वे सफल भी हुए हैं। संसार ब्रह्म पर अविद्या की सृष्टि के अध्यास का परिमाण है, अतएव मिथ्या है, तथा मिथ्या संसार की प्रतीति से अधिष्ठान-ब्रह्म की निरपेक्ष सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। किन्तु हमारे विचार में, ब्रह्म के निरपेक्षत्व के प्रति अत्यधिक आग्रह रखने के कारण अद्वैत विचारक न तो ब्रह्म की पूर्ण अद्वैत सत्ता (ऐब्सोल्यूटनैस) के प्रति न्याय कर पाते हैं, न व्यावहारिक जगत् की सत्ता के प्रति ।

(क) शंकर ने अध्यास की परिकल्पना का उपयोग अनात्मा एवं उसके गुणों के अस्तित्व की व्याख्या करने के लिए नहीं, अपितु शुद्ध आत्मा के अनात्मा और उसके गुणों से मिथ्या सम्बन्ध की व्याख्या के लिए किया है। आत्मा के संसारी रूप के मिथ्यात्व को सिद्ध करने में शंकर के दो उद्देश्य थे, प्रथम, ब्रह्मज्ञान के द्वारा मोक्ष की संभावना का प्रतिपादन तथा द्वितीय, अपने विपक्षी मीमांसा-मत की आलोचना। जीव के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि को मिथ्या सिद्ध करके शंकर मीमांसा के आधारभूत सिद्धांत को निर्मूल सिद्ध करना चाहते थे, जिसके अनुसार वैदिक कर्म का समुचित पालन मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र साधन है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति में शंकर सफल हुए। उसी सीमा तक उनके अध्यास के सिद्धान्त की सार्थकता है। अध्यास की परिकल्पना जगत्-सृष्टि के वैविध्य की व्याख्या नहीं कर सकती, न ऐसा कोई प्रयत्न शंकर ने अध्यास-भाष्य में किया है। किन्तु उनके अनुयायी न केवल अध्यास को जगत्-सृष्टि के प्रारूप की भांति ही स्वीकार कर लेते हैं एवं सृष्टि के संदर्भ में भ्रम-ज्ञान की उपमा का निर्बाध रूप से प्रयोग करते हैं, अपितु वे कभी सृष्टि की व्याख्या के लिए भ्रम-ज्ञान से अध्यास की उपमा की सार्थकता अथवा उपयुक्तता सिद्ध करने का भी प्रयत्न नहीं करते। अद्वैती दार्शनिक पहले विस्तार से अध्यास का वर्णन भ्रमज्ञान के संदर्भ में करते हैं और तत्पश्चात् संदर्भ बदल कर घोषणा करते हैं कि

३. ····मिथ्याज्ञान निमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदम्····वहीं ।
४. सर्वंव्यापि त्वन्यस्यान्ये धर्माविभासतम्—वही ।
५. अतस्मिन्तद्बुद्धिरिति—वही ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



संसार आत्मा पर अनात्मा के अध्यास का परिणाम है। अधिकांश स्थलों पर अध्यास की व्याख्या करते समय सृष्टि के संदर्भ तक का उल्लेख नहीं है। संसार को भ्रम-ज्ञान की मिथ्या वस्तु के समान कहा गया है। किन्तु भ्रम-ज्ञाम की वस्तु, जो बहुत कुछ ज्ञाता की कल्पना की सृष्टि होती है, एवं समस्त ज्ञाताओं के समान अनुभव के विषय-संसार में यदि कुछ समानताएं हैं तो अनेक भिन्नताएं भी हैं। संसार को उसी अर्थ में व्यक्ति की अविद्या की सृष्टि नहीं कह सकते जिस अर्थ में मिथ्या वस्तु उसकी सृष्टि है। दूसरी ओर अध्यास का विवेचन पूर्ण रूप से ज्ञाता के व्यक्तिगत भ्रम-ज्ञान के संदर्भ में किया गया है। तब अध्यास को जगत्-सृष्टि का प्रारूप किस अर्थ में मान सकते हैं?

(ख) भ्रम-ज्ञान की प्रक्रिया का विवेचन भी, जिसको अद्वैतदर्शन में इतना महत्वपूर्ण स्थान मिला है, सही प्रतीत नहीं होता। प्रमातृ चैतन्य में इन्द्रिय-दोष होता है। स्मृति संस्कार भी उसी में जागृत होते हैं। किन्तु भ्रम-ज्ञान की वस्तु अधिष्ठान-चैतन्य में आश्रित अविद्या की सृष्टि कही जाती है। यही नहीं, भ्रम-ज्ञान दो ज्ञानों का योग प्रतीत होता है।[६] 'इदं' का ज्ञान प्रमातृ-चैतन्य की बुद्धि-वृत्ति को होता है, जबकि मिथ्या रजत का ज्ञान साक्षि चैतन्य की अविद्या-वृत्ति को होता है। इस प्रकार प्रमातृ चैतन्य, उसकी दोषपूर्ण इन्द्रिय, स्मृति-संस्कार तथा 'इदं' का ग्रहण करने वाली बुद्धि-वृत्ति, साक्षि चैतन्य एवं उसकी अविद्या वृत्ति, प्रस्तुत वस्तु (इदं), उसका अधिष्ठान चैतन्य एवं उसकी अविद्या इतने सारे तत्त्वों के सम्मिलन से एक एकीकृत ज्ञान, "इदं रजतम्" कैसे सम्भव हो पाता है, यह स्पष्ट नहीं होता। समस्त वर्णन बहुत जटिल एवं विसंगति पूर्ण है।

(ग) शंकर अध्यास की एक अत्यंत सापेक्ष परिभाषा देते हैं, जिसके अनुसार अध्यास के लिए अधिष्ठान (इदं), ज्ञाता एवं उसकी अविद्या (स्मृति संस्कार) के वर्तमान तत्त्वों की तो अपेक्षा है ही, स्मृति-संस्कारों को सम्भव बनाने के लिए भूतकाल में प्रत्यक्ष की गयी विषय-वस्तु की भी अपेक्षा है। इतने विविध तत्त्वों की अपेक्षा रखने वाले अध्यास को अनुभव की विविधता का कारण कैसे माना जा सकता है? पद्मपाद एवं प्रकाशात्मा बड़ी गम्भीरता से उपर्युक्त परिभाषा को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म अविद्या के अध्यास का अधिष्ठान है, अविद्या दोष है एवं स्मृति-संस्कार की ओर अतएव अध्यास की शृंखला अनादि है। किन्तु इतनी विविधता को अनुभव का आधार बनाने से अध्यास की सम्भावना भले ही सिद्ध होती हो, अद्वैत की रक्षा नहीं होती। अविवेक तथा अध्यास दोनों ही सम्बन्धात्मक तथा सापेक्ष प्रत्यय हैं। अध्यास की हर सम्भव परिभाषा का द्वैतमूलक होना आवश्यक है। चाहे अध्यास को सत्य तथा अनृत का अविवेक कहें चाहे एक

---

६. देखें—भामति १.४.२७; वेदान्त परिभाषा १.८१–८६, सिद्धान्तलेश-संग्रह—१.१०७–११४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वस्तु का किसी दूसरी वस्तु के रूप में आभास, अध्यास के लिए दो वस्तुओं का होना आवश्यक है, जिनके भेद का अज्ञान एवं तदुपरान्त अध्यास होता है।

डा० दयाकृष्ण के अनुसार, उपर्युक्त वर्णन सांख्य दर्शन के अनुरूप है, जिसमें प्रकृति और पुरुष का आधार-भूत द्वैत मान्य है। शांकर अद्वैत में यदि आत्मा ही एकमात्र सत्य है तो द्वैत की प्रतीति अध्यास का उदाहरण होना चाहिए, नकि उन दोनों का अभेद।[७]

अध्यास की परिकल्पना में द्वैत निहित है, इस आलोचना के उत्तर में अद्वैती कहते हैं कि भ्रमज्ञान की उनकी 'अनिर्वचनीय ख्याति' परक व्याख्या सांख्य दर्शन की 'अविवेक ख्याति' से बिल्कुल भिन्न है। सांख्य, मीमाँसा एवं न्याय भ्रम में दो समान सत्तावाले तत्त्वों की उपस्थिति मानते हैं, जिनके भेद का अविवेक भ्रम का कारण है, किन्तु अद्वैत में केवलमात्र एक ही सत्ता है, जो अनिर्वचनीय मिथ्या वस्तु का अधिष्ठान है। अद्वैत सिद्धान्त में यद्यपि शुक्ति एवं रजत, आत्मा एवं अनात्मा में भ्रान्ति की बात है, किन्तु वास्तव में तो अध्यस्त वस्तु की अधिष्ठान से पृथक् सत्ता न होने के कारण भ्रम-ज्ञान में दो वस्तुएं हैं ही नहीं। इसके अतिरिक्त, अधिष्ठान के ज्ञान के साथ-साथ अध्यस्त वस्तु का आभास भी समाप्त हो जाता है, जिससे भी अधिष्ठान की केवलमेव सत्ता सिद्ध होती है। अतएव कह सकते हैं कि अद्वैत परिचर्चा में द्वैत का आभास होता अवश्य है किन्तु दो तत्त्वों में से एक के मिथ्या होने के कारण पारमार्थिक द्वैत के लिए उसमें स्थान नहीं है।

दूसरी ओर स्वयं अद्वैत विचारक अध्यास की द्वैतपरकता के प्रति सचेत थे। मधुसूदन सरस्वती के अनुसार शंकर की प्रथम परिभाषा (स्मृति रूप) व्यावहारिक स्तर पर मिथ्या ज्ञान की व्याख्या करती है, किन्तु वह द्वैतपरक सृष्टि की व्याख्या के लिए उपयुक्त नहीं है। इस उद्देश्य के लिए वे शंकर की दूसरी परिभाषा का समर्थन करते हैं जिसके अनुसार अध्यास में एक वस्तु (शुक्ति) की दूसरी वस्तु (रजत) के रूप में मिथ्या प्रतीति होती है।

किन्तु यह भी सच है कि कितना भी प्रयत्न किया जाय अध्यास की द्वैत-परकता से मुक्ति नहीं मिल सकती। यह सत्य है कि मिथ्या ज्ञान-गत दो वस्तुओं में से केवल एक (शुक्ति) ही सत्य है, दूसरी (रजत) तो उस पर आधारित आभास मात्र है, किन्तु यह अद्वैत ही का सिद्धान्त है कि मिथ्या ज्ञान के स्मृति संस्कार एक ऐसी व्यावहारिक वस्तु की अपेक्षा रखते हैं जिसका अतीत काल में द्रष्टा ने प्रत्यक्ष किया हो।[८] जबतक ज्ञाता ने पहले कभी रजत का प्रत्यक्ष न किया हो उसके मन में तत्सम्बन्धी स्मृति संस्कार जाग्रत हो ही नहीं सकते और न तब

---

७. देखें—फिलॉसफी ईस्ट एण्ड वेस्ट, वर्ष १५, अंक ३–४।

८. अध्यास-भाष्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


मिथ्या रजत की प्रतीति ही सम्भव है। इसका तात्पर्य है कि वर्तमान काल में अध्यस्त रजत भले ही सत्य न हो, वह अतीत की रजत की अपेक्षा रखती है जो उतनी ही (व्यावहारिक स्तर पर) सत्य थी जितनी कि वर्तमान शुक्ति।

अध्यास की द्वैतपरकता से बचने के लिए वाचस्पति अध्यास की तीसरी परिभाषा का समर्थन करते हैं, जिसके अनुसार अध्यास के लिए विषय-वस्तु का होना आवश्यक नहीं, मात्र ज्ञाता एवं विषय-वस्तु की प्रतीति ही पर्याप्त है। किन्तु वाचस्पति यह भूल जाते हैं कि अद्वैत के ही अनुसार बिना किसी अधिष्ठान के कोई मिथ्या प्रतीति भी संभव नहीं। इस कारण मिथ्या ज्ञान की विषयवस्तु –रजत– की सत्यता भले ही न अपेक्षित हो, किन्तु एक वास्तविक अधिष्ठान–शुक्ति–तो आवश्यक है ही, एवं स्वयं वाचस्पति के अनुसार ज्ञाता का अस्तित्व तो सर्वप्रथम आवश्यक है। यह परिभाषा यदि दो वस्तुओं के द्वैत से बचती है तो ज्ञाता एवं ज्ञेय के द्वैत से इसे मुक्ति नहीं मिल पाती। संक्षेप में, 'अनिर्वचनीय ख्याति' का सिद्धान्त भ्रम ज्ञान की अन्य व्याख्याओं की तुलना में कम द्वैतपरक है। तब भी यह सारा सन्दर्भ सापेक्ष है एवं जगत् सृष्टि की व्याख्या के लिए इसका अत्यधिक उपयोग करने पर इसके द्वैतपरक निहितार्थ से नहीं बचा जा सकता।

अध्यास अथवा भ्रमज्ञान व्यावहारिक स्तर पर तो द्वैतपरक है ही, उसे अनुभव का आधार बना देने मात्र से वह परमार्थाद्वैत के अनुरूप नहीं हो सकता। अपितु अध्यास को द्वैत के अस्तित्व का आधार स्वीकार कर लेने से तो स्वयं अध्यास में निहित द्वैत परमार्थ सत्य सा प्रतीत होने लगता है। अविद्या की कल्पना ही कुछ इस प्रकार की गई है कि वह एक मिथ्या सत्ता नहीं प्रतीत होती। व्यक्ति के जीवत्व एवं संसार के समस्त द्वैत प्रपंच का अनादि भाव-रूपात्मक कारण अविद्या असत्य नहीं, पर्याप्त सत्य अथवा सारगर्भित प्रतीत होती है। ब्रह्म उस अभिद्या के अध्यास का विषय है, किन्तु पूर्ण अद्वैत ब्रह्म को अध्यास का विषय कल्पित करना कठिन है। ब्रह्म का अविद्या-विषयत्व ब्रह्म के निरपेक्षत्व की रक्षा भले ही करता हो, जिसके लिए मूलतः अध्यास की परिकल्पना विकसित की गयी थी, ब्रह्म के पूर्णत्व और सर्वत्व की रक्षा नहीं करता। स्वयं अद्वैत ग्रंथों में स्वीकार किया गया है कि अध्यास का विषय प्रत्यक्षगम्य होना चाहिए एवं निरपेक्ष, निर्गुण ब्रह्म इस प्रकार के अध्यास का विषय नहीं हो सकता। इस आरोप से बचने के लिए अद्वैत विचारक अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं जिनके अनुसार निरपेक्ष ब्रह्म अध्यास का विषय नहीं होता, किन्तु अविद्या की उपाधि से उपहित अथवा उसमें प्रतिबिम्बित ब्रह्म अध्यास का विषय हो सकता है।

इस प्रकार अविद्या न केवल जगत् के द्वैत की सर्जक है, वह ब्रह्म को अध्यास का विषय भी बनाती है। यही नहीं, ब्रह्म के विषयत्व के लिए भी अविद्या की उपाधियों की पूर्वापेक्षा है। यह अनादि अविद्या सच ही बहुत शक्तिशाली है। पूरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


परिकल्पना विसंगतियों से पूर्ण है। यदि निरपेक्ष ब्रह्म अविद्या के अध्यास का विषय नहीं हो सकता तो वह अविद्या की उपाधियों का भी विषय नहीं हो सकता। यहाँ विस्तार में जाना सम्भव न होने के कारण इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अध्यास की परिकल्पना सृष्टि के वैविध्य की व्याख्या तभी कर सकती है जब हम सांख्य के साथ दो आधारभूत तत्त्वों से अपनी विवेचना प्रारम्भ करें। परमार्थाद्वैत के साथ अविद्या के विषय ब्रह्म एवं अविद्या, आत्मा एवं अनात्मा का यह द्वैत कभी भी संगत नहीं हो सकता।

(च) अविद्या के आश्रय सम्बन्धी विस्तृत परिचर्चा को अद्वैत ग्रन्थों में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। इस परिचर्चा से जीव और ब्रह्म के द्वैत का स्पष्ट आभास होता है। भामति मत में तो जीव को अविद्या का आश्रय माना ही गया है, विवरण मतावलम्बी भी अनेक स्थलों पर ब्रह्म से भिन्न जीव को अविद्या का आश्रय अथवा विषयी स्वीकार करते हैं।[९] अध्यास की व्याख्या के लिए अध्यास के आश्रय-जीव और विषय-ब्रह्म में भेद करना आवश्यक है। किन्तु यह भेद अद्वैत के आधारभूत विश्वास, जीव और ब्रह्म के अभिन्नत्व, पर कुठाराघात करता है।

(छ) इस प्रकार अध्यास की परिकल्पना अद्वैत ब्रह्म के स्थान पर दो या तीन आधारभूत सत्ताओं (अध्यास का विषय-ब्रह्म, अविद्या का आश्रय-जीव एवं जगत् का परिणामी कारण—अविद्या) की ओर संकेत करती प्रतीत होती है। यद्यपि अद्वैत विचारकों का ऐसा कोई उद्देश्य नहीं था, किन्तु एक सीमित सापेक्ष उपमा के सृष्टि-रचना के प्रारूप के रूप में उपयोग (दुरुपयोग ?) का यह स्वाभाविक परिणाम है। द्वैत के प्रति संकेत करने के अतिरिक्त, इस परिकल्पना के उपयोग के परिणामस्वरूप पूर्ण ब्रह्म (एब्सोल्यूट) एक अत्यन्त सीमित सत्ता के रूप में प्रतीत होता है। परम ब्रह्म न तो जगत् का स्रष्टा एवं नियन्ता है, न जगत् के वास्तविक कारण-अविद्या का आश्रय। अपने स्वरूप में वह अविद्या की वास्तविक सृष्टि का विषय भी नहीं है। जगत् का वास्तविक कारण तो अविद्या है और जीव उसका आश्रय। यह सिद्धान्त उपनिषदों के 'सर्वात्मवाद' से कितना भिन्न है, जिसके अनुसार सर्वत्र एक ब्रह्म अथवा आत्मा ही है, अन्य जो कुछ भी प्रतीत होता है, ब्रह्म ही उसका स्रष्टा एवं नियन्ता है। यद्यपि अद्वैत विचारक ही नहीं उसके आधुनिक समालोचक भी अध्यास की परिकल्पना को अद्वैत का अभिन्न अंग मानते हैं, किन्तु हमारे मत में अध्यास अद्वैतवाद (सिस्टम) का अंग अवश्य है, मूल अद्वैत विचार का अंग नहीं।

(ज) अध्यास की परिकल्पना में जो अनेक विसंगतियां दीख पड़ती हैं उसका मुख्य कारण अद्वैतियों का एक ही शब्द—अविद्या—का दो बिल्कुल भिन्न प्रसंगों में प्रयोग है। ज्ञानमीमांसा के प्रसंग में अविद्या का वर्णन अध्यास के रूप में हुआ है,

---

९. पंचदशी ७,३४–३८, तथा नारायण शास्त्री द्रविड़, वहीं, पृ. ३५,३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जो भ्रम-ज्ञान की वस्तु का कारण है। किन्तु सृष्टि-रचना के संदर्भ में अविद्या एक भावरूपात्मक वास्तविक सत्ता है, जिसकी व्याख्या करने के लिए ज्ञानमीमांसात्मक शब्दावली उपयोगी हो सकती है, परन्तु दोनों संदर्भों के भेद को नहीं भुलाया जा सकता। सृष्टि-मूलक अविद्या चाहे सत्य हो अथवा मिथ्या, उसकी सृष्टि-जगत् एवं भ्रम-ज्ञान की सृष्टि रजत में इतनी समानता कदापि नहीं है कि समस्त जगत्-सृष्टि की भ्रम-ज्ञान की वस्तु के समान व्याख्या की जा सके।

अध्यास की परिकल्पना के निर्बाध प्रयोग ने संसार के मिथ्यात्व के एक भ्रामक सिद्धान्त को बल दिया है। संसार मिथ्या है अथवा नहीं, यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है। किन्तु अध्यास के जगत्-सृष्टि के प्रारूप के रूप में वर्णन करने मात्र से उसका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।

प्रत्येक स्थल पर अद्वैती यह स्वीकार करके चलते हैं कि भ्रम-ज्ञान की प्रक्रिया एवं संसार की प्रक्रिया बिल्कुल एक हैं। किन्तु ऐसा सिद्ध कहां होता है? अध्यास का वर्णन अद्वैत विचारक इस प्रकार करते हैं मानो वे किसी सत्ता-मूलक तथ्य की अभिव्यक्ति कर रहे हों। अद्वैत विचारक शब्दों के भ्रमजाल में फँस गये प्रतीत होते हैं। प्रथम वे अनुभव के कुछ तथ्यों, यथा साधक के व्यक्तित्व में शुद्ध चैतन्य एवं जड़ अन्तःकरण के विरोध की चेतना एवं अपने मोक्ष की सम्भावना में मनुष्य का सहज दृढ़ विश्वास को समझने के लिए अध्यास के सिद्धान्त को कदाचित् एक उपमा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। तत्पश्चात् अपने ही शब्द-जाल से भ्रमित होकर समझते हैं, मानो अध्यास सृष्टि के समस्त रहस्य का समाधान है। अद्वैत विचारकों ने संसार के मिथ्यात्व के विषय में जो भी तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे सब अध्यास की परिकल्पना से अभिन्न रूप से जुड़े हैं, और अनुभव पर आधारित होने के स्थान पर संसार को भ्रमज्ञान की मिथ्या वस्तु के समान अध्यास का परिणाम कल्पित करने के सिद्धान्त पर आधारित हैं। संसार मिथ्या होगा यदि वह ब्रह्म पर अविद्या के अध्यास का परिणाम है। किन्तु यह तो अभी सिद्ध करना शेष है। किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त के समान अध्यास एक व्याख्यात्मक सिद्धान्त मात्र है जो अनुभव के कुछ तथ्यों की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। किन्तु किसी भी अन्य दार्शनिक सिद्धान्त के समान अनुभव के आधारभूत सत्य के रहस्य को समझ सकना उसके लिए सम्भव नहीं है।

उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# हम किसका प्रत्यक्ष करते हैं ?

जगदीशसहाय श्रीवास्तव

हम बाह्य वस्तुओं के अस्तित्त्व में अनायास विश्वास कर लेते हैं। भौतिक वस्तुओं के अस्तित्त्व में विश्वास को न्याय्य सिद्ध करना प्रत्यक्ष की मूलभूत समस्या है। ऐसा समझा जाता है कि प्रत्यक्ष में हम जिस साक्ष्य से प्रारम्भ करते हैं और जिस निष्कर्ष पर हम पहुँचते हैं उसमें ऐसा तार्किक अन्तर होता है कि उसकी पूर्ति आसानी से नहीं की जा सकती। चूंकि प्रत्यक्ष के विषय में हमारा निष्कर्ष साक्ष्य का सदा अतिक्रमण करता है अतः वह निश्चयात्मक कदापि नहीं कहा जा सकता। यदि साक्ष्य और निष्कर्ष में कोई तार्किक अन्तर न होता तो हमारे समक्ष प्रत्यक्ष की कोई समस्या ही न होती। किन्तु स्पष्टतः प्रत्यक्ष में हमारे साक्ष्य और निष्कर्ष में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है, यही प्रत्यक्ष की विभिन्न समस्याओं को उत्पन्न करता है जिनके विषय में हम इस निबन्ध में वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

## प्रत्यक्ष के विषय

डेकार्ट के समय से ही दार्शनिकों के मनन का एक प्रधान विषय रहा है कि हमारे प्रत्यक्ष के विषय का वास्तविक स्वभाव क्या है ? कुछ दार्शनिकों का विचार है कि बाह्य वस्तुएँ स्वयं हमारे प्रत्यक्ष के विषय होती हैं, इसे **प्रदत्त का वस्तु-सिद्धान्त** (ऑब्जेक्ट थियरी ऑव द गिवन) कहते हैं। इसके विपरीत कुछ अन्य दार्शनिक एक मर्यादित दृष्टिकोण अपनाते हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्ष में हम केवल इन्द्रिय-प्रदत्त (सेन्स डेटम) को ही देखते हैं; दर्शन में इसे **इन्द्रिय-प्रदत्त का सिद्धान्त** (सेन्स डेटम थियरी) कहते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य दार्शनिकों, जैसे ब्रैडले, बोसांके इत्यादि का विचार है कि प्रत्यक्ष में न तो हम किसी भौतिक वस्तु का अनुभव करते हैं और न किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का ही; वास्तव में प्रत्यक्ष में हमारा साक्षात्कार केवल एक अव्यवहित और अपरोक्ष अनुभव (इम्मीडिएट एक्सपीरिएन्स) से ही होता है : दर्शन में इसे प्रदत्त का **अपरोक्ष अनुभव-सिद्धान्त** कहा जाता है। प्रदत्त के इन विभिन्न सिद्धांतों के साथ प्रत्यक्ष के कुछ सिद्धान्त इस प्रकार संयुक्त हैं कि दोनों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए प्रदत्त का वस्तु-सिद्धान्त प्रत्यक्ष के साक्षात् वस्तुवाद (डाइरेक्ट रियलिज्म) से संयुक्त है। इसी प्रकार इन्द्रिय-प्रदत्त-सिद्धान्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्रत्यक्ष के कारण-सिद्धान्त (कॉज़ल थियरी) या प्रतिनिधानवाद और दृश्यप्रपञ्चवाद से सम्बन्धित है। इन सभी सिद्धान्तों और मतों का तार्किक विश्लेषण करते हुए हम प्रत्यक्ष के एक सुनिश्चित सिद्धान्त पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे।

## इन्द्रिय-प्रदत्तवाद

दार्शनिकों, विशेषकर तार्किक प्रत्यक्षवादियों (लॉजिकल पॉज़िटिविस्ट्स), ने कई युक्तियों के आधार पर इन्द्रिय-प्रदत्तवाद की स्थापना की है। यहाँ हम केवल चार-पांच युक्तियों का ही वर्णन करेंगे, जिनके आधार पर बाह्य वस्तुओं के अतिरिक्त इन्द्रिय-प्रदत्त का प्रतिपादन किया जाता है :—

**(अ) कारणमूलक युक्ति**—(कॉज़ल आर्ग्यूमेण्ट) मनोविज्ञान एवं भौतिकी के आधार पर कारणमूलक युक्ति यह है कि जब हम किसी मेज का प्रत्यक्ष करते हैं तब हमारा प्रत्यक्ष मस्तिष्क में घटित होने वाली घटनाओं तक ही सीमित होता है, जो किसी बाह्य मेज द्वारा हमारे मस्तिष्क में उत्थापित की जाती हैं और ये घटनाएं मेज़ से उसी प्रकार और उतनी ही भिन्न होती हैं जितना कि मेघ-गर्जन तड़ित्-से भिन्न होता है। अतः प्रत्यक्ष में बाह्य वस्तु के बजाय हमें किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का ही साक्षात् अनुभव होता है।

**(ब) भ्रममूलक युक्ति** (आर्ग्यूमेण्ट फ्रॉम इल्यूज़न) इस युक्ति के आधार पर कहा जाता है कि भ्रम, विभ्रम एवं स्वप्नों में हम निश्चित रूप से बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं करते; इन अवस्थाओं में हम कुछ ऐसी वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं जो गुणात्मक रूप में बाह्य वस्तुओं से भिन्न होती हैं। सातत्य-नियम के अनुसार 'सामान्य' अवस्थाओं में भी हम बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष न कर केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही प्रत्यक्ष करते हैं।

**(स) संगति-मूलक युक्ति** (कन्सिस्टेन्सी आर्ग्यूमेण्ट)—संगतिमूलक युक्ति की विशेष बात यह है कि, वे दार्शनिक जो इन्द्रिय-प्रदत्त के माध्यम से जगत् की व्याख्या करते हैं, उन दार्शनिकों से अधिक संगत भाषा का प्रयोग करते हैं जो भौतिक वस्तुओं के माध्यम से जगत् की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। यह कहना कि यथार्थ प्रत्यक्ष में हमें भौतिक वस्तुओं का साक्षात्कार होता है किन्तु अयथार्थ प्रत्यक्ष में हम केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही साक्षात्कार करते हैं, आत्म-व्याघातक है। या तो प्रत्यक्ष की दोनों अवस्थाओं–यथार्थ और अयथार्थ–में हम भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं, जैसाकि वस्तुवादी कहते हैं, या हम दोनों अवस्थाओं में केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही प्रत्यक्ष करते हैं, जैसाकि तार्किक प्रत्यक्षवादियों का विचार है। प्रथम विकल्प कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि वह सत्य और असत्य का भेद समाप्त कर देता है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि दोनों अवस्थाओं में हम इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही प्रत्यक्ष करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(द) **कर्ममूलक युक्ति** (एक्यूज़ेटिव थियरी)—इस युक्ति के अनुसार प्रत्यक्ष का जितना यथार्थ वर्णन इन्द्रियप्रदत्तवाद द्वारा सम्भव हो सकता है उतना भौतिक वस्तुवाद (फ़िज़िकल ऑब्जेक्ट थियरी) द्वारा सम्भव नहीं है। हम सामान्यतया 'ध्वनि' के श्रवण की बात करते हैं, पर उस व्यक्ति के श्रवण की बात नहीं करते जो उस ध्वनि को उत्पन्न करता है और जो ध्वनि के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इस प्रकार श्रवण-प्रक्रिया में हम 'ध्वनि',जिसका हमें साक्षात् प्रत्यक्ष होता है तथा उस ध्वनि की उत्पादक'वस्तु', जिसका हमें ध्वनि या अन्य किसी माध्यम द्वारा परोक्ष अनुमान होता है, में भेद करते हैं किन्तु जब हम स्पर्श और दृष्टि पर आते हैं तो यहाँ श्रवण के समान हमें कोई भी कर्म (एक्यूज़ेटिव) प्राप्त नहीं होता। हम साधारणतया घड़ी को ही स्पर्श करने या प्रत्यक्ष करने का कथन करते हैं, उसके किसी इन्द्रिय-प्रदत्त को स्पर्श करने का या देखने का कथन यहां कभी नहीं किया जाता। किन्तु इन्द्रिय-प्रदत्तवादी दार्शनिकों के अनुसार ऐसा सोचना असंगत है। वे आत्मा और बाह्य वस्तुओं के बीच एक ऐसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं जो तथ्य के साथ संगति स्थापित करने के साथ भाषा और विचार में भी संगति लाने का प्रयत्न करती है।

(य) **योग्यता-मूलक युक्ति**—इन्द्रिय प्रदत्तों में विश्वास करने का पांचवा कारण यह है कि जो कुछ हम प्रत्यक्ष करते हैं उसके वर्णन की साधारण विधि ऐसे तथ्यों के ऊपर अधिकार की मांग करती है जो प्रत्यक्ष की सीमा का अतिक्रमण करते हैं। प्रो. एयर के ही उदाहरण को लिया जाय : कल्पना कीजिये कि मैं यह कथन करता हूं कि 'मैं अब एक राख-पात्र का प्रत्यक्ष कर रहा हूं।' किन्तु यह मेरा कोरा भ्रम या कोरा विभ्रम भी हो सकता है। मेरे राख-पात्र के प्रत्यक्ष की इस तथ्य से पूरी तरह संगति हो सकती है कि वास्तव में मैं कोई भी राख-पात्र नहीं देख रहा हूँ। प्रत्यक्ष के संदिग्ध स्वभाव के कारण ही एयर ने यह अनुबन्ध लगा दिया था कि "मैं अब एक राख-पात्र का प्रत्यक्ष कर रहा हूं" मुझे ऐसा कथन न कर "ऐसा अब मुझे प्रतीत होता है कि मैं एक राख-पात्र को देख रहा हूं" इस प्रकार कथन करना चाहिए और पुनः इसे परिवर्तित कर "वास्तव में मैं अब एक प्रतीयमान राख-पात्र का अनुभव कर रहा हूं" इस रूप में ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रतीयमान वस्तु को, जो विशुद्ध रूप में वैयक्तिक और व्यक्तिगत होती है, दाशनिकों ने 'इन्द्रिय-प्रदत्त' के नाम से अभिहित किया है।

अतः समसामयिक दार्शनिकों के अनुसार प्रत्यक्ष में हम केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही साक्षात् अनुभव करते हैं, बाह्य भौतिक वस्तुओं का नहीं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इन इन्द्रिय-प्रदत्तों का वास्तविक स्वभाव क्या है? विभिन्न दार्शनिकों ने इन्द्रिय-प्रदत्तों के विषय में भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। कुछ लोगों ने इन्हें एक **तथ्य** के रूप में स्वीकार किया है, अन्य विचारकों ने इन्द्रिय-प्रदत्त को एक **सिद्धान्त**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(हाइपॉथिसिस) के रूप में ग्रहण किया। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य दार्शनिकों ने इसे केवल एक वैकल्पिक भाषा के रूप में ही स्वीकार किया। इन्द्रिय-प्रदत्त के स्वभाव के विभिन्न सिद्धान्तों का तार्किक विवेचन करना यहां अनुपयुक्त नहीं होगा।

## १—इन्द्रियानुभविक सिद्धान्त

इन्द्रियानुभविक सिद्धान्त का मूल मन्तव्य यह है कि इन्द्रिय-प्रदत्तों का वास्तविक अस्तित्त्व होता है। इन्द्रिय-प्रदत्त न तो कोई परिकल्पना है और न एक विशिष्ट प्रकार की भाषा ही। इन्द्रिय-प्रदत्त एक अस्तित्त्ववान् इकाई है जिसका निर्देश या चयन किया जा सकता है। प्रो० प्राइस और मूअर का यही विचार है। उनके अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त साक्षात् इन्द्रियानुभव के विषय हैं। इन्द्रिय-प्रदत्त से उनका अभिप्राय केवल चाक्षुष अनुभव के विषय से ही नहीं है बल्कि इसके भीतर रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द इत्यादि किसी भी इन्द्रियानुभव के विषय को समाहित किया जा सकता है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि किसी इन्द्रिय-प्रदत्त के अस्तित्त्व के विषय में सन्देह प्रकट नहीं किया जा सकता। केवल भौतिक वस्तुओं—जो इन्द्रिय-प्रदत्त का अतिक्रमण करती हैं—के ही अस्तित्त्व के विषय में सन्देह प्रकट किया जा सकता है। जब हम यह कहते हैं कि हमें किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का अनुभव हो रहा है तो इससे तत्काल तीन निष्कर्ष उत्पन्न होते हैं :—

(i) इन्द्रिय-प्रदत्त हमारे साक्षात् इन्द्रियानुभव का विषय है।

(ii) इन्द्रिय-प्रदत्त का अनिवार्य अस्तित्त्व है।

(iii) इसके भीतर वे सम्पूर्ण विशेषताएं पायी जाती हैं जिनकी हमें इस समय प्रतीति हो रही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन्द्रिय-प्रदत्तों एवं भौतिक वस्तुओं में गुणात्मक भेद है। जो कथन हम इन्द्रिय-प्रदत्तों के विषय में कर सकते हैं वे भौतिक वस्तुओं पर कभी चरितार्थ नहीं किये जा सकते। इसी प्रकार जो बातें भौतिक वस्तुओं पर लागू होती हैं वे इन्द्रिय-प्रदत्तों पर कभी भी लागू नहीं की जा सकतीं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ऐसे इन्द्रिय-प्रदत्तों के उदाहरण क्या हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि मैकबेथ ने अपने विभ्रम में जो कटार देखी थी या अपनी आँख मूँदने पर जो हम अनुबिम्ब (आफ्टर-इमेज) देखते हैं वही वास्तविक इन्द्रिय-प्रदत्त हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रत्येक इन्द्रिय-प्रदत्त के प्रत्यक्ष में साक्षात् इन्द्रियानुभव निहित होता है। यह केवल इन्द्रियानुभविक तथ्य का कथन ही नहीं है वरन् एक स्वतःसिद्ध सत्य की अभिव्यक्ति है। अर्थात् वाक्यात्मक फलन "य अपना दाहिना हाथ और साथ-साथ एक अतिरिक्त वस्तु का प्रत्यक्ष कर रहा है" का अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


है "य को एक ऐसे चाक्षुष क्षेत्र का साक्षात् अनुभव हो रहा है जिसमें कम से कम दो इकाइयाँ विद्यमान हैं।" तात्पर्य यह है कि जब कभी किसी व्यक्ति को साक्षात् इन्द्रियानुभव होगा उसे इन्द्रिय-प्रदत्त प्राप्त होंगे, यद्यपि इसका प्रतिलोम सत्य नहीं है। इन्द्रिय-प्रदत्त एक वास्तविक सत् है।

**तार्किक निदर्शन**—प्रत्येक प्रत्यक्ष में हमें किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का साक्षात् अनुभव होता है, इसको तार्किक रूप से सिद्ध किया जा सकता है। जब हम यह कहते हैं कि "यह पेनी है" या "वह पेनी है", तब निर्देशात्मक प्रतीक (डेमॉन्स्ट्रेटिव सिम्बल) "यह" या "वह" जिसके लिए प्रयुक्त किया जाता है वह इन्द्रिय-प्रदत्त है। अर्थात् इन्द्रिय-प्रदत्त वह इकाई है जो हमारे निर्देश का विषय है। मूर के ही शब्दों में "इन्द्रिय-प्रदत्त किसी प्रत्यक्षात्मक प्रतिज्ञप्ति का उद्देश्य है जिसे हम साक्षात् ज्ञान द्वारा जानते हैं।" "यह पेनी है" इस प्रतिज्ञप्ति में "यह" अर्थात् इन्द्रिय-प्रदत्त का ज्ञान साक्षात् ज्ञान (अक्वेन्टेन्स) द्वारा तथा "पेनी" अर्थात् भौतिक वस्तु का ज्ञान वर्णन (डिस्क्रिप्शन) द्वारा प्राप्त होता है।

## इन्द्रियानुभव-सिद्धान्त की आलोचना

१—प्रो० एयर ने मूर के उपर्युक्त तर्क की आलोचना करते हुए कहा है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक अवस्था में निर्देशात्मक प्रतीक किसी इन्द्रिय-प्रदत्त की ओर संकेत करता ही हो। जब हम यह कथन करते हैं कि 'यह पेनी है' में "यह" का व्याप्त्यर्थ "पेनी" ही है, "पेनी के धरातल का भाग" नहीं है, जब हम भ्रम में किसी वस्तु को पेनी समझकर 'यह पेनी है' कहते हैं तब "यह" का व्याप्त्यर्थ वह वस्तु ही है जिसे भ्रम में हम "पेनी" कहकर पुकारते हैं। "यह" का व्याप्त्यर्थ कोई वास्तविक "इन्द्रिय-प्रदत्त" नहीं होता जैसा लोग समझते हैं। पूर्ण विभ्रम की अवस्था में जब हम किसी वस्तु को "यह" या "वह" कहकर इंगित करते हैं तो "यह" का वास्तव में कोई व्याप्त्यर्थ होता ही नहीं। अतः प्रो० मूर का यह कथन सत्य नहीं है कि प्रत्यक्ष की प्रत्येक अवस्था में "यह" या "वह" किसी न किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का ही प्रतीक होता है।

२. इन्द्रिय-प्रदत्तवाद का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह यथार्थ प्रत्यक्ष, अयथार्थ प्रत्यक्ष, भ्रम, विभ्रम, अनुबिम्ब इत्यादि सभी को एक धरातल पर लाकर खड़ा कर देता है। ऐसी अवस्था में या तो भ्रम, विभ्रम व अनुबिम्ब को साधारण प्रत्यक्ष के ही प्रकार मानना होगा अथवा साधारण प्रत्यक्ष को भ्रम, विभ्रम या अनुबिम्ब का ही प्रकार मानना होगा, जो असम्भव है। साधारण और असाधारण प्रत्यक्षों को एक ही कोटि के प्रत्यक्ष कभी भी नहीं माना जा सकता। इस संदर्भ में प्रो० ऑस्टिन के विचार पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं: 'अभ्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में ही

---

१. एयर ए. जे., फिलॉसॉफिकल एसेज़, नोट, पृ. ७८-८०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


भ्रान्ति की धारणा सार्थक होती है।'[२] हम किसी प्रत्यक्ष को अयथार्थ तभी कह सकते हैं जबकि यथार्थ प्रत्यक्ष का हमें बोध हो। अतः यथार्थ और अयथार्थ प्रत्यक्ष में गुणात्मक भेद होता है। उन्हें हम एक ही स्थान पर संपिडित कर "इन्द्रिय-प्रदत्त" के प्रत्यक्ष के रूप में स्थापित नहीं कर सकते।

३—इन्द्रिय-प्रदत्त का तीसरा दोष यह है कि यह किसी भौतिक वस्तु के प्रत्यक्ष को तार्किक दृष्टि से असम्भव बना देता है। इसके अनुसार हमें किसी भौतिक वस्तु का परोक्ष ज्ञान ही होता है, अपरोक्ष ज्ञान नहीं। पर जब तक हमें किसी वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता तब तक हम कैसे कह सकते हैं कि उस वस्तु का हमें परोक्ष ज्ञान हो रहा है ? उपर्युक्त तर्कों से स्पष्ट है कि इन्द्रिय-प्रदत्त न तो कोई वस्तु है, न वह किसी वस्तु का नाम है, और न वह कोई "उदासीन इकाई" ही है। वास्तव में इसे हम एक "सैद्धान्तिक इकाई" (थियोरेटिकल एन्टिटी) के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जिसके माध्यम से हम विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्षों की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। डा. ब्रॉड का यही मत था जिस पर हम अब विचार प्रस्तुत करेंगे।

## २—प्राक्कल्पनात्मक सिद्धान्त

डा. ब्रॉड इन्द्रिय-प्रदत्त को एक वास्तविक सत्ता न मानकर उसे एक सैद्धान्तिक इकाई या एक परिकल्पना (हाइपॉथेसिस) के रूप में ही स्वीकार करते हैं जिसका किसी वस्तु के सत् (रियलिटी) और आभास (अपीयरेन्स) के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए ही प्रयोग किया जाता है। कल्पना करें कि एक पेनी किसी मेज़ पर रखी हुई है। पास से देखने पर वह वृत्ताकार दिखाई देती है पर अन्य स्थानों से देखने पर वह अण्डाकार दिखाई देती है। इस प्रकार हमारे समक्ष एक **समस्या** उत्पन्न हो जाती हैं कि एक ही वस्तु वृत्ताकार और अण्डाकार दोनों कैसे हो सकती है। सामान्य रूप में इस समस्या का इस प्रकार समाधान किया जाता है कि पेनी अण्डाकार केवल प्रतीत ही होती है, वास्तव में वह वृत्ताकार ही है। पर यहाँ हमारे समक्ष प्रमुख समस्या यह है कि हम आभास और सत् के बीच किस प्रकार अन्तर स्पष्ट कर सकते हैं ? पेनी का वृत्ताकार रूप भी तो एक आभास ही है। अन्य आभासों में हम केवल वृत्ताकार आभास को ही क्यों सत् रूप मान लेते हैं ?

डा. ब्रॉड किसी वस्तु के विभिन्न आभासों की परिप्रेक्ष्य-नियम (लाज ऑव पर्स्पेक्टिव) द्वारा व्याख्या को अस्वीकार करते हैं। संदर्श-नियम केवल इतना ही स्पष्ट करते हैं कि यदि किसी वस्तु का स्वरूप तथा प्रेक्षक की सापेक्षता में उसकी स्थिति ज्ञात हो तो उसका कौन सा आभास प्रेक्षक के समक्ष उपस्थित होगा ? वे विभिन्न

२. ऑस्टिन जे. एल., सेन्स एण्ड सेन्सिबिलिया, '....टॉक ऑव डिसेप्शन मेक्स सेन्स अगेन्स्ट ए बैकग्राउण्ड ऑव जनरल नॉन्-डेसेप्शन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


आभासों के सह-सम्बन्ध सम्बन्धी तथ्य का ही वर्णन करते हैं, उन तथ्यों की व्याख्या प्रस्तुत नहीं करते। इसी प्रकार डा. ब्रॉड यह भी स्वीकार नहीं करते कि विभिन्न आभास भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में विभिन्न भ्रान्त धारणाएं हैं। संवेद्य आभास भ्रान्त धारणाओं को उत्पन्न कर सकते हैं पर इसमें कोई अनिवार्यता नहीं है।

डा. ब्रॉड का इन्द्रिय-प्रदत्तवाद उपर्युक्त समस्या का वास्तविक समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। वह एक ऐसी विशिष्ट प्रकार की इकाई की अभिधारणा का प्रतिपादन करता है जिसके भीतर वे सभी विशेषताएं वास्तविक रूप में पायी जाती हैं जो भौतिक वस्तुओं में प्रतीयमानतः ही पायी जाती हैं। इस प्रकार जब कोई पेनी अण्डाकार प्रतीत होती है तब कोई व्यक्ति किसी अण्डाकार वस्तु का ही प्रत्यक्ष करता है। इस अण्डाकार वस्तु का वृत्ताकार पेनी से एक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है पर दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध कभी भी नहीं हो सकता। इस प्रकार डा. ब्रॉड के इन्द्रिय-प्रदत्तवाद के अनुसार हम केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही साक्षात् अनुभव प्राप्त कर सकते हैं, भौतिक वस्तुओं का नहीं।

अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि डा. ब्रॉड के अनुसार हमें केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही साक्षात् अनुभव होता है, वास्तव वस्तुओं का नहीं तो फिर उसके सिद्धान्त में और प्रो. मूर के सिद्धान्त में किस प्रकार अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है? दोनों ने आभास और सत् की विसंगति को दूर करने के लिए ही इन्द्रिय-प्रदत्तवाद की स्थापना की है तो फिर दोनों में अन्तर क्या है? मूर और डा. ब्रॉड के सिद्धान्तों में प्रमुख अन्तर यह है कि मूर आभास और सत् की विसंगति को साक्षात् अनुभव के माध्यम से व्यक्त करते हैं तथा साक्षात् अनुभव और इन्द्रिय-प्रदत्त के अस्तित्व को "सत्य" मान लेते हैं; किन्तु डा. ब्रॉड आभास और सत् की विसंगति को एक समस्या मान लेते हैं जिसके समाधान के लिए वे "इन्द्रिय-प्रदत्त" को एक "सैद्धान्तिक इकाई" (थियोरेटिकल एण्टिटी) के रूप में प्राक्कल्पित कर लेते हैं। एक में इन्द्रिय-प्रदत्त एक तथ्य है तथा दूसरे में वह एक प्राक्कल्पना है।

डा. ब्रॉड ने अपने इन्द्रिय-प्रदत्तवाद की स्थापना के लिए एक प्रात्यक्षिक स्थिति की कल्पना की है जिसमें दो अवयव पाये जाते हैं: वस्तुनिष्ठ अवयव (ऑब्जेक्टिव कान्स्टिट्यु एण्ट) और यह विश्वास कि जिस वस्तु का हमें प्रत्यक्ष हो रहा है वह किसी बृहत्तर वस्तु का एक भाग है जिसे भौतिक वस्तु कहते हैं और जिसके भीतर वस्तुनिष्ठ अवयव की विशेषताओं से पृथक् विशेषताएं पायी जाती हैं।[३] आगे डा. ब्रॉड यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि प्रात्यक्षिक स्थिति में वस्तुनिष्ठ अवयव ही भौतिक वस्तु नहीं है और इन्द्रिय-प्रदत्तवाद प्रात्यक्षिक तथ्यों की समुचित और यथेष्ट व्याख्या प्रस्तुत करता है। ब्रॉड के ही शब्दों में: इस प्रकार इन्द्रिय-प्रदत्त किसी न

---

३. ब्रॉड सी. डी., माइण्ड एण्ड इट्स प्लेस इन नेचर: पृ. १५१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



किसी रूप में भौतिक जगत् के ज्ञान का हेतु है तथा भौतिक जगत् किसी न किसी रूप में इन्द्रिय-प्रदत्त के ग्रस्तित्व का हेतु है।'[४] इस प्रकार डा. ब्रॉड के लिए इन्द्रिय-प्रदत्त एक सैद्धान्तिक इकाई या प्राकल्पना है।

## प्राक्कल्पनात्मक सिद्धान्त की ग्रालोचना

१. इस सिद्धान्त के ग्रनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त की प्राकल्पना किसी भौतिक वस्तु के ग्राभास ग्रौर सत् के बीच ग्रसंगति को दूर करने का प्रयास करती है। पर कुछ दार्शनिकों के ग्रनुसार किसी वस्तु के ग्राभास ग्रौर सत् के बीच न तो किसी प्रकार की ग्रसंगति पायी जाती है ग्रौर न उनके समाधान की ही कोई ग्रावश्यकता होती है। सच पूछा जाय तो इन्द्रिय-प्रदत्त की परिकल्पना ही किसी वस्तु के ग्राभास ग्रौर सत् में ग्रसंगति को उत्पन्न करती है ग्रौर पुनः उसे दूर करने का प्रयत्न करती है[५]।

२. डा. ब्रॉड ने जो यथार्थ एवं ग्रयथार्थ प्रत्यक्षों को समुच्चित कर एक "प्रात्यक्षिक स्थिति" में लाने का प्रयत्न किया है वह भी स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह दोनों के बीच भेद को समाप्त कर देता है।

३. ए. एम. क्विण्टन ने डा. ब्रॉड के इन्द्रिय-प्रदत्तवाद की ग्रालोचना करते हुए लिखा है कि उन्होंने इन्द्रिय-प्रदत्त द्वारा किसी वस्तु के विभिन्न ग्राभासों की व्याख्या करने के स्थान पर केवल उस वस्तु का उन ग्राभासों द्वारा स्पष्टीकरण करने की ही चेष्टा की है। वे किसी वस्तु ग्रौर उसके ग्राभासों के कारणात्मक सम्बन्धों की व्याख्या न कर केवल उनके तार्किक सम्बन्धों को ही स्पष्ट करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डा. ब्रॉड का इन्द्रिय-प्रदत्त का परिकल्पनात्मक सिद्धान्त भी प्रत्यक्ष की समुचित व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता।

## ३. भाषिक सिद्धान्त

इन्द्रिय-प्रदत्तों के स्वभाव के सम्बन्धों में एक तीसरा सिद्धान्त भी है जो इन्द्रिय प्रदत्त को न तो तथ्य मानता है ग्रौर न कोई परिकल्पना ही, वरन् उन्हें एक उन्नत पारिभाषिक शब्दावली के रूप में ही स्वीकार करता है। इन्द्रिय-प्रदत्तों की इस शाब्दिक ग्रभिधारणा के सम्बन्ध में दो दार्शनिकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं: जी. ए. पॉल ग्रौर ए. जे. एयर। इनके ग्रनुसार: प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में ग्रपरोक्ष वस्तुवाद सही है या विज्ञान प्रतिबिम्बवाद (रेप्रज़ेण्टेशनिज़्म) ग्रथवा गोचरवाद (फेनॉमेनलिज़्म) यथार्थ है, इसका निर्णय तथ्यों के विश्लेषण द्वारा नहीं किया जा सकता, इसका निर्णय भाषा के साधारण प्रयोग के विश्लेषण द्वारा ही किया जा

---

४. ब्रॉड, सी. डी., साइण्टिफिक थॉट, पृ. २६६-७।
५. लीन एम., सेन्स परसेप्शन एण्ड मैटर, पृ. १८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सकता है। प्रत्यक्ष स्थिति का वर्णन करने के लिए हम एक शब्दावली के स्थान पर दूसरी शब्दावली को वरीयता दे सकते हैं, पर इस परिवर्तन से इस बात में कोई अन्तर नहीं आता कि हम किस वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं। एयर ने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि इन्द्रिय-प्रदत्तों के स्वभाव के सम्बन्ध में जितने प्रश्न उपस्थापित किये जाते हैं वे तथ्य-सम्बन्धी प्रश्न न होकर शाब्दिक या भाषिक प्रश्न ही होते हैं। शाब्दिक प्रश्न होने के कारण उनका समाधान तथ्यावलोकन द्वारा नहीं वरन् पारिभाषिक शब्दावली को अधिक स्पष्ट और अवितथ बनाकर ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई प्रश्न करता है कि 'प्रदत्त के प्रत्यक्ष अनुभव में कौन-कौन से अवयव पाये जाते हैं ?' तो इसका अर्थ केवल इतना ही होता है कि 'प्रत्यक्ष वाक्यों में किस प्रकार शब्दों का प्रयोग किया जाता है ?' और इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि हम किस प्रकार की भाषा का चयन करते हैं। एयर के ही शब्दों में : 'प्रत्यक्ष के तथाकथित विभिन्न सिद्धान्त सामान्य अर्थ में सिद्धान्त कदापि नहीं हैं, अतः यथार्थता और अयथार्थता के प्रत्यय, जो वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर लागू होते हैं, उन पर लागू नहीं होते।'[६]

## भाषिक सिद्धान्त की आलोचना

१. एयर का यह कथन कि प्रत्यक्ष के विभिन्न सिद्धान्तों में तथ्यों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद नहीं होता, मान्य नहीं हो सकता। स्वयं एयर ने ही स्वीकार किया है कि भौतिक वस्तुओं के स्थान पर इन्द्रिय-प्रदत्तों को प्रत्यक्ष के विषय मानने के पर्याप्त दार्शनिक कारण हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में तीन कारणों का वर्णन किया है—

(अ) किसी इकाई का प्रत्यक्ष करने का अर्थ ही यह है कि उसका अस्तित्व होना चाहिए। यह इन्द्रिय-प्रदत्त के विषय में ही सत्य हो सकता है।[७]

(ब) हमें ऐसी पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता होती है जो भौतिक वस्तुओं से स्वतन्त्र प्रत्यक्ष के अवयवों की ओर संकेत कर सके।[८]

(स) भौतिक वस्तुओं की भाषा का प्रयोग इस बात पर निर्भर करता है कि इन्द्रिय-प्रदत्तों के सम्बन्धों में एक विशेष प्रकार की समरूपता है जो बड़ी कठिनाई से ही चरितार्थ हो सकती है।[९]

उपर्युक्त तीन कारणों से एयर ने भौतिक वस्तुओं की भाषा के स्थान पर इन्द्रिय-प्रदत्तों की भाषा का प्रयोग किया। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय-प्रदत्तों के प्रयोग

---

६. एयर ए. जे., फाउण्डेशन्स् ऑव एम्पिरिकल नॉलेज, पृ. २८।
७. वही, पृ० २५–२६।
८. वही, पृ० २६।
९. एयर ए. जे., फिलॉसाफिकल एसेज़, पृ० १०३-४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के केवल शाब्दिक या भाषिक कारण ही नहीं हैं वरन् उनके पीछे पर्याप्त तथ्यात्मक कारण भी विद्यामान हैं। यदि इन्द्रिय-प्रदत्त शब्द मात्र ही होते तो एयर उनके संघात या समुच्चय की सम्भाव्यता का प्रश्न कभी न उठाते।

२. एक दूसरा कारण भी है जिसके द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि इन्द्रिय-प्रदत्त केवल शब्द ही नहीं हैं। इन्द्रिय-प्रदत्तों के भीतर उनके परिभाषात्मक गुणों से अतिरिक्त गुण भी पाये जा सकते हैं जिनका वर्णन करना किसी भाषा के नियम की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है बल्कि एक सुनिश्चित तथ्य का कथन है। अतः इन्द्रिय-प्रदत्तों की केवल शाब्दिक व्याख्या ही नहीं की जा सकती।

३. यदि इन्द्रिय-प्रदत्त शब्दमात्र ही होते तो उनकी व्याख्या साक्षात् अनुभव के माध्यम से करने का कोई अर्थ ही न होता। साक्षात् अनुभव एक अन्तर्दर्शी तथ्य की ओर संकेत करता है जिससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय-प्रदत्त शब्द मात्र ही नहीं हैं। इन्द्रिय-प्रदत्तों को साक्षात् अनुभव के विषय रूप में स्वीकार कर हम उनके वास्तविक अस्तित्व की सम्भावनाओं को प्रकट करते हैं। वे वास्तविक तथ्य हैं, केवल शब्द नहीं।

## इन्द्रिय-प्रदत्त बनाम भौतिक वस्तुएं

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष में हमें किसी न किसी वस्तु का अनुभव अवश्य होता है चाहे उसे इन्द्रिय-प्रदत्त कहें या भौतिक वस्तु। इन्द्रिय-प्रदत्तवाद में ऐसी तार्किक एवं व्यावहारिक कठिनाइयाँ शामिल हैं कि इसके पर्याप्त आकर्षक होते हुए भी उसे स्वीकार करना सम्भव नहीं है। प्रो. राइल के इस कथन में पर्याप्त सत्य है कि (इन्द्रिय-प्रदत्त का) सम्पूर्ण सिद्धान्त एक तार्किक भ्रान्ति पर आधारित है और वह भ्रान्ति यह है कि इसमें हम संवेदन के प्रत्यय को प्रत्यक्ष के प्रत्यय में **सन्निविष्ट कर लेते** हैं।'[१०] ज्ञान-मीमांसा में इन्द्रिय-प्रदत्तवाद किसी न किसी प्रकार के ज्ञान-मीसांसीय द्वैतवाद पर आधारित होता है जो वस्तु के ज्ञान को बिल्कुल असम्भव बना देता है। जब तक हमें वस्तु का **यथार्थ-ज्ञान**—चाहे एक बार ही सही—नहीं होगा तब तक हम यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान में भेद ही नहीं कर सकते। अतः हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि हमें भौतिक वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान होता है।

दूसरी बात यह है कि हम यथार्थ और अयथार्थ प्रत्यक्षों को समुच्चित कर एक सामान्य इन्द्रिय-प्रदत्त के धरातल पर लाकर खड़ा नहीं कर सकते क्योंकि उनके विषय दो विभिन्न कोटियों की सत्ताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें केवल परिमाणात्मक भेद न होकर गुणात्मक भेद होता है। अतः दोनों को एक ही प्रकार

---

१०. राइल जी., कॉन्सेप्ट ऑव माइण्ड, पृ. २१३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के इन्द्रिय-प्रदत्त के भीतर किस प्रकार समाविष्ट किया जा सकता है? इसके अतिरिक्त एक बात और है। वह यह है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि हम सदा एक ही प्रकार की वस्तु का प्रत्यक्ष करें। ऑस्टिन के शब्दों में : 'हम केवल एक ही प्रकार की नहीं वरन् विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं और उनकी संख्या दर्शन द्वारा नहीं वरन् वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा निर्धारित की जाती है।'[११] यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि जब ऑस्टिन यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष में हम किसी न किसी वस्तु को ही देखते हैं तो उनके कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम साक्षात् भौतिक वस्तु को ही देखते हैं; उनके कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि **हम सदा किसी न किसी वस्तु को** (इन्द्रिय-प्रदत्त को नहीं) **ही देखते हैं, चाहे वह यथार्थ वस्तु हो या अयथार्थ**। ऑस्टिन इन्द्रिय-प्रदत्त और भौतिक वस्तु दोनों को सापेक्षिक बताते हुए दोनों को अस्वीकार करते हैं। उन्हीं के शब्दों में : 'सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात ग्रहण करने की यह है कि "इन्द्रिय-प्रदत्त" और "भौतिक वस्तुएं" दोनों परस्पर सापेक्ष हैं—इस युग्म का केवल एक पक्ष ही अप्रामाणिक नहीं है वरन् स्वयं यह निषेध ही अप्रामाणिक है।'[१२]

तीसरी बात जो यहाँ ध्यान में रखने की है वह यह कि "इन्द्रिय-प्रदत्त" और "भौतिक वस्तु" के बीच किसी प्रकार की खाई नहीं है जिसे परिपूर्ण करने की आवश्यकता हो। संशयवाद, अन्त:प्रज्ञावाद, अन्तर्भाववाद (रिडक्शनिज़्म), वैज्ञानिक उपागम एवं विश्लेशण ने इस समस्या को अपने-अपने ढंग से सुलझाने की चेष्टा की है। **संशयवाद** के अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त और भौतिक वस्तु के बीच खाई है जिसे कभी भी पाटा नहीं जा सकता। **वैज्ञानिक उपागम** के अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त और भौतिक वस्तु के बीच खाई है पर इस की पूर्ति कारण-कार्यवाद के आधार पर की जा सकती है। भौतिक वस्तुएं इन्द्रिय-प्रदत्तों के कारण हैं। **विश्लेषणवाद** भी दोनों में खाई को स्वीकार करता है पर इसके अनुसार इसमें कोई चिन्ता की बात नहीं है। हमें केवल भौतिक वस्तुओं के कथन को वर्णनात्मक विश्लेषण तक ही सीमित रखना चाहिए। **अन्तर्भाववाद** इन्द्रिय-प्रदत्त और भौतिक वस्तु की खाई के सिद्धान्त को साक्ष्य के धरातल पर खड़ा कर दूर करने का प्रयत्न करता है। इसके अनुसार भौतिक वस्तुएं इन्द्रिय-प्रदत्तों से तार्किक रचनाएं (लॉजिकल कॉन्स्ट्रक्शन) हैं। **अन्त:प्रज्ञावाद** साक्ष्य को ही निष्कर्ष के पास लाकर इन्द्रिय-प्रदत्त और भौतिक वस्तु के बीच अन्तर को दूर करने की चेष्टा करता है। भौतिक वस्तुओं के ज्ञान के सम्बन्ध में संशयवाद, अन्तर्भाववाद एवं विश्लेषणवाद स्पष्ट कारणों से कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकते। जहाँ तक वैज्ञानिक उपागम की

---

११. आस्टिन जे. एल., सेन्स एण्ड सेन्सिबिलिया।
१२. वही, पृ. ४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


बात है, वह इसलिए स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि दर्शन का सम्बन्ध ज्ञान के कारण न होकर उसकी संसक्तता से ही होता है। इस दृष्टि से भौतिक वस्तुओं के ज्ञान के सम्बन्ध में **अन्त:प्रज्ञावाद** ही सर्वोत्तम सिद्धान्त प्रतीत होता है। बात भी सही है। प्रत्यक्ष में सदा हमें भौतिक वस्तु का अव्यवहित एवं तात्कालिक ज्ञान प्राप्त होता है। हमें वस्तु का वास्तविक ज्ञान भले ही न होता हो पर जब भी हमें ज्ञान होगा किसी न किसी वस्तु का ही होगा। जो लोग यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष में हमें किसी इन्द्रिय-प्रदत्त का ही ज्ञान होता है, भौतिक वस्तु का नहीं, [उनके विरुद्ध **चिशम** की यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यदि कसाई मांस के प्रत्येक भाग को नहीं काटता तो इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि उसने मांस को काटा ही नहीं है। इसी प्रकार यह भी ठीक है कि प्रत्यक्ष में हमें किसी वस्तु के सभी भागों का साक्षात् ज्ञान नहीं होता, पर इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि हमें भौतिक वस्तु का प्रत्यक्ष होता ही नहीं।

संक्षेप में : प्रत्यक्ष की प्रत्येक अवस्था में हमें किसी न किसी वस्तु (इन्द्रिय-प्रदत्त नहीं) का ही ज्ञान होता है। वह वस्तु चाहे अस्तित्व की निम्न श्रेणी की ही क्यों न हो, पर जब कभी हमें प्रत्यक्ष होता है तब किसी न किसी वस्तु (इन्द्रिय-प्रदत्त नहीं) का ही प्रत्यक्ष होता है।

**इलाहाबाद विश्वविद्यालय**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# ऐतिहाहिक ज्ञान

धर्मेन्द्र गोयल

**ग्रामुख**—ग्रतीत में घटित होना एक बात है ग्रौर इतिहासकार के द्वारा प्रस्तावित ऐतिहासिक वृत्तांत में स्थान पाना, दूसरी। मैं यहाँ 'इतिहास' शब्द का प्रयोग केवल वृत्तांत के ग्रर्थ में करूँगा। इतिहास में वर्णित व्यक्तियों, घटनाग्रों, लक्ष्यों, मूल्यों ग्रादि को मानव-जाति के ग्रतीत का ग्रंग मानूँगा; जिसकी चर्चा सभी इतिहासकार ग्रपने वृत्तांत की विषयवस्तु के रूप में करते हैं। इसीसे जुड़ी परिभाषा के सम्बन्ध में भी दो शब्द। वस्तुतः इतिहास का विषय क्या है? ऐतिहासिक घटना, चेतना, युग, ऐतिहासिक क्रिया, व्यक्ति, मूल्य, उद्देश्य, ग्रथवा उनसे प्रसूत सामाजिक तन्त्र, संस्कृति, या ग्रौर कुछ? यह विषय ऐतिहासिक ज्ञान की चर्चा में निरर्थक नहीं है, किन्तु मेरे लेख के लिए मैं इसमें यहाँ ज़्यादा गहराई में नहीं जाना चाहूंगा। इतिहास-वृत्तांत व्यक्तियों के, विशेषतः ऐसे प्रभावशाली व्यक्तियों के जिन्होंने परवर्त्ती व्यक्तियों के उद्देश्यों को प्रभावित किया हो, ग्रभिप्रायों ग्रौर मूल्यों का स्पष्टांकन करता है, ग्रौर इस स्पष्टांकन के ग्राधार पर मानव के भूत से वर्तमान तक फैले विकास को यथासम्भव समझने-समझाने का दायित्व-निर्वाह करता है।

ऐतिहासिक ज्ञान इतिहासकार के समकालीनों की चर्चा न होकर ग्रतीत मानव-प्रक्रियाग्रों के बारे में होता है। मानव-विकास-क्रम में एक विशेष स्तर प्राप्त हो जाने के उपरान्त ही एक परम्परा-बोध लिखित दस्तावेज़ों में बँधने लगता है, फिर ये दस्तावेज़ एक व्यक्ति, संस्था ग्रथवा समूची संस्कृति के द्वारा ग्रभिप्रेत हो सकते हैं। साधारण इतिहासकार (बीसवीं सदी तक) प्रायः ऐसी लिखित सामग्री के नीर-क्षीर विवेक से ही ग्रपने वृत्तांत की रचना करते ग्राये हैं। हाँ, पिछले कुछ समय से इतिहासकार सिक्कों, वास्तुशिल्प, उत्खनन, कलाकृतियों ग्रौर ग्रन्य सामाजिक साक्ष्यों को ग्रपने वृत्तांत में समानान्तर विश्लेषण एवं प्रामाणिकता-निर्धारण के लिए ग्रधिक उपयोगी पाते हैं। वृत्तांत का रूप इस प्रकार के विभिन्न-धर्मी साक्ष्यों के संकलन, पुनारचना, व्याख्या, तुलना एवं समन्वय से गुज़र कर स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार इतिहासकार ग्रपने साक्ष्यों का केवल संकलयिता मात्र ही नहीं है, बल्कि उनको व्यवस्थित ग्रर्थ-निर्धारण भी देता है। उसकी रचना जहाँ ग्रनिवार्यतया उपलब्ध साक्ष्यों के साथ मेल खायेगी वहां स्वयं इतिहासकार की पूर्वकल्पनाग्रों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भी अछूती नहीं रह सकेगी। समकालीन इतिहास-ज्ञानमीमांसा में इस पर खासी बहस हुई है।[1] जो पूर्वाग्रह इतिहासकार अनजाने में अपने वृत्तांत में साक्ष्यों के विशदीकरण में प्रयुक्त करता है वह प्रायः कार्य-कारण अथवा साक्ष्यों के सन्दर्भ में प्रस्तावित मूल्यों के अनावरण को लेकर होता है। ऐसे साक्ष्यों के विभिन्न मूल्यनिर्देशन विचारणीय हैं।

इस प्रकार के सम्भव विकल्पों की व्याख्या नीचे उपयुक्त अवसर पर मैं करना चाहूंगा। पर इसे मैं असंदिग्ध मानता हूं कि 'ऐतिहासिक-ज्ञान' जिन साक्ष्यों पर आधारित होता है उसकी व्याख्याएं सिद्धान्ततया एक-सूत्रीय नहीं होतीं। क्योंकि स्वयं अतीतकालीन व्यक्ति और उनके मूल्याधारित कार्य जिस प्रकार के साक्ष्यों को आधार बनाते हैं उनकी वैसी मूल्य-परक व्याख्या अनिवार्यतया केवल एक-सूत्रीय नहीं होती। ये अतीत की मानव-प्रतीतियाँ जब इतिहासकार के वृत्तांत में प्रतिबिम्बित होती हैं तब उनकी संरचना पर इतिहासकार की मूल्यात्मक दृष्टि कई सम्भावनाओं में से किसी विशेष एक को चुन लेती है। इस दृष्टि से मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूं कि ऐतिहासिक वृत्तांत को निर्वैयक्तिक पूर्वकल्पनाओं से अछूता मानना और उसके लिए विज्ञान की वस्तुनिष्ठता की चाह करना इस ज्ञान के विषय, गठन और उद्देश्य को ही भूलना है।[2] यही कारण है कि एक ही अतीत के वृत्तांत युगबोध के बदलने के साथ प्रायः बदलते पाये जाते हैं। स्वयं इतिहासकारों के द्वारा एक ही अतीत की विभिन्न विवेचनाएं भी व्याख्या एवं ऐतिहासिक ज्ञान की विषय होती हैं, यद्यपि यह अभी बहुत कुछ इतिहासकारों और दार्शनिकों दोनों ही द्वारा उपेक्षित क्षेत्र है।

परन्तु मैंने ऊपर जो कुछ इतिहास-वृत्तान्तों की इतिहासकार-सापेक्षता को लेकर कहा है उससे यह निष्कर्ष नहीं मानना चाहिए कि मैं ऐतिहासिक ज्ञान को केवल रुचि-सापेक्ष अथवा युग-बोध द्वारा ग्रसित पूर्वाग्रह मान रहा हूं। इस विषय पर

---

१. मैंने स्वयं इस विषय पर अपनी पुस्तक फिलॉसफी ऑफ हिस्ट्री, स्टर्लिंग पब्लिशर्स नई-दिल्ली, १९६७, में लिखा है। कार्ल मान्हाईम ने अपनी पुस्तक Sociology of Knowledge, Routledge Kegan Paul, P. 177 पर इस पर विशेष बल दिया है कि स्वयं इतिहास-अवलोकन का भी इतिहास होता है।

२. इस विषय पर अनेक बातें समय-समय पर प्रकाशित होती रहती हैं, पू. उ. मेरी पुस्तक तथा आर्थर सी. डेंटो की पुस्तक Analytical Philosophy of History कैम्ब्रिज १९६८, अध्याय १०, पृष्ठ, २१२–२१३। यह सारा चिंतन कार्ल हैम्पल के नियमों सम्बन्धी विचारों पर आश्रित है। इस सम्बन्ध में Paul Conkin; Causation Revisited, History and Theory, 1974, १८, जिसमें आर्तेगा असे के मत का समर्थन किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अपना मत मैंने कई बार अपने पिछले लेखन में स्पष्ट कर दिया है।[3] वह दृष्टिकोण इतिहास के विभिन्न वृत्तांतों को विकल्पात्मक पूरक पहलू मानता है। इसका अर्थ है कि यदि इतिहासकार अपने स्वयं वर्तमान युगीन बोध को भी सचेतन रूप से कह दे तो अतीत की अधिक समग्र एवं व्यापक समझ उसके परवर्त्ती पाठक को मिलेगी। अतीत की मानव-क्रियाओं की बहु-आयामी स्थिति इस प्रकार के विकल्पात्मक वृत्तांतों से परवर्त्ती जिज्ञासु को कुण्ठित न करेगी, न असंगत लगेगी, बल्कि स्वयं इतिहासकार और ऐतिहासिक ज्ञान के स्वरूप को समझने में भी सहायक होगी। मैं यह कहना चाहता हूं कि इतिहासकार द्वारा अपने परिप्रेक्ष्य और मूल्य-दृष्टि को सुस्पष्ट इंगित करना उसके वृत्तांत की अर्थवत्ता एवं सार्थकता को निश्चय ही बढ़ायेगा।

मैं इस गोष्ठी के विचारार्थ **युगीन मूल्यबोध** के वृत्तांत में समावेश की प्रामाणिकता पर कुछ विचार उपस्थित करूंगा, इस प्रकार मेरा मत है कि मैं ऐतिहासिक ज्ञान के स्वभाव पर भी कुछ समीक्षा करने में नीचे सयत्न हो सकूंगा। उक्त विचार के प्रसंग में यदि कुछ निष्कर्ष आवश्यक लगे तो उनका भी सहज संकेत अन्त में कर दूंगा।

**विश्लेषण**—इतिहास की विषय-वस्तु वस्तुएं और उनके गुण एवं सम्बन्ध नहीं हैं और न उनके विविध नियोजित **तथ्य** हैं। इतिहासकार अतीत के वृत्तांत के लिए मानवीय मूल्यों को अपना केन्द्रीय विषय पाता है। अतीत की घटनाएं, उनके बारे में साक्ष्यभूत मूल्य, मानवीय-उद्देश्य, लक्ष्य, आदर्श और इनको लेकर विविध विश्वास इतिहास-ज्ञान के कच्चे माल हैं। मानवता की मानव-सुलभ अभिव्यंजना इनमें रची-बिंधी है। मानव-संकल्प की रचना सम्भावनाओं के सचेत अवमूल्यन द्वारा ही सहज मानव-व्यवहार में अभिव्यक्त होती हैं। मूल्य-अनुक्रमण और वरीयताएं भी इस प्रकार संकल्प की मूर्त एवं प्रत्यक्ष अभिव्यंजना में ही अवतरित होती हैं। मानव-अतीत में उद्घाटित मूल्यों की भूमिका का निरूपण ऐतिहासिक ज्ञान में ऐसे मूर्त्त साक्ष्यों के संयोजन द्वारा इतिहासकार करता है। इतिहासकार ऐसी मूल्यधर्मिता का अपने वृत्तांत में प्रायः अनिवार्यतया प्रयोग करता है।

सभी इतिहासविद् प्रायः एकमत हैं कि पूर्ण रूप से भौतिक पदार्थ अथवा जैविक चरों के अनुरूप ही समूचे इतिहास के विषय को नहीं ढाला जा सकता। इतिहास-ज्ञान मानवीय क्रिया का ज्ञान है, लक्ष्य, वरीयता, अपेक्षा, पूर्वाभिप्रेत मूल्यों को यह क्रिया पूर्वमान्यता के रूप में मानकर ही अर्थपूर्ण होगी। यदि वस्तुतः ऐति-

---

३. देखें पू.उ. पुस्तक, तथा मेरा लेख Objectivity and Purpose in History, Allahabad University Studies, 1955 तथा Philosoply and Historical Knowledge, Anvikshiki, April, 1972, p. p. 33–41, Varanasi.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हासिक घटना केवल निपट लक्ष्यहीन दायित्वशून्य पदार्थों और उनके टकरावों की ही समूह मानी जाय तो ऐतिहासिक ज्ञान और सहज प्राणिविज्ञान में विवेक निरर्थक हो जायगा। मूल्य एवं उनके सचेत चरितार्थन ऐतिहासिक ज्ञान की सहज अनिवार्य पूर्व-मान्यताएं हैं। मानव के बारे में वैसे अतीत की घटनाओं को लेकर अनगिनत तथ्य एवं नियम उपलब्ध किये जा सकते हैं, परन्तु उनके द्वारा ऐतिहासिक समझ, समीक्षा या ज्ञान उपलब्ध नहीं होता।[४] ये साक्ष्य केवल खण्ड खण्ड विभाजित, अनगढ़, आकस्मिक घटनाओं के नैरन्तर्य का परामर्श देंगे, इतिहासकार के द्वारा अर्जित संशोधित इतिहास-ज्ञान नहीं। परवर्ती ज्ञान मूल्यधर्मिता एवं उक्त साक्ष्यों को ऐतिहासिक पात्रों के लक्ष्यों, मूल्यों और निजी विवेचन तक ढूंढने अथवा आरोपित करने के बाद ही इतिहास वृत्तांत में स्पष्ट होता है।[५]

वैसे यह बात यहां कहना ज़रूरी है कि 'मूल्य' का ज्ञान मानव-चिन्तन में सदैव परोक्ष ही होता है। समकालीन व्यक्तियों के मूल्य भी उन साक्ष्यों की व्याख्या एवं संयोजना द्वारा ही समझे जा सकते हैं जिनको कि मूल्य का संवाहक समकालीन समाज सहज स्वीकार करता है। अन्य व्यक्ति के मूल्यों के सम्बन्ध में अनुमान की वही कठिनाइयां हैं जो अन्य व्यक्ति के मनस् के ज्ञान की हैं। इतिहास-ज्ञान में साक्ष्यों की विश्वसनीयता प्रथम चुनौती होती है, परन्तु मूल्य-बोध के ज्ञान की प्रामाणिकता और भी अधिक संशायास्पद है। जिन पात्रों के मूल्यों का अनुमान इतिहासकार लगा रहा है क्या यह सम्भव त्रुटि नहीं है कि वह साक्ष्यों की व्याख्या अथवा पुनारचना अपने समकालीन समाज में स्वीकृत मूल्यानुमानों के आधार पर कर रहा हो? और कहाँ तक मूल्याभिव्यक्ति के ये औज़ार इतिहासकार द्वारा अपनी समकालीन मूल्य-चेतना के अनधिकृत विस्तार से बचकर, इतिहास-ज्ञान के लिए असंदिग्ध मूल्य-बोध का निरूपण करते हैं? इन प्रश्नों पर कुछ प्रकाश साधारण मूल्य-अवधारणाओं के समकालीन अनुमानों के निरीक्षण से भी प्राप्त किया जा सकता है।

इतिहास-ज्ञान में हमारे पास साक्ष्यों का एक सूक्ष्म कलेवर ही बचा रहता है, जिसके कारण ऐसे परस्पर-विरोधी परामर्श, जो प्रायः समकालीन व्यक्तियों के बारे में मूल्यानुमान लगाते समय स्पष्ट मूल्यांकन में बाधा डालते हैं, इतिहासकार के लिए

---

४. इस पर प्रो.गोविन्दचन्द्र पाण्डे के विचार विचारणीय हैं। उनकी पुस्तक Meaning and Process of Culture—Shivlal Agarwal and Company, Agra, 1972, पृष्ठ ४८ एवं पृष्ठ ७६–८४ द्रष्टव्य।

५. देखें पैट्रिक गार्डिनर-कृत पुस्तक Nature of Historical Explanation, Oxford. तुलना करें नावेल स्मिथ पी. एच. Are Historical Events Unique? Aristotalian Society Proceedings, Vol. 57, 1957, p.114.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अपने पात्रों के उद्देश्यों अथवा लक्ष्यों के अनुमान में ऐसी कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करते। इससे समकालीन जीवन की व्यावहारिक संरचना पर भी प्रभाव पड़ता है जिसके फलस्वरूप समकालीन मूल्य-निरूपण मत्सर, पूर्वाग्रहों एवं असत्य-प्रचार में प्रायः उलझ कर व्यक्ति-सापेक्ष हो उठने की गम्भीर खामी का शिकार हो जाता है। इसके विपरीत इतिहासकार के लिए पूर्वाग्रहों और मूल्यानुमानों की व्यावहारिक उलझनों से पूर्ण मुक्ति आसान होती है। उसकी मूल्यात्मक तटस्थता अमानवीय नहीं लगती। समकालीन मूल्याभिव्यक्तियों और सम्बद्ध लोकप्रिय या तथाकथित विश्वासों पर प्रश्नचिह्न लगाना इस प्रकार के संशय के प्रति अति खिन्नता एवं खीझ भी उत्पन्न कर सकता है, इसीलिए प्रायः कहा जाता है कि जबतक वर्तमान अतीत नहीं बन जाता किसी भी महान चरित्र का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि जबतक समकालीन कटुता, पक्षधरता एवं वैमनस्य द्वारा जनित कुहासा समय के साथ नहीं मिट जाता तबतक मूल्यांकन, मूल्याभिव्यक्ति के अनुमान सहज ही पक्षधरता से ऊपर नहीं उठ पाते। इस दृष्टि से इतिहास-ज्ञान द्वारा आकलित मूल्यबोध अन्य त्रुटियों के रहते हुए भी कम से कम इस कमी से बरी है।

जहाँ ऐतिहासिक ज्ञान में मूल्य-बोध के निर्धारण में उपर्युक्त सहूलियतें हैं वहीं इस प्रकार के मूल्यानुमान में निम्न गम्भीर सीमाएं भी हैं। सर्वप्रथम, इतिहासकार अपने चरित्रों से प्रश्न नहीं पूछ सकता। इस कारण जहाँ उपलब्ध साक्ष्य किसी मूल्य के चरितार्थन में संशयात्मक है, उसके पास न्यायालय, पत्रकारिता अथवा समाज-विज्ञानों की तरह अपने मानव 'विषयों' से साक्ष्यों के विवेचन एवं संयोजन के लिए बहस एवं स्पष्टीकरण पाने की क्षमता नहीं है। वाटरगेट-काण्ड में पत्रकारिता की ऐसी क्षमता का अच्छा दृष्टांत मिलता है। भारतीय समकालीन जीवन में जिस प्रकार की सामग्री भविष्य के लिए कैंपसूल में रक्खी गई है वह भारतीय जीवन के समकालीन दृष्टिबिन्दु से पूर्णरूप से निष्पक्ष तो नहीं ठहराई जा सकती, उससे जो कठिनाई भविष्य में इतिहासकारों को होगी वह तो एक बात हुई, पर इससे यह भी परिलक्षित हो जाता है कि साक्ष्यों के सम्पादित होने में जो कुछ वस्तुतः पूर्ववर्ती ऐतिहासिक युग में घटित हुआ उसे परवर्त्ती इतिहास-ज्ञान में विश्वसर्नाय मानना अयुक्त है। कौन जानता है कि प्राचीन सत्ताधारियों में नकाब ओढ़कर परवर्ती युगों से साधुवाद पाने की ललक न रही हो?

मानव-मूल्यों का प्रदर्शन करने वाले साक्ष्यों की व्याख्या एवं मूल्यानुमान और सम्बन्धित मूल्याकांक्षाएं इतनी अराजक एवं अनिश्चित होती हैं कि यदि केवल गोचर साक्ष्यपरक एक-आयामी विवरण ही गढ़े जाएं तो भी ये विवरण किसी न किसी सीमा तक संदिग्ध बने रहेंगे। न्यायालय, आत्मवृत्तांत, साहित्यिक रचना, राजनीति और समकालीन गुप्तचरों के कारनामे और विश्वसनीय मोह-भंग जिस प्रकार मानव-मूल्यान्वेषण को सिद्धांततया दुविधामूलक सिद्ध करते हैं उससे इतिहासकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


अपनी आत्मग्लानि को झेलने में कुछ राहत महसूस कर सकता है। इतिहासकार ही एक अकेला मूल्यारोपण के रोग का रोगी नहीं है।

इस प्रश्न की और गहराई में जाने पर सहज मूल्यान्वेषण से सम्बन्धित आत्मसंवाद की पूर्वकल्पनाओं पर विचार ज़रूरी लगेगा। मूल्याभिव्यक्ति, मूल्यानुमान और सम्वेदना एक ही सामाजिक परम्परा, आस्था और साझेदारी के मुहावरे पर अनिवार्यतया आश्रित होते हैं। व्यक्ति स्वयं अपना मूल्यगत व्यवहार उक्त मूल्य परिदृश्य के अनुरूप ही और मूर्त्त-गोचर लक्ष्यों, उद्देश्यों और आदर्शों में स्थापित कर पाता है। स्वयं ये गोचर आदर्श स्पष्ट अनुमोदन, परिपुष्टि एवं अन्य व्यक्तियों द्वारा मान्यता दिये जाने के बाद मूल्यान्वेषक द्वारा 'मूल्य' के रूप में स्थिर हो पाते हैं। अन्ततोगत्वा सारे मानव-मूल्य परस्पर सम्प्रेषण एवं अनुमोदन द्वारा ही संस्कारित होकर संगत 'मूल्य-बोध' अथवा एक सांस्कृतिक परम्परा में स्थिर हो उठते हैं। इस दृष्टि से इतिहासकार जिस प्रकार मूल्यों की समीक्षा साक्ष्यों से करता है उसी प्रकार ऐतिहासिक पात्र भी अपने मूल्य-संदर्भ का उपयोग साक्ष्यों की व्याख्या एवं पुनारचना से अपने संकल्प को निर्देशित करने के लिए करता है। इतिहासकार 'युगीन मूल्य-बोध' पर अपनी मूल्य-चेतना आरोपित करता है तो स्वयं मूल्यान्वेषक भी इतिहासकार की ही तरह मूल्य-बोध को साक्ष्यों की व्याख्या द्वारा परखता है और संकल्प द्वारा उस परम्परा को मूल्यों में अभिव्यक्त करता है।

मूल्यगत वैविध्य ऐसी स्थिति में सदा ही चिन्त्य है। इसकी वजह इतिहासकार का दुराग्रह नहीं है बल्कि मूल्यों की रचना में आनेवाले संवाद और अभिव्यक्ति की साक्ष्यों से अनुसरित कठिनाइयां हैं। यह दोष, यदि इसे दोष माना जाय तो, व्यक्ति की असावधानी का नहीं है बल्कि इतिहासकार के स्वयं ऐतिहासिक मूल्यान्वेषक होने का है, जिसके होने से प्रत्येक पीढ़ी को अपने लिए नई मूल्यात्मक चेतना की ज़रूरत होती है। इसीसे कोई भी इतिहासकार कालिंगवुड[६] की अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर सकता कि वह सम्पूर्ण ऐतिहासिक पात्र के चिन्तन को ज्यों का त्यों अवतरित करे। क्रोचे तब यथार्थवादी लगता है जब वह कहता है कि अतीत युग का कोई विवरण पूर्ववर्त्ती युग की परम्परा का समकालीन चेतना द्वारा रचित बिम्ब होता है; तदनुसार अभिनव चेतना के साथ-साथ यह बिम्ब भी बदल जाता है।

किसी भी ऐतिहासिक पात्र के उद्देश्यों या लक्ष्यों की व्याख्या के लिए उक्त युग का मूल्य-संदर्भ (स.) (जिसमें परिस्थितियां एवं सूचनाएं भी निहित हैं), व्यक्ति की मूल्य-वरीयताएं (व) और उनसे उपलब्ध संगत मूल्य-संकल्प या निर्णय (न.) इतिहासकार की गोचर साक्ष्यों की व्याख्या द्वारा निर्दिष्ट किये जाते हैं। जैसा ऊपर कहा गया है, एक ऐतिहासिक व्यक्ति क के संदर्भ स–१, वरीयताओं व–१ और मूल्य

---

६. देखें, Idea of History, Oxford, 1946.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


निर्णय न–१ को इतिहासकर अपनी साक्ष्यों की समीक्षा से प्रमाणित मानता है। विचारणीय यह है कि साक्ष्य पूर्ण रूप से केवल इसी विवेचन से संगत नहीं होते; जो उपलब्ध साक्ष्य हैं उन्हें सिद्धांत रूप से अन्य प्रारूपों से, जैसे (स–२, व–२ और न–२) या (स–२ व–२ क–१) से, संगत पाया जा सकता है। क्योंकि मूल्य-परिदृश्य तथा वरीयताओं और निर्णयों को अभिव्यक्त करने वाली ऐतिहासिक-साक्ष्यों की तालिका न तो पूर्ण है और न उसकी अर्थवत्ता इतनी सुनिश्चित है।

एक उदाहरण सम्भवतया उपर्युक्त प्रारूप को सुगम बना सके। मानलें कि एक तानाशाह के शासन के बारे में ऐसी निश्चित सामग्री प्राप्त होती है कि वह कई बार दयालु एवं पर-दुखकातर व्यक्ति भी था, जबकि साधारणतः उसका शासन कठोरता, निरंकुशता, अहम्मन्यता एवं दण्ड के लिए प्रसिद्ध है। सतही तौर पर ये परस्पर प्रतिकूल साक्ष्य लगेंगे। इतिहासकार ऐसी स्थितियों में मूल्यवरीयताओं, ऐतिहासिक बाध्यताओं, वास्तविक एवं प्रकट लक्ष्यों में खाइयों को अपने विवेचन द्वारा ढूंढेगा। एक इतिहासकार यहां जो भी सुझाव साक्ष्यों की संगत व्याख्या देने के लिए उपस्थित करेगा उसके प्रतिपक्षी अन्यथा विकल्प दे सकने में असमर्थ नहीं होंगे। कुछ विद्वानों को एक तो दूसरों को दूसरा तथा किसी तीसरे को दोनों से भिन्न और नये साक्ष्यों की खोज की जरूरत महसूस हो सकती है। यदि कोई इतिहासकार कठोर अनुशासन को उचित मानेगा तो उसे उसकी तानाशाही 'तथाकथित' लगेगी जबकि एक दूसरा इतिहासकार, जो शासन को बर्बर मानता है, सदाशयता के प्रदर्शक साक्ष्यों को भ्रामक और किसी राजनीतिक चाल के कार्यों के रूप के देखेगा। शायद मनोविश्लेषण से प्रभावित कोई अन्य तीसरा इतिहासकार इन्हीं साक्ष्यों के आधार पर शासक के अन्तर्मन में परस्पर विरोधी तनावों की स्थिति की परिकल्पना करके साक्ष्यों के आधार पर ऐसे सहकारी तत्वों को ढूंढने का प्रयत्न करना चाहे जिससे प्रकट विरोधों का निवारण हो सके। मूल्यांकनपरक समीक्षा का यही रूप हमें साहित्यालोचना में भी मिलता है। एक ही रूपक अथवा कलात्मक अवयव की व्याख्या को दो आलोचक अपने-अपने दृष्टिकोण से उचित ठहराने में अर्थवत्ता के विभिन्न आयाम प्रस्तुत करने के प्रयत्न करते हैं। न्यायालयों में भी स्पष्ट साक्ष्यों के मूल्यांकन कई बार परस्पर विपरीत लक्ष्यों को प्रमाणित करते सिद्ध किये जाते हैं और तब न्यायाधीश न्यूनतम ग़ल्ती करने के लिए संदेह का लाभ अभियुक्त को देता है। यदि इतिहासकार को मूल्यांकन की अपनी समीक्षा की ज़िम्मेदारी परिभाषित ही करनी हो तो क्या वह अपने को न्यायाधीश मानना चाहेगा ? मैं समझता हूं कि उसके लिए साहित्यालोचक की भूमिका अधिक उचित जँचेगी।

**निष्कर्ष**—(१) इतिहासकार की ज्ञान-प्रक्रिया सार्वभौमिक मानव-व्यवहार के नियम गढ़ना नहीं है। वह अपने वृत्तांत में ऐसी सभी नियमबद्धताओं का प्रयोग करना चाह सकता है, परन्तु इतिहासकार अतीत की व्यक्तित्वहीन व्याख्या से अपने को बचाना चाहेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(२) इतिहासकार जिस प्रकार ऐतिहासिक पात्रों और उनके मूल्य-परिदृश्यों की पुनारचना करता है वे कभी भी पूर्ण रूप से विकल्पयुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि उसके साक्ष्य कई स्तरों पर कितनी ही जवाबदेही पर मौन पाये जायेंगे ।

(३) कई बार यदि ऐतिहासिक दस्तावेज़ बलपूर्वक किसी विशेष मूल्यपरिदृश्य की सचेष्ट पैरवी करें तो भी मूल्य-विश्लेषण के लिए इतिहासकार उनके प्रति शंकालु रहना अधिक युक्तिसंगत पायेगा, क्योंकि मानव-व्यवहार में प्रचारित मूल्यों और वास्तविक उद्देश्यों के बीच प्रायः भारी अन्तर पाया जाता है ।

(४) इतिहासकार का समकालीन मूल्य-बोध उसकी अतीत परम्पराओं की मूल्य-आकाक्षांओं की व्याख्या पर चेतन रूप से पूर्ण निष्पक्षता को स्वीकार करने पर भी किसी न किसी सीमा तक अनिवार्यतया आरोपित हो उठेगा । यदि इतिहासकार अपनी समीक्षा के साथ ही समकालिक मूल्य-बोध को भी कहदे तो उसकी प्रामाणिकता बढ़ेगी ।

(५) स्वयं अतीत का मूल्यान्वेषी भी इतिहासविद् की भांति ही मूल्यबोध की परम्परा को अपने परावर्त्ती और समवर्त्ती साक्ष्यों के पुनर्निर्माण से उपलब्ध करता हैं । इस प्रकार मूल्य-बोध और उसके विश्लेषण की समस्याओं के सादृश्य को पहचाना जाना चाहिए ।[७]

(६) इतिहासकार की समीक्षा और समवर्ती मूल्यानुमान में एक विशेष अन्तर यह है कि समकालीन मानस् परस्पर संवाद और विचार-विनिमय से मूल्याभिव्यक्तियों को स्पष्ट कर सकते हैं, इतिहासकार अपने पात्रों से संवाद या बहस नहीं कर सकता ।

**पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़**

---

७. पू. उ. Anvikshiki, पृ. 40, Philosophy And Historical Knowledge, तथा E. H. Carr What is History? History, Science & Morality, पृ. 78, १९६१, कैम्ब्रिज, III लेक्चर ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के १९७४ के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर आगामी तीन वर्ष के लिए निर्वाचित पदाधिकारी

| | |
|---|---|
| अध्यक्ष | **यशदेव शल्य**<br>डी–३१, बापू नगर, जयपुर–४ |
| उपाध्यक्ष | **डा. अनन्तगणेश जावडेकर,**<br>आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग,<br>म. स. विद्यालय, बड़ौदा |
| | **डा. रमाकान्त त्रिपाठी,**<br>आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग.<br>हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी |
| मन्त्री | **चांदमल,**<br>अध्यक्ष, दर्शन विभाग,<br>राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर |
| संयुक्त मन्त्री | **डा. जे. ए. याज्ञिक,**<br>आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग,<br>गुजरात विश्वविद्यालय,<br>अहमदाबाद |
| | **डा. रामजी सिंह**<br>दर्शन विभाग,<br>भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर |
| | **डा. जगत्प्रकाश आत्रेय,**<br>अध्यक्ष दर्शन विभाग,<br>के. जी. के. कालेज, मुरादाबाद |
| कोषाध्यक्ष | **डा. नन्दकिशोर शर्मा,**<br>दर्शन विभाग,<br>राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर |
| संपादक-दार्शनिक एवं नृतत्त्व तथा समाजदर्शन | **यशदेव शल्य** |

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



## अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | अनुभववाद | सं. यशदेव शल्य | ५.५० |
| २. | समकालीन दार्शनिक समस्याएं | सं. यशदेव शल्य | १३.०० |
| ३. | दार्शनिक विश्लेषण | ले. यशदेव शल्य | १२.०० |
| ४. | विषय और आत्म | ले. यशदेव शल्य | २०.०० |
| ५. | समकालीन भारतीय दर्शन | सं. के. सच्चिदानन्द मूर्ति | १२.०० |
| ६. | भारतीय मनोविज्ञान | सं. नारायण शास्त्री द्राविड़ | ९.०० |
| ७. | अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या | गोविन्दचन्द्र पाण्डे | ३.०० |
| ८. | न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या | गोविन्दचन्द्र पाण्डे | ८.०० |
| ९. | नृतत्त्व तथा समाजदर्शन (७ खंड) | सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे यशदेव शल्य | ५२.०० |

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, के लिए डी ३१, बापूनगर जयपुर से संपादित तथा प्रकाशित एवं अजमेरा प्रिंटिंग वर्क्स, घी वालों का रास्ता, जयपुर से मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

संपादक : यशदेव शल्य
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
गुरुकुल कांगड़ी पुस्तकालय
61875
वर्ष २०, अंक ४, अक्तूबर १९७४

# दार्शनिक त्रैमासिक

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के पूना विश्वविद्यालय में १७–१९ नवम्बर, १९७४ को आयोजित अधिवेशन की गतांक से शेष कार्यवाही

## विषय सूची

**विभागाध्यक्षीय भाषण**


| | | |
|---|---|---|
| सार्त्र के स्वातंत्र्य-सम्बन्धी विचारों की समीक्षा | ज. आ. याज्ञिक | २०१ |
| प्रकृति के नियम | धर्मेन्द्रकुमार | २१२ |


**निबन्ध**


| | | |
|---|---|---|
| दो वस्तुएं : इंद्रियों की और बुद्धि की | जे. फाइस | २१८ |
| सांख्य-विवेचन | भगवती | २२४ |
| डेविड ह्यूम का नैतिक दर्शन | वेदप्रकाश वर्मा | २३७ |
| धार्मिक कथनों की सार्थकता | केदारनाथ तिवारी | २५७ |
| क्या नैतिक नियम वस्तुतः निरपेक्ष आदेश हैं | छाया राय | २७३ |
| पुस्तक समीक्षा : दिव्य-जीवन | रामचंद्र त्रिवेदी | २८२ |
| आगामी वार्षिक अधिवेशन की विज्ञप्ति | | २८५ |


वार्षिक मूल्य : १५.००

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष २०          अक्तूबर १९७४          अंक ४

# सार्त्र के स्वातंत्र्य-संबंधी विचारों की समीक्षा*

ज. आ. याज्ञिक

इस निबन्ध में सार्त्र की स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचारणा की समीक्षा करने का प्रयत्न किया गया है। इस विषय में कुछ कहने से पहले मैं यह कहना चाहूँगा कि दर्शन परिषद् के १९वें अधिवेशन में नीतिशास्त्र एवं समाजदर्शन विभाग की अध्यक्षता करने का निमन्त्रण देकर परिषद् के मन्त्री और कार्यसमिति के अन्य सदस्यों ने मुझ पर उपकार किया है। अगर यह निमन्त्रण न मिलता तो सार्त्र के स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचारों की समीक्षा करने का मौका न जाने मुझे कब मिलता।

इस निबन्ध को दो भागों में विभक्त किया गया है। पहले भाग में सार्त्र की स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचारणा का निरूपण[1] और दूसरे भाग में इस विचारणा का मूल्यांकन करने का यत्न किया गया है।

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के पूना विश्वविद्यालय में १७–१९ नवम्बर १९७४ को आयोजित उन्नीसवें वार्षिक अधिवेशन में तत्त्वज्ञान एवं ज्ञानमीमांसा विभाग के अध्यक्ष पद से भाषण।

१. सार्त्र की स्वातंत्र्य सम्बन्धी विचारणा का यह निरूपण सार्त्र के प्रमुख दार्शनिक ग्रंथ **'Being and Nothingness'** पर ही आधारित है। **'Existentialism and Humanism'** नामक निबध में सार्त्र ने इस विषय में जो मत प्रदर्शित किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


**I सार्त्र के स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी विचारों का संक्षिप्त निरूपण**

सार्त्र की सत्तामीमांसा में सत् के दो प्रकार स्वीकार किये गये हैं: (१) स्वरूप-सत् (सत्–अपने–स्वरूप में : बींग इन इट्सेल्फ), और (२) अपने लिए सत् या चेतना (बींग फार इट्सेल्फ और कांश्यसनेस)। स्वरूप-सत् अचेतन है। जगत् के सारे जड़ पदार्थों में स्वरूप-सत् है। जगत् की वस्तुओं को इसलिये स्वरूप-सत् कहा गया है कि वे जैसी हैं वैसी ही हैं। उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं, उनको कुछ बनना नहीं है। स्वरूप-सत् के विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि वह है। उसके बारे में हम यह नहीं कह सकते कि यह है भी और नहीं भी है। इस प्रकार का विभाजन स्वरूप-सत् के बारे में सम्भव नहीं है क्योंकि स्वरूप-सत् में अविभाज्य सत्ता की पूर्णता या भरितता (प्लेनीच्यूड) है। "स्वरूप-सत् हमारे उसके ज्ञान से कहीं अधिक है।[2]" निश्चित रूप से तो स्वरूप-सत् के बारे में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि स्वरूप-सत् है। (बींग इन इट्सेल्फ इज़)।

स्वरूप-सत् में सत् की जो तात्त्विक एकरूपता और पूर्णता है उसका अपने-लिये सत् अर्थात् चेतना में अभाव है। सार्त्र के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने-लिये-सत् या चेतना है। मनुष्य है, ऐसा हम कह सकते हैं, क्योंकि वह भी इस जगत् की अन्य वस्तुओं की तरह किसी स्थान पर रहता है। लेकिन मनुष्य के लिए हम सिर्फ वह 'है' इतना ही नहीं कह सकते, अपितु वह 'नहीं है' ऐसा भी कह सकते हैं। क्यों? इसीलिए कि मनुष्य के पास अपने भविष्य की योजना है। वह कुछ बनना चाहता है। उसको कुछ होना है। उसको जो होना है वह तो अभी तक हुआ नहीं है, इसलिए मनुष्य के बारे में 'वह नहीं है' ऐसा भी कहा जा सकता है। मनुष्य जो बनना चाहता है उससे ही उसका सच्चा स्वरूप प्रकट होता है। इसीलिये हम ऐसा भी कह सकते हैं कि मनुष्य जो 'नहीं है' वह है।

---

है उस मत का खुद सार्त्र ने त्याग कर दिया है। [See M. Warnock—**Existentialist Ethics** (Macmillan 1967) p. 39] सार्त्र के अनुसार भी जो मत सार्त्र का नहीं रहा है उस मत का निरूपण एवं मूल्यांकन करना इस निबंध के क्षेत्र से बाहर है, ऐसा सोचकर इस निबंध में केवल **Being and Nothingness** का ही आधार लिया गया है।

2. "The being of the phenomenon although coextensive with the phenomenon, cannot be subject to the phenomenal condition—which is to exist only in so far as it reveals itself—and that consequently it surpasses the knowledge which we have of it and provides the basis for such knowledge."—Sartre, **'Being and Nothingness,'** (Translated into English by Hazel E. Barnes, Philosophical Library, New York, 1956) P. III

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


सार्त्र के प्रमुख ग्रन्थ का शीर्षक है 'सत् एव शून्यता' (बींग एण्ड नथिंगनेस)। सार्त्र का वास्तववाद जगत् की प्रत्येक वस्तु और घटना को 'सत्' मानता है, लेकिन मनुष्य को निषेधक शून्यता में ही परिसमाप्त समझता है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य अपनी वर्तमान परिस्थिति को बदलकर भविष्यत् परिस्थिति के लिए प्रवृत्त होता है। भविष्यत् 'अब' नहीं है, अर्थात् शून्य है।[3] इस शून्य के कारण ही मनुष्य वर्तमान परिस्थिति को बदलने का या नष्ट करने का प्रयत्न करता है, अतएव वह निषेधक कहलाता है। अर्थात् मनुष्य निषेध करने वाली शून्यता रूप चेतना से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सार्त्र ने लिखा है कि "अगर मैं स्वरूप-सत् का आन्तरिक निषेध नहीं हूं तो क्या हूं? मैं जिसका निषेध करता हूँ वह स्वरूप-सत् यदि नहीं होता तो मैं शून्य में विलीन ही हो जाता।"[४] अर्थात् सार्त्र के अनुसार मनुष्य केवल शून्यता नहीं है लेकिन स्वरूप-सत् का निषेध करने वाली शून्यता (निहिलेटिंग नथिंगनेस) है।

सार्त्र के अनुसार मनुष्य का प्रत्येक कार्य उसकी स्वतंत्र पसंदगी का द्योतक है। कोई भी कर्म जगत् की परिस्थिति में परिवर्तन लाने के लिये ही होता है।[५] हम किस प्रकार का परिवर्तन लाना पसंद करेंगे, यह किसी भी रूप में निर्धारित नहीं है। अर्थात् यह पसंदगी पूर्णतः स्वतंत्र है। अपने भविष्य को पसंद करने की संपूर्ण स्वतंत्रता से मनुष्य किसी भी परिस्थिति में मुक्त नहीं हो सकता। एक कैदी को भी जेल में ही रहने की या जेल से भागने का प्रयत्न करने की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार किसी भी परिस्थिति में किसी भी प्रकार का कर्म करने वाला मनुष्य उस कर्म के लिये अपने उत्तरदायित्व को टाल नहीं सकता। स्वतन्त्र होना, अपनेपन को पाने के लिए निरन्तर प्रवृत्त होना और इसके लिये जिम्मेदार होना अनिवार्य है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य के लिये यह अनिवार्यता मनुष्य का बड़ा दुर्भाग्य हैं।[६]

सार्त्र ने लिखा है कि ऐसा नहीं है कि मनुष्य कभी दास है और कभी स्वतन्त्र, वह तो सदैव सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र ही है।[७] मनुष्य के कई कर्म स्वतन्त्र नहीं होते,

---

3. "The motive is understood only by the end, that is, by the non-existent. It is therefore in itself a negatite". Ibid. p. 437.
4. "But what am I if not a certain interest, negation of the in-itself ? Without this In-itself which I deny, I should vanish into nothingness." Ibid. p. 506.
5. "an act is a projection of the for-itself towards what is not" Ibid. p. 435.
6. "I am condemned to be free. This means that no limits to my freedom can be found except freedom itself or, if you prefer, that we are not free to cease being free." Ibid. p. 439.
7. "Man cannot be sometimes slave and sometimes free; he is wholly and forever free......" Ibid. p. 441.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


आवेशों से नियत होते हैं। ऐसी मान्यता के विरुद्ध सार्त्र ने कहा है कि आवेश का बल अपनी स्वतन्त्र पसंदगी का ही फल होता है।

सार्त्र के अनुसार आंतरिक हेतु को भी मनुष्य के कार्य का प्रेरक मानना सही नहीं है, क्योंकि स्वतंत्र पसंदगी के अनुसार ही कोई हेतु अपना आंतरिक हेतु बन सकता है। इसी प्रकार वाह्य वास्तविक परिस्थिति भी मनुष्य की किसी प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकती क्योंकि अपने भविष्य की योजना के संदर्भ में ही मनुष्य अपनी वास्तविक परिस्थिति को देखता है और उस योजना के संदर्भ में ही स्पष्ट हुई दृष्टि के अनुसार वह कर्म करता है। भविष्य की योजना की पसंदगी में भी कोई कारण नहीं। यह पसंदगी केवल निरपेक्ष स्वातंत्र्य की ही अभिव्यक्ति है।

सार्त्र ने लिखा है कि, "मैं किसी भी मूल्य को पसंद करता हूँ, उसका कोई भी कारण नहीं। क्योंकि मूल्य मेरी पसंदगी के कारण ही अस्तित्व में आता है।[१०] इससे यह स्पष्ट होता है कि सार्त्र के अनुसार मनुष्य की मूल्य-दृष्टि उसकी पसंदगी का कारण नहीं बल्कि परिणाम है।

सार्त्र का यह विशेष प्रतिपादन है कि पसंदगी के क्षण में मनुष्य अपनी भूतकालीन आंतरिक या बाह्य स्थिति के प्रभाव से मुक्त है। वह पूर्ण स्वातंत्र्य से अस्तित्व-शून्य भविष्य को पसंद करता है।[११] इसलिये आनुवंशिकता, वातावरण, शिक्षा, शारीरिक स्थिति, संस्कार इत्यादि के आधार पर मनुष्य की प्रवृत्ति की व्याख्या करने के प्रयत्न को सार्त्र नितांत भ्रामक मानते हैं और कहते हैं कि ये सब व्याख्या के केवल प्रमुख उपकरण ही हैं।[१२] इस संदर्भ में सार्त्र ने फ्रायड के इस सिद्धान्त की आलोचना की है कि मनुष्य की प्रवृत्ति अचेतन मन से निर्धारित होती है।[१३]

सार्त्र स्वातंत्र्य को पसंदगी के स्वातंत्र्य के रूप में ही देखते हैं। सार्त्र के अनुसार पसंदगी के स्वरूप-सम्बन्धी दो बातें खास ध्यान देने योग्य हैं :

---

8. See Ibid. p. 442–450.
9. "Actually causes and motives have only the weight which my project—i.e. the free production of the end and of the known act to be realized—confers upon them." Ibid. p. 450–51.
10. "nothing, absolutely nothing, justifies me in adopting this or that particular value, this or that particular scale of values. As a being by whom values exist, I am unjustifiable." Ibid. p. 34
11. "Freedom is the human being putting his past out of play by secreting his own nothingness." Ibid. p. 28.
12. "The great explanatory idols of our epoch." Ibid. p. 559.
13. See Ibid. p. 573–74.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


१. पसंदगी मनस्तरंगरूप नहीं है, २. पसंदगी चिंतन का परिणाम-रूप नहीं है।

१. सार्त्र के अनुसार, 'मनुष्य की पसंदगी पूर्णतः स्वतंत्र है' यह कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह मनस्तरंग-रूप है। सार्त्र ने लिखा है कि मनुष्य एक इकाई है, समूह मात्र नहीं।[१४] अर्थात् मनुष्य का कोई भी कर्म अपने भविष्य की योजना का अंशरूप होता है और व्यक्ति की मूलभूत योजना का अंशरूप होता है। यदि हम व्यक्ति की मूलभूत योजना को जान सकें या उसकी थाह पा सकें तो हम इसकी नितांत तुच्छ एवं निरर्थक प्रतीत होने वाली प्रवृत्तियों का भी महत्व पा सकते हैं।[१५] २. सार्त्र के अनुसार मनुष्य की चेतना वैचारिक (रिफ्लेक्टिव) और अवैचारिक (नॉन-रिफ्लेक्टिव) होती है। मनुष्य अपने भविष्य की योजना की पसंदगी अवैचारिक चेतना से करता है। वैचारिक चेतना का यह सामर्थ्य नहीं कि वह मनुष्य को कार्य-प्रवृत्त करे। सार्त्र के अनुसार अवैचारिक स्थिति में की गयी पसंदगी के अभाव में विचार सम्भव ही नहीं क्योंकि "प्राथमिक पसंदगी के सन्दर्भ में अर्थ-घटन करना, यही विचार के लिए करणीय है।"[१६]

यह कहा जा चुका है कि सार्त्र के अनुसार मनुष्य निषेधक-शून्यता रूप है। अर्थात् मनुष्य स्वरूप-सत् की तरह सत्ता से पूर्ण नहीं है, अपितु सत्ताविहीन है, इसलिए मनुष्य की मूलभूत योजना या अंतिम ध्येय स्वरूप-सत् की सत्तात्मकपूर्णता को पाना होता है।[१७]

स्वरूप-सत् सत्ता-भरित है लेकिन चेतना-विहीन है। इस सत् का तो मनुष्य निषेध करता है। इसलिए मनुष्य जो स्वरूप-सत् बनना चाहता है वह शुद्ध स्वरूप-सत् नहीं है।[१८] मनुष्य एक मूल्य के रूप में स्वरूप-सत् बनना चाहता है, अर्थात् मनुष्य अपनी चेतना को छोड़ना नहीं चाहता। वह चेतन रहकर ही चेतना के शून्य स्वरूप को नष्ट करके सत्-स्वरूप की सत्ता-पूरितता का अनुभव लेना चाहता

14. "Man is a totality and not a collection." Ibid. p. 568
15. "He expresses himself as a whole in even his most insignificant and his most superficial behavior." Ibid. p. 568.
16. "A deliberation requires an interpretation in terms of an original choice." Ibid. p. 461–62.
17. "The end and the goal of the nihilation which I am is the in-itself. Thus human reality is the desire of being-in-itself." Ibid. p. 565–66
18. "The in-itself which it desires cannot be pure contingent, absurd in-itself, comparable at every point to that which it encounters and which it nihilates." Ibid. p. 566.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


है। अर्थात् मनुष्य ईश्वर बनना चाहता है।[१६] अपनी यह कामना पूरी करने के लिए मनुष्य कला, विज्ञान, सामाजिक सम्बन्ध इत्यादि के द्वारा हर प्रकार का प्रयत्न करता है, लेकिन ये सब निरर्थक हैं। मनुष्य की ईश्वर बनने की आकांक्षा कभी भी पूरी नहीं हो सकती क्योंकि जो स्वरूप-सत् की सत्ता से आपूर्ण होता है वह चेतन नहीं होता और जो मनुष्य की तरह चेतन होता है वह शून्य से नहीं बचता। शून्यता चेतना की अनिवार्य सहचरी है। इसका मतलब यह हुआ कि ईश्वर का विचार आत्म-व्याघाती है। ईश्वर को पाने का मनुष्य का प्रयत्न बेकार है।[२०]

सार्त्र के अनुसार मनुष्य का सार्वत्रिक स्वभाव ऐसा है कि वह ईश्वर बनने के ध्येय को स्वीकार करता है, लेकिन इस ध्येय को स्वीकारना अनिवार्य नहीं है। मनुष्य के पास ईश्वर का प्रतिकार करने की भी सामर्थ्य है। सार्त्र के 'दि फ्लाईज़' नामक नाटक का हीरो (ओरिस्टीज़) ज्युपिटर (गॉड) से कहता है, "ज्युपिटर, मैं मनुष्य हूँ और हरेक मनुष्य को अपना रास्ता निकालना होता है.........तुम्हारे और मेरे बीच क्या है? दो नौकाओं की तरह हम एक-दूसरे से गुज़र जायेंगे।.........तुम ईश्वर हो तो मैं स्वतन्त्र हूँ। अपनी व्यथा (एंग्विश) में हम दोनों समान रूप से अकेले ही हैं।"[२१] जब मनुष्य अपने ध्येय की सिद्धि की आशा छोड़कर ईश्वर का प्रतिकार करता है तब उसमें 'आमूल परिवर्तन' आता है। इस परिवर्तन से मनुष्य को स्पष्टरूप से यह प्रतीत होता है कि सब मूल्य उसके कारण ही अस्तित्व में आते हैं। तो वह अपनी स्वतन्त्रता को ही निरपेक्ष एवं सर्वोत्तम मूल्य क्यों न बना ले?[२२]

इस प्रकार स्वातन्त्र्य को ही महा मूल्य के रूप में स्वीकार ने से मानवीय परिस्थिति बदल नहीं जाती, लेकिन ईश्वर बनना असम्भव हो जाता है। इस हकीकत के कारण जो हताशा आती है उससे तो मनुष्य मुक्त हो जाता है और ओरेस्टस की तरह कह सकता है कि 'अब मैं अनियंत्रित हूँ, मैं अपने तथाकथित दुष्कृत्यों के होते हुए भी

19. "To be man means to reach towards being God. Or if you prefer, man fundamentally is the desire to be God," Ibid p. 566
20. "The idea of God is contradictory and we lose ourselves in vain. Man is a useless passion.", Ibid. p. 615
21. "I am a man Jupeter, and every man has to find his own way......what is there between you and me? We shall pass by each other like two ships......you are a god, and I am free: we are equally alone in our anguish."--Quoted by K. F. Beinhardt : **The Existentialist Revolt** (Second Edition, New York, 1960) p. 173.
22. See Sartre : op. cit., p. 627.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


स्वातन्त्र्य के गौरव में मस्त हूँ।"[२३] इससे यह स्पष्ट होता है कि एक सर्वसत्ताधीश के अभिमान के साथ अपने स्वातन्त्र्य में प्रतिष्ठित रहने में ही सार्त्र के अनुसार मनुष्य का गौरव है। इस प्रकार के गौरव को ही सार्त्र की नीतिमीमांसा में मनुष्य का परम लक्ष्य माना गया है। सार्त्र ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि "स्वातन्त्र्याभिमानी व्यक्ति अकेला अकेला शराब पीता रहे या राष्ट्रों का नेता बने, इससे कोई फरक नहीं पड़ता।"[२४]

## II सार्त्र के स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन

सार्त्र की स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचारणा का तत्त्वज्ञान के इतिहास में मौलिकता की दृष्टि से बड़ा भारी महत्त्व है, क्योंकि जहां तक हमारी जानकारी है आज तक किसी भी तत्त्वचिंतक ने नियतिवाद का आत्यन्तिक निषेध करके पूर्ण स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन करने की चेष्टा नहीं की।

सार्त्र की मौलिकता की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भौतिकवाद के साथ मनुष्य के पूर्ण स्वातन्त्र्य को जोड़ने का प्रयत्न आज तक किसी ने नहीं किया। भौतिकवाद के साथ स्वातन्त्र्य को किस प्रकार जोड़ा जा सकता है और इस विचित्र योग से किस प्रकार का संसार बनता है, इसका सुन्दर चित्र देकर सार्त्र ने केवल अपनी कल्पना-शक्ति या सर्जन-शक्ति का परिचय ही नहीं दिया है बल्कि साथ में एक वैचारिक क्रांति की घोषणा भी की है। सार्त्र की मौलिकता की कदर करते हुए भी हम इस घोषणा को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि सार्त्र की स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचारणा के सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित आपत्तियां हैं:—

१. सार्त्र चेतना को शून्यता रूप समझते हैं और फिर ऐसा बताते हैं कि शून्यता का स्वातन्त्र्य शून्य रूप ही रहता है। इससे कोई सत्ता का सर्जन नहीं होता। निष्कर्ष तो सही है लेकिन दोष आधार-वाक्य में ही है। चेतना शून्य-रूप नहीं है, चेतना तो सर्जनात्मक है। मानव-संस्कृति का इतिहास चेतना की सर्जनशक्ति को सिद्ध करता है। सार्त्र के तत्त्व-चिंतन और साहित्य से भी क्या सिद्ध होता है? फिर भी सार्त्र चेतना को सर्जनात्मक नहीं मानते। हमारी राय में सार्त्र के इस मंतव्य के मूल में प्रच्छन्न भौतिकवाद है। सार्त्र ने लिखा है कि "ऐसा मालूम होता है मानो स्वरूप-सत् ने अपने को पाने की (अपने को समृद्ध बनाने की) योजना

---

23. "I am condemed henceforth to accept no other law but my own......My crime belongs to me, I claim it as my own in the face of the light of the sun, it is my pride and the mainstay of my existence."--Quoted by K. F. Reinhardt : Op. cit., p. 172.
24. "Thus it amounts to the same thing whether one gets drunk alone or is a leader of nations." Sartre : op. cit., p. 627.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


बनायी और अपने को अपने-लिये-सत् का रूप दिया। तत्त्वमीमांसक का कर्त्तव्य है कि वह कुछ ऐसा उप सिद्धान्त प्रस्तुत करे जिससे इस निरपेक्ष घटना का हम यथार्थ ज्ञान कर सकें।[२५] सार्त्र के इस मंतव्य से यह स्पष्ट होता है कि चेतना का प्रादुर्भाव किसी भी तरह स्वरूप-सत् या जड़ तत्त्व से हुआ है, ऐसा सार्त्र बताना चाहते हैं। यह कार्य उनसे होने वाला नहीं था, क्योंकि स्वरूप-सत् को कुछ पाना या होना है, ऐसा कहने में असंगति आती है, क्योंकि सार्त्र का स्वरूप-सत् सत्ता से पूर्ण एवं अचेतन है, और जो सत्ता संभरित एवं अचेतन है वह कोई भी योजना कैसे बना सकती है? इसलिए उन्होंने ऐसा कहना पसंद किया है कि चेतना स्वरूप-सत् का निषेध मात्र है।[२६]

किन्तु स्वयं यह चेतना अन्तःशून्य है। वह अनिवार्यतः विषयों की ओर ही अनुधावन करती है। इस प्रकार वह भौतिकता का विकार या उसकी प्रतिच्छाया (एपिफिनोमिना) नहीं होते हुए भी विषयों से आपूरित और उन्हीं की ओर उद्दिष्ट रहती है। इस प्रकार सार्त्र एक भिन्न प्रकार से भौतिकवाद में ही जा फँसते हैं।

सार्त्र भौतिकवादी हैं या नहीं इस बात में शंका हो सकती है, क्योंकि सार्त्र ने नियतिवाद का बिल्कुल निषेध किया है और चेतना के अनिवार्य स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन किया है। स्वातन्त्र्य जरूर मूल्यवान् है लेकिन अगर यह स्वातन्त्र्य शून्यता का स्वातंत्र्य ही हो तो इससे हम हताशा के सिवा कुछ नहीं पा सकते।

२. सार्त्र की स्वातंत्र्य सम्बन्धी विचारणा में दूसरी आपत्ति यह है कि उन्होंने सब प्रकार की नियति का आत्यंतिक निषेध करके स्वातंत्र्य को नैतिक या तात्त्विक दृष्टि से बिल्कुल अर्थविहीन बना दिया है। सार्त्र इस बात का स्वीकार करते हैं कि मनुष्य हमेशा जन्म-स्थान, वातावरण, आसपास के लोग इत्यादि से निर्धारित परिस्थिति में होता है। यह परिस्थिति क्यों है, यह हम कह नहीं सकते।[२७] लेकिन इस परिस्थिति की बिल्कुल उपेक्षा करके हम अपने भविष्य की योजना बना सकते हैं। योजना बनाने में हम पूर्ण स्वतंत्र हैं लेकिन योजना की सिद्धि का आनंद हमें कभी मिलने वाला नहीं है, क्योंकि हमारी योजना हमेशा हमें जो प्राप्त होता है उसका निषेध करके शून्यरूप भविष्य की ओर होती है। इसलिए फल की आशा से नहीं लेकिन स्वातंत्र्य की सिद्धि के लिए ही हमें चुनाव करना चाहिये। सार्त्र के इस

---

25. "Everything takes place as if the in-itself in a project to found itself gave itself the modification of the for-itself. It is upto metaphysics to form the hypotheses which will allow us to conceive of this process as the absolute event." Ibid. p. 621.
26. "Nothing but the pure nihilation of the In-itself; it is like a hole of being at the heart of Being." Ibid. p. 617.
27. See Ibid. p. 83.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


मंतव्य को हमारे नैतिक जीवन के वास्तविक अनुभव का कोई समर्थन नहीं है और इसलिए इस सिद्धान्त में इस अनुभव के स्पष्टीकरण करने का सामर्थ्य नहीं है। कर्म के नियम में यह सामर्थ्य है। इस नियम के अनुसार मनुष्य को जो परिस्थिति मिलती है वह उसके भूतकालीन स्वतंत्र कर्मों से नियत है। मनुष्य इसे बदल नहीं सकता लेकिन इसके आधार पर ही अपने भविष्य की योजना बना सकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भविष्य भूतकाल से नियत है। भूतकाल से वर्तमान नियत होता है और हम अपने नियत वर्तमान को लेकर अपनी स्वतंत्र और सर्जनात्मक चेतना से अपनी भविष्य की योजना बना सकते है।

इस तरह भविष्य मुख्यतः हमारे वर्तमान स्वातंत्र्य से नियत होता है। इस प्रकार कर्म के नियम में स्वातंत्र्य के साथ नियति के विचार को जोड़ दिया गया है। कर्म का नियम नैतिक और तात्त्विक दृष्टि से स्वीकार्य है क्योंकि यह नियम हमारे नैतिक अनुभव का स्पष्टीकरण कर सकता है। सार्त्र के सिद्धाँत में यह सामर्थ्य नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सार्त्र जिस स्वातंत्र्य की बात कर रहे हैं वह स्वातंत्र्य केवल मनस्तरंग मात्र है। चयन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए सार्त्र ने यह बताने का कष्ट उठाया है कि मनुष्य की छोटी-मोटी पसंदगी मनस्तरंग रूप नहीं होती बल्कि अपने भविष्य की योजना का अंगरूप होती है। जिस प्रकार हमारा छोटा-मोटा चयन भविष्य की योजना के साथ सम्बद्ध है उसी प्रकार हमारी भविष्य की योजना भी हमारी वर्तमान परिस्थिति और हमारे स्वभाव के संदर्भ में नियत होने वाले हमारे संभाव्य विकास के साथ संबद्ध होती है, अर्थात् नियति के आत्यंतिक निषेध के रूप में पूर्ण स्वातंत्र्य संभव नहीं है। पूर्ण स्वातंत्र्य के प्रतिपादन के उत्साह में सार्त्र ने इस बात पर ध्यान नहीं देकर अपनी विचारणा को अवास्तविक बना दिया है। सार्त्र जैसे फिनोमिनलाजिकीय पद्धति के आग्रही व्यक्ति के लिए जो स्पष्ट रूप से अनुभवगत है उसकी अवमानना बड़ा अपराध है।

३. सार्त्र की विचारणा के सम्बन्ध में तीसरी आपत्ति यह है कि उन्होंने स्वतंत्र चुनाव को अवैचारिक मानकर स्वातंत्र्य को बिल्कुल अबौद्धिक बना दिया है। वास्तव में स्वातंत्र्य का बौद्धिकता के साथ घनिष्ठ संबंध है क्योंकि स्वातंत्र्य का बुद्धिपूर्वक उपयोग करने से ही मनुष्य को प्रेयस् और श्रेयस् की प्राप्ति होती है। सार्त्र का कहना है कि हम चुनाव के लिये बौद्धिक विचार करना शुरू करते हैं, इसके पहले अवैचारिक चेतना में चुनाव हो चुका होता है।[२८]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रीकृष्ण की राय सुनकर नहीं बल्कि उससे पहले ही अर्जुन ने युद्ध करने का निश्चय कर लिया था। सार्त्र का यह मंतव्य अगर सत्य होता तो "चिंतन के बाद भी चुनाव कठिन है"—ऐसा कहना असंभव होता।

---

28. "When I deliberate, the chips are down." Ibid. p. 451.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


चाहिये, लेकिन हम सब जानते हैं कि कई बार चयन कठिन होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हरेक चुनाव अवैचारिक या अबौद्धिक नहीं होता। हमारी राय में अबौद्धिक चुनाव का प्रत्यय आत्मव्याघाती है क्योंकि 'अबौद्धिक चुनाव' 'आवेगों के नियंत्रण' का ही दूसरा नाम है। सार्त्र नियतिवाद के तो कट्टर विरोधी हैं किन्तु फिर भी चुनाव को वे अबौद्धिक ही समझते हैं। उनका प्रच्छन्न भौतिकवाद ही शायद इस विचित्रता का कारण है।

४. सार्त्र की विचारणा के विरुद्ध चौथी आपत्ति यह है कि उन्होंने ईश्वर बनने की इच्छा को मनुष्य का सर्वसामान्य ध्येय माना है लेकिन इस ध्येय को व्याघाती समझकर उसको आखिर में सर्वथा अर्थविहीन बना दिया है। "अस्तित्व धर्म से पहले है" (एग्ज़िस्टेंस प्रिसीड्ज़ एसेंस) को मानने वाले अस्तित्ववादी चिंतक होते हुए भी सार्त्र ने मनुष्य के इस सर्वसामान्य ध्येय को स्वीकार किया है। यह सार्त्र की सूझ एवं उनके फिनामिनलाजिकीय विश्लेषण की बड़ी सिद्धि है। सार्त्र की यह सिद्धि उनके प्रच्छन्न भौतिकवादी पूर्वाग्रह के कारण बिल्कुल असफल सिद्ध होती है। इस पूर्वाग्रह के कारण सार्त्र ईश्वर के विचार को व्याघाती मानते हैं। सार्त्र का कहना है–जो सत्तासंपन्न होता है वह चेतन नहीं होता और जो चेतन होता है वह सत्ता का अभाव रूप ही होता है। लेकिन क्यों ? इस प्रश्न का यही उत्तर हो सकता है कि हम चेतना को छोड़कर केवल भौतिकता को ही सत्ता का अन्तिम स्वरूप मानते हैं, और चेतना को बिल्कुल निषेधात्मक ही समझते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि सार्त्र ने ईश्वर के विचार में व्याघात का जो आरोप किया है वह 'पूर्वस्वीकृति के साथ असंगति' का ही दूसरा नाम है। अगर निष्पक्ष तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो इस बात को स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती कि 'नित्यतृप्त चेतन ईश्वर' एवं 'सच्चिदानंद आत्मा' का विचार चौकोर वर्तुल के विचार की तरह व्याघाती नहीं है। सार्त्र जो ईश्वर की बात कर रहे हैं इस प्रकार के ईश्वर का अस्तित्व अनुभव की दृष्टि से भी असंभव नहीं है, क्योंकि मनुष्य को अपने जीवन में कई बार शून्यता एवं कृतार्थता का अनुभव भी होता है।

(५) सार्त्र की स्वातंत्र्य-सम्बन्धी विचारणा के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि उन्होंने चुनाव के स्वातंत्र्य को महत्त्वपूर्ण बनाने वाले तत्त्व का ही उच्छेद कर दिया है। चुनाव का स्वातंत्र्य इसलिये नैतिक महत्व रखता है कि इस स्वातंत्र्य के कारण ही हम अपने नैतिक उत्कर्ष या नैतिक अधःपतन के लिए ज़िम्मेदार होते हैं। वस्तुमूलक नैतिक मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करने से हमारा नैतिक उत्कर्ष होता है और उन मूल्यों की अवमानना करने से नैतिक अधःपतन। मूल्यों का आदर करना या अवमानना करना हमारे स्वतंत्र चुनाव पर आधारित है इसलिये स्वतंत्र चुनाव नैतिक दृष्टि से अत्यंत महत्व रखता है। सार्त्र की विचारणा में नैतिक चुनाव का यह नैतिक महत्व आ ही नहीं सकता, क्योंकि वे मूल्यों को वस्तुमूलक मानते ही नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


उनका अभिप्राय तो यह है कि मनुष्य का मूल्य स्वतंत्र चुनाव से ही पैदा होता है। अगर मनुष्य ईश्वर बनने की इच्छा का त्याग कर दे तो उस इच्छा में कोई मूल्य नहीं रहता। ईश्वर का विचार व्याघाती होने के कारण उस इच्छा को छोड़कर अपनी स्वतंत्रता को ही मूल्यवान् बनाकर अपने मनचाहे जीवनमार्ग में नियुक्त रहने में ही मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है। सार्त्र के इस अभिप्राय को अगर हम चुनाव के स्वातंत्र्य के नैतिक महत्व की दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट होता है कि सार्त्र ने केवल स्वैरविहार का ही पुरस्कार किया है और यह भ्रम पैदा किया है कि इससे स्वातंत्र्य के महा मूल्य की सिद्धि होती है। वास्तव में पसंदगी के स्वातंत्र्य का कोई निरपेक्ष मूल्य है ही नहीं क्योंकि इस स्वातंत्र्य से मनुष्य वस्तुमूलक मूल्यों का अनादर भी कर सकता है। स्वातंत्र्य शब्द का प्रयोग अगर मोक्ष के अर्थ में किया जाय तो स्वातंत्र्य सर्वोच्च मूल्य है, लेकिन सार्त्र ने स्वातंत्र्य का विचार मोक्ष के रूप में नहीं किया है। वे केवल पसंदगी के स्वातंत्र्य की ही बात कर रहे हैं और इस प्रकार के स्वातंत्र्य को मूल्यरूप नहीं माना जा सकता। ओरेस्टिस के समान सार्त्र-मान्य मुक्त मनुष्य अपने स्वैरविहार को स्वातंत्र्य की मूल्यसिद्धि के नाम से और अपनी हताशा को मनुष्य के गौरव के नाम से पुकारकर मिथ्याभिमान में रहता है। हमें तो ऐसा लगता है कि सार्त्र ने जिसको आत्मप्रपंच (बैड फेथ) कहा है उसका ही एक ज्वलंत उदाहरण सार्त्र के मुक्त पुरुष में मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चुनाव का स्वातंत्र्य जो नैतिक महत्व रखता है उसकी बड़ी-बड़ी बातें करके सार्त्र ने आखिर में स्वैरविहार या 'आवेग के नियंत्रण' का ही प्रतिपादन किया है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि सार्त्र का 'मूलभूत आयोजन' (फंडामेंटल प्रोजेक्ट) प्रच्छन्न भौतिकवादी का ही है।

सार्त्र की स्वातंत्र्य संबंधी विचारणा में उपर्युक्त आपत्तियां हैं लेकिन इससे इस विचारणा का महत्व नष्ट नहीं होता बल्कि बढ़ता है, क्योंकि इससे भौतिकवाद और स्वातंत्र्य को एकसाथ लेने से पैदा होने वाली विचित्रताओं का सुन्दर चित्र सार्त्र जैसे समर्थ साहित्यकार से हमें मिलता है। इस चित्र से तत्त्वज्ञान के इतिहास में पुनः और नये ढंग से यही सिद्ध होता है कि स्वातंत्र्य का सफल विचार जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव में हो ही नहीं सकता। अगर हम अध्यात्मवादी नहीं हैं तो हमें स्वातंत्र्य का मोह रखना नहीं चाहिये, क्योंकि स्वातंत्र्य संबंधी भौतिकवादी विचारणा अनिवार्य रूप से व्याघाती ही होती है।

**गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# प्रकृति के नियम*

धर्मेन्द्रकुमार

प्रकृति के वैज्ञानिक अन्वेषण को प्रकृति के नियमों की खोज भी कहा जा सकता है। भविष्य की तथा अन्य अदृष्ट प्राकृतिक घटनाओं आदि का अनुमान भी विज्ञान का एक कार्य है, किन्तु इस अनुमान के लिए उन घटनाओं आदि के नियमों का ज्ञान आवश्यक है। प्रकृति के नियम ही तो प्रकृति के अदृष्ट अंशों के अनुमान का आधार हो सकते हैं। प्रकृति के सब नियम एक ही प्रकार के नहीं होते। गुरुत्वाकर्षण का नियम, परमाणुओं तथा उनके अंशों की प्रक्रियाओं के नियम तो उस प्रकार के नहीं जिस प्रकार के तापमान-वृद्धि के साथ धातुओं के विस्तार के नियम अथवा प्रकाश में हरे पौधों के विकास के नियम हैं। विभिन्न धातुओं तथा अन्य पदार्थों के गुणों की खोज प्रकृति के नियमों की ही खोज है। सभी प्रकार के उपयोगी यन्त्रों के आविष्कार-कर्ता तथा औद्योगिक वैज्ञानिक भी प्रकृति के नियमों की ही खोज करते हैं, यद्यपि वैज्ञानिक व्याख्या में इस प्रकार के नियमों की उपयोगिता सीमित होती है। प्राकृतिक विज्ञान का यह स्वरूप स्वीकार करते ही इस में प्राकृतिक नियम के प्रत्यय की प्राथमिकता स्पष्ट हो जाती है।

दार्शनिकों ने प्रकृति के नियम के प्रत्यय के विश्लेषण की ओर विशेष ध्यान लगभग १९४८ के आसपास से ही देना आरम्भ किया था। यह तो 'नियम' की परिभाषा से ही अनिवार्य हो जाता है कि यदि यह **नियम** है कि तापमान-वृद्धि से ताम्रपत्र की लम्बाई में वृद्धि होती है तो यह **सत्य** है कि तापमान-वृद्धि से ताम्रपत्र की लम्बाई में वृद्धि होती है। परन्तु यह सम्भव है कि आज हम जिसे प्रकृति का नियम समझते हैं वह कल असत्य प्रमाणित हो। समकालीन वैज्ञानिकों का दृढ़ विश्वास है कि वे प्रकृति के ऐसे बहुत से निमम जानते हैं जिनके नियम होने में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं है। आंग्ल भाषा में शिक्षित अधिकतर समकालीन दार्शनिकों की धारणा इसके बिल्कुल विपरीत है। वे ह्यूम से सहमत हैं कि विज्ञान का कोई सामान्य

---

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के उन्नीसवें वार्षिक अधिवेशन (१७–१९ नवम्बर, १९७४, पूना विश्वविद्यालय) में तर्क एवं वैज्ञानिक-पद्धति विभाग के अध्यक्ष–पद से भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


(यूनीवर्सल) कथन, जिसके अदृष्ट उदाहरण (इन्स्टांसिज़) हों, निस्संदिग्ध सत्य हो ही नहीं सकता। यदि नियम होने के लिए सत्य होना आवश्यक है तो यह स्पष्ट है कि ऐसा कोई कथन नहीं जिसे ये दार्शनिक निस्सन्दिग्ध रूप से प्रकृति का नियम मान सकें। ह्यूम का मत प्रायः इस प्रकार व्यक्त किया जाता है कि भूत तथा वर्तमान की दृष्ट घटनाओं के आधार पर भविष्य की अदृष्ट घटनाओं के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु सामान्य कथन की सत्यता के लिए भावी उदाहरणों तथा भूत उदाहरणों की सत्यता समान रूप से आवश्यक है। यदि भविष्य की तथा अन्य अदृष्ट घटनाओं के सम्बन्ध में कुछ भी निस्सन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता तो किसी भी सामान्य कथन का सत्य होना असंदिग्ध नहीं हो सकता, यदि उसके अदृष्ट उदाहरण हो सकते हों तो। ह्यूम ने जो युक्तियां कारण-कार्य के सम्बन्ध के बारे में दी हैं वे समान रूप से उन सभी प्रकार के कथनों पर लागू होती हैं जिन्हें वैज्ञानिक प्रकृति के नियम कहते हैं। यद्यपि चीनी का गन्धहीन होना भी प्रकृति का नियम है, किन्तु यह नियम उन दो प्रकार की घटनाओं के सम्बन्ध में नहीं है जिनकी चर्चा ह्यूम ने की है। जहां तक दृष्ट उदाहरणों के आधार पर अदृष्ट उदाहरणों अथवा उनके सहित सभी उदाहरणों की असंदिग्धता का प्रश्न है, प्रकृति के सभी तथाकथित नियम समान हैं। यदि इस प्रकार के सभी सामान्य कथनों की सत्यता संदिग्ध हो तो 'नियम' की परिभाषानुसार कोई भी कथन प्रकृति का नियम हो सकता है, इसमें सन्देह है।

प्रकृति के नियम के प्रत्यय के विश्लेषण की समस्या यह मानने से विलीन नहीं हो जाती कि किसी भी कथन को निस्सन्दिग्ध-रूप से प्रकृति का नियम नहीं कहा जा सकता। नियम होने के लिए इन कथनों का सत्य होना आवश्यक भी है और अधिकतर दार्शनिकों के विचार में संदिग्ध भी है। किन्तु प्रकृति सम्बन्धी सामान्य कथन का सत्य होना प्रकृति का नियम होने के लिए पर्याप्त नहीं है। यह सत्य है कि पृथ्वी पर कोई पर्वत-शिखर एवरेस्ट से अधिक ऊंचा नहीं है, परन्तु यह सामान्य कथन सत्य होते हुए भी प्रकृति का नियम नहीं कहा जा सकता। सत्यता के अतिरिक्त अन्य कौनसी विशेषताएं प्रकृति का नियम होने के लिए आवश्यक हैं? इन विशेषताओं को सत्यता से अलग रखने के लिए आजकल बहुत से दार्शनिक नियम-वाक्यों के बजाय नियमरूप वाक्यों की चर्चा करते हैं। नियमरूप कथन वे हैं जिनके नियम होने के लिए केवल सत्य होना आवश्यक है। एवरेस्ट सम्बन्धी उपर्युक्त कथक के नियमरूप न होने का कारण यह बताया जा सकता है कि यद्यपि इसका आकार सामान्य कथन का है किन्तु यह कथन एक प्रकार से एवरेस्ट के बारे में है जो एक वस्तु-विशेष अथवा विशेष्य है। यह भी कहा जा सकता है कि इसकी सामान्यात्मकता पृथ्वी तक सीमित है। ऐसे उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए कई विचारकों ने कहा है कि नियमरूप वाक्य के लिए यह आवश्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


है कि उसमें किसी विशेष्य का नाम न हो तथा सभी विशेषण विशुद्ध विशेषण हों जिससे उनकी आड़ में किसी विशेष्य का नाम प्रच्छन्न रूप में भी न हो।

इस विशेषता को स्वीकार करने में संकोच हो सकता है क्योंकि कुछ कथन इस विशेषता के अभाव में भी भौतिक विज्ञान में नियम कहलाते हैं। ग्रहों की सूर्य-परिक्रमा के नियम इस प्रकार के हैं क्योंकि सूर्य एक विशेष्य है। इन कथनों को नियमरूप मान कर कई विचारक यह कहते हैं कि प्रकृति सम्बन्धी नियमरूप कथन दो प्रकार के हैं। केप्लर के कथन स्वयं तो एक विशेष्य के बारे में हैं, किन्तु वे न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के नियम तथा गति के नियमों से निगमनीय (डिड्यूसीबल) हैं और ये आधारभूत नियम नितान्त सामान्य हैं जिनको व्यक्त करने वाले वाक्यों में किसी विशेष्य का नाम नहीं तथा सभी विशेषण विशुद्ध विशेषण हैं। यह सुझाव स्वीकार करने के लिए यह निश्चय करना पड़ेगा कि केप्लर की श्रेणी के वाक्यों के निगमन के लिए आधारभूत नियम–वाक्यों के अतिरिक्त किस प्रकार के वाक्य निषिद्ध नहीं हैं। इस कठिनाई से बच कर केप्लर के कथनों को नियमरूप मानने के लिए यह कहा जा सकता है कि ये नियम सभी सौर मण्डलों के बारे में हैं। इस प्रकार इन कथनों को व्यक्त करने वाले वाक्यों में 'सूर्य' किसी विशेष्य का नाम नहीं है, वह तो दो विशेष्यों के सम्बन्ध को व्यक्त करता है जैसे 'मां' शब्द दो व्यक्तियों के सम्बन्ध को, यद्यपि शिशु इसे एक विशिष्ट व्यक्ति का नाम ही समझता है। इस धारणा के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि केप्लर ने वास्तव में अन्य सौरमण्डलों के बारे में कोई दावा नहीं किया। किन्तु यह मानना उचित है कि केप्लर के नियम एक प्रकार के भौतिक परिवार, अर्थात् हमारे सौरमण्डल के प्रकार के सभी परिवारों के बारे में हैं। केप्लर के नियम-वाक्यों में 'सूर्य' को विशुद्ध विशेषण मानने के लिए यही पर्याप्त है।

परन्तु उपर्युक्त निषेध प्रकृति-सम्बन्धी सामान्य वाक्यों को नियमरूप बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। 'समुद्रतल अथवा निचले धरातल से पांच सौ मीटर से अधिक ऊंचा कोई पर्वत-शिखर नहीं है' यह ऐसा वाक्य है जिसमें किसी विशेष्य का नाम नहीं है। किन्तु इस प्रकार के वाक्य सत्य मानने पर नियम-वाक्य नहीं माने जा सकते, अतः इन्हें नियमरूप वाक्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार 'चारों प्राथमिक रङ्गों के विवेक की क्षमता रखने वाले सभी प्राणी सप्तक के स्वरों का विवेक कर सकते हैं' भी नियमरूप वाक्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सत्य होने पर भी इसे प्रकृति का नियम व्यक्त करने वाला वाक्य नहीं माना जा सकता। यदि यह सत्य हो कि 'साधारण अङ्क गणित के ज्ञान की क्षमता रखने वाले सभी प्राणियों का हृदय बाईं ओर है' तो यह सत्य प्रकृति का नियम तो नहीं होगा।

प्रकृति के नियमों के स्वरूप पर विचार करने वाले कई दार्शनिकों की यह धारणा है कि किसी वाक्य के नियमरूप होने अथवा न होने का निर्णय उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


प्रकृति से नहीं किया जा सकता। ये निर्णय हमारे प्रकृति के ज्ञान से किये जाते हैं। प्राणियों के उपर्युक्त उदाहरणों से इस धारणा की पुष्टि होती है। हम जानते हैं कि रंग-विवेक की क्षमता का सम्बन्ध चक्षु के कुछ कोषों से है जिनका स्वर-विवेक-क्षमता से कोई सम्बन्ध नहीं है। कथनों के नियमरूप होने अथवा न होने का निर्णय यदि ज्ञान-सापेक्ष है तो वह ज्ञान-वृद्धि के साथ बदल भी सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि किसी कथन का नियमरूप होना अथवा न होना ज्ञान-सापेक्ष है। प्रकृति का ज्ञान प्रकृति के नियमों का ज्ञान है। यदि नियमरूप होने का निर्णय ज्ञान-सापेक्ष है तो नियमरूप होना अन्य कथनों के नियम होने अथवा न होने पर निर्भर है। किन्तु किसी कथन के नियमरूप होने का किस कथन के नियम होने से ठीक क्या सम्बन्ध है यह स्पष्ट नहीं है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि कोई कथन अन्य कथनों से कम अथवा अधिक नियमरूप हो सकते हैं, यद्यपि हम अपने प्रकृति-ज्ञान को ध्यान में रखकर किसी कथन को किसी अन्य कथन से अधिक दृढ़ विश्वास के साथ नियमरूप मान सकते हैं।

नियमरूपता तथा प्रकृति-ज्ञान के सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रमुख प्रयास प्रो० ब्रैथवेट का है। उनके विचार में नियमरूप कथन वह है जो किसी ऐसे सिद्धान्त से निगमनीय हो जो स्वतन्त्र आधार पर मान्य हो। इसके अनुसार एक कथन दूसरे कथन से कम अथवा अधिक नियमरूप हो सकता है, क्योंकि जिन सिद्धान्तों से ये क्रमशः निगमनीय हैं वे मान्य तो होंगे ही, किन्तु उनकी मान्यता के जो स्वतन्त्र आधार हैं उनसे इन सिद्धान्तों की पुष्टि में असमता हो सकती है। इसमें कोई आपत्ति नहीं। आपत्ति यह है कि जिस आधार पर इस विश्लेषण के अनुसार किसी कथन को नियमरूप माना जा सकता है, ठीक वही आधार उसे प्रकृति का नियम मानने का है। अतः नियमरूप कथन का प्रत्यय लाना निष्प्रयोजन हो जाता है। कई विचारक किसी कथन को नियमरूप कहने के इसी अर्थ को उपयोगी समझते हैं कि ज्ञान की किसी अवस्था में इस कथन को नियम मानना उचित है। परन्तु इस अर्थ में भी नियमरूपता की यह व्याख्या स्वीकार नहीं की जा सकती। इसकी दो आलोचनाएं प्रो० ब्रैथवेट को भी सबल लगीं जब मैंने उनके सामने रखीं। इस व्याख्या का एक दोष तो यह है कि जिस सिद्धान्त से निगमनीय होने के कारण किसी कथन को इस व्याख्या के अनुसार नियम मान लेना चाहिए वास्तव में उस सिद्धान्त को भी नियम मानना ही उचित है। किन्तु इस व्याख्या के अनुसार इसे तब तक नियमरूप भी नहीं माना जा सकता जब तक यह किसी अन्य स्वतंत्र आधार पर स्वीकृत सिद्धान्त से निगमनीय नहीं हो। दूसरी आलोचना तो घातक है। बहुत से ऐसे कथन हैं जिन्हें हम सदा प्रकृति के नियम मानते आये हैं और वैज्ञानिक भी नियम ही मानते हैं, यद्यपि अभी तक कोई ऐसा स्वतन्त्र रूप से स्वीकृत सिद्धान्त नहीं जिससे इन्हें निगमित किया गया हो। हम यह मानते हैं कि सिंकोना का रस, कुनीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


आदि मलेरिया के कीटाणुओं के लिये किसी अवस्था में घातक होते हैं, अल्कोहल मादक होता है, साबुन कपड़े का मैल निकालता है, इत्यादि, जबकि इन नियमों के किसी सिद्धान्त से निगमन की कोई कल्पना भी नहीं की गई। वैज्ञानिक अनुसन्धान आरंभ होने से शताब्दियों पूर्व मानव बहुत से प्रकृति के नियम जानता था; जैसे, एक परिचित दशा में जल से हिम हल्की होती है। आजकल भी प्रतिदिन कितने नये पदार्थ प्रयोगशालाओं में बनाये जा रहे हैं और उनके अनेक गुणों का वर्णन किया जा रहा है। इन गुणों के वर्णनों को नियम-वाक्य माना जाता है, और यह उचित भी है, किन्तु पदार्थों के रंग, गन्ध, स्वाद आदि तक की व्याख्या किसी सिद्धान्त के आधार पर अभी तक उपलब्ध नहीं है।

नियमरूप कथन के प्रत्यय के स्वरूप के स्पष्टीकरण के उपर्युक्त प्रयासों में ह्यूम की युक्तियों तथा रसल द्वारा किये गये तर्कशास्त्र के विकास के प्रभाव की झलक स्पष्ट है। ह्यूम ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि प्रकृति में हमें कोई अनिवार्यता का सम्बन्ध नहीं मिलता; अनिवार्यता का क्षेत्र तर्कशास्त्र तथा गणित तक सीमित है। 'यदि········तो········' रूप के अ-सामान्य वाक्य के सत्य-व्यापारात्मक (ट्रुथ-फंक्शनल) अर्थ में इसके दो पदों में किसी अनिवार्य सम्बन्ध की कोई बात नहीं है। ऐसे वाक्य की सत्यता अथवा असत्यता इसके दोनों पदों की सत्यता अथवा असत्यता मात्र से ही निश्चित होती है। ह्यूम के आधुनिक अनुयायी यह मानते हैं कि प्रकृति-सम्बन्धी जो सरल वाक्य नियम-वाक्य माने जाते हैं उनके उदाहरण सत्यव्यापारात्मक वाक्य हैं। तर्क-शास्त्र के एक अंश के नियमों के उदाहरण भी सत्यव्यापारात्मक वाक्य हैं, किन्तु उनके आकार से उन्हें तार्किक नियम के उदाहरणों के रूप में पहचाना जा सकता है। इस प्रकार प्रकृति सम्बन्धी सभी सत्यव्यापारात्मक वाक्य समान रूप से तथ्यात्मक हैं। अतः प्रकृति अथवा अनुभव-जगत् सम्बन्धी सामान्य वाक्यों में नियम-वाक्य तथा विशुद्ध तथ्यात्मक वाक्य का भेद उनके तार्किक आकार (लोजीकल-फोर्म) के आधार पर नहीं किया जा सकता। इनमें से यदि कोई वाक्य नियम-वाक्य कहा जा सकता है तो उसकी विशेषता उसमें प्रयुक्त होने वाले अतार्किक (नॉन-लॉर्जाकल) शब्दों में ही हो सकती है। विशेष्य के नाम का निषेध इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। ब्रैथवेट का सुझाव भी रसल आदि की निगमनात्मक संगठन की विधि से प्रेरित है। वाक्यों के गणित अथवा तर्कशास्त्र के नियम-वाक्य होने का निर्णय प्रायः अन्य स्वीकृत नियम-वाक्यों से निगमन करके ही किया जाता है।

अधिकतर दार्शनिक अब मानने लगे हैं कि प्रकृति-सम्बन्धी नियम-वाक्यों के उदाहरण सत्य-व्यापारात्मक वाक्य नहीं हैं। 'यदि क तो ख' का 'यदि क तो ख' से सत्य-व्यापारात्मक अर्थ में कोई विरोध नहीं है, किन्तु इस प्रकार के नियम-वाक्यों के उदाहरण असम्भव हैं, यदि 'क' स्वविरोधी नहीं हो तो। 'यदि क सत्य होता तो ख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


भी सत्य होता' रूप के वाक्यों पर विचार करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि इन वाक्यों के उचित उपयोग के लिए यह आवश्यक है कि वक्ता वाक्य के प्रथम पद को असत्य समझता हो। ब्रेथवेट का विचार नियम-वाक्यों की इस विशेषता की रक्षा करता है, किन्तु यह रोग-निदान की समस्या की अवहेलना करके लक्षणों के शमन के उपचार जैसा है। नियम के प्रत्यय के विश्लेषण के लिये अनिवार्यता अथवा संभवता का प्रत्यय आवश्यक है, जैसा नील आदि कई दार्शनिकों ने कहा है। नियम-वाक्य यह नहीं बताते कि वास्तव में क्या घटना क्रम होगा अथवा रहा है। प्रकृति के नियम-वाक्य यह बताते हैं कि प्रकृति में क्या संभव है। इसीलिये 'यदि क सत्य **होता** तो ख भी सत्य **होता**' रूप के वाक्य तभी स्वीकार किये जाते हैं जब 'यदि क तो ख' नियम-वाक्य अथवा नियम-वाक्य का उदाहरण हो, नियम चाहे तार्किक हो अथवा प्राकृतिक, अथवा वैधानिक ही क्यों न हो। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के नियम विभिन्न प्रकार की अनिवार्यता अथवा संभवता के कथन हैं।

इन ह्यूम-विरोधी विचारों को भी आधुनिक तर्कशास्त्र से प्रोत्साहन मिला है। ऐसी भी निगमनिक रचनाएं की गई हैं जिनमें '(क→ख)→¬(क→¬ख)' एक नियम है। किन्तु इसे नियम मानना वास्तव में भूल है। 'यदि क तो ख' रूप के वाक्य का प्राय: 'यदि क तो ¬ख' रूप के वाक्य से तार्किक विरोध होता है, किन्तु यदि क स्वविरोधी हो तो 'यदि क तो ख' तथा 'यदि क तो ख' दोनों ही स्वीकार करने चाहियें। अत: '(क→ख)→¬(क→¬ख)' को नियम मानना आंजेल, स्ट्रॉसन आदि की भूल है, चाहे 'क→ख' तार्किक नियम का ही क्यों न हो।

प्रकृति सम्बन्धी नियमरूप वाक्यों की विशेषताओं की अभिव्यक्ति, प्रकृति के नियमों की अनिवार्यता का विश्लेषण, प्राकृतिक नियमों के आकारिक सम्बन्धों का निगमनिक रचना में संगठन—ये सभी समस्याएं अभी बहुत विचार-विमर्श की अपेक्षा रखती हैं।

**दिल्ली विश्वविद्यालय**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# दो वस्तुएं : इंद्रियों की और बुद्धि की

जे. फाइस

जो निबन्ध मैं आप लोगों के सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ उसे लिखने के लिए मुझे आधुनिक विचारक लोनर्गन से प्रेरणा मिली है। कैनेडा के ये दार्शनिक सुप्रसिद्ध इंसाइट'[1] नामक रचना में दार्शनिक वस्तु के दो अर्थों के बीच भेद करते हैं, अर्थात् वह वस्तु जिसका अनुभव हम केवल इंद्रियों द्वारा करते हैं और वही वस्तु जिसका ज्ञान हम बुद्धि द्वारा भी प्राप्त करते हैं। इसलिए जिस भेद को हम वस्तु के दो अर्थों के बीच स्थापित करते हैं वह मानव-ज्ञान के दोहरे रूप पर आधारित है। यद्यपि प्रस्तुत विचार मेरे अपने नहीं हैं तथापि उनका विस्तार मेरा ही है। किसी विदेशी भाषा से राष्ट्रभाषा में दूसरों का विचार अभिव्यक्त करना किसी अंश तक व्यक्तिगत या मौलिक कार्य माना जा सकता है।

यदि कोई पूछे कि वस्तु क्या है ? तो इस सरल प्रश्न का उत्तर देना एक मुश्किल बात होगी। हम भले ही कोई विशेष वस्तु को दिखा सकते हैं, जैसे यह आदमी या वह मकान, लेकिन सामान्यत: 'वस्तु' क्या है, यह हम नहीं जानते। शायद इसकी परिभाषा कोई ऐसे प्रस्तुत करेगा "निर्जीव पदार्थ वस्तु है।" फिर, यदि हम उनसे पूछें कि 'गाय क्या है ?' तो उनका उत्तर कुछ इस प्रकार होगा : "एक पालतू जानवर" इत्यादि। आगे यदि "जानवर" की परिभाषा देनी हो तो उन्हें यह कहना होगा कि जानवर एक ऐसी वस्तु है जोकि जीवित है। परन्तु कौन नहीं देखता है कि उसने यह कहकर अपनी पहली परिभाषा छोड़ दी है। वह तो प्राणियों को सम्मिलित नहीं करती थी। फिर भी, अब जानवर एक वस्तु कहलाता है।

निरुक्ति हमारे प्रारम्भिक प्रश्न को हल करने में सहायता देगी। 'वस्तु' प्रत्यय यथार्थ शब्द से संबद्ध है। इसलिए वस्तु एक ऐसा पदार्थ है जोकि यथार्थ है। किन्तु समस्या का हल अभी नहीं हुआ है। हमारे पहले प्रश्न के उत्तर से ही एक दूसरा प्रश्न उत्पन्न हो आया, अर्थात् यथार्थ का अभिप्राय क्या है ? दूसरा प्रश्न पहले से और कठिन है। उसे हल करने के लिए भाषा का प्रयोग हमारी सहायता करेगा। आकाश-कुसुम का उदाहरण लीजिये। वह वास्तविक (यर्थार्थ) नहीं, केवल

---

1. Bernard Lonergan, **Insight: A Study of Human Understanding**, Longmans, 1957.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


कल्पित फूल है। साधारण बोल-चाल की भाषा में प्राकृतिक फूल को ही हम असली फूल मानेंगे, कृत्रिम फूल को तो नकली ही कहेंगे। फिर, जो यथार्थतः मित्र है वह सच्चा मित्र है, उसके विपरीत ऊपरी दोस्त नाममात्र का दोस्त है। इन विभिन्न अभिव्यक्तियों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि 'यथार्थ' 'कल्पित' का विपरीत है, जैसेकि अन्य विपरीतार्थक शब्द-युगल हुआ करते हैं। यथा: असली-नकली, और सत्य–असत्य। इस तुलना के आधार पर हम 'यथार्थ' शब्द का अर्थ सन्तोषजनक रूप से सूचित कर सकते हैं।

अब हम इस पर ध्यान दें कि हम यथार्थ वस्तु का कल्पित वस्तु से किस प्रकार भेद कर सकते हैं! परंपरागत अध्यास का उदाहरण लीजिए—रज्जु सर्प रूप में प्रकट हो कर हमें धोखा देती है। अर्थात् जो वास्तव में निर्जीव है उसे हम जीवित मान लेते हैं। इस बात पर हम ठीक से ध्यान दें कि भ्रम-काल में इसमें हमारा कोई संदेह नहीं है कि वह वस्तु सचमुच एक सांप है। तो भी ध्यानपूर्वक देखने से हमें मालूम होगा कि हमारा विश्वास भ्रांतिपूर्ण था। अब प्रश्न है कि हम कैसे भ्रम से सत्य पर पहुँचे? किस बात ने हमें सूचना दी कि जिस वस्तु को हम सांप मानते थे वह मात्र रस्सी है? सांप से हम यह अपेक्षा करते हैं कि वह चलने लगे। जब तथाकथित सांप हमारी अपेक्षा के प्रतिकूल हिलता-डुलता नहीं है तो एकाएक हमारी समझ में आएगा कि वह वास्तविक सांप नहीं है।

यह बात महत्वपूर्ण है कि कल्पित सांप से वास्तविक रज्जु का भेद करना बुद्धि का कार्य नहीं हुआ, इंद्रियों का ही कार्य हुआ। मेरी आंखों ने ही मुझे यह सूचना दी कि वह चीज़ निश्चल रहती है। शायद कोई इस प्रकार आपत्ति करेगा : अवश्य ही आंख ने देखी, किन्तु आंख बुद्धि की आज्ञा से देखने लगी। अंधकार में ज़मीन पर अमुक वस्तु देखकर बुद्धि में यह प्रश्न उठ आया : क्या वह सचमुच एक सांप है? फिर प्रश्न हल करने के लिए बुद्धि इंद्रियों, अर्थात् आंखों की सहायता लेकर उस अज्ञात वस्तु को जांचने लगी। इसी आपत्ति को ध्यान में रखकर हमने आप लोगों का ध्यान इस बात पर आकर्षित किया था कि तथाकथित सांप देखते ही द्रष्टा को कोई संदेह नहीं था कि वह अवश्य ही एक सांप है। फिर जहां कोई संदेह नहीं है वहां कोई प्रश्न भी नहीं उठेगा। प्रश्नों का उत्तर देना बुद्धि ही कर सकती है, लेकिन प्रश्न के अभाव में बुद्धि को निष्क्रिय रहना अनिवार्य है।

अब विचार करें कि पूर्ववर्ती विश्लेषण से कौनसा परिणाम निकलता है? पहला यह कि ज्ञानेन्द्रियां ही यथार्थ वस्तु का कल्पित वस्तु से प्रभेद करने वाली हैं, बुद्धि नहीं। फलतः यथार्थता का अर्थ इंद्रियों के आधार पर निर्धारित करना होगा। इसलिए वास्तविकता की परिभाषा ऐसी होगी : जो कुछ इंद्रियों की अपेक्षा के अनुकूल हो। वास्तविक सांप वह होगा जो इन्द्रियानुभव की अपेक्षा के अनुसार चलने लगे। इसके विपरीत, कल्पित वस्तु वह होगी जो कि इंद्रियों की अपेक्षा के प्रतिकूल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


हो, उदाहरणार्थ : अचल रहने वाली रस्सी कल्पित सांप मात्र निकलती है। दूसरा परिणाम यह है : यह तथ्य स्वीकार करना पड़ेगा कि ज्ञानेन्द्रियां किस प्रकार से अपना विषय पहले से जानती हैं। क्योंकि जिस चीज़ की अपेक्षा की जाती है उसके बारे में पहले से कुछ-न-कुछ जानकारी भी होती है।

इस दूसरे परिणाम से इन्द्रियों का स्वभाव स्पष्ट हो जाता है। जैसे कठोपनिषद् के ऋषि को ज्ञात था, मनुष्य की इंद्रियां अन्तर्मुखी नहीं बहिर्मुखी हैं। आंख एक ऐसी इन्द्रिय है जिसके द्वारा प्राणी प्रकाश का अनुभव करता है, कान ध्वनि ग्रहण करता है। स्पर्श कठोर और कोमल, गर्म और ठण्डा आदि गुणों को पहचानता है। भूख और प्यास जन्तुओं को भोजन की खोज में प्रेरणा देती है। इन सभी इन्द्रियों और वृत्तियों से सज्जित होकर प्राणी अपने वातावरण के अनुकूल बने हैं। विशेष करके बुद्धि के अभाव में इन्द्रियां भ्रमातीत रूप से प्राणी को चलाती हैं। जो खिलाड़ी अपनी आंखों पर ही विश्वास करता है वह शीघ्रता से आने वाली गेंद पकड़ेगा, जबकि सोच-विचार करने वाला उसे पकड़ने में असफल होगा। इससे हमारी पूर्वोक्त बात का मतलब स्पष्ट हो जाता है, अर्थात् किस प्रकार इन्द्रियां पहले से अपना विषय जानती हैं। उनका पूरा अस्तित्व इसमें है कि वे भिन्न-भिन्न रूप से ध्वनि, प्रकाश, खाद्य–सामग्री इत्यादि की अपेक्षा करती रहती हैं। जो कुछ यह अपेक्षा पूरी करता है वह इंद्रियों के दृष्टिकोण से यथार्थ कहलाता है।

इंद्रियों के बहिर्मुखी होने की बात के साथ ही साथ हमने विषय-विषयी का भेद भी स्थापित किया है। क्योंकि जो वस्तु बहिर्मुखी इन्द्रियों की अपेक्षा पूरी करती है उसका प्राणी से बाहर होना आवश्यक है। इस बाहर-भीतर के आधार पर हम प्रारम्भिक रूप से विषय-विषयी का सम्बन्ध निर्धारित कर सकते हैं। इस स्तर पर विषय की परिभाषा यह होगी : जो कुछ इंद्रियों के विषयी से बाहर हो। अब तक हमने इंद्रियों की वस्तु का अर्थ निर्धारित किया है। संक्षेप में : इन्द्रियों के अनुसार वस्तु वह बाहरी तत्त्व है जो बहिर्मुखी इंद्रियों की अपेक्षा के अनुकूल होता है और इसीलिए यथार्थ माना जाता है। निस्संदेह इस अर्थ की वस्तु दर्शन-शास्त्र के अनुसार वस्तु ही नहीं कहला सकती है। दर्शन-शास्त्र की वस्तु को तो बुद्धि से उत्पन्न होना आवश्यक है। इसलिए अब 'वस्तु क्या है ?' इस प्रश्न का बौद्धिक उत्तर देने का प्रयत्न करना पड़ता है।

शुरु में ही हम बौद्धिक वस्तु की यह परिभाषा पेश करते हैं : जो कुछ मनुष्य किसी नाम या शब्द से अभिव्यक्त करता है। उदाहरणार्थ : "यह एक पगड़ी है।" इस वाक्य में 'पगड़ी' शब्द बौद्धिक वस्तु का वाचक है। संकेतवाचक सर्वनाम का कोई विशेष अर्थ नहीं है : 'यह' या 'वह' कहने से श्रोता की समझ में मेरा मतलब तब तक नहीं आएगा जबतक मैं अपनी उंगली से कोई विशेष चीज़ नहीं दिखाऊं, जब तक मेरा संवादी अपनी आंखों से वह चीज़ देख न ले। 'यह'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


'यह' शब्द ध्वनि मात्र रहते हैं। और जो अर्थ संकेतवाचक सर्वनाम को प्राप्त होता है वह केवल इंद्रियों का ही होगा, क्योंकि मैं अपना मतलब दिखाने से अभिव्यक्त करता हूं और श्रोता उसे सिर्फ देखने से प्राप्त करता है। लेकिन देखना-दिखाना स्पष्ट रूप से इन्द्रियों का व्यापार है। किन्तु शब्द के प्रयोग से यह स्थिति बदल जाती है। 'यह एक पगड़ी है' इस वाक्य से मैं किसी को, जैसे विदेशी को, समझाता हूं कि यह अदृष्ट वस्तु क्या है ? या मैं उसे एक हिन्दी शब्द का अर्थ सिखाता हूं। किन्तु भाषा का प्रयोग निस्संदेह बुद्धि का चिह्न है। वह तो हंसने की क्षमता के साथ मनुष्य की एकमात्र विशेषता है।

सच, आजकल परीक्षण के रूप में चिम्पैंजी को काफी लम्बी शब्दावली सिखाने में सफलता मिली है। मगर इस पर थोड़ा-सा सोचने से स्पष्ट हो जायगा कि वह सुप्रसिद्ध अनुकूलित प्रतिवर्त (कंडीशंड रीफ्लेक्स) सिद्धान्त की एक अनोखी घटना है। फिर 'अनुकूलित प्रतिवर्त' इन्द्रियों का ही है, बुद्धि का नहीं। इसके विपरीत शब्दों का प्रयोग स्पष्ट रूप से बुद्धि ही कर सकती है। इसका प्रमाण यह है कि मनुष्य शब्दों के विषय में समझा सकता है कि उनका अर्थ क्या है, या किसी वस्तु की अनुपस्थिति में उसे बोध कराने वाले शब्द के द्वारा उस वस्तु का वर्णन दिया जा सकता है। इस प्रकार मैं प्रयोग, रूप, सामुदायिक विशेषता इत्यादि बताकर किसी विदेशी को 'पगड़ी' का मतलब समझा सकता हूं, यद्यपि उसने पगड़ी कभी नहीं देखी है। जो दावा करता रहता है कि जानवरों की भी अपनी भाषा है, उससे हम पूछ सकते हैं कि क्या जानवर भी, मनुष्यों के समान, गोष्ठी में सम्मिलित होकर किसी बात पर वाद-विवाद करते हैं ?

अतः अब हम यह दावा करेंगे कि भाषा-प्रयोग मानव-बुद्धि का प्रमाण है। इसलिए जो वस्तु शब्द द्वारा व्यक्त होती है वह बुद्धि की वस्तु है, अर्थात् वह केवल इन्द्रियों द्वारा नहीं, बल्कि बुद्धि द्वारा भी हमें ज्ञात हो गई। सच है कि जो वस्तु मैं एक निरर्थक शब्द 'यह' से दिखाता हूं, और बोधगम्य 'पगड़ी' शब्द से अभिव्यक्त करता हूं, वह एक ही वस्तु है। हमारा मतलब यह है कि एक ही तत्त्व दोहरे प्रकार से ज्ञात हो सकता है : केवल इन्द्रियों द्वारा भी और केवल बुद्धि द्वारा भी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'वस्तु' एक द्वयर्थक प्रत्यय है। इस निबंध का उद्देश्य है वस्तु के इन दो अर्थों के बीच स्पष्ट भेद करना। इन्द्रियों की वस्तु की परिभाषा हुई : जो कुछ यथार्थ हो, अर्थात् बहिर्मुखी इन्द्रियों के अनुकूल, और बुद्धि की वस्तु की परिभाषा हुई : जो कुछ शब्द द्वारा व्यक्त किया जा सकता हो। इन भिन्न-भिन्न परिभाषाओं से दो प्रकार की वस्तुओं की विभिन्नता स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त की गई है।

बौद्धिक वस्तु का लक्षण यह है कि वह प्रश्न से बुद्धि में उत्पन्न होती है। ऊपर की उक्ति 'यह एक पगड़ी है' एक प्रश्न के उत्तर के रूप में उच्चारित की गई,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


जैसे 'वह कौनसी वस्तु है ?' इस प्रकार के प्रश्न में किसी वस्तु के स्वभाव के विषय में पूछ-ताछ है, 'यह' संकेतवाचक सर्वनाम के साथ 'पगड़ी' संज्ञा जोड़ने से बुद्धि को उत्तर में प्राप्त होता है कि संकेतित वस्तु का स्वभाव क्या है। यह प्रश्नोत्तर का व्यवहार निश्चित रूप से बुद्धि का लक्षण कहला सकता है। तभी जानवर भी किसी अनोखी वस्तु को पाकर उसके विषय में प्रश्न पूछते हैं, या कम-से-कम प्रश्न पूछते हुए दीखते हैं। परन्तु हम सामान्यतः जानवरों को बौद्धिक प्राणी नहीं मानते हैं। उदाहरणार्थ, जो पिल्ला पहली बार एक गेंद का सामना करता है उसको यह नयी चीज़ आश्चर्यजनक लगती है। आश्चर्य से तो प्रश्न उत्पन्न होते हैं। लेकिन क्या हमारा पिल्ला वास्तव में गेंद के विषय में प्रश्न पूछता है ? वह किस प्रकार से अपना तथाकथित प्रश्न हल करेगा ? ध्यानपूर्वक देखने से कि, क्या यह चीज़ चल सकती है ? सूंघने से, कि क्या यह कोई खाद्य पदार्थ तो नहीं है ? अन्त में पिल्ले के अनुसंधान का परिणाम यह होगा कि इस वस्तु से घबराना नहीं चाहिए; यद्यपि मैं उसे नहीं खा सकता हूं, फिर भी मैं उसके साथ खेल सकूंगा। लेकिन यह प्रश्नोत्तर इन्द्रियों द्वारा ही आरम्भ हुआ। देखना, सूंघना, खाना, खेलना ये सब इन्द्रियों के स्तर पर घटित होते हैं। इसके विपरीत बच्चा घ्राण, स्पर्श, स्वाद से गेंद का परिचय लेकर, बिलकुल उस पिल्ले के समान, अंत में अपनी मां से यह प्रश्न पूछेगा कि 'यह क्या है' ? बाद में 'गेंद' शब्द बोलकर बच्चा अपनी यह वस्तु प्राप्त करने की इच्छा अभिव्यक्त करेगा। अर्थपूर्ण ध्वनि, अर्थात् भाषा, बच्चे की बुद्धि का निश्चित प्रमाण है। जो वस्तु भाषा-माध्यम के प्रश्नोत्तर द्वारा ज्ञात हो जाती है वह सचमुच बौद्धिक वस्तु कहला सकती है।

जिस प्रकार हम प्रश्नोत्तर द्वारा किसी वस्तु का स्वभाव निर्धारित करते हैं उसी प्रकार उसकी यथार्थता भी स्थापित करते हैं, और जिस प्रकार प्रश्नोत्तर द्वारा ज्ञात स्वभाव बौद्धिक वस्तु का है उसी प्रकार यथार्थता भी। आप लोग याद करेंगे कि इन्द्रियों के अनुसार एक वस्तु यथार्थ कहलाती है, जब वह इन्द्रियों की अपेक्षा के अनुकूल हो। बुद्धि के अनुसार यथार्थता की परिभाषा दूसरी होगी। 'होवर-क्राफ्ट' शब्द के विषय में कोई दो प्रश्न पूछ सकता है। पहला—'यह कैसी चीज़ है ?' उत्तर के रूप में मैं उसका वर्णन कर सकता हूं : वह न तो जहाज़ है, न विमान, क्योंकि वह न तो पानी में चलता है, न वायु में, लेकिन समुद्र के कुछ ऊपर मंडराकर आगे बढ़ता है। इस उत्तर से मैं समझाता हूं कि होवरक्राफ्ट का स्वभाव क्या है। भाषा द्वारा समझाना अवश्य ही बौद्धिक क्रिया है। आगे संवादी उस बौद्धिक प्रत्यय के विषय में एक दूसरा प्रश्न पूछ सकता है : क्या वास्तव में आजकल ऐसे वाहन होते हैं ? 'जी हां' के उत्तर से मैं होवरक्राफ्ट की यथार्थता का दावा करूंगा। यह यथार्थता बौद्धिक वस्तु की है, क्योंकि मैं उसे किसी बौद्धिक प्रत्यय के विषय में स्वीकार करता हूं। इसलिए पूरी क्रिया बौद्धिक स्तर की है। बौद्धिक यथार्थता की परिभाषा यह होगी : वह, जो कथन (अफर्मेशन) से स्वीकार किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


जाता है यह सच है कि यथार्थता का दावा करने के पहले मैं इन्द्रियों का साक्ष्य प्रमाण के रूप में प्राप्त करूंगा। आंखों की सहायता से स्थापित यथार्थता इन्द्रियों की ही है, लेकिन उसे बौद्धिक संज्ञा के विषय में कहने से वह बौद्धिक यथार्थता हो जाती है। बौद्धिक प्रश्न का उत्तर बौद्धिक होना आवश्यक है।

पूर्वोक्त भेद की उपयोगिता क्या है? उपसंहार के रूप में हम उसके दो उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। जिस रंग का मेरी आंख अनुभव करती है, क्या वह वास्तविक है? क्या वह वास्तव में वस्तु का एक गुण है, या केवल मेरी आंख का अनुभव? दर्शन-शास्त्र के इतिहास के शुरु से ही इन्द्रियों की सापेक्षता संदेहवाद का मुख्य प्रमाण हुआ। उस समस्या का समाधान देने के लिए हमें केवल अपने भेद को ही प्रयोग में लाना पड़ेगा। उसका स्पष्ट उत्तर ऐसा होगा कि जहां तक रंग का अनुभव केवल इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है वह बौद्धिक अर्थ के अनुसार यथार्थ नहीं कहला सकता है। उसे पूर्ण रूप से यथार्थ कहने के लिए हमें बुद्धि से भी, अर्थात् विज्ञान द्वारा, रंग का अनुसंधान करना होगा।

फिर, जब विज्ञान रंग की यह परिभाषा देता है कि 'विद्युच्चुम्बकीय (इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक) तरंगों का वह भाग जो दृश्य है,' तब क्या यह रंग की व्याख्या यथार्थ स्थिति अभिव्यक्त करती है? वैज्ञानिक व्याख्या बौद्धिक क्रिया है, और यथार्थता बौद्धिक वस्तु का लक्षण है। लेकिन व्याख्या का बौद्धिक स्वभाव उसकी सत्यता के लिए पर्याप्त नहीं होगा। विज्ञान की व्याख्या को अनुभव अर्थात् इन्द्रियों द्वारा प्रमाणित करना अनिवार्य है। फिर भी जो व्याख्या अनुभव द्वारा स्थापित हुई वह बौद्धिक स्वरूप की है। यह व्याख्या की बौद्धिकता स्थायी आधार पर रंग की यथार्थता स्थापित करती है।

**पोस्ट बाक्स ५,**
**रांची**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# सांख्य-विवेचन

भगवती

पिछले अध्याय में हमने डेकार्ट-दर्शन पर विचार किया था।* यह एक द्वैतवादी दर्शन है। इस अध्याय में हम एक दूसरे द्वैतवादी दर्शन सांख्य पर विचार करेंगे। यद्यपि इन दर्शनों में कुछ अनुरूपतायें भी देखी जा सकती हैं, किन्तु ये नितांत ऊपरी हैं, अन्यथा ये अत्यन्त भिन्न प्रकार के दर्शन हैं। ये ऊपरी अनुरूपताएँ दो हैं—एक यह कि ये दोनों दर्शन आध्यात्मिक द्वैतवादी हैं और दूसरी यह कि ये पुरुष-बहुत्ववादी हैं। किन्तु वास्तव में डेकार्ट के लिए 'आध्यात्मिक' पद का प्रयोग केवल सीमित रूप में ही किया जा सकता है, और दूसरी ओर, उसमें पुरुष-बहुत्व एक दार्शनिक प्रश्न या समस्या नहीं है क्योंकि उसमें पुरुष (आत्म) का स्वरूप ही इस प्रकार कल्पित है कि उसमें यह एक आनुषंगिक आपादान मात्र है। इसके विपरीत, सांख्य अध्यात्म-वादी दर्शन है और पुरुष-बहुत्व उसके मूल प्रश्नों में से एक है। वास्तव में इन दर्शनों में असमानतायें या विपरीततायें मूलगामी हैं और इनकी दृष्टि से ही इनमें तुलना अत्यन्त रोचक हो सकती है।

डेकार्ट के विपरीत सांख्यीय चैतन्य स्वरूप-विश्रान्त, निष्क्रिय सत्ता है,[1] प्रकृति डेकार्ट के अनुरूप जड़ तो है किन्तु उसके विपरीत निष्क्रिय नहीं होकर सक्रिय है। वास्तव में सांख्य की जड़ता की अवधारणा भी डेकार्ट से मूलतः भिन्न और अत्यधिक सूक्ष्म और गम्भीर है। डेकार्टीय चैतन्य अथवा आत्म का समावेश यहां प्रकृति के ही अन्तर्गत है और वह उचित ही है। डेकार्टीय चैतन्य मानवीय है और इस प्रकार ईश्वराश्रित है, किन्तु सांख्यीय चैतन्य निरवच्छिन्न और निरुपाधिक है और स्वरूप-विश्रांत सत्ता है। इसी प्रकार डेकार्टीय प्रकृति पराक्, चेतनान्तर्गत प्रत्यय के अनुरूप और उसकी समानान्तर सत्ता है और प्रत्यय चेतना-धर्मी हैं, इसके विपरीत सांख्यीय प्रकृति प्रत्यक् और पराक् उभयविध, पुरुष से पूर्णतः भिन्न,[2] स्वरूप-स्थित, किन्तु पुरुष के अर्थ[3] सत्ता है, और प्रत्यय प्रकृति-धर्मी है। किन्तु डेकार्ट और सांख्य में आधारभूत दार्शनिक पदावलि में निरूपणीय अन्तर यह है कि

---

* द्रष्टव्य-दार्शनिक त्रैमासिक,

१. प्रेक्षकवत्स्थितः स्वस्थः, का. ६५

२. त्रिगुणादि विपर्ययात्, का. १७

३. संघात परार्थत्वात्, वही.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


डेकार्ट का चित् आत्म-प्रकाशक क्रिया है और उसका स्वरुप बौद्धिक है । इसका विषय भी इसी के भीतर स्थित प्रत्यय है और इसलिए उसका आत्म अपने से बाहर कुछ नहीं जानता । प्रकृति केवल इस प्रत्यय के सत्य होने के लिए आवश्यक है और इस प्रकार यह आनुषंगिक और आनीत कल्पना है तथा दार्शनिक दृष्टि से अत्यधिक बालिश है । इसके विपरीत सांख्यीय चित् प्रकाश-स्वरुप है, बुद्धि और अहंकार (कोजिटो-सम) आदि इसके स्वरूपगत नहीं होकर विषय हैं, विषयमात्र प्रकृति और इस प्रकार जड़ है और अतएव स्वप्रकाशकत्व एक प्रकार का विषय होने से, आत्मोपाधि है, आत्म या पुरुष नहीं ।

सांख्यीय प्रकृति की कल्पना बहुत सूक्ष्म और जटिल है । चैतन्य स्वरुपतः निरपेक्ष और शुद्ध प्रकाशस्वरूप है और विषयी रूप में शुद्ध द्रष्टृभाव है । प्रकृति स्वरुपतः विषयभाव है । ये विषयीभाव और विषयभाव परस्पर सापेक्ष सत्ताएं नहीं हैं, ये निरपेक्ष हैं, यद्यपि विषयभाव की निरपेक्षता स्वतः नहीं है, यह उसकी व्याकृत स्थिति है ।[४] ज्ञानमीमांसात्मक पदावली में, ये दो निरपेक्ष अवधारणाएं हैं । इस निरपेक्षता में चैतन्य शुद्ध प्रकाशस्वरूप है, यह न आत्म-प्रकाशक है और न विषय-प्रकाशक; और प्रकृति अव्यक्त, अनिर्वच, नितान्त सामान्यात्मक जड़त्व है ।[५] किन्तु यह प्राप्त वस्तुस्थिति नहीं है, प्राप्त वस्तुस्थिति में विषय-विषयिभाव संश्लिष्ट और सापेक्ष है। इस संश्लिष्ट या प्राप्त रूप को सांख्य ने व्यक्त प्रकृति भी कहा है । व्यक्त प्रकृति आत्म (पुरुष) और अनात्म (प्रकृति) के बीच अविवेक का परिणाम है किन्तु इस अविवेक का अधिष्ठान पुरुष में नहीं होकर प्रकृति में ही है ।[६] इस अविवेक के कारण अव्यक्त प्रकृति, जोकि अनात्म है, आत्म-उपाधि के साथ व्यक्त होती है । किन्तु क्योंकि यह वास्तव में विषय है इसलिए यह विषयात्म रूप है, अर्थात् यह अपने को ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय उभयविध रूप में प्रकट करती है । दूसरे शब्दों में, प्रकृति आत्मोपाधि धारण कर अपने को अपने लिए व्यक्त करती है; दूसरे शब्दों में, यह ऐसा विषयी है जो विषय भी है, ऐसा द्रष्टा है जो अपने को दृश्य भी है । दूसरे शब्दों में, प्रकृति आत्मोपाधि धारण कर अपने को अपने लिए व्यक्त करती है, अथवा कहें, यह ऐसा विषयी है जो अपना विषय भी है, ऐसा द्रष्टा है जो अपने को दृश्य भी है । प्रकृति की यह अभिव्यक्ति विभिन्न स्तरीय है और इन विभिन्न स्तरों को सांख्य ने कारण-कार्य रूप में और इस प्रकार वास्तव–सत्–माना है । किन्तु सांख्य के सत्कार्यवादी होने से यह भेद नव्योत्पत्ति नहीं होकर स्तर-भेद मात्र है, यद्यपि सांख्य ने इसके लिए लिंग (जननात्मक) शब्द का प्रयोग किया है ।

---

४. का० ५६–६५
५. का० १६
६. का० ३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


अभिव्यक्ति का एक दूसरा पक्ष भी है, जो आत्मोपाधि-रूप नहीं होकर शुद्ध प्रस्तुत-रूप है। यह प्रकृति-विकार नहीं होकर प्रतिभास (फिनोमिना) मात्र है जिसके लिए सांख्य ने 'भाव' शब्द का प्रयोग किया है। इस भाव या प्रतिभास की प्रकृति में तात्त्विक सत्ता नहीं है, यह आत्मोपाधिभूत प्रकृति में अन्तर्वस्तु (कांटेंट) होकर प्रस्तुत-विषय रूप में आभासित होता है। अथवा कहें, आत्मोपाधिभूत विकृतियां अपने-अपने लक्षणों के अनुरूप विषय-प्रस्ताव, विषयाक्षेप, करती हैं। उदाहरणतः बुद्धि के अन्तर्वस्तु-भूत विषय सामान्य हैं और ऊर्ध्वोन्मुख अथवा आत्मोन्मुख वृत्ति में विषय विवेक है, मनस् के विषय राग-द्वेषात्मक प्रत्यय हैं और सेन्द्रिय शरीरात्म का विषय देश-कालात्मक वस्तुजगत् है। इस प्रकार सांख्य के अनुसार बुद्धि, अहंकार, मनस्, इन्द्रियां, तन्मात्र और पंचमहाभूत प्रकृति के आत्मोपाधिभूत परिणाम हैं। इस उपाधि से वियुक्त होने पर ये बुद्धि के परम सामान्य विषय (अहंभाव, इन्द्रियभाव आदि) हैं। इस प्रकार आकाशादि की शब्द-लक्षणता आदि देहात्म में संवेद और देश-काल में संवेद्य का रूप लेते हैं। इस प्रकार, आस्वाद्य वस्तु रस-तन्मात्र की विकृति नहीं होकर आत्मोपाधिक जल-महाभूत की प्रातिभासिक अभिव्यक्ति है।

सांख्य की हमारी इस व्याख्या पर सन्देह हो सकता है, क्योंकि तन्मात्र और महाभूत भौतिक विश्व की उत्पत्ति के कारण हो सकते हैं, और वास्तव में के० सी० भट्टाचार्य[८] को छोड़कर सांख्य के अन्य सभी व्याख्याकारों ने भौतिक विश्व को महाभूतों से निर्मित विशिष्ट वस्तुओं के समवाय के रूप में ही देखा है। किन्तु सांख्य की यह साधारण व्याख्या भ्रामक प्रतीत होती है। इसकी भ्रामकता के लिए दो तर्क दिये जा सकते हैं—प्रथम तो यह कि सांख्य के अनुसार प्रकृति में विक्षोभ और परिणामतः विकार इस मूल अविद्या से उत्पन्न होता है कि यह (प्रकृति) आत्म से अभिन्न है। इसलिए महत् (बुद्धि) से महाभूतपर्यन्त विकास इस अभेद के रूप में, आत्मोपाधि के रूप में, ही होता है, जिसका अर्थ है कि महाभूत आत्मोपाधिभूत देह के उपादान हैं, बाह्य विषय के नहीं, यद्यपि प्रातिभासिक जगत् का स्वलक्षण सत्त्व (थिंग इन इट्-सेल्फ) पंचमहाभूत ही हैं। दूसरे, पंचतन्मात्र, जोकि पंचमहाभूतों के कारण हैं, सूक्ष्म शरीर के उपादान हैं, भौतिक वस्तुओं के सूक्ष्म उपादान नहीं हैं। तब इसका अर्थ होगा कि प्रस्तुत-विषय-रूप शरीर,—मेरा शरीर, उसका शरीर—प्रकृति-विकार नहीं होकर प्रातिभासिक हैं, केवल आत्मोपाधिक शरीर महाभूतोत्पन्न हैं और इस उपाधि का निराकरण इसे पंचमहाभूतों की प्रातिभासिक अभिव्यक्ति के रूप में बदल देता है। अर्थात् आत्मोपाधिक पंचमहाभूत शरीराधिष्ठान में प्रातिभासिक विश्व के लिए विषयी हैं, सांख्य के शब्दों में, वह भोगायतन है, और विवेकी बुद्धि के लिए यह प्रकृति-विकार (पंचमहाभूत) मात्र है।

---

७. का. ५२

८. द्रष्टव्य—स्टडीज़ इन फिलासफी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


प्रातिभासिक विश्व देश-कालात्मक है और देश-काल स्वयं प्रातिभासिक हैं, प्रकृति-विकार नहीं हैं। देश-कालात्मक विश्व के प्रातिभासिक होने से देश-कालात्मक शरीर को भी प्रातिभासिक ही मानना होगा, जिसका अर्थ है कि शरीर की दो सत्ताएं हैं—विकृतिमूलक और प्रातिभासिक। मांस-मज्जा-निर्मित शरीर प्रातिभासिक है और आत्मौपाधिक शरीर विकृतिमूलक। प्रकृति में इस विषयि-विषय रूप द्विविधता को सांख्य ने लिंग और भाव कहा है।[६]

यहां कुछ स्पष्टीकरण अपेक्षित है: यद्यपि सांख्य ने महत् आदि विकारों को आनुक्रमिक परिणाम के रूप में देखा है और इसे कारण-कार्यात्मक भी कहा है, किन्तु इस क्रम को काल-क्रम के रूप में देखना अनुचित होगा। इसके लिए दो तर्क दिये जा सकते हैं: एक तो यह कि इस परिणाम को काल-क्रमात्मक मानने का अर्थ होगा काल को इस परिणाम से स्वतन्त्र और अधिक मौलिक सत्ता मानना, अथवा प्रकृति के समकक्ष मानना। किन्तु यह प्रथम विकल्प भी वास्तव विकल्प नहीं है, क्योंकि काल से कुछ 'पूर्व' या 'उत्तर' नहीं हो सकता। इस प्रकार, विकार-क्रम को कालात्मक मान लेने पर काल को तृतीय मूल तत्त्व मानना होगा। इसके समर्थन में एक और तर्क यह दिया जा सकता है कि सांख्य ने अविद्या और इस प्रकार संसार को अनादि माना है। अनादि होने से कोई विकास-क्रम आरंभ नहीं हुआ हो सकता, इसलिए इस क्रम को कालात्मक नहीं मानकर तार्किक मानना अधिक उचित है। क्रम को तार्किक मानने से यह मानना उचित होगा कि सम्पूर्ण परिणाम का आविर्भाव युगपत् होता है। इस आविर्भाव को संसार के बीच व्यक्ति का अवतरण भी कह सकते हैं। बुद्धि से पंचमहाभूत पर्यन्त विकृति वैयक्तिकता से अवच्छिन्न होकर प्रातिभासिक विश्व और उसके विषयी जीव का एक-साथ कारण बनती है। यह विषयी अनिवार्यतः सापेक्ष है क्योंकि यह प्रतिभास का प्रतिपक्ष मात्र है। इससे यह प्रकृति है। किन्तु यह पुरुष अथवा निरपेक्ष आत्म से भी संयुक्त है जिसका आभास वह मननात्मक वृत्ति में पाता है। वास्तव में प्रकृति में आत्मोपाधि की उपस्थिति का यही रहस्य है, यह द्विविधाकर्षण है, अन्यथा प्रकृति महाभूतों के अतिरिक्त कोई परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकती थी।

यह विषयि अथवा आत्म-भाव भौतिक देह तक व्याप्त है। सांख्य की इस दृष्टि को उचित महत्व नहीं दिया गया है और भौतिक देह को विषय ही मान लिया गया है। किन्तु भौतिक देह आत्मोपाधिक देह भी है और इस रूप में यह संवेद-लक्षण तथा दैशिक विषयों की विनियोजक है। यह देह वास्तव में देहाभिमान या विषयि देह है, दृश्य, स्पृश्य लक्षणों वाली देह नहीं है। यह साधनभूत देह भी नहीं

---

६. न विना भवेह लिंगम्, न विना लिंगेन भाव-निर्वृत्तिः।
लिंगाख्यः भावाख्यः तस्मात्, द्विविधः प्रवर्तते सर्गः। सां. का. ५२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है, अर्थात् "मैंने अपने हाथ से खाना खाया" अथवा "चेचक से मेरी आंख जाती रही" वाक्य इस देह के सम्बन्ध में नहीं हैं, यद्यपि खाना खाने में हाथ-मुँह की नियुक्ति और देखने की अयोग्यता इसी देह से सम्बन्धित हैं। देह के इस स्वरूप पर श्री कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य तथा श्री यशदेव शल्य ने अपने अपने ढंग से बहुत सूक्ष्मपूर्ण प्रकाश डाला है। श्री शल्य के शब्दों में, "हमारे सब दैशिक प्रत्यक्षों और विनियोजनों में आत्म शरीराधिष्ठित होकर वस्तु ग्रहण करता है। किन्तु यह शरीराधिष्ठान स्वयं शरीर को वस्तु-रूप में प्राप्त नहीं करता—अर्थात् शरीर यहां वस्तुओं में एक वस्तु नहीं होता। यह केवल वस्तु से, उसके देश में अधिग्रहण के लिए, अनुमापित दूरी पर ली गई एक स्थिति होती है, यह एक क्रिया-बिन्दु होता है जो स्वयं दैशिक हुए बिना सम्पूर्ण दैशिक विश्व का विनियोजन करता है।"[१०] किन्तु शरीर का एक दैशिक रूप भी है जिसके सम्बन्ध में शल्य जी कहते हैं : "शरीर यद्यपि वस्त्वभिमुखता के अधिष्ठान के रूप में विस्तार-रहित केन्द्र मात्र होता है और इस प्रकार वस्तु-रूप होता है, किन्तु शरीर का दैशिक पक्ष भी है जो इसे अन्य वस्तुओं में एक वस्तु के रूप में स्थापित करता है। मैं वस्तु को हाथ में लेने के लिए आगे बढ़ता हूं और उपयुक्त स्थान पर रुक कर हाथ बढ़ाता हूं, जब मैं अपने मित्र के घर जाने के लिए चल कर पहुँचने के समय का अनुमान करता हूं, तब शरीर अभिमुखता का अविस्तृत बिन्दु होने के अतिरिक्त स्वयं दैशिक विषय भी होता है। किन्तु इसकी यह दैशिकता अन्य वस्तुओं की दैशिकता से प्रकारतः भिन्न होती है—इसके परिप्रेक्ष्य का केन्द्र गोचर पक्ष से निर्धारित नहीं होकर विनियोजन की वासना से निर्धारित होता है....।[११]

इस प्रकार परम अनात्म-सत्ता-रूप सांख्यीय प्रकृति अविद्यावश आत्मोपाधि से उपहित होकर "मनुष्य के लिए संसार" रूप में परिणत होती है,[१२] वेदांत के समान यह यहां पुरुष या चैतन्य-कल्पित नहीं है। यह अविद्या और 'मनुष्य के लिए संसार-रचना' किसी समय शून्य से आरम्भ नहीं होती, यह अनादि है। अविद्या-जन्य होने से यह दुःखात्मक और इस प्रकार मूल्य-चेतना-प्रविष्ट है, यद्यपि यह स्वयं मूल्य-विपर्यय (डिस्वेल्यू) है, अनादि होने से यह प्रयत्न-जन्य नहीं होकर चेतना की सहजात है, किन्तु आत्मोपाधि होने से यह आत्म-सम्बद्ध भी है : अर्थात् यद्यपि सांख्यीय पुरुष नितांत अलिप्त और निष्क्रिय चैतन्य है[१३] जो सृष्टि-क्रिया (मनुष्य के लिए संसार)

---

१०. **विषय और आत्म**, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, १९७२ : पृ० १७

११. वही, पृ० १८

१२. यद्यपि सांख्य आत्मौपाधिक सृष्टि को तिर्यगों से देवों तक मानता है (का० ५३), किन्तु इन्हें उचित रूप में मनुष्य की ही निष्कृष्टतर और उत्कृष्टतर अवस्थाओं के रूप में देखना चाहिए, स्वतन्त्र आत्मोपाधियां नहीं।

१३. अकर्तृभावश्च, का० १९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



में प्रकृति के साथ सम्मिलित नहीं होता, किन्तु प्रकृति की पीड़ा, दुःख और मोक्षाकांक्षा उसी को लेकर है।[१४] अन्यथा भी, 'आत्मोपाधि' और 'अनात्म' शब्दों का कुछ अर्थ नहीं रहता यदि मानव-संसार आत्म-सम्बद्ध नहीं होता। यह निष्कर्ष इस बात से और पुष्ट होता है कि सांख्य ने पुरुष की सत्ता "मोक्ष-प्रवृत्ति होने से" निगमित की है। सांख्य के अनुसार, यद्यपि मोक्ष-प्रवृत्ति बुद्धिमूलक ही है, क्योंकि पुरुष आविल हो ही नहीं सकता और इस प्रकार उसमें कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु यह प्रवृत्ति प्रकृति मे अपने लिए नहीं हो सकती, यह पुरुष के लिए ही हो सकती है। दूसरे शब्दों में, परम मूल्य आत्म-अनात्म संयुत, त्रिकासमान तथा ऐतिहासिक नहीं है, यह स्वरूप-विश्रांत, निरपेक्ष और आत्म-पूर्ण सत्ता है। किन्तु तब भी, अनात्म के लिए यह नितांत बाह्य और इतर भी नहीं है, यद्यपि सत्ता की दृष्टि से अनात्म स्वरूपस्थित निरपेक्ष तत्त्व ही है। अर्थात् सांख्य के अनुसार अनात्म आत्मगत दोष नहीं है, किन्तु तब भी यह उससे सम्बद्ध, उसका निरूपक, उससे अवच्छिन्न और उसका व्यंजक है और अतएव इसका कार्य अपना अतिक्रमण तथा अपना विलयन है : प्रतीक अपने अर्थ का व्यंजक भी होता है और उसका उपाहक भी, किन्तु तब भी उसकी सार्थकता अपने को अधिकाधिक अप्रकट रखने में, पारदर्शी होने में, होती है। ठीक यही कार्य मानव-संसार का है जो पुरुष अथवा आत्म को प्रकट कर अपने को निष्प्रयोजन बना लेता है। किन्तु अपार-दर्शी होने पर यह प्रतीक ही के समान अपने अर्थ को, अपने निरूप्य को, उपहित कर लेता है।

× × × ×

देहाभिमान पर्यन्त विकृति के विभिन्न स्तरों को प्रस्तुत बाह्य विषय संयुक्त रूप से संसार है। विकृति और प्रस्तुत विषय में एक मौलिक अन्तर है : विकृति जब कि सत्-परिणाम है, प्रस्तुत विषय केवल प्रातिभासिक हैं। इसे सांख्य ने क्रमशः लिंग-सृष्टि और भाव-सृष्टि कहा है। भाव-सृष्टि प्रकृति-परिणामात्मक नहीं है, यह इन स्तरों पर प्राप्त प्रज्ञप्तियों (कोजिटो) की अंतर्वस्तु (कांटेंट) है। इस प्रकार यह भौतिक विश्व देहाभिमान (संवेदन) का अन्तर्वस्तुभूत प्रतिभास, अथवा कहें देहात्म का समानान्तर भाव, है। किन्तु यह अभिमान या विषयी पक्ष भी प्रकृति—विषय-सत्ता—का ही कार्य होने से, हुस्सर्लीय आत्म के समान अतिक्रामी नहीं है, यह अपना विषय भी है और इस विषय का विषयी भी। विषयी-रूप में यह अहं और विषयरूप में मम है—मेरी देह, मेरा अहंकार, मेरी बुद्धि इत्यादि। यह मदीयत्व यद्यपि इसे आत्मबाह्य बनाता है किन्तु तब भी प्रातिभासिक विषय के स्तर पर नहीं लाता, अर्थात् 'मेरी देह' और 'मेरा मेज' पदों में वाच्य सम्बन्धों के रूप बिल्कुल भिन्न हैं। प्रथम में 'मम' अहं-विशिष्ट है, अथवा कहें अहं मदीयत्व को

१४. द्रष्टव्य कारिका १७, पूर्वोद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


प्राप्त है । वास्तव में सांख्यीय प्रकृति के विषय होने के कारण इनमें पहला विकल्प ही ठीक मालूम देता है । किन्तु जैसाकि हमने पीछे संकेत किया, प्रकृति की विषयता इस बात में है कि यह पुरुष-बाह्य और इस प्रकार अनात्म है, इस बात में नहीं कि वह बाह्य विषय रूप में प्रतिभासित होती है । 'अनात्म' और 'प्रतिभास' में अन्तर करना आवश्यक है । अनात्म अनिवार्यतः आत्म-सम्बद्ध है, यह आत्म-विषयक दोष है, यद्यपि सांख्य के अनुसार इसका अधिष्ठान आत्म में नहीं होकर उससे स्वतन्त्र है । यह दोष उस अवस्था में आत्म में होता यदि आत्म स्वरूपतः पूर्ण,गुण-दोषातीत, नहीं होता । प्रायः सब भारतीय दर्शनों के लिए यह अनवधार्य है कि आत्म अथवा चैतन्य पूर्यमान् अथवा विकासमान् सत्ता हो । आत्म के स्वरूपतः पूर्ण सत् होने से उनके लिए अनात्म की विद्यमानता और उसके अधिष्ठान का प्रश्न एक बड़ी समस्या है । वेदांत ने इसे असत् मानकर इसका अधिष्ठान चैतन्य में माना है और सांख्य ने इसे असत् मानकर इसका अधिष्ठान स्वतन्त्र (प्रकृति में) माना है । किन्तु अनात्म, जोकि दोष है, का अधिष्ठान स्वतन्त्र नहीं मानने पर इसे आत्मगत दोष मानना अनिवार्य होगा और इस प्रकार आत्म को स्वरूपान्वेषी और ऐतिहासिक मानना होगा, जोकि वेदांत को अस्वीकार्य है । इसलिए वेदांत के लिए अनात्म की विद्यमानता एक समस्या है जो सांख्य के लिए उस प्रकार नहीं है ।

किन्तु इस पर वेदांत की ओर से आपत्ति हो सकती है कि अनात्म, अथवा कहें दोष, के असत् होने से यह आत्म की पूर्णता का खंडन नहीं कर सकता । किन्तु यह सही नहीं है । अनात्म की सदोषता और इस प्रकार असत्ता वास्तव में आत्म के प्रसंग से ही है, स्वतंत्र रूप से नहीं । उदाहरणतः भित्ति पर लटके चित्र में यदि कोई दोष है तो यह उस चित्र के प्रसंग से अनात्म है और उसी दृष्टि से वह असत् भी है, क्योंकि चित्र की आत्मा में उसके लिए कोई स्थान नहीं हो सकता । अब हमारे सामने यह विकल्प है कि हम चित्र को स्वरूपतः पूर्ण सत् मानें और दोष का अधिष्ठान केवल रंग और रेखाओं में मानें या कि दोष को रंग-रेखाओं सहित चित्रगत मानें और इस प्रकार चित्र को संभाव्य रूप से पूर्ण मानें । सांख्य प्रथम विकल्प स्वीकार करता है और वेदांत दूसरा, किन्तु वेदान्त दूसरे विकल्प का यह निष्कर्ष स्वीकार नहीं करता कि तब आत्म को स्वरूप-विश्रांत पूर्ण सत् नहीं माना जा सकता, इसे विकासमान् पूर्णता मानना होगा । यदि वेदांत इसका उत्तर यह दे कि निवारित दोष अपनी असत्ता प्रकट कर काल-बाह्य भी हो जाता है और इस प्रकार दोष केवल प्रातीतिक रूप से ही वास्तव (कालगत) है, प्रकट होने पर वह "यह वस्तुतः कभी नहीं था" इस रूप में आत्म की पूर्णता प्रकट कर देता है, तो हमें वेदांत की स्थिति स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि अब यह केवल शाब्दिक अन्तर है ।

इस प्रकार सांख्य के लिए आत्मोपाधि आत्म की उपाधि होने के रूप में ही असत् है, अन्यथा यह सत् प्रकृति में अधिष्ठित है । किन्तु सांख्य के सत्कार्यवादी होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


से उसके लिए कोई विकार परिवर्तन नहीं है, वह केवल रूपांतर मात्र है। किन्तु यहां स्थिति वास्तव में उससे भिन्न है और इसे सांख्य दार्शनिकों ने देखा प्रतीत नहीं होता। वे "दूध से दही" परिणाम के चित्र से भ्रमित होते रहे। विकृति का मूल और आश्रय अविद्या है। अविद्या और कुछ नहीं यह प्रकृति का पुरुष से, अथवा कहें अनात्म का आत्म से अविवेक है। यह इस बात से भी सिद्ध है कि अविवेक की समाप्ति से विकृति का भी लय हो जाता है। विभिन्न विकार वास्तव में आत्मोपाधि की ही विभिन्न वृत्तियां मात्र हैं। अथवा कहें, आत्मोपाधि की अभिव्यक्ति विभिन्न कोटिक है और बुद्धि, अहंकार आदि तार्किक कोटियां मात्र हैं और इनमें क्रम, जैसाकि हमने पीछे भी कहा, तार्किक क्रम मात्र है। इसीसे साँख्य यह स्वीकार नहीं करता कि बुद्धि की उत्पत्ति के पश्चात् अनुगामी विकारों की उत्पत्ति रोकी जा सकती है या रुक सकती है, न वह यही मानता है कि निम्नतर स्तरों का विवेक हो जाने पर उन स्तरों की देह विलीन हो जाती है, उसके अनुसार बुद्धि-देह का लय होने तक शेष सब स्तरों के देह भी बने रहते हैं। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि यदि विकृति-क्रम विभिन्न स्तरीय आत्मोपाधि मात्र है, अथवा कहें, आत्म का किसी स्तर की उपाधि के साथ तादात्म्य मात्र है, तो बुद्धि, अहंकार आदि में कोई क्रम नहीं देखना चाहिए, क्योंकि तब यह तादात्म्य किसी भी स्तर पर हो सकता है और अन्य स्तर अनुपलब्ध या निष्क्रिय रह सकते हैं। अथवा, इस क्रम को केवल सूक्ष्मता के क्रम में देखा जा सकता है। वास्तव में सांख्य के विभिन्न आचार्यों ने इसे सूक्ष्मता के क्रम में ही देखा प्रतीत होता है। किन्तु इस क्रम को एक अन्य प्रकार से भी देखा जा सकता है जो सांख्य की दृष्टि के अधिक अनुकूल होगा, और वह है विषय-निरोध का क्रम। यह क्रम वास्तव और श्रम-साध्य है और इसमें यह सम्भव नहीं है कि ऊपर की कोटि का निरोध नीचे की कोटि का निरोध किये बिना किया जा सके। यद्यपि यह सम्भव है कि ऊपर की कोटि का निरोध सीधे ही किया जा सके, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि उससे नीचे की कोटियों का निरोध नहीं हो। इस निरूपण के औचित्य की पुष्टि अविद्या या संसार को अनादि किन्तु सान्त मानने से भी होती है। अनादि होने से इसकी विकृतियों के आविर्भाव में कोई क्रम नहीं हो सकता किन्तु सान्त होने से निरोध में क्रम हो सकता है। इसे एक दूसरी तरह भी देखा जा सकता है—बुद्धि की अहंकार से प्राथमिकता उत्पत्ति-क्रम में नहीं हो सकती, क्योंकि बुद्धि अत्यन्त सामान्यात्मक और विवेकात्मक होने से अहंकार को जन्म नहीं दे सकती। अन्यथा भी, सांख्य के सत्कार्यवादी होने से बुद्धि में अहंकारादि समस्त अनुक्रम का पूर्वनिहित होना अनिवार्य है। वास्तव में व्यक्ति की उत्पत्ति के लिए, दूसरे शब्दों में, पुरुष के संसारावतरण के लिए, अहंकार को प्रथम होना चाहिए और बुद्धि को द्वितीय, क्योंकि पूर्णतः निरहंकार-बुद्धि निर्वैयक्तिक बुद्धि ही हो सकती है। किन्तु अहंकार को प्रथम मानने पर मोक्षान्वेषण के क्रम में, प्रकृति के आत्म-विवेक के क्रम में, अथवा कहें, संसार के आत्म-विघटन के प्रयत्न के क्रम में, अहंकार का अतिक्रमण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


सम्भव नहीं होगा, या फिर विवेक का अधिष्ठान पुरुष में मानना होगा। इस प्रकार सांख्य के लिये बुद्धि की प्राथमिकता वास्तव में आरोहण-क्रम में अन्तिमता है। अब, निवर्तन के क्रम में बुद्धि आत्म-अनात्म के विवेक द्वारा अहंकार का अतिक्रमण करती है और अन्ततः इसी विवेक द्वारा अपनी भी अवच्छेदकताओं का अतिक्रमण करती है।

किन्तु वास्तव में निवर्त्तन में भी सोपान-क्रम को वास्तव सोपानों के रूप में नहीं देखकर मूल्यात्मक कोटि-क्रम के रूप में ही देखना चाहिए, क्योंकि मूल्यात्मक वस्तुस्थिति में भौतिक देह अहंकार का दैशिक संसार में अनुयोग है और मनस् का संवेदात्मक व्यापार है। इस प्रकार देह से निवर्तन वास्तव में देहाभिमान का निरोध अथवा क्षय मात्र है। यह द्रष्टव्य है कि भौतिक देह का अस्तित्व सांवेदनिक है यद्यपि उसका स्वरूप देहाभिमान है। अब इस मूल्यात्मक आरोहण अथवा निवर्तन में **देह के अस्तित्व का**, संवेदन का, क्षय अभिप्रेत या वांछित नहीं है, केवल देहात्म का क्षय वांछित है, यद्यपि अहंकारमूलक अवच्छिन्नता के पूर्ण क्षय के लिए बुद्धि-पर्यन्त देहों (अवच्छिन्नताओं) के अस्तित्व का क्षय भी आवश्यक होगा। इस प्रकार सृष्टि-परक प्रवर्तन और निवर्तन वास्तव में केवल अहंकार के प्रवर्तन और निवर्तन मात्र हैं, अस्तित्व के नहीं।

सांख्य की इस व्याख्या पर सन्देह हो सकता है कि यह उसके परिणामवाद से मेल नहीं खाती, क्योंकि परिणाम जनन-क्रम का ही एक प्रकार है, और दूसरे, सांख्य ने बुद्धि आदि को 'लिंग' कहा है जिससे यह धारणा और पुष्ट होती है। किन्तु इसके विरुद्ध सांख्य के सत्कार्यवाद को प्रस्तुत किया जा सकता है जिसके अनुसार कार्य केवल कारण का प्रस्फुटन या अभिव्यक्ति मात्र है। इस प्रकार कोई उत्पत्ति नवीन उत्पत्ति नहीं है। हमारा प्रस्ताव केवल यह है कि यदि इस प्रस्फुटन को कालक्रमात्मक रूप में देखा जायगा तो यह सांख्य के अपने मूल आशय के विपरीत होगा, यद्यपि सांख्याचार्यों ने इस परिणाम को समझाने के लिए जिन उपमाओं का प्रयोग किया है वे सभी कालक्रमात्मक हैं। यह परिणाम वास्तव में अवधारणा या प्रत्यय के मूल आशय की अभिव्यक्ति जैसा है, जो लोक में अपनी अभिव्यक्ति के क्रम में काल को उत्पन्न करता है, अथवा कहें काल का सहजात है, किन्तु जो अपनी अलौकिक सत्ता में कालोत्तर है। वास्तव में सांख्य के परिणामवाद को केवल वेदांत के विवर्तवाद के प्रसंग में ही देखना चाहिये, जिसका अर्थ है कि सांख्य अवच्छेदों और उपाधियों का उपादान कारण चैतन्य-बाह्य मानता है, यद्यपि इनका अर्थ चैतन्यपरक मानता है।

× × × × ×

सांख्य के अनुसार प्रकृति एक ओर परम सामान्य है तथा पुरुष अनेक और अणु हैं। पुरुष की अनेकता के लिए सांख्य ने जो प्रमाण दिये हैं वे लौकिक अनुभव और मोक्षाकांक्षा की व्यक्तिमूलकतापरक हैं। उसके अनुसार, एक के अन्धा होने पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


सब अन्धे नहीं होते, एक के जन्मने-मरने पर सब नहीं जन्मते-मरते, मोक्ष-मार्ग में सब अलग-अलग स्तरों पर हैं। प्राचीन सांख्याचार्यों ने इन प्रमाणों की युक्तता के पक्ष में कोई तर्क नहीं दिये हैं, केवल इन प्रमाणों का उल्लेख मात्र कर दिया है। आधुनिक चिंतकों ने इनकी खिल्ली उड़ाई है क्योंकि प्रकटतः ये बालिशतापूर्ण और सांख्य की मूल अवधारणा से विसंगत हैं। किन्तु हमारे विचार में, थोड़ा गहराई से देखने पर इन प्रमाणों की उपयुक्तता देखी जा सकती है।

यहां पहले हमें सांख्य के इन तर्कों का स्वरूप समझना चाहिए। लंगड़ा, अंधा आदि एक तो भौतिक शरीर के विकार हैं। इस रूप में ये अंशतः वैसे ही हैं जैसे टूटे मेज, कुर्सी आदि। किन्तु इनका एक दूसरा अर्थ भी है, इस अर्थ में ये आत्मौपाधिक देह की—देहात्म की—क्रियाशक्ति के वाधित होने के सूचक हैं; ये मेरे अभाव, मेरी असमर्थता को दर्शाते हैं। इस रूप में ये दोष या लक्षण व्यक्ति के अंतरंग हैं। जैसाकि हमने पीछे कहा, सांख्य के अनुसार प्रकृति की वैयक्तिक अवच्छिन्नता सत् है, वह वेदांत के समान इसे असत् नहीं मानता। इसलिए सांख्य के लिए यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इन वैयक्तिक अवच्छिन्नताओं का स्रोत क्या है?

प्रकृति के नितान्त सामान्य होने के कारण प्रकृति से उत्पन्न अहंकार को भी सामान्य और वैश्व होना चाहिए। ईश्वर ऐसा अहंकार हो सकता है। किन्तु जैसा हम देखते हैं, अहंकार वैश्व नहीं होकर व्यक्तिरूप है। अब, इस वैयक्तिक अहंकार का स्रोत प्रकृति नहीं हो सकती, यह कोई दूसरा होना चाहिए। यह स्रोत चैतन्य में है। इसलिए चैतन्य को अणु-रूप में कल्पित करना उचित है, क्योंकि यदि चैतन्य को भी अद्वय और सामान्य सत्ता के रूप में कल्पित किया जाय तो वैयक्तिक अवच्छिन्नताओं की व्याख्या करना कठिन होगा। इस प्रकार चैतन्य की आणविकता अनुभव-मूलक प्रमाणों से संकेतित होती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चैतन्य स्वयं भी वैयक्तिकता की अवच्छेदकताओं से निर्धारित किया जा सकता है। ये निर्धारण चैतन्य पर लागू नहीं किये जा सकते। इस प्रकार चैतन्य के लिए 'एक', 'अनेक' आदि विशेषणों का प्रयोग इस रूप में ही किया जा सकता है कि 'मानो वह ऐसा है'। किन्तु यह उतना ही सही उसे अखंड सत्ता कहने में भी है। उसका कोई भी निरूपण 'मानो ऐसा है' इस प्रकार का ही हो सकता है। इस प्रकार, चैतन्य की अणुता और अनेकता को अतिक्रामी अणुता और अतिक्रामी अनेकता ही कहा जा सकता है। अर्थात् पुरुष वैयक्तिक अवच्छिन्नताओं के अतिक्रामी मूल के रूप में आणविक सत्ता है। इस प्रकार सांख्य द्वारा निरूपित स्वरूपविश्रांत, निरवच्छिन्न चित् सत्ता को अनेक कहने में और उसके लिए आनुभविक अवच्छिन्नताओं को प्रमाण के रूप से प्रस्तुत करने में कोई बेतुकापन नहीं है, क्योंकि चित् की अणुता वैयक्तिकता का अतिक्रामी विधायक होने के रूप में ही देखनी चाहिए, वास्तव अणुता में नहीं।

किन्तु पुरुष का संसार में 'अनुयोग' केवल इतना ही नहीं है। संसार प्राकृतिक होने पर भी स्वतः नहीं है ( संघात परार्थत्वात् ), क्योंकि पुरुष के बिना संसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की मानवीय उत्पत्ति नहीं होती । मानवीय संसार प्राकृतिक होने पर भी आत्मसम्बद्ध है, जो इसकी मोक्षाकांक्षा (विषय से स्वतन्त्रता की आकांक्षा) से स्पष्ट है । इस प्रकार संसार पौरुषिक नहीं होकर भी पुरुष से है—इसे असंसक्त पुरुष का संसारावतरण भी कह सकते हैं । वास्तव में, सांख्य जब प्रकृति को पुरुष की भोग्या कहता है और आत्मौपाधिक लिंग-सृष्टि को भोगायतन, तब इसका यही अर्थ लेना चाहिए । पुरुष अतिक्रामी भोक्ता है । अर्थात् प्रकृति में मोक्षाकांक्षा की विद्यमानता इसे विषय रूप में प्रकट करती है और इसकी यह विषयता एक ओर अप्रस्तुत विषयी को प्रकट करती है और दूसरी ओर अन्वेष्य आत्म को ।

किन्तु 'पुरुष का संसारावतरण' कहने में स्पष्ट वदतोव्याघात दिखाई देता है, क्योंकि संसार अनात्म की आत्मौपाधिक सृष्टि है और परिणामतः संसार को पुरुषावतरण कहने का अर्थ होगा आत्म का अनात्म-भाव, अथवा कम से कम उसकी अनात्मोन्मुख वृत्ति । जिन्होंने संसार को पुरुषावतरण के रूप में देखा है वे चैतन्य को अनिवार्यतः अनात्मवृत्तिक (विषयापेक्षी) मानते हैं, उदाहरणतः फिनोमिनलोजीवादी; वेदांत आत्म को स्वरूप-विश्रान्त मानकर भी अद्वैतवादी होने के कारण उसका संसारावतरण (विवर्त) मानने को बाध्य है, किन्तु सांख्य अनात्म को स्वरूपसत् मानकर आत्म को अनात्मवृत्ति से पूर्णतः स्वतंत्र रख सकता है । ऐसी अवस्था में पुरुष के संसारावतरण का अर्थ केवल अनात्म का परार्थ होना और अपने इस अर्थ को व्याकृत करना है ।

आत्म और अनात्म का सम्बन्ध वास्तव में दर्शन की कठिनतम समस्या है । वेदान्त अविद्या को अनादि और चैतन्य को एकमात्र सत् मानकर अनात्म को आत्म के भीतर स्थान देने को बाध्य है, और वास्तव में वह अनात्म का अधिष्ठान आत्म में मानता भी है । किन्तु आत्म और अनात्म के विपरीत कोटियां होने से इसमें वदतोव्याघात है और परिणामतः वेदांत इससे बचने के लिए आत्म को स्वरूपविश्रांत और अनात्म को असत् उपाधि कहता है । किन्तु जैसाकि हमने पीछे देखा, उपाधि की असत्ता वास्तव में आत्मरूप में ही हो सकती है, अनात्मरूप में नहीं, क्योंकि यदि इसे अनात्मरूप में भी असत् कहा जाय तो आत्म को अनात्मवृत्तिक मानना अनिवार्य होगा जैसाकि फिनोमिनलोजीवादी मानते हैं । इस अवांछनीय विकल्प से बचने के लिए अनात्म को औपाधिक रूप में असत् किन्तु स्वरूपसत् मानना अनिवार्य हो जाता है, जैसाकि सांख्य मानता है ।

आत्मोपाधि और तन्मूलक संसार अविद्यारूप और असत् है । यह स्वरूप-भ्रांति अथवा अविद्या यद्यपि प्रकृतिगत ही है किन्तु यह यथार्थ आत्म से प्रसक्त हुए बिना अविद्या नहीं कही जा सकती । इस प्रसंग में ही यह अनात्म है, जैसाकि हमने पीछे कहा । यद्यपि यह विकल्प वदतोव्याघात नहीं है कि आत्मोपाधि को आत्म के प्रसंग के बिना भी प्रकृतिगत अविद्या माना जाय और इसके क्षय को अविद्या का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


क्षय, किन्तु तब यह प्रकृतिगत विवेचन की प्रक्रिया मात्र होगी—पानी के ऑक्सीजन और हाइड्रोजन में विवेचित होने जैसी, और तब यह आत्मोपाधि दुःख और मूल्य-विपर्यय नहीं होगी और परिणामतः इसका निरास आनन्द, मूल्य और परम साध्य नहीं होगा। वास्तव में अहंकार का अनात्म के रूप में ग्रहण दोष या दुःख के रूप में ग्रहण है और इसका निवारण मूल्य है। यद्यपि यह निवारण इसलिए मूल्य है, क्योंकि आत्म परम मूल्य है, किन्तु आत्म साध्य नहीं है, क्योंकि यह स्वरूपसिद्ध है, साध्य केवल असत् का निरास है, क्योंकि वह दोष है।

× × × ×

दोष दुःख है और इस दुःख पर मनन विवेक को उत्पन्न करता है। दुःख से प्रथम साम्मुख्य पीड़ा के रूप में देहात्म के स्तर पर होता है और इस दुःख पर मनन देह को आत्म से भिन्न और बाहर स्थापित कर महाभूतों के रूप में ग्रहण करता है। इसी प्रकार क्रमशः तन्मात्रों और इन्द्रियों का मनस् में और मनस् का अहंकार में तथा अहंकार का बुद्धि में प्रकृति को समर्पण किया जाता है। इन उपाधियों से निवृत्त बुद्धि तब आत्म का अपनी-अपनी वृत्ति में ग्रहण करती है। बुद्धि की यह आत्म-वृत्ति बुद्धि को स्वयं प्रकृति-रूप में प्रकट कर बुद्धि का विलयन घटित करती है।

आत्म का संज्ञान या अवगमन केवल बुद्धि-वृत्ति के माध्यम से ही होता है। वास्तव में बुद्धि की अहंकार से पूर्वता इसी बात में है कि यह एक ओर विशिष्ट अवधारणाओं से परे प्रकृति की शुद्ध एतत्ता का ग्रहण कर सकती है और दूसरी ओर स्वरूपविश्रान्त आत्म के आभास से अपनी प्राकृतिकता (विषयरूपता) का ग्रहण कर सकती है।

किन्तु आत्म का यह ग्रहण बुद्धि-वृत्ति का ही स्फुरण है, जोकि अनात्म है, आत्म से इसकी 'अनुरूपता' अथवा 'सामीप्य' केवल इसके अहंकार से अबाधित होने से ही है। इस प्रकार स्वयं आत्म का संज्ञान या अवगमन सम्भव नहीं है, वह पूर्णतः अतिक्रामी है। यह द्रष्टव्य है कि आत्म की यह अतिक्रामिता केवल प्रकृति के सन्दर्भ में ही है, यह आत्मातिक्रामी नहीं है। सांख्य ने आत्म को स्वप्रकाशक तक नहीं माना है, केवल प्रकाशस्वरूप माना है, स्वप्रकाशक मानने पर यह कहा जा सकता था कि वह अपने को अपने लिए प्रस्तुत करता है और इस प्रकार वह अपना विषयकरण और अपना अतिक्रमण करता है। न ही वह डेकार्टीय ज्ञानक्रिया है जो अपने को अपने घटित होने में जानती है, अथवा कहें अपने होने और अपने को जानने के लिए अपने को घटित करती है, क्योंकि तब यह अनिवार्य, स्वरूप-सत् और स्वरूप-विश्रांत चैतन्य नहीं होकर एक ऐसी आगन्तुक घटना होती जो एक-साथ आत्मवित् और पराङ्मुख है। इस प्रकार सांख्य के आत्म (पुरुष) को पराक् नहीं कहा जा सकता, यद्यपि वह प्रत्यक् अथवा आत्मप्रत्यक् भी नहीं है। किन्तु यह तीन प्रकार से पराक् है, एक इस प्रकार कि यह इसकी कोटियों के लिए अनवगम्य और अनिर्धार्य है, दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


इसलिए क्योंकि यह इसका अतिक्रामी प्रवर्तक है, और तीसरे इसलिए क्योंकि संसार इसकी ओर अपना अतिक्रमण करता है। इस दूसरी और तीसरी प्रकार की अतिक्रामिता का प्रतिपादन ही सांख्य ने 'संघात परार्थत्वात्' से किया है। अर्थात् प्रकृति स्वतःपूर्ण नहीं है, यह सापेक्ष है, इसका अर्थ पुरुषापेक्ष है। किन्तु पुरुषापेक्षा प्रकृति में है, पुरुष में नहीं। यह अपेक्षा अनुरागात्मक–आसक्त्यात्मक होने पर आत्मोपाधियों का प्रवर्तन होता है और विरागात्मक होने पर ये उपाधियां लुप्त हो जाती हैं और प्रकृति मूल्य-रहित वस्तु के रूप में उपेक्षित और निषिद्ध हो जाती है। इस प्रकार संसार का प्रवर्तन (सर्ग) और निवर्तन (लय) अतिक्रामी मूल में है।

× × × × ×

सांख्य द्वारा संसारगत सब कोटियों का अन्तर्भाव प्रकृति में कर लेने के कारण और पुरुष को निष्क्रिय मानने के कारण कुछ लोग इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि सांख्य में पुरुष और मोक्ष आरोपित अवधारणाएं हैं अन्यथा सांख्य वस्तुवादी दर्शन के रूप में एक पूर्ण व्यवस्था है। किन्तु जैसाकि हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, सांख्य की प्रकृति भौतिक द्रव्य नहीं है जिससे भौतिक-रासायनिक प्रक्रियाओं से मन, बुद्धि आदि की उत्पत्ति होती है। उसके अनुसार यह उत्पत्ति विषय को आत्मरूप में, एतद्,को अहं रूप में, ग्रहण करने से होती है। उसके लिए मानव-संसार दुःख, अनात्म और दोष है जिसका निषेध–अतिक्रमण–परम साध्य है। वास्तव में सांख्यीय प्रकृति आत्म-व्याकृत विषय है जिसकी दुःखात्मकता, निरर्थकता और रिक्तता प्रकट हो गई हैं और संसार आत्म-विवेचन का क्रम है जो क्रमशः अपनी निरर्थकता प्रकट कर निरस्त हो जाता है। इस प्रकार साँख्य मौलिक रूप से एक मूल्य दर्शन है।

**राजस्थान विश्वविद्यालय**
जयपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# डेविड ह्यूम का नैतिक दर्शन

वेदप्रकाश वर्मा

## १. प्रारम्भिक

प्राचीनकाल से वर्तमान युग तक पाश्चात्य नैतिक दर्शन के इतिहास में एक ओर बुद्धिवादी विचारधारा तथा दूसरी ओर भावनामूलक विचारधारा के समर्थकों में प्रायः संघर्ष चलता रहा है। प्रथम विचारधारा के अनुसार समस्त नैतिक प्रत्यय तथा निर्णय मनुष्य की तर्कबुद्धि पर ही आधारित होते हैं और नैतिक आचरण के क्षेत्र में यह तर्कबुद्धि ही उसका मार्गदर्शन करती है। इस विचारधारा में मनुष्य की भावनाओं, मूल प्रवृत्तियों, इच्छाओं तथा उसके मनोवेगों को नैतिक आचरण की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं दिया गया और उसकी तर्कबुद्धि को प्रधान मानकर इन सबको उसके नियंत्रण में रखना आवश्यक माना गया है। पश्चिमी दर्शन के विकास के प्रारम्भिक काल में सुकरात, प्लेटो, अरस्तु आदि महान यूनानी विचारकों ने तथा सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में कडवर्थ, क्लार्क, वोलेस्टन, रीड, प्राइस, स्पिनोज़ा, कान्ट आदि दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में इसी बुद्धिवादी विचारधारा का समर्थन किया है। इस विचारधारा के विपरीत भावनामूलक विचारधारा के समर्थक मनुष्य की तर्कबुद्धि को गौण मानकर नैतिक आचरण के लिये उसकी भावनाओं, स्वाभाविक वृत्तियों तथा उसके मनोवेगों को ही अधिक महत्त्व देते रहे हैं। ऐरिस्टिपस, ऐपिक्यूरस, सेंट फ्रान्सिस, शेफ़्ट्सबरी, हचिसन, बैन्थम, मिल, बैस्टरमार्क आदि विचारकों ने नैतिक आचरण की दृष्टि से मनुष्य का मार्गदर्शन करने के लिये किसी न किसी रूप में इस भावनामूलक विचारधारा को ही स्वीकार किया है। इन विचारकों का मत है कि हमारे नैतिक प्रत्ययों एवं निर्णयों का मूल आधार हमारी तर्कबुद्धि न होकर भावना अथवा अनुभूति ही है जिससे प्रेरित होकर हम समस्त कर्म करते हैं। तर्कबुद्धि का कार्य भावनाओं या मनोवेगों को नियंत्रित करना नहीं अपितु उनके द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति में हमारी सहायता करना ही है। इस प्रकार इन विचारकों के मतानुसार नैतिक आचरण की दृष्टि से मनुष्य की तर्कबुद्धि वास्तव में उसकी भावना अथवा अनुभूति की सेविका मात्र है।

अट्ठारहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध अनुभववादी दार्शनिक डेविड ह्यूम (१७११–१७७६) ने भी बुद्धिवादी विचारधारा के विपरीत इसी भावनामूलक विचारधारा का प्रबल समर्थन किया है। यह कहना शायद अनुचित न होगा कि उनके नैतिक दर्शन में ही इस विचारधारा का पूर्ण विकास हुआ है। उनके नैतिक दर्शन पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


शैफ्ट्सबरी तथा हचिसन के विचारों का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। नारमन कैम्प-स्मिथ ने अनेक प्रमाणों द्वारा अपने इस मत की पुष्टि की है कि नैतिक आचरण सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय ह्यूम प्रायः हचिसन से परामर्श लेते रहते थे और हचिसन के विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने तर्कबुद्धि के स्थान पर भावना को ही नैतिक निर्णयों का मूल आधार स्वीकार किया।[1] वस्तुतः स्वयं ह्यूम ने भी स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि उनके नैतिक दर्शन पर हचिसन के भावना-प्रधान नैतिक सिद्धांत का बहुत प्रभाव पड़ा है। अपने नैतिक दर्शन पर हचिसन के विचारों के प्रभाव का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि "...श्री हचिसन ने अनेक विश्वसनीय तर्कों द्वारा हमें यह सिखाया है कि नैतिकता वस्तुओं के अमूर्त स्वभाव में निहित न होकर व्यक्ति की भावना से ही सम्बद्ध रहती है। जिस प्रकार मीठा-कड़वा, ठंडा-गर्म आदि व्यक्ति विशेष के स्वाद एवं स्पर्श से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार नैतिकता का सम्बन्ध भी व्यक्ति विशेष की भावनाओं से ही होता है, अतः नैतिकता को बौद्धिक न मानकर भावना-प्रधान ही मानना चाहिये।"[2] हम अगले खण्डों में देखेंगे कि हचिसन की भाँति ह्यूम ने भी मनुष्य के समस्त नैतिक प्रत्ययों तथा निर्णयों को तर्कबुद्धि पर आधारित न मानकर भावनाओं अथवा मनोवेगों पर ही आधारित माना है। इसके अतिरिक्त वे सुखवाद एवं उपयोगितावाद का पूर्णतः समर्थन करते हैं और नैतिकता को स्वतःसाध्य न मानकर व्यक्ति के सुख तथा समाज के कल्याण का साधन मात्र मानते हैं। उनके नैतिक दर्शन में व्यक्तिनिष्ठतावाद,संवेगवाद आदि कुछ समकालीन अधिनीतिशास्त्रीय सिद्धांतों का भी पूर्वाभास प्राप्त होता है। इसी कारण एयर, स्टीवेन्सन आदि संवेगवादियों ने ह्यूम के नैतिक दर्शन को अपने संवेगवाद का प्रेरणा-स्रोत माना है। इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक दर्शन के क्षेत्र में ह्यूम के विचारों का व्यापक प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि आज दो सौ वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी ह्यूम के नैतिक दर्शन के अध्ययन को बहुत महत्त्व दिया जा रहा है। उन्होंने अपने नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन १७३९–४० में प्रकाशित 'ए ट्रिटाइज़ आफ ह्यूमन नेचर' तथा १७५१ में प्रकाशित 'ऐन इन्क्वायरी कन्सरनिंग दि प्रिन्सिपल्ज़ ऑफ मारल्ज़' में किया है। हम अगले खण्डों में इन्हीं दो पुस्तकों के आधार पर उनके नैतिक दर्शन का विवेचन करेंगे।

## २. बुद्धिवाद का खण्डन

जैसाकि पिछले खण्ड में बताया गया है,ह्यूम बुद्धिवादी विचारधारा के विरुद्ध भावना-मूलक विचारधारा के दृढ़ समर्थक हैं। उन्होंने नैतिक दर्शन के क्षेत्र में

१. नॉरमन कैम्प-स्मिथ, 'दि फिलासाफी आफ डेविड ह्यूम', पृ० १२।
२. डेविड ह्यूम, 'ऐन इन्क्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग', पृ० १०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


कडवर्थ, क्लार्क आदि बुद्धिवादी दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित बौद्धिक अन्तःप्रज्ञावाद का खण्डन करके यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य के सम्पूर्ण नैतिक आचरण की मूल प्रेरणा तर्कबुद्धि नहीं अपितु भावना अथवा अनुभूति ही हो सकती है। बुद्धिवादी दार्शनिक यह मानते थे कि समस्त नैतिक निर्णय तर्कबुद्धि पर आधारित होने के कारण गणित-सम्बन्धी निर्णयों के समान ही अनुभव-निरपेक्ष तथा अपरिवर्तनशील होते हैं और बौद्धिक अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही मनुष्य को उसके कर्मों के औचित्य एवं अनौचित्य का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। पूर्णतः वस्तुनिष्ठ एवं निर्वैयक्तिक होने के कारण ये नैतिक निर्णय मनुष्य की भावनाओं तथा इच्छाओं द्वारा प्रभावित नहीं होते। प्रतिज्ञा भंग करना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि कर्मों में वैसा ही तार्किक आत्मविरोध है जैसा दो और दो को चार न मानने अथवा दो पूर्णतया समान रेखाओं को समान स्वीकार न करने में है। इस प्रकार बुद्धिवादी दर्शनिकों के मतानुसार मनुष्य के कर्मों का औचित्य एवं अनौचित्य उसकी इच्छाओं तथा भावनाओं पर निर्भर न होकर इन कर्मों के स्वभाव में ही निहित रहता है, अतः इनसे सम्बद्ध नैतिक निर्णय उसके मनोवेगों द्वारा प्रभावित नहीं होते।

बुद्धिवादियों के इस मत को अस्वीकार करते हुए ह्यूम ने कहा है कि हमारे कर्म तर्कबुद्धि द्वारा प्रेरित नहीं होते, अतः उसे नैतिक निर्णयों का आधार अथवा प्रेरणा-स्रोत नहीं माना जा सकता। यद्यपि उन्होंने तर्कबुद्धि की कोई स्पष्ट एवं निश्चित परिभाषा नहीं दी, फिर भी इस सम्बन्ध में उनके विचारों का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे तर्कबुद्धि को प्रत्ययों के सम्बन्धों तथा अनुभवाश्रित तथ्यों के ज्ञान तक ही सीमित मानते हैं। उनका मत है कि तर्कबुद्धि द्वारा हमें गणित एवं तर्कशास्त्र के अमूर्त प्रत्ययों के सम्बन्धों तथा विज्ञान और दैनिक जीवन से सम्बन्धित अनुभवजन्य तथ्यों का ज्ञान होता है। यह तर्कबुद्धि हमें कोई कर्म करने या न करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकती और न ही यह हमारे मनोवेगों को परिवर्तित अथवा नियंत्रित कर सकती है। हमारी भावनाएं अथवा इच्छाएं ही हमारे कर्मों की मूल अभिप्रेरणाएं हैं और वे ही हमारे समस्त लक्ष्यों को निर्धारित करती हैं। इस दृष्टि से तर्कबुद्धि नितांत निष्क्रिय है, अतः उसे नैतिक आचरण का आधार नहीं माना जा सकता। तर्कबुद्धि के विषय में अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "नैतिक प्रत्यय अथवा निर्णय हमें कर्म करने या न करने के लिए प्रेरित करते हैं। तर्कबुद्धि इस कार्य में पूर्णतः असमर्थ है, अतः नैतिकता सम्बन्धी नियम हमारी तर्कबुद्धि के परिणाम नहीं हैं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि तर्कबुद्धि का हमारे मनोवेगों तथा कर्मों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो इस बात का दिखावा करना व्यर्थ है कि नैतिकता का ज्ञान तर्कबुद्धि पर ही निर्भर है। शुभ-अशुभ सम्बन्धी नैतिक प्रत्ययों की उत्पत्ति तर्कबुद्धि से नहीं होती। तर्कबुद्धि पूर्णतया निष्क्रिय है, अतः कर्मों के प्रेरक नैतिक प्रत्ययों अथवा निर्णयों का उससे उद्गम नहीं हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


सकता।[3] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बुद्धिवादियों के विपरीत ह्यूम तर्कबुद्धि को मानवीय कर्मों की प्रेरणाशक्ति और मनोवेगों की नियंत्रिका के रूप में स्वीकार नहीं करते। यही नहीं, वे इसे हमारे कर्मों के लक्ष्यों को निर्धारित करने में भी नितांत असमर्थ मानते हैं।

परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि ह्यूम नैतिक आचरण की दृष्टि से तर्कबुद्धि के महत्व की पूर्णतया उपेक्षा करते हैं। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि भावनाओं अथवा स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के साधन के रूप में तर्कबुद्धि का महत्व है। हमारी तर्कबुद्धि उन परिस्थितियों का विश्लेषण करती है जिनके अन्तर्गत हम कर्म करते हैं। हम विश्लेषण के फलस्वरूप हमें अपने लक्ष्यों की पूर्ति में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त हमारी तर्कबुद्धि ऐसे उपयुक्त साधनों का भी चुनाव करती है जो हमारे लक्ष्यों की पूर्ति में सर्वाधिक सहायक होते हैं। इस प्रकार तर्कबुद्धि हमारी परिस्थितियों के समुचित विश्लेषण तथा सर्वाधिक उपयुक्त साधनों के चुनाव द्वारा हमारे लक्ष्यों की पूर्ति में बहुत सहायक सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त तर्कबुद्धि द्वारा हमें अपने कर्मों के सम्भावित परिणामों का भी ज्ञान हो जाता है जिसके आधार पर हम यह जान सकते हैं कि कौनसे कर्म हमारी इच्छाओं की पूर्ति में सहायक अथवा बाधक हो सकते हैं। इस दृष्टि से मनुष्य के नैतिक आचरण के लिए तर्कबुद्धि का पर्याप्त महत्व है। परन्तु ह्यूम के मतानुसार तर्कबुद्धि का यह महत्व उन लक्ष्यों की पूर्ति के साधन के रूप में ही है जिनका निर्धारण हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों अथवा इच्छाओं द्वारा ही होता है। इसी कारण उन्होंने तर्कबुद्धि को भावनाओं, इच्छाओं तथा मनोवेगों की नियंत्रिका न मान कर उनकी सेविका मात्र माना है। इस सम्बध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "तर्कबुद्धि मनोवेगों की सेविका मात्र है तथा होनी चाहिए और इन मनोवेगों की सेवा एवं आज्ञा में रहने के अतिरिक्त उसे अन्य कोई पद प्राप्त करने का अधिकार नहीं है।"[4] इस प्रकार ह्यूम नैतिक आचरण के लिए तर्कबुद्धि के महत्व का पूर्णतः निषेध तो नहीं करते, किन्तु वे उसे भावनाओं तथा इच्छाओं की स्वामिनी न मानकर उनकी दासी के रूप में ही स्वीकार करते हैं। हम आगे देखेंगे कि मानव-जीवन में तर्कबुद्धि के स्थान के सम्बन्ध में उनका यह मत पूर्णतः सत्य एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

वस्तुतः ह्यूम ने मनुष्य के नैतिक आचरण में भावनाओं अथवा मनोवेगों को ही सर्वोच्च स्थान दिया है। वे तर्कबुद्धि के स्थान पर भावना अथवा मनोवेग को ही नैतिकता का मूल आधार मानते हैं। यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि वह

---

३. डेविड ह्यूम, 'ए ट्रिटाइज़ ऑफ ह्यूमन नेचर', बुक ३, पृ. ४५७–४५८।
४. वही, पुस्तक, पृ. ४१५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


कौनसी भावना है जिस पर नैतिकता आधारित रहती है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ह्यूम ने कहा है कि 'परोपकार-वृत्ति' अथवा 'मानवता की भावना' ही नैतिकता का उद्‌गमस्रोत या मूल आधार है। हाब्स आदि स्वार्थवादियों के विरुद्ध उनका कथन है कि यह परोपकारवृत्ति अथवा मानवता की भावना मनुष्य के लिए उतनी ही स्वाभाविक है जितनी अपने सुख की कामना। इसी नैसर्गिक परोपकारवृत्ति के कारण हम दूसरों के लिए सुखद कर्म के प्रति अनुमोदन तथा उनके लिए दुःखद कर्म के प्रति अनुमोदन की भावना का अनुभव करते हैं। परोपकार-वृत्तिजन्य यह अनुमोदन की भावना ही कर्मों के शुभत्व का आधार है। शुभ कर्म वह है जिसके प्रति सभी या अधिकतर व्यक्ति अनुमोदन की भावना का अनुभव करते हैं और अशुभ कर्म वह है जिसके प्रति सभी अथवा अधिकतर व्यक्ति अनुमोदन की भावना का अनुभव करते हैं। इस प्रकार का शुभत्व तथा अशुभत्व स्वयं उनमें निहित न होकर मानवीय भावनाओं पर ही आधारित रहता है। इसी स्वाभाविक परोपकारवृत्ति के कारण हम दूसरों के सुख-दुःख के प्रति उदासीन नहीं रह सकते, सामान्य परिस्थितियों में हम उनके सुख से सुखी तथा दुःख से दुखी होते हैं। इसी परोपकारवृत्ति अथवा मानवता की भावना को नैतिकता का मूल आधार मानते हुए ह्यूम ने कहा है कि "इस बात को अस्वीकार करना सम्भव प्रतीत नहीं होता कि परोपकारवृत्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मनुष्य को महानता प्रदान नहीं कर सकता और कम से कम अंशतः यह महानता मानव-जाति के हितों की वृद्धि करने तथा मानव-समाज का कल्याण करने की इच्छा पर निर्भर होती है। ....यद्यपि यह मानवता की भावना अभिमान एवं महत्वाकांक्षा के समान प्रबल नहीं मानी जाती फिर भी सभी व्यक्तियों में विद्यमान होने के कारण केवल यही भावना नैतिकता की आधारशिला हो सकती है। जो आचरण मुझमें विद्यमान मानवता की भावना के कारण मेरा अनुमोदन प्राप्त करता है वही आचरण अन्य सभी व्यक्तियों में विद्यमान इसी भावना के कारण उनका भी अनुमोदन प्राप्त कर लेता है।"[५] इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम तर्कबुद्धि के स्थान पर मनुष्य की नैसर्गिक परोपकारवृत्ति को ही नैकिता की आधारशिला मानते हैं।

## ३. सुखवाद और उपयोगितावाद

ह्यूम ने समस्त नैतिक सद्‌गुणों की व्याख्या सुखवाद तथा उपयोगितावाद के आधार पर ही की है। अन्य महान विचारकों की भांति वे भी मनुष्य के लिये इन सद्‌गुणों के महत्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु कुछ बुद्धिवादी दार्शनिकों के विपरीत उनका मत है कि ये सद्‌गुण स्वतःसाध्य अथवा अपने आप में महत्वपूर्ण न होकर व्यक्ति के सुख अथवा सामाजिक कल्याण के साधन के रूप में ही महत्वपूर्ण हैं। नैतिक आचरण की दृष्टि से हम ईमानदारी, सत्यता, पवित्रता, मैत्री, विनयशीलता,

---

५. 'ऐन इन्क्वायरी कन्सरनिंग दि प्रिन्सिपल्ज आफ मारल्ज', पृ. १४, १११, ११२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


उदारता, संयम, न्याय आदि सद्गुणों को बहुत आवश्यक तथा महत्वपूर्ण मानते हैं, और ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा करते हैं जो सदैव इन सभी अथवा इनमें से कुछ सद्गुणों के अनुरूप आचरण करता है। इसका कारण यह है कि ये सद्गुण अन्ततः व्यक्ति के सुख अथवा समाज के कल्याण में अत्यधिक सहायक सिद्ध होते हैं। सुख-दुःख की उत्पत्ति के आधार पर ही शुभ-अशुभ आचरण की व्याख्या करते हुए ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि "....सद्गुण और दुर्गुण का सार तत्त्व यही है कि इनसे क्रमशः सुख तथा दुःख उत्पन्न होता है। ....दुःख और सुख दुर्गुण तथा सद्गुण से अभिन्न ही नहीं अपितु उनके स्वभाव के अनिवार्य तत्त्व हैं। ....सुख अथवा दुःख उत्पन्न करने के कारण ही किसी कर्म, भावना तथा चरित्र को शुभ या अशुभ माना जाता है।.... समस्त नैतिक प्रत्यय सुख-दुःख सम्बन्धी विशेष भावनाओं पर ही आधारित रहते हैं, हमारे अथवा दूसरों के जिस मानसिक गुण से हमें सुख प्राप्त होता है वह शुभ तथा जिससे हमें दुःख प्राप्त होता है वह अशुभ है।"[६] इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि केवल सुख-दुःख को शुभ-अशुभ आचरण का मूल आधार मानकर ह्यूम सुखवाद का समर्थन करते हैं।

परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि सुखवादी होते हुए भी ह्यूम स्वार्थवाद का समर्थन नहीं करते। जैसाकि हम पिछले खण्ड में देख चुके हैं, वे निजी सुख की कामना की भांति परोपकारवृत्ति अथवा मानवता की भावना को भी मनुष्य के लिये नितान्त स्वाभाविक मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने नैतिक दर्शन में सामाजिक कल्याण अथवा उपयोगिता को विशेष महत्व दिया है। उनका विचार है कि व्यक्ति के सुख के साथ-साथ सामाजिक हित की वृद्धि में सहायक होने के कारण ही हम नैतिक सद्गुणों को प्रशंसनीय तथा महत्वपूर्ण मानते हैं। इन सद्गुणों के अनुसार आचरण करके ही हम दूसरों को सुख प्रदान कर सकते हैं, अतः ये सद्गुण सम्पूर्ण समाज के लिये अंततः बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं और इसी सामाजिक उपयोगिता में इनका महत्व निहित है। इस प्रकार ह्यूम केवल व्यक्ति के लिये सुखद होने के कारण ही नहीं, अपितु समाज के लिये अत्यधिक उपयोगी होने के कारण भी सद्गुणों को नैतिक आचरण की दृष्टि से विशेष महत्व देते हैं। इसी सामाजिक उपयोगिता के आधार पर सद्गुणों की सार्थकता एवं महत्ता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "उपयोगिता हमें अच्छी लगती है और हमारा अनुमोदन प्राप्त करती है। परन्तु यह उपयोगिता किसके लिये है? निश्चय ही इससे किसी का हित होता है, किन्तु यह हित किसका है? स्पष्ट है कि यह हित केवल हमारा व्यक्तिगत हित नहीं हो सकता, क्योंकि हमारी अनुमोदन की भावना प्रायः इससे अधिक आगे जाती है। दूसरों के कल्याण में सहायक होने के कारण हम किसी कर्म को उचित

६. 'ट्रिटाइज़', बुक २, पृ० २९६, बुक ३, पृ० ४७१, ५७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


अथवा शुभ मानते हैं क्योंकि हम उनके हित के प्रति उदासीन नहीं रह सकते।.... यदि उपयोगिता से ही नैतिकता का उद्गम होता है और यदि यह उपयोगिता व्यक्ति के अपने हित तक ही सीमित नहीं है तो यह स्पष्ट है कि समाज के सुख में सहायक प्रत्येक कर्म प्रत्यक्षतः हमारा अनुमोदन प्राप्त करता है। वास्तव में इसी सिद्धांत के आधार पर अधिकांशतः नैतिकता की व्याख्या की जा सकती है।"[७] इस प्रकार सामाजिक उपयोगिता के आधार पर नैतिकता की उत्पत्ति की व्याख्या करके ह्यूम ने उस उपयोगितावाद की आधारशिला स्थापित की जिसका बाद में बेन्थम, मिल, सिजविक आदि अनेक महान दार्शनिकों ने प्रबल समर्थन किया। ऐसी स्थिति में उन्हें सुखवाद तथा उपयोगितावाद का प्रमुख समर्थक मानना उचित एवं युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में उन बुद्धिवादी दार्शनिकों से ह्यूम का तीव्र मतभेद बिल्कुल स्पष्ट है जो सुखवाद तथा उपयोगितावाद का खंडन करते हुए कर्तव्य और नैतिकता को स्वतःसाध्य मानते हैं। परन्तु जैसाकि हम देख चुके हैं, 'कर्तव्य के लिये कर्तव्य' के इस सिद्धांत को अस्वीकार करके ह्यूम ने समस्त सद्गुणों तथा नैतिकता को व्यक्ति एवं समाज के सुख का साधन मात्र माना है और इसी उपयोगितावादी सिद्धांत के आधार पर उनके महत्व को स्पष्ट किया है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि ह्यूम तर्कबुद्धि के स्थान पर सहानुभूति को ही इस उपयोगितावाद का आधार मानते हैं। उनका विचार है कि मनुष्य तर्कबुद्धि से नहीं, अपितु सहानुभूति से प्रेरित होकर ही अपने सुख के साथ-साथ दूसरों के सुख-का ध्यान रखता है। इस स्वाभाविक सहानुभूति के कारण ही हम दूसरों के सुख दुःख के प्रति उदासीन नहीं रह सकते, हम उनके कष्ट में स्वयं दुःख का अनुभव करते हैं और इसी कारण उनके कष्ट को दूर करके उन्हें सुख पहुँचाने का प्रयास करते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि सामाजिक कल्याण के लिए हम जो प्रयास करते हैं उसका मूल आधार ह्यूम के मतानुसार बौद्धिक न होकर भावनात्मक ही है। मनुष्य के भीतर जो नैसर्गिक सहानुभूति है उसी के कारण वह अपने सुख-दुख तक ही सीमित होकर पूर्णतः स्वार्थवादी नहीं रह सकता। इसी सहानुभूति को सामाजिक कल्याण के प्रयास की मूल प्रेरणा स्वीकार करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "सहानुभूति के कारण ही हम समाज की इतनी अधिक चिंता करते हूं और यह सहानुभूति ही हमें अपने अहम् से बाहर निकाल कर दूसरों के सुख-दुख को स्वयं अपने सुख-दुख के रूप में अनुभव करने के लिए प्रेरित करती है।"[८] स्पष्ट है कि ह्यूम के मतानुसार, यदि मनुष्य में यह स्वाभाविक सहानुभूति न होती तो वह पूर्णतः आत्म-केन्द्रित हो जाता और दूसरों के सुख-दुःख की चिन्ता नहीं

---

७. 'ऐन इन्क्वायरी कन्सरनिंग दि प्रिंसिपल्स आफ मारल्ज़', पृ० ५२, ५४।

८. 'ट्रिटाइज़', बुक ३, पृ. ५७१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


करता। इस प्रकार उनका उपयोगितावाद मनुष्य की तर्कबुद्धि पर आधारित न होकर उसकी सहानुभूति पर ही आधारित है।

यहां इस तथ्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि ह्यूम नैतिक दर्शन के क्षेत्र में बुद्धिवाद के साथ-साथ उस धार्मिक विचारधारा को भी पूर्णतः अस्वीकार करते हैं जिसके अनुसार हमारे कर्तव्यों का निर्धारण तथा कर्तव्यों का शुभत्व या अशुभत्व अन्ततः ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा पर ही निर्भर है। इस विचारधारा के समर्थक अनेक धर्मपरायण दार्शनिकों ने ईश्वर के आदेश को ही नैतिकता का एकमात्र आधार माना है। परन्तु पूर्णतः अनुभववादी दार्शनिक होने के कारण ह्यूम तार्किक दृष्टि से किसी दैवी शक्ति की सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। धर्म-सम्बन्धी उनके विचारों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि धर्म में भी उनकी कोई आस्था नहीं थी। इसी कारण उन्होंने धर्मपरायण दार्शनिक के इस मत को स्वीकार नहीं किया कि ईश्वर का आदेश ही नैतिकता का अन्तिम आधार है। वे नैतिकता को मनुष्य के स्वभाव पर ही आधारित मानते हैं, अतः उनके विचार में ईश्वर—जिसका अस्तित्व ही संदिग्ध है—की इच्छा अथवा आज्ञा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता हम देख चुके हैं कि व्यक्ति के सुख तथा समाज के कल्याण के साधन के रूप में ही हम ने नैतिकता की आवश्यकता को स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में नैतिकता के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण का खंडन करना उनके लिए अनिवार्य था। वस्तुतः नैतिकता के सम्बन्ध में किसी कल्पित शक्ति पर आधारित धार्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा ह्यूम का उपयोगितावादी दृष्टिकोण कहीं अधिक युक्तिसंगत है।

## ४. न्याय और नैतिक कर्तव्य

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि नैतिकता का मूल आधार मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियां अथवा भावनाएँ ही हैं, जैसाकि ह्यूम मानते हैं, तो क्या इसी आधार पर न्याय और विभिन्न नैतिक कर्तव्यों की व्याख्या की जा सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में ह्यूम का कथन है कि न्याय तथा नैतिक कर्तव्यों का पालन करने के लिए मनुष्य में कोई प्रत्यक्ष एवं स्वाभाविक अभिप्रेरणा दृष्टिगोचर नहीं होती। इस का अर्थ यह है कि मनुष्य में कोई ऐसी नैसर्गिक प्रवृत्ति या भावना नहीं है जो उसे दूसरों के प्रति न्याय करने और अपने नैतिक कर्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरित कर सके। वस्तुतः मनुष्य द्वारा निर्मित सामाजिक संगठन तथा मानव-जीवन के लिए उसकी अनिवार्यता ने ही न्याय के विचार और नैतिक कर्तव्यों का पालन करने की आवश्यकता को जन्म दिया है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य की मूल आवश्यकताएं समाज के अभाव में पूरी नहीं हो सकतीं, अतः सुसंगठित समाज में रहना उस के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। परन्तु यह सामाजिक संगठन तभी दृढ़ तथा स्थिर रह सकता है जब समाज में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


रहने वाले व्यक्ति न्यायशील एवं कर्तव्यनिष्ठ हों—अर्थात् जब वे एक-दूसरे के अधिकारों का हनन न करें और एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन करते रहें। इससे प्रत्येक व्यक्ति के हितों की रक्षा हो सकती है और समाज में भी व्यवस्था बनी रह सकती है। ह्यूम के मतानुसार न्याय तथा कर्तव्य-पालन का यही सामाजिक आधार है। इसी सामाजिक उपयोगिता से प्रेरित होकर हम न्याय तथा नैतिक कर्तव्यों के अनुरूप वरण करते हैं, किसी नैसर्गिक अभिप्रेरणा से प्रेरित हो कर नहीं। इसी कारण ह्यूम ने 'न्याय' को मनुष्य का स्वाभाविक सद्गुण न मानकर 'कृत्रिम सद्गुण' की संज्ञा दी है। उनका विचार है कि न्यायशीलता मनुष्य में जन्मजात नहीं होती; वह उस में समाज द्वारा किये गये विशेष प्रयास के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है। न्याय के विषय में अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने लिखा है—"हमें यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि न्याय और अन्याय की भावना मानव-स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती, इस का जन्म अनिवार्यतः शिक्षा तथा मानव-निर्मित नियमों अथवा प्रथाओं के परिणाम-स्वरूप ही होता है।....जो संस्कार न्याय की इस भावना को उत्पन्न करते हैं वे मानव-मन के लिए स्वाभाविक न होकर कृत्रिम रूप से मनुष्य द्वारा ही निर्मित हैं।"[१] इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम के मतानुसार न्यायशीलता मनुष्य का कोई नैसर्गिक सद्गुण नहीं अपितु समाज के प्रयास का परिणाम होने के कारण कृत्रिम सद्गुण है।

सत्य बोलना, अपने वचन का पालन करना आदि नैतिक कर्त्तव्यों के लिए भी ह्यूम ने मनुष्य की किसी स्वाभाविक अभिप्रेरणा को आधार नहीं माना। न्याय की भांति इन कर्तव्यों के अनुरूप आचरण करने की आवश्यकता की व्याख्या भी उन्होंने समाज द्वारा उत्पन्न कुछ कृत्रिम अभिप्रेरणाओं के आधार पर ही की है। उनका विचार है कि समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए इन नैतिक कर्तव्यों का पालन करना बहुत आवश्यक है, अतः शिक्षा, कानून, रीति-रिवाज आदि अनेक कृत्रिम उपायों द्वारा समाज ही व्यक्ति में इन कर्तव्यों के अनुरूप आचरण करने की इच्छा उत्पन्न करता है। इन कर्तव्यों का पालन करने के लिए व्यक्ति में कोई नैसर्गिक अथवा जन्मजात इच्छा नहीं होती। ह्यूम का यह मत उचित एवं युक्ति-संगत ही प्रतीत होता है, क्योंकि मनुष्य में कर्तव्य-पालन की स्वाभाविक इच्छा के अभाव के कारण ही नैतिक कर्तव्य के साथ 'बाध्यता' का विचार अनिवार्यतः सम्बद्ध रहता है। नैतिक कर्तव्यों के अनुरूप मनुष्य जो आचरण करता है उसका मूल कारण सामाजिक शक्तियों द्वारा उत्पन्न यही बाध्यता है। हम पहले ही बता चुके हैं कि कोई भी कर्म करने के लिए मनुष्य में किसी अभिप्रेरणा का होना ह्यूम आवश्यक मानते हैं। ऐसी स्थिति में कर्तव्य-पालन के

---

१. 'ट्रिटाइज़', बुक ३, पृ० ४८३, ४९६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लिए भी किसी अभिप्रेरणा का होना अनिवार्य है और ह्यूम के मतानुसार मनुष्य को यह अभिप्रेरणा समाज से ही प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "कोई भी कर्म तब तक हमारे लिए कर्तव्य नहीं माना जा सकता जब तक हमारे भीतर कोई ऐसी प्रेरक भावना अथवा अभिप्रेरणा उत्पन्न नहीं की जाती जो हमें यह कर्म करने के लिए प्रेरित करे।"[१०] सभी व्यक्तियों के व्यापक हितों की रक्षा के लिए ही समाज हमारे मन में कर्तव्य-चेतना उत्पन्न करता है जो धीरे-धीरे हमारे स्वभाव का अभिन्न अंग बन जाती है। इसी कारण बाह्य सामाजिक शक्तियों द्वारा उत्पन्न किये जाने पर भी यह कर्तव्य-चेतना हमें स्वाभाविक ही प्रतीत होती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि समाज द्वारा उत्पन्न कृत्रिम अभिप्रेरणाओं के आधार पर ही ह्यूम ने मनुष्य की न्यायशीलता और कर्तव्यनिष्ठा की व्याख्या की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्य नैतिक सद्गुणों की भांति न्यायशीलता और कर्तव्यनिष्ठा को भी ह्यूम ने व्यक्ति तथा समाज के सुख का साधन मात्र माना है। उनके विचार में यदि न्याय तथा कर्तव्यनिष्ठा के फलस्वरूप अन्ततः समाज के सुख में वृद्धि नहीं होती तो इनका कोई महत्व नहीं है, क्योंकि अन्य सद्गुणों की भांति ये भी स्वतःसाध्य नहीं हैं। वस्तुतः समाज के लिए लाभदायक होने के कारण ही हम न्याय और कर्तव्यनिष्ठा को नैतिक दृष्टि से इतना अधिक महत्व देते हैं। यह सम्भव है कि किसी विशेष परिस्थिति में न्याय तथा कर्तव्य के अनुरूप आचरण करने के कारण किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष को कुछ कष्ट हो अथवा हानि पहुँचे, किन्तु फिर भी ऐसे आचरण को उचित मानना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि न्याय-सम्बन्धी नियमों तथा अपने नैतिक कर्तव्यों का पालन करने से अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण समाज को लाभ होता है। इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार सामाजिक उपयोगिता ही न्याय एवं कर्तव्यपालन का एकमात्र आधार है। किन्तु कुछ विचारकों ने न्याय के सम्बन्ध में उनके इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध आपत्ति की है। उदाहरणार्थ सी० डी० ब्रोड का कथन है कि न्याय को मनुष्य के सुख अथवा सामाजिक उपयोगिता का साधनमात्र मानना उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है। न्याय के विषय में ह्यूम के उपयोगितावादी दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है—"यह प्रश्न कि कौन-से नियम अन्य नियमों की अपेक्षा अधिक न्यायपूर्ण हैं इस प्रश्न से पूर्णतः भिन्न प्रतीत होता है कि कौन-से नियम अन्य नियमों की अपेक्षा मनुष्य के सुख में कुल मिलाकर अधिक वृद्धि करते हैं।....हम न्याय तथा मानव-सुख दोनों का अनुमोदन करते हैं और जब इन दोनों में संघर्ष होता है तो हमारी प्रतिक्रिया मिश्रित ही होती है। इस सम्बन्ध में मैं

---

१०. 'ट्रिटाइज़', बुक ३, पृ० ५१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


यह कह देना आवश्यक समझता हूं कि मैं ह्यूम के इस सिद्धांत को उचित नहीं मानता कि जब न्याय की उपयोगिता समाप्त हो जाती है तो उसके प्रति हमारा अनुमोदन भी समाप्त हो जाता है।....यदि न्याय तथा उपयोगिता में संघर्ष हो—जैसा कि हो सकता है—तो दोनों का अनुमोदन करने के कारण हमारी प्रतिक्रिया मिश्रित ही रहती है।"[११] परन्तु ह्यूम के न्याय-सम्बन्धी सिद्धान्त के विरुद्ध ब्रोड की उपर्युक्त आपत्ति पूर्णतया स्पष्ट और युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। पहली बात तो यह है कि उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि 'मिश्रित प्रतिक्रिया' से उनका क्या अभिप्राय है। सम्भवतः वे यह कहना चाहते हैं कि जब न्याय तथा मानव-सुख में संघर्ष होता है तब हम इन दोनों को समान महत्व देने के कारण यह निर्णय नहीं कर पाते कि इन दोनों में से हम किस का अनुमोदन करें और किसका न करें। परन्तु मुझे ब्रोड के इस मत का औचित्य संदिग्ध ही प्रतीत होता है कि हम न्याय और मानव-सुख को समान महत्व देते हैं। वस्तुतः न्याय के अनुसार किये गए आचरण को हम इसलिए नैतिक दृष्टि से प्रशंसनीय मानते हैं कि यह अन्ततः समाज के सुख अथवा हित में सहायक सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए न्याय तथा मानव-सुख का समान महत्व नहीं हो सकता, क्योंकि न्याय मानव-सुख का साधन मात्र है और इसी में उसकी सार्थकता निहित है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि न्यायशीलता, कर्तव्यनिष्ठा और अन्य नैतिक सद्गुणों के महत्व के सम्बन्ध में ह्यूम का उपयोगितावादी दृष्टिकोण ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

## ५. तथ्यों से कर्तव्य के निगमन की समस्या

नैतिक प्रत्ययों तथा सद्गुणों के सम्बन्ध में ह्यूम की कुछ आधारभूत मान्यताओं का विवेचन करने के पश्चात् अब यहां उस महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्या पर विचार करना आवश्यक है जो स्वयं ह्यूम ने उठाई है और जिस पर समकालीन नीतिशास्त्रियों से तीव्र विवाद चलता रहा है। यह समस्या इस जटिल प्रश्न से सम्बद्ध है कि क्या केवल तथ्यों से हम नैतिक कर्तव्य का निगमन कर सकते हैं! दूसरे शब्दों में, प्रश्न यह है कि यदि हमें कुछ तथ्यों का ज्ञान हो जाय तो केवल इस तथ्यात्मक ज्ञान के आधार पर क्या हम तार्किक दृष्टि से यह निगमित कर सकते हैं कि हमें क्या करना चाहिये! इस सम्बन्ध में ह्यूम द्वारा लिखित एक अनुच्छेद की विभिन्न समकालीन नीतिशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएं की हैं। ह्यूम के इस सुविख्यात और विवादास्पद अनुच्छेद का सारांश इस प्रकार है: सभी नैतिक सिद्धांतों का प्रारम्भ कुछ विशेष तथ्यों के आधार पर ही होता है जो मूल्य-सम्बन्धी निर्णय नहीं होते। सामन्यतः ये तथ्य हमें ईश्वर अथवा मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में

---

११. सी.डी.ब्रोड, 'फाइव टाइप्स आफ एथिकल थ्योरी', पृ० ९७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


वरणात्मक ज्ञान प्रदान करते हैं । ये हमें बताते हैं कि मानव-स्वभाव कैसा है और मनुष्य वास्तव में क्या सोचते तथा करते हैं । इन तथ्यों का वर्णन करके इन्हीं के आधार पर नैतिक सिद्धांतों के प्रणेता हमें बताते हैं कि हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये । इस प्रकार कुछ तथ्यों से ही हमारे कर्तव्यों का निगमन किया जाता है । परन्तु तथ्यों से कर्तव्य के इस निगमन को समझना बहुत कठिन है, क्योंकि कर्तव्य सम्बन्धी निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों से बिल्कुल भिन्न होते हैं । ऐसी स्थिति में असम्भव प्रतीत होने वाले इस निगमन की ठीक-ठीक व्याख्या करना तथा युक्तिसंगत रूप से यह स्पष्ट करना बहुत आवश्यक है कि किस आधार पर तथ्यों से कर्तव्य को निगमित किया जाता है जिसका स्वरूप तथ्यों के स्वरूप से पूर्णतः भिन्न होता है ।[१२]

ह्यूम के उपर्युक्त अनुच्छेद का समकालीन नैतिक दर्शन में विशेष महत्व है, क्योंकि अनेक महान नीतिशास्त्रियों ने इसी के आधार पर अपने नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन अथवा समर्थन किया है । उदाहरणार्थ अन्तःप्रज्ञावाद, संवेगवाद, परामर्श-वाद आदि विभिन्न सिद्धान्तों के प्रणेताओं ने इस अनुच्छेद को मूल आधार मान कर अपने-अपने नैतिक सिद्धान्तों की पुष्टि करने का प्रयास किया है । मूर, रास, प्रिचर्ड, एयर, स्टीवेन्सन, प्रायर, नावेलस्मिथ, हेयर आदि दार्शनिक निश्चित रूप से यह मानते हैं कि इस अनुच्छेद द्वारा ह्यूम ने इस बात को पूर्णतः प्रमाणित कर दिया है कि तार्किक दृष्टि से केवल तथ्यों से कर्तव्य को निगमित नहीं किया जा सकता । दूसरे शब्दों में, हम केवल तथ्यात्मक ज्ञान के आधार पर कर्तव्य का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते । इसी बात को संक्षेप में यों कहा जाता है कि 'है' से 'चाहिये' का निगमन तार्किक दृष्टि से असम्भव है । हम ईश्वर, विश्व अथवा मानव-स्वभाव के विषय में चाहे कितने ही तथ्यों का ज्ञान प्राप्त क्यों न करलें, इस सम्पूर्ण ज्ञान के आधार पर हम यही नहीं जान सकते कि हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये । इसका कारण यह है कि तथ्यों के ज्ञान की प्राप्ति और कर्त्तव्य–निर्धारण में कोई अनिवार्य तथा तार्किक सम्बन्ध नहीं है । ऊपर जिन दार्शनिकों के नामों का उल्लेख किया गया है वे सभी इसी मत को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि ह्यूम ने ही सर्वप्रथम कर्तव्य-निर्धारण को तथ्यात्मक ज्ञान से पूर्णतः भिन्न प्रमाणित किया । ये सभी दार्शनिक ह्यूम के इसी मत के आधार पर प्रकृतिवाद का खण्डन करते हैं जिसके अनुसार अनुभवाश्रित तथ्यों द्वारा ही नैतिक प्रयत्नों को परिभाषित किया जा सकता है । प्रकृतिवादियों के इस मत के विरुद्ध सभी अन्तःप्रज्ञावादियों, संवेगवादियों तथा परामर्शवादियों का कथन है कि तथ्यात्मक वाक्यों से नैतिक निर्णयों को निगमित करने का प्रयास बहुत बड़ी भूल है, अतः इस सम्बन्ध में ह्यूम का मत पूर्णतः उचित एवं यूक्तिसंगत है ।

---

१२. 'ट्रिटाइज', बुक ३, पृ० ४६९, ४७० ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


परन्तु एयर, स्टीवेन्सन, नावेलस्मिथ, हेयर आदि दार्शनिकों ने नैतिक निर्णयों के स्वरूप तथा कर्तव्य-निर्धारण के सम्बन्ध में ह्यूम के अनुच्छेद की जो व्याख्या की है उसे कुछ दार्शनिक स्वीकार नहीं करते। इस सम्बन्ध में जी० हन्टर तथा ए० सी० मैकिन्टायर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हन्टर का कथन है कि तथ्यात्मक वाक्यों तथा नैतिक निर्णयों में दूरी को प्रमाणित करने के स्थान पर ह्यूम ने इन दोनों को एक ही मानकर इनका भेद ही समाप्त कर दिया है।[13] हन्टर के मतानुसार, ह्यूम ने केवल यही कहा था कि तथ्यात्मक वाक्यों से नैतिक निर्णयों का निगमन असम्भव प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह असम्भव नहीं है। ह्यूम यही कहना चाहते थे कि तथ्यात्मक वाक्यों और नैतिक निर्णयों में कोई अन्तर नहीं है। मैकिन्टायर हन्टर के इस मत को तो स्वीकार नहीं करते कि ह्यूम के विचार में तथ्यात्मक वाक्यों और नैतिक निर्णयों में कोई भेद नहीं है, किन्तु वे यह मानते हैं कि ह्यूम ने इन दोनों के भेद को स्पष्ट करके उसे समाप्त करने का सफल प्रयास किया है। मैकिन्टायर का कथन है कि ह्यूम ने तथ्यात्मक वाक्यों तथा नैतिक निर्णयों में अलंघ्य दूरी को प्रमाणित करने के स्थान पर मानवीय आवश्यकताओं एवं इच्छाओं द्वारा इन दोनों के अनिवार्य सम्बन्ध को भलीभांति स्पष्ट किया है। ह्यूम ने यह सिद्ध किया है कि जो कुछ अन्ततः समाज के हित में सहायक है वही हमारा कर्तव्य है—अर्थात् कोई कर्म हमारा कर्त्तव्य है या नहीं, इस बात का निर्णय इसी तथ्य के आधार पर किया जा सकता है कि वह अन्ततः समाज के हित में वृद्धि करता है अथवा नहीं। तथ्यात्मक वाक्यों तथा नैतिक निर्णयों की अनिवार्य दूरी के सम्बन्ध में स्टीवेन्सन, हेयर आदि के मत को अस्वीकार करते हुए मैकिन्टायर ने लिखा है कि "यदि ह्यूम वास्तव में तथ्यात्मक वाक्यों से कर्त्तव्य सम्बन्धी वाक्यों का निगमन असम्भव मानते हैं तो यह असम्भव कार्य सर्वप्रथम स्वयं उन्होंने ही किया है।....यदि वे नैतिक निर्णयों को तथ्यों से असम्बद्ध मानते तो यह बड़ी विचित्र बात होती।....ह्यूम ने यह स्पष्ट कहा है कि उनका यह विश्वास है कि तथ्यों द्वारा नैतिक नियमों को उचित या अनुचित सिद्ध किया जा सकता है।....उनका स्पष्ट कथन है कि न्याय-सम्बन्धी नियमों का औचित्य इसी बात में निहित है कि उनका पालन करना अन्ततः प्रत्येक व्यक्ति के हित में है। हमें इन नियमों के अनुरूप आचरण करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से प्रत्येक व्यक्ति को हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होता है। परन्तु ह्यूम का यह कथन तथ्यों से कर्तव्य को प्राप्त करना है। यदि हेयर, नावेलस्मिथ और प्रायर ने ह्यूम के मत की ठीक-ठीक व्याख्या की है तो ह्यूम स्वयं ही अपने निषेध का उल्लंघन

---

१३. देखिये, जी. हन्टर, "ह्यूम ऑन 'इज़' एण्ड 'ऑट'," 'फिलासाफी', १६६३, पृ० १५०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कर रहे हैं।....हम इच्छा, आवश्यकता, सुख, स्वास्थ्य आदि ऐसे प्रत्ययों की लम्बी सूची दे सकते हैं जो तथ्यों और कर्तव्यों में सम्बन्ध स्थापित करते हैं। मेरे विचार में यह कहने का प्रबल कारण है कि इन प्रत्ययों के अभाव में नैतिक प्रत्ययों को नहीं समझा जा सकता।"[१४] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि मैकिन्टायर के मतानुसार ह्यूम तथ्यों एवं कर्तव्यों में अलंध्य दूरी के स्थान पर अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके विचार में कर्तव्य तथ्यों पर ही आधारित रहते हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि ह्यूम के अनुच्छेद की उपर्युक्त परस्पर विरोधी व्याख्याओं में से कौन-सी व्याख्या उचित एवं युक्तिसंगत है। वस्तुतः इस प्रश्न का कोई स्पष्ट और निश्चित उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। दोनों पक्षों के दार्शनिकों ने अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए प्रबल तर्क प्रस्तुत किये हैं। ह्यूम के अनुच्छेद की व्याख्या के सम्बन्ध में दोनों पक्षों के दार्शनिकों के इसी तीव्र विवाद ने समकालीन नैतिक दर्शन में दो विरोधी सिद्धान्तों को जन्म दिया है जिन्हें 'अवर्णनात्मक सिद्धान्त' तथा 'वर्णनात्मक सिद्धान्त' कहा जाता है। एयर, स्टीवेन्सन, प्रायर, नावेलस्मिथ, हेयर, आदि दार्शनिक प्रथम सिद्धान्त का और फिलिप फुट, गीच, जी० जे० वारनाक आदि विचारक द्वितीय सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। नैतिक निर्णयों के स्वरूप और तथ्यों के साथ उनके सम्बन्ध के विषय में आज भी इन दो विरोधी सिद्धान्तों के समर्थकों में परस्पर तीव्र विवाद चल रहा है। दोनों सिद्धान्तों के समर्थक ह्यूम से ही प्रेरणा प्राप्त करने का दावा करते हैं और उन्हें ही अपने-अपने सिद्धान्त का प्रणेता मानते हैं। इससे यही प्रतीत होता है कि इन दोनों सिद्धान्तों के समर्थकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुरूप ही ह्यूम के अनुच्छेद की व्याख्या की है। ऐसी स्थिति में निश्चयपूर्वक यह कहना बहुत कठिन है कि ह्यूम वास्तव में किस सिद्धान्त का समर्थन करते थे। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि वे तथ्यात्मक वाक्यों तथा कर्तव्य–सम्बन्धी निर्णयों को एक नहीं मानते थे, अतः हन्टर का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता कि उन्होंने इन दोनों में कोई भेद नहीं किया। अपने अनुच्छेद में ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि कर्तव्य सम्बन्धी निर्णय ऐसे नये सम्बन्धों को अभिव्यक्त करते हैं जो तथ्यों अथवा उनका वर्णन मात्र करने वाले तथ्यात्मक वाक्यों में नहीं पाये जाते। इससे यही प्रमाणित होता है कि वे कर्तव्य–सम्बन्धी निर्णयों को तथ्यात्मक वाक्यों से भिन्न ही मानते हैं। सम्भवतः वे यह भी मानते हैं कि तार्किक दृष्टि से कर्तव्य–सम्बन्धी निर्णयों को तथ्यात्मक वाक्यों से निगमित नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से अवर्णनात्मक सिद्धान्त के समर्थकों का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि ह्यूम के मतानुसार तथ्यात्मक वाक्यों

---

१४. ए. सी. मैकिन्टायर, "ह्यूम ऑन 'इज़' एण्ड 'ऑट',' फिलासाफिकल रिव्यू, १९५९, पृ० ४५५–४५६–४५७–४६३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कर्तव्य-सम्बन्धी निर्णयों का तार्किक निगमन सम्भव नहीं है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ह्यूम इन दोनों में से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते थे। न्याय, कर्तव्यनिष्ठा तथा अन्य सद्गुणों की ह्यूम ने जो उपयोगितावादी व्याख्या की है उससे यह स्पष्ट है कि वे नैतिक निर्णयों के लिए कुछ तथ्यात्मक कारणों को बहुत महत्व देते थे। जहां तक मुझे ज्ञात है, उन्होंने कहीं भी यह नहीं कहा कि नैतिक निर्णयों के लिए तथ्यों का कोई महत्व नहीं है। इसके विपरीत उन्होंने इन निर्णयों के लिए प्रासंगिक तथ्यों के ठीक-ठीक ज्ञान को अनिवार्य माना है। वस्तुतः अवर्णनात्मक सिद्धान्त के समर्थक भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं करते। परन्तु यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि नैतिक निर्णयों के लिए तथ्यों के महत्व को स्वीकार करना और तार्किक दृष्टि से इन निर्णयों को तथ्यात्मक वाक्यों से निगमित करना दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। यह कहा जा सकता है कि तथ्यों से सम्बद्ध होते हुए भी नैतिक निर्णय तथ्यात्मक वाक्यों से भिन्न हैं, अतः तार्किक दृष्टि से इन निर्णयों का तथ्यात्मक वाक्यों से निगमन सम्भव नहीं है। सम्भवतः ह्यूम भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि हमारे नैतिक निर्णय कुछ विशेष तथ्यों से सम्बद्ध अथवा उन पर आधारित होते हैं, किन्तु उनका मत है कि केवल तथ्यात्मक वाक्यों से इन निर्णयों को तार्किक दृष्टि से निगमित करना सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि नैतिक भाषा तथ्यात्मक भाषा से भिन्न होती है, अतः जब तक आधार-वाक्य नैतिक न हो तब तक उससे नैतिक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। जब ह्यूम समाज के हित में वृद्धि करने के कारण किसी विशेष कर्म को कर्तव्य मानते हैं तो वे पहले से ही इस आधार-वाक्य को स्वीकार कर लेते हैं कि जो कर्म समाज के हित में वृद्धि करता है वह हमारा कर्तव्य है। इससे स्पष्ट है कि 'अमुक कर्म हमारा कर्तव्य है' यह नैतिक निर्णय केवल इस तथ्य पर आधारित नहीं है कि इस कर्म से समाज के हित में वृद्धि होती है; यह निर्णय इस पूर्व स्वीकृत नैतिक नियम पर आधारित है कि 'जिस कर्म से समाज के हित में वृद्धि होती है वह हमारा कर्तव्य है।' इस दृष्टि से अवर्णनात्मक सिद्धांत के समर्थकों का यह मत उचित एवं युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है कि ह्यूम के अनुसार तार्किक दृष्टि से नैतिक निर्णयों का केवल तथ्यात्मक वाक्यों से निगमन कदापि सम्भव नहीं है।

## ६. मूल्यांकन

अब अन्त में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि ह्यूम के नैतिक दर्शन की आधारभूत मान्यताओं को कहां तक स्वीकार किया जा सकता है। कडवर्थ, क्लार्क आदि बुद्धिवादी दार्शनिकों के विरुद्ध उनका यह मत निश्चय ही उचित है कि नैतिक निर्णय गणित के निर्णयों की भांति अपरिवर्तनशील, भावनाशून्य तथा केवल तर्कबुद्धि पर आधारित नहीं होते, अतः इन दोनों प्रकार के निर्णयों की तुलना करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


भ्रामक है । पूर्णतः बौद्धिक विषय होने के कारण गणित के निर्णय शाश्वत तथा परिणामनिरपेक्ष होते हैं और उन पर देश-काल का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। केवल तर्कबुद्धि पर आधारित होने के कारण ये निर्णय मनुष्य की भावनाओं अथवा इच्छाओं द्वारा भी प्रभावित नहीं होते । परन्तु नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता । इन निर्णयों के साथ सामान्यतः मनुष्य की भावनाएं सम्बद्ध रहती हैं और इनके औचित्य पर विचार करते समय व्यक्ति की परिस्थितियों तथा इनके परिणामों पर ध्यान देना आवश्यक होता है । ऐसी स्थिति में ह्यूम का यह मत उचित और युक्तिसंगत ही है कि नैतिक निर्णयों को पूर्णतः बौद्धिक नहीं माना जा सकता, जैसाकि बुद्धिवादी दार्शनिक मानते हैं । नैतिकता के सम्बन्ध में उनका उपयोगितावादी दृष्टिकोण भी पर्याप्त सीमा तक उचित प्रतीत होता है । कोई भी सद्गुण स्वतःसाध्य अथवा अपने-आप में शुभ नहीं होता और न ही कोई कर्म अपने-आप में उचित या अनुचित होता है । प्रत्येक सद्गुण का शुभत्व तथा कर्म का औचित्य अन्ततः मानव-समाज के हित की वृद्धि में सहायक होने पर ही निर्भर है । नैतिकता के सम्बन्ध में ह्यूम ने इसी महत्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है । आज भी अनेक दार्शनिक नैतिकता के प्रति उनके इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं । धार्मिक विचारधारा को अस्वीकार करके मानव-स्वभाव के आधार पर नैतिकता की व्याख्या करने का ह्यूम ने जो प्रयास किया है वह भी निश्चय ही उचित और प्रशंसनीय है । उनके पश्चात् बैन्थम, मिल, सिजविक, बटलर आदि अनेक महान् दार्शनिकों ने धार्मिक विचारधारा के स्थान पर मानव-स्वभाव को ही मूल आधार मानकर नैतिकता की सार्थकता प्रमाणित की है । आज भी अधिकतर दार्शनिक नैतिकता के सम्बन्ध में इसी धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को ही स्वीकार करते हैं । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ह्यूम के नैतिक दर्शन की आधारभूत मान्यताओं को पर्याप्त सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है और किया भी जा रहा है ।

परन्तु नैतिक निर्णयों तथा मनुष्य के कर्तव्य-निर्धारण के सम्बन्ध ह्यूममें ने तर्कबुद्धि को जो गौण स्थान दिया है उसका औचित्य बहुत संदिग्ध प्रतीत होता है । हम देख चुके हैं कि वे तर्कबुद्धि को भावनाओं अथवा मनोवेगों की दासी मात्र मानते हैं, किन्तु यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है कि मानवीय आचरण में तर्कबुद्धि का इतना निकृष्ट स्थान नहीं है । मानव-जीवन में तर्कबुद्धि सदैव मनोवेगों अथवा भावनाओं की सेविका के रूप में ही कार्य नहीं करती, कुछ परिस्थितियों में वह उन्हें नियन्त्रित भी करती है । यह सत्य है कि मनुष्य के जीवन में भावनाओं, मनोवेगों तथा इच्छाओं का बहुत महत्व है और प्रायः वह इन्हीं से प्रेरित होकर आचरण करता है, किन्तु यह कहना उचित नहीं होगा कि उसका सम्पूर्ण आचरण सदैव इन्हीं द्वारा निर्धारित और शासित होता है । इस तथ्य को अस्वीकार नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


नहीं किया जा सकता कि कुछ विशेष परिस्थितियों में मनुष्य तर्कबुद्धि द्वारा अपनी भावनाओं एवं इच्छाओं को नियंत्रित करके उनके विरुद्ध भी कर्म करता है, अतः तर्कबुद्धि को भावनाओं या मनोवेगों की सेविका मात्र नहीं माना जा सकता जैसा कि ह्यूम ने माना है। कभी-कभी मनुष्य कर्तव्य का पालन करने के लिए अपनी प्रबल इच्छाओं की पूर्ति का भी परित्याग कर देता है और उसका ऐसा आचरण तर्कबुद्धि द्वारा ही निर्धारित हो सकता है, मनोवेगों अथवा भावनाओं द्वारा नहीं। ऐसी स्थिति में ह्यूम के इस मत को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि तर्कबुद्धि पूर्णतः निष्क्रिय शक्ति है और वह कभी भी मनुष्य के आचरण को प्रेरित अथवा निर्धारित नहीं कर सकती। वस्तुतः यह कहना अनुचित न होगा कि तर्कबुद्धि द्वारा अपनी भावनाओं तथा इच्छाओं को भलीभांति संगठित एवं नियंत्रित करके ही मनुष्य नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है और तर्कबुद्धि द्वारा निर्धारित यह नैतिक जीवन ही उसकी ऐसी प्रमुख विशेषता है जो उसे अन्य प्राणियों से पृथक् करती है। इस सम्पूर्ण विवेचन से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानव-जीवन में भावनाओं और इच्छाओं की भांति तर्कबुद्धि का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु उसे भावनाओं तथा इच्छाओं की सेविका मात्र मानकर ह्यूम ने इस तथ्य की उपेक्षा की है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धिवाद के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ह्यूम ने नैतिक निर्णयों तथा मनुष्य के आचरण के सम्बन्ध में मनोवेगों अथवा भावनाओं को आवश्यकता से कहीं अधिक महत्व दिया है। वे नैतिकता को भावनाओं पर ही आधारित मानते हैं और उन्हीं के आधार पर समस्त कर्मों के शुभत्व एवं अशुभत्व की व्याख्या करते हैं। उनका यह स्पष्ट और निश्चित मत है कि जब हम किसी कर्म को शुभ या अशुभ कहते हैं तो वस्तुतः हम उस कर्म के सम्बन्ध में कुछ न कहकर उसके विषय में केवल अपनी कुछ विशेष भावनाओं को ही अभिव्यक्त करते हैं।[१५] परन्तु नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में ह्यूम के इस मत को स्वीकार करना बहुत कठिन है, क्योंकि इसे स्वीकार कर लेने पर इन निर्णयों तथा स्वाद-गंध सम्बन्धी पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ निर्णयों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसी कारण अधिकतर दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि भावनाओं से सम्बद्ध होते हुए भी नैतिक निर्णय व्यक्तिनिष्ठ निर्णयों के विपरीत कुछ सीमा तक सार्वभौमिक, वस्तुनिष्ठ तथा निर्वैयक्तिक होते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि चरित्र एवं कर्मों का शुभत्व या अशुभत्व किसी व्यक्ति की भावनाओं पर ही निर्भर नहीं हो सकता, जैसा-कि ह्यूम मानते हैं। वस्तुतः उन्होंने मानव-जीवन में तर्कबुद्धि के उचित स्थान की उपेक्षा करते हुए मनोवेगों अथवा भावनाओं को अत्यधिक महत्व देकर नैतिक

---

१५. देखिये, 'ट्रिटाइज़', बुक ३, पृ० ४६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


निर्णयों को स्वाद-गंध सम्बन्धी निर्णयों के समान ही पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ बना दिया है। परन्तु नैतिक निर्णयों के स्वरूप के विषय में ह्यूम का यह मत उतना ही अनुचित और एकांगी है जितना उनके विरोधी बुद्धिवादियों का। यह सत्य है कि देश-काल से प्रभावित और मानवीय भावनाओं से सम्बद्ध होने के कारण नैतिक निर्णय गणित के निर्णयों के समान पूर्णतः बौद्धिक नहीं होते, किन्तु पर्याप्त सीमा तक वस्तुनिष्ठ, सार्वभौमिक तथा तर्कबुद्धि पर आधारित होने के कारण ये निर्णय पूर्णतया व्यक्तिनिष्ठ भी नहीं होते। इन निर्णयों को पूर्णतः भावनाओं पर ही आधारित मानकर ह्यूम ने इनकी वस्तुनिष्ठता का निषेध किया है; इसी कारण कुछ समकालीन दार्शनिकों ने उनके नैतिक सिद्धांत को व्यक्तिनिष्ठवाद तथा संवेगवाद के समान ही माना है। इस प्रकार भावनाओं अथवा मनोवेगों को आवश्यकता से अधिक महत्व देने के कारण ह्यूम न तो नैतिक निर्णयों के स्वरूप की पूर्णतया संतोषजनक व्याख्या कर पाये हैं और न मानवीय आचरण को निर्धारित करने वाले तत्वों की।

उपर्युक्त आपत्तियों के अतिरिक्त ह्यूम के नैतिक सिद्धान्त के विरुद्ध वे सभी आपत्तियां भी उठायी जा सकती हैं जो सुखवाद के विरुद्ध उठायी गई हैं। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि ह्यूम समस्त कर्मों के शुभत्व तथा अशुभत्व को क्रमशः सुख और दुःख पर आधारित मान कर सुखवाद का पूर्णतः समर्थन करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि सब सदैव सुख-प्राप्ति और दुःख निवृत्ति की इच्छा से प्रेरित होकर ही सभी कर्म करते हैं। दूसरे शब्दों में, सुख-दुःख ही हमारे समस्त कर्मों के मूल प्रेरक कारण हैं जिनके अभाव में हम कोई भी कर्म नहीं कर सकते।[१६] स्पष्ट है कि ह्यूम मनोवैज्ञानिक सुखवाद के दृढ़ समर्थक हैं। परन्तु सिजविक, बटलर, आदि कुछ महान् दार्शनिकों ने अनेक प्रबल प्रमाणों द्वारा मनोवैज्ञानिक सुखवाद का खण्डन किया है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यही है कि मनुष्य सदैव केवल सुख–प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म नहीं करता; कुछ विशेष परिस्थितियों में वह सुख की इच्छा का परित्याग करके अन्य कारणों—यथा कर्त्तव्य–चेतना—से प्रेरित होकर भी कर्म करता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अन्य समर्थकों की भांति ह्यूम ने भी मानवीय आचरण के सम्बन्ध में इस महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा की है, अतः मानवीय कर्मों के प्रेरक कारणों का उन्होंने जो विश्लेषण किया है वह एकांगी हो गया है।

इसके अतिरिक्त ह्यूम का यह मत भी उचित प्रतीत नहीं होता कि जो कर्म किसी समुदाय के सभी अथवा अधिकतर सदस्यों के मन में अनुमोदन की भावना उत्पन्न करता है वह शुभ और जो कर्म उनके मन में प्रतिषेध की भावना उत्पन्न करता है वह अशुभ है। कर्मों का शुभत्व और अशुभत्व व्यक्ति की भांति किसी समुदाय के सभी या अधिकतर सदस्यों के अनुमोदन तथा प्रतिषेध की भावना पर

---

१६. 'ट्रिटाइज़', बुक ३, पृ० ५७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


ही आधारित नहीं माना जा सकता। यह सम्भव है कि किसी समुदाय के सभी या अधिकतर सदस्य किसी विशेष कर्म के प्रति अनुमोदन अथवा प्रतिषेध की भावना का अनुभव करते हों और फिर भी वास्तव में वह कर्म शुभ या अशुभ न हो। उदाहरणार्थ, जब भारत में सति-प्रथा प्रचलित थी तब हमारे समाज के अधिकतर व्यक्ति इसका अनुमोदन करते थे, किन्तु इस आधार पर नैतिक दृष्टि से इस प्रथा का औचित्य प्रमाणित नहीं होता। इसी प्रकार आज भी हमारे समाज में अधिकतर व्यक्ति दहेज-प्रथा का अनुमोदन करते हैं परन्तु उनका यह अनुमोदन इस प्रथा को नैतिक दृष्टि से वांछनीय सिद्ध नहीं कर सकता। अमेरिका के सभी श्वेत निवासी लगभग दो सौ वर्ष पूर्व प्रचलित दास-प्रथा का पूर्ण अनुमोदन करते थे, किन्तु इस आधार पर यह घृणित प्रथा नैतिक दृष्टि से उचित सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः मानव-इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर अनेक महान समाज-सुधारकों ने जिन निन्दनीय प्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन किया है उनका तत्कालीन समाज के सभी या अधिकतर सदस्य पूर्ण अनुमोदन करते थे। इससे यह स्पष्ट है कि किसी समुदाय के सभी अथवा अधिकतर सदस्यों द्वारा अनुभव की गई अनुमोदन या प्रतिषेध की भावना ही किसी कर्म को शुभ अथवा अशुभ नहीं बनाती। ऐसी स्थिति में किसी समुदाय के सभी अथवा अधिकतर सदस्यों के अनुमोदन तथा निषेध की भावना के आधार पर ह्यूम ने कर्मों के शुभत्व एवं अशुभत्व की जो व्याख्या की है उसे पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता।

परन्तु उपर्युक्त सभी कठिनाइयों के होते हुए भी ह्यूम के नैतिक सिद्धान्त का पाश्चात्य नीति-शास्त्र के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। गत दो सौ वर्षों में अनेक महान दार्शनिकों ने नैतिकता के सम्बन्ध में उनके विचारों से प्रेरणा प्राप्त की है। हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि बैन्थम, मिल तथा सिजविक के उपयोगितावाद पर नैतिकता के प्रति ह्यूम के उपयोगितावादी दृष्टिकोण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त समकालीन नैतिक दर्शन के दो प्रमुख सिद्धान्तों—संवेगवाद तथा परामर्शवाद—के प्रणेताओं ने भी नैतिक निर्णयों के स्वरूप के विषय में ह्यूम के विचारों से प्रेरणा ग्रहण की है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एथिक्स एण्ड लैंग्वेज' की प्रस्तावना में स्टीवेन्सन ने स्पष्ट कहा है कि नैतिकता के प्रति उनका दृष्टिकोण ह्यूम के दृष्टिकोण से भिन्न नहीं है। ह्यूम के मत का समर्थन करते हुए वे कहते हैं कि "सभी परम्परागत दार्शनिकों में से ह्यूम ने ही सर्वाधिक स्पष्ट रूप से वे प्रश्न उठाये हैं जो हमारे सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं और उन्होंने लगभग वही निष्कर्ष निकाला है जो हमें स्वीकार्य है।"[१७] इसी प्रकार परामर्शवाद के प्रवर्तक हेयर ने भी अपने सिद्धान्त पर ह्यूम के दृष्टिकोण का प्रभाव स्पष्टतः स्वीकार किया है।

---

१७. सी० एल० स्टीवेन्सन, 'एथिक्स एण्ड लैंग्वेज', पृ० २७३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


वे तथ्यों से कर्तव्य के निगमन को तार्किक दृष्टि से असम्भव मानते हुए कहते हैं कि उनकी यह मान्यता 'ह्यूम के नियम' पर ही आधारित है जिसका वे दृढ़तापूर्वक समर्थन करते हैं।[१८] परामर्शवाद के एक अन्य समर्थक नावेलस्मिथ ने भी इस सम्बन्ध में ह्यूम के मत को पूर्णतः स्वीकार किया हैं।[१९] इन सब उदाहरणों से समकालीन नैतिक दर्शन पर ह्यूम के नैतिकता-सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रभाव भली-भांति स्पष्ट हो जाता है। दो शताब्दियों के पश्चात् भी वर्तमान नैतिक दर्शन पर ह्यूम के विचारों का यह व्यापक प्रभाव निश्चय ही उनके नैतिक दर्शन की उपादेयता एवं महत्ता का द्योतक है।

दिल्ली विश्वविद्यालय

## पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय

अधिनीति शास्त्री—Meta-ethics
अन्तःप्रज्ञा—Intuition
अनुमोदन—Approval
प्रतिषेध— Disapproval
अनुभवाश्रित—Empirical
अभिप्रेरणा—Motive
आधार वाक्य—Major premise
तर्कबुद्धि—Reason
दुर्गुण—Vice
निगमन—Deduction
परामर्शवाद—Prescriptivism
परोपकारवृत्ति—Sentiment of Benevolence
मनोवेग—Passion
व्यक्तिनिष्ठ—Subjective
वस्तुनिष्ठ—objective
संवेगवाद—Emotivism
संस्कार—Impression
सद्गुण—Virtue

---

१८. आर० एम० हेयर, 'फ्रीडम एण्ड रीज़न', पृ० १०८, १८६।
१९. पी० एच० नावेलस्मिथ, 'एथिक्स', पृ० ३७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# धार्मिक कथनों की सार्थकता

केदारनाथ तिवारी

## १

धार्मिक भाषा बड़ी जटिल है। उसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के वाक्य सम्मिलित हैं। कुछ वाक्य नैतिक उपदेश सम्बन्धी हैं (जैसे, हमें सब मनुष्यों के साथ प्रेम करना चाहिए, सभी प्राणियों के प्रति दया का भाव रखना चाहिए), इत्यादि। कुछ पूजा-प्रार्थना आदि से सम्बन्धित हैं जैसे, (हे प्रभु ! तुम्हीं मेरे माता-पिता सब कुछ हो, तुम्हारे सिवा मेरा कोई नहीं है), इत्यादि। कुछ ईश्वर के स्वरूप आदि का वर्णन करते हैं (जैसे, ईश्वर सर्वज्ञ है, ईश्वर दयावान् है, इत्यादि); और ऐसे ही अन्य कई प्रकार के वाक्य धार्मिक भाषा में सम्मिलित हैं। यहां हम केवल ऐसे धार्मिक वाक्यों का ही निरूपण करेंगे जो या तो ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में हमें सूचना देते हैं या उसके स्वरूप का विवरण हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। 'संसार में (या संसार के पीछे) एक ईश्वर है', 'ईश्वर सर्वव्यापक है', 'ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं', 'ईश्वर सर्वज्ञ हैं', 'ईश्वर दयालु है', इत्यादि वाक्य इसी प्रकार के हैं। इन वाक्यों को विशेषरूप से हम 'धार्मिक कथनों' की संज्ञा देंगे, क्योंकि इन वाक्यों का कम से कम प्रकट रूप उन वाक्यों की तरह का है जिन्हें हम आधुनिक तर्कशास्त्र की भाषा में 'कथन' कहते हैं। आधुनिक धर्म-दर्शन में सर्वाधिक विवादास्पद स्वरूप इन धार्मिक कथनों का ही रहा है। अन्य धार्मिक वाक्यों के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है, क्योंकि उनका जो प्रकट रूप है उसे ही उनका वास्तविक रूप मान लेने से उनके स्वरूप के सम्बन्ध में हमारे समक्ष कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। परन्तु धार्मिक कथनों के सम्बन्ध में ऐसा करने पर कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इन कथनों का प्रकट रूप बिल्कुल साधारण तथ्यात्मक कथनों की तरह का है, ऐसा लगता है मानों किसी तथ्य के सम्बन्ध में वे हमें अनेक प्रकार की सूचनायें दे रहे हों। परन्तु तथ्यात्मकता की कसौटी पर ये कथन खरे नहीं उतरते। इसलिए कठिनाई इस बात को लेकर हो जाती है कि इन कथनों का आखिर वास्तविक स्वरूप क्या है। यदि इनका वास्तविक स्वरूप इनके प्रकट रूप से भिन्न है, तो वह वास्तविक स्वरूप सचमुच क्या है, किस रूप में हमें इन कथनों का अर्थ समझना चाहिए ? समसामयिक पाश्चात्य दर्शन वाक्यों के प्रकट रूप तथा उनके वास्तविक स्वरूप के बीच प्रायः भेद करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


और बतलाता है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि किसी वाक्य का जो प्रकट रूप है वही उसका वास्तविक रूप भी हो। किसी वाक्य का प्रकट स्वरूप एक तथ्यात्मक कथन की तरह का हो सकता हैं, परन्तु उसके पीछे निहित उसका वास्तविक स्वरूप कुछ भिन्न भी हो सकता है। इसका पता हमें तब चलेगा जब उस वाक्य का विश्लेषण कर हम यह देखने की चेष्टा करें कि भाषा में आखिर उसका प्रयोग किस कार्य के लिए किया जाता है—किसी तथ्य के सम्बन्ध में सूचना देने के लिए अथवा किसी भावना, अभिरुचि, प्रवृत्ति आदि की अभिव्यक्ति के लिए ? इसी प्रकार के विचारों के संदर्भ में धार्मिक कथनों के सम्बन्ध में भी यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि आखिर उनका वास्तविक स्वरूप क्या है, उनका प्रयोग भाषा में किस कार्य के लिए किया जाता है, अथवा उनका वास्तविक अर्थ क्या है ?

कुछ दिन पूर्व (प्रथम विश्वयुद्ध के आसपास), जब पश्चिम में तार्किक अनुभववाद नामक दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ, तब धार्मिक कथनों के सम्बन्ध में एक अधिक मौलिक प्रश्न उठाया गया था, और वह यह था कि 'क्या धार्मिक कथन सार्थक हैं ?' हम देख सकते हैं कि यह प्रश्न धार्मिक कथनों के केवल प्रकट रूप पर सन्देह नहीं करता बल्कि उनकी सार्थकता पर ही सन्देह करता है। यदि इस प्रश्न का एक अभावात्मक उत्तर दे दिया जाय तो फिर इस प्रकार का प्रश्न उठता ही नहीं है कि धार्मिक कथनों का आखिर वास्तविक अर्थ क्या है ? तार्किक अनुभव-वादियों ने सचमुच वाक्यों की सार्थकता सम्बन्धी अपनी एक कसौटी के आधार पर 'जिसे अर्थपूर्णता का सत्यापन-सिद्धान्त' कहा गया, उपर्युक्त प्रश्न का एक अभावात्मक उत्तर ही प्रस्तुत किया। परन्तु तार्किक अनुभववाद बहुत दिनों तक एक मान्य दर्शन के रूप में न रह सका और शीघ्र ही यह अनुभव किया जाने लगा कि अपने सत्यापन-सिद्धान्त के रूप में तार्किक अनुभववादियों ने अर्थपूर्णता की बिल्कुल एक मनमानी कसौटी प्रस्तुत की है, जिसके पीछे कोई औचित्य नहीं है। हमें इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि हम एक मनमाने ढंग से अर्थपूर्णता की एक कसौटी निर्धारित कर लें और उसके आधार पर कुछ वाक्यों को सार्थक और कुछ को निरर्थक घोषित कर दें। हर प्रकार के वाक्य का अपना खास स्वरूप तथा अपने ढंग का अर्थ हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम प्रत्येक वाक्य को अलग-अलग रूप में लेकर उसका विश्लेषण करें और देखें कि भाषा में उसका प्रयोग किस प्रकार से, किस कार्य के लिए किया जाता है। तत्त्वमीमांसा और धर्म आदि के वाक्यों का प्रयोग इतने दिनों से होता आ रहा है। तो क्या इतने दिनों से तत्त्वमीमांसक एवं धार्मिक व्यक्ति निरर्थक वाक्यों का ही प्रयोग करते चले आ रहे थे ? इन वाक्यों की भी अपनी सार्थकता है। हो सकता है इनका वही अर्थ न हो जो उनके प्रकट रूप से मालूम पड़ता है, परन्तु उनके प्रयोग के पीछे कोई न कोई अर्थ छिपा हुआ अवश्य है। हमें उनका विश्लेषण कर देखना होगा कि उनका वास्तविक स्वरूप क्या है, उनका वास्तविक अर्थ क्या है। धार्मिक कथन सार्थक हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


यह निस्संदिग्ध है। हमें देखना यह है कि उनका वास्तविक अर्थ क्या है। इसलिए, इस प्रश्न का कि 'क्या धार्मिक कथन सार्थक हैं?' अब शायद ही कोई महत्व रह गया हो। अर्थपूर्णता का सत्यापन-परक सिद्धान्त, जिसके सन्दर्भ में यह प्रश्न, उठाया जाता था, अब अर्थपूर्णता की एक कसौटी के रूप में परित्यक्त हो चुका है। खुद वे लोग, जो पहले तार्किक अनुभववादी सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते थे, अब मानने लगे हैं कि अर्थपूर्णता का सत्यापन-सिद्धान्त हमारे समक्ष वाक्यों की सार्थकता की एक **अनिवार्य** कसौटी प्रस्तुत नहीं करता। सत्यापित न होकर भी वाक्य अर्थ-पूर्ण हो सकते हैं, भले ही उनका अर्थ तथ्यात्मक कथनों की तरह का न हो। खुद ए० जे० एयर ने, जो एक समय तार्किक अनुभववाद के प्रमुख प्रवक्ता थे, अपनी पुस्तक **लेंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लॉजिक** के द्वितीय संस्करण में कहा है कि 'अर्थ' शब्द का जो अर्थ सत्यापन-सिद्धान्त लेता है उससे भिन्न अर्थ भी इस शब्द के लिये जा सकते हैं। बहुत से वाक्य सत्यापित न होते हुए भी 'अर्थ' के उन दूसरे अर्थों में अर्थपूर्ण या सार्थक कहे जा सकते हैं।[1] और इस प्रकार उन्होंने, तथा अन्य अनेक तार्किक अनुभववादियों ने, यह किसी न किसी प्रकार स्वीकार कर लिया है कि धार्मिक कथन भी निरर्थक नहीं हैं, भले ही उनका वास्तविक अर्थ उनके प्रकट अर्थ से भिन्न हो। इसलिए धार्मिक कथनों के सम्बन्ध में जो प्रश्न अभी भी महत्वपूर्ण है और विवाद का विषय बना हुआ है वह है—'धार्मिक कथनों का वास्तविक स्वरूप क्या है?' अथवा 'धार्मिक कथनों का वास्तविक अर्थ क्या है?' अथवा 'किस अर्थ में धार्मिक कथनों को सार्थक कहा जा सकता है?' इनका प्रकट रूप तो तथ्यात्मक है। तो क्या इनका वास्तविक स्वरूप भी तथ्यात्मक ही है या इनका तथ्यात्मक स्वरूप सिर्फ एक धोखा है? वस्तुतः वर्तमान लेख में हमारा सम्बन्ध कुछ इसी प्रकार के प्रश्नों से होगा और ऐसे ही प्रश्नों का एक उत्तर अपनी तरफ से प्रस्तुत करने की चेष्टा यहां हम करेंगे।

## २

समसामयिक दर्शन में कथनों की तथ्यात्मकता सम्बन्धी एक बहुत ही महत्व-पूर्ण कसौटी प्रस्तुत की गई है। शायद सर्वप्रथम कार्ल पॉपर ने अपने असत्यापन सिद्धान्त के रूप में इस कसौटी को रखा।[2] बाद में इस सिद्धान्त का प्रयोग धर्म-दर्शन के क्षेत्र में ए० फ्लयू ने धार्मिक कथनों की तथ्यात्मकता की जांच करने के लिए

---

१. देखिये ए० जे० एयर, **लेंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लॉजिक** (लंडन, विक्टर गौलेन्ज़, १९४६), पृ० सं० १५।

२. कार्ल पॉपर, **दि लॉजिक ऑफ साइन्टिफिक डिस्कवरी** (न्यूयार्क, बेसिक बुक्स १९५९), पृ० सं० ४०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


किया [3] संक्षेप में, इस सिद्धान्त का प्रतिपाद्य यह है कि यदि किसी भी कथन के सम्बन्ध में हमें यह जाँचना हो कि वह तथ्यात्मक है या नहीं, तो उसका एक तरीका यह है कि हम देखें कि वह कथन किन आनुभविक स्थितियों का निषेध करता है, अथवा किन आनुभविक स्थितिमों में उसे असत्य ठहराया जा सकता है। यदि कोई कथन ऐसा हो कि हर सम्भव स्थिति में उसे सत्य ही माना जाय तथा किसी भी सम्भायित स्थिति में वह असत्य सिद्ध न हो तो फिर उसे हम तथ्यात्मक कथन नहीं मानेंगे। तथ्यात्मक कथन का यह लक्षण है कि कुछ स्थितियों में सत्य होने के साथ कुछ स्थितियों में वह असत्य भी सिद्ध होता है।[4] तथ्यात्मकता की इसी कसौटी पर

---

३. ए० फ्ल्यू० 'थियोलोजी एन्ड फॉल्सिफिकेशन,' **न्यू एसेज इन फिलॉसॉफिकल थियोलोजी**, संपा०–ए० फ्ल्यू तथा ए०सी० मेकइन्टायर, एस०सी० एम०, लंडन, १९६३), पृ० सं० ९८–९९।

४. यहाँ हम एक बात स्पष्ट करना चाहेंगे। कुछ लोग तार्किक अनुभववादियों के सत्यापन–सिद्धान्त तथा उपर्युक्त असत्यापन-सिद्धान्त दोनों को वाक्यों की अर्थ-पूर्णता (या सार्थकता) के सिद्धान्त के रूप में लेकर दोनों को एक ही कठघरे में खड़ा करने की चेष्टा करते हैं। (इस सम्बन्ध में उदाहरण के लिये देखिये, अप्रैल १९७४ के **दार्शनिक त्रैमासिक** में प्रकाशित श्री वेदप्रकाश वर्मा का लेख 'क्या धार्मिक वाक्य सार्थक हैं ?', पृ० सं० ८६)। यह बिल्कुल अयुक्त तथा भ्रामक है। कम से कम खुद पॉपर ने असत्यापन-सिद्धान्त के सम्बन्ध में जो स्पष्ठीकरण दिये हैं उनके प्रकाश में यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाना चाहिये कि जहाँ सत्यापन–सिद्धान्त अर्थपूर्ण तथा अर्थहीन वाक्यों में भेद करने की एक कसौटी है वहां असत्यापन–सिद्धान्त अर्थपूर्ण वाक्यों के अन्तर्गत ही तथ्यात्मक तथा अतथ्यात्मक कथनों में भेद करने की एक कसौटी है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि जहाँ सत्यापन सिद्धान्त वाक्यों की **अर्थपूर्णता** का सिद्धान्त है, असत्यापन-सिद्धान्त वाक्यों की **तथ्यात्मकता** का सिद्धान्त है। इस प्रकार दोनों सिद्धान्तों में बहुत महत्वपूर्ण अन्तर है। इस सम्बन्ध में पॉपर के अपने ही शब्दों को उद्धृत कर देना हम अधिक उचित समझते हैं—

"Falsifiability seperates two kinds of perfactly meaningful statements : the falsifiable and the non-falsifiable. It draws a line inside meaningful language, not around it."

—The Logic of Scientific Discovery, P. 40.

2. "Thus the problem which I tried to so.ve by proposing the criterion of falsifiability was neither a problem of meanigfulness or significance, nor a problem of truth or acceptability.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


फ्ल्यू हमें धार्मिक कथनों की भी तथ्यात्मकता की जाँच करने की सलाह देते हैं। वे कहते हैं कि यदि धार्मिक कथन तथ्यात्मक हैं तो हम देखें कि किन संभावित स्थितियों में 'ईश्वर है', 'ईश्वर दयावान् है' आदि कथनों को असत्य ठहराया जा सकता है। शायद कोई भी धार्मिक व्यक्ति किसी भी सम्भावित स्थिति में इन कथनों को असत्य सिद्ध हुआ मानने को तैयार न होगा। वह ईश्वर के अस्तित्व को अनिवार्य मानता है तथा यह भी मानता है कि उसमें जो भी गुण हैं वे उसमें अनिवार्य रूप से हैं। इसलिये किसी भी स्थिति में वह यह मानने को तैयार नहीं होगा कि 'ईश्वर है', 'ईश्वर दयावान् है' आदि कथन असत्य हैं। हम यह स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि विश्व में अनेकों दुखों के अनुभव के बावजूद धार्मिक व्यक्ति यह कभी भी मानने को तैयार नहीं होता कि 'ईश्वर दयावान् है' कथन असत्य है। इस प्रकार, चूंकि किसी भी सम्भावित स्थिति में धार्मिक कथन असत्यापनीय नहीं हैं, इसलिये वे तथ्यात्मक नहीं हैं।

तथ्यात्मकता की उपर्युक्त कसौटी का विरोध धार्मिक कथनों की तथ्यात्मकता सिद्ध करने वाले किसी धर्म-दार्शनिक ने भी शायद नहीं किया है। कई विद्वानों ने अलबत्ता यह दिखलाने की चेष्टा अवश्य की है कि धार्मिक कथन भी अपने ढंग से असत्यापनीय हैं इसलिये वे भी तथ्यात्मक हैं। यहाँ पर हम उदाहरण के लिये जॉन हिक् के उस प्रयास का विवेचन करेंगे जो 'मृत्यूपरान्त असत्यापन-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है और जिसके अध्ययन तथा विवेचन में समसामयिक धर्म-दार्शसिकों ने काफी अभिरुचि दिखलायी है।[५] हिक कहते हैं कि यह बात सत्य है कि हमारे वर्तमान संसार एवं जीवन की किसी भी आनुभविक स्थिति के द्वारा धार्मिक कथन असत्यापित नहीं किये जा सकते, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि धार्मिक कथन किसी भी संभावित स्थिति के द्वारा असत्यापनीय नहीं हैं। धार्मिक विश्वास की सीमा वर्तमान संसार और वर्तमान जीवन ही नहीं हैं। धार्मिक व्यक्ति मृत्यूपरान्त एक जीवन की वास्तविकता में भी विश्वास करता है। जब मृत्यु के बाद उस जीवन को व्यक्ति प्राप्त करता है तभी उसके समक्ष विश्व का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित होता है और इस सम्पूर्ण चित्र के उपस्थित होने पर ही वह निश्चित रूप से धार्मिक कथनों की सत्यता-असत्यता की जाँच कर सकता है। इस प्रकार मृत्यूपरान्त जीवन की

---

It was the problem of drawing a line between the statements of the empirical sciences and all other statements—whether they are of a religious or a metaphysical character...."

—Conjectures and Refutations, P. 39.

५. जॉन हिक्, **फेथ एण्ड नालेज** (इथाका, कॉर्नेल यूनि० प्रेस, १९५७), पृ० सं० १५०–५१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


संभावना हमारे समक्ष एक ऐसी संभावित स्थिति उपस्थित करती है जिसके द्वारा धार्मिक कथनों को हम असत्यापित कर सकते हैं और इस आधार पर हम कह सकते हैं कि धार्मिक कथन तथ्यात्मक हैं।

परन्तु असत्यापन-सिद्धान्त की कसौटी पर धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक सिद्ध करने के हिक् के उपर्युक्त प्रकार के प्रयास को अधिकांश विचारकों ने स्वीकार नहीं किया है। हिक् के उपर्युक्त सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई है। सभी आलोचनाओं को तो यहाँ समाविष्ट करना संभव नहीं है, परन्तु एक-दो सामान्य ढंग की आलोचनाओं की चर्चा हम यहाँ करेंगे। सबसे पहली आलोचना यह दी जा सकती है कि हिक् की उपर्युक्त युक्ति को यथार्थ मानने का अर्थ यह मानना होगा कि धार्मिक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण वर्तमान जीवन में धार्मिक कथनों को सिर्फ कुछ वैसी प्राक्कल्पनाओं के रूप में लिये रहता है जिन्हें वह अपने मृत्यूपरान्त जीवन में असत्य सिद्ध हुआ भी पा सकता है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। धार्मिक व्यक्ति अपने वर्तमान जीवन में ही धार्मिक कथनों की अटूट एवं अनिवार्य सत्यता में विश्वास करता है और उनकी असत्यता की कल्पना भी नहीं करता। धार्मिक विश्वास की यही विशिष्टता है कि वह अक्षुण्ण तथा अकाट्य होता है। इस प्रकार हिक् के द्वारा धार्मिक कथनों को अबतक असत्यापित प्राक्कल्पनाओं के रूप में लिया जाना इन कथनों के स्वाभाविक लक्षण के विरुद्ध है। फिर दूसरी बात यह है कि मृत्यूपरान्त जीवन में विश्वास तो खुद एक असत्यापित प्राक्कल्पना है। तो फिर उसके सहारे अन्य धार्मिक कथनों की तथ्यात्मकता की जाँच करना कहाँ तक उचित है, यह हम खुद देख सकते हैं। एक वैसी स्थिति का सहारा लेकर, जो खुद एक असत्यापित कल्पनामात्र है, हम धार्मिक कथनों की असत्यापनीयता अथवा तथ्यात्मकता की बात नहीं कर सकते। इस प्रकार हिक् के मृत्यूपरान्त असत्यापन-सिद्धान्त के सहारे धार्मिक कथनों की तथ्यात्मकता प्रमाणित करने का सारा प्रयास कुछ ग़लतफहमियों पर आधारित मालूम पड़ता है।

३

हमारे उपर्युक्त विश्लेषण का स्पष्ट निष्कर्ष यही होगा कि चूंकि धार्मिक कथन असत्यापनीय नहीं हैं इसलिये वे तथ्यात्मक नहीं हैं। और यह निष्कर्ष समसामयिक धर्म-दर्शन में प्रायः मान्य है। तो अब यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से आ खड़ा होता है कि प्रकट स्वरूप के पीछे निहित धार्मिक कथनों का वास्तविक स्वरूप क्या है, उनका वास्तविक अर्थ क्या है। और इस प्रश्न का उत्तर विद्वानों ने विट्गेंस्टाइन के इस उत्तरकालीन मत के आलोक में देने की चेष्टा की है कि किसी भी कथन का अर्थ भाषा में किये गये उसके प्रयोग या व्यवहार पर निर्भर करता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में, विट्गेंस्टाइन के इस मत के अनुसार, किसी भी कथन का अर्थ जानने का अर्थ यह जानना होता है कि उस कथन का व्यवहार भाषा में किस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कार्य को सम्पन्न करने के लिये, क्या व्यक्त करने के लिये, किया जाता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए ब्रैथवेट, हेयर, माइल्स, हेपबर्न, केनिथ, शिमट्, ज़ुरडीग, मेक्-इन्टायर आदि अनेक समसामयिक पाश्चात्य विचारकों ने धार्मिक कथनों का विश्लेषण कर अपने-अपने ढंग से यह देखने की चेष्टा की है कि इन कथनों का प्रयोग धार्मिक भाषा में किस कार्य को सम्पन्न करने के लिये, क्या व्यक्त करने के लिये, किया जाता है। इन सारे विचारों की अभिव्यक्ति यहाँ संभव नहीं है। यहाँ हम एक प्रतिनिधि मत के रूप में सिर्फ ब्रैथवेट के विचारों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

ब्रैथवेट के अनुसार, धार्मिक कथन अपने सार-रूप में तथ्यात्मक न होकर कुछ नैतिक अभिलाषाओं एवं प्रतिज्ञाओं के प्रतीक हैं। दूसरे शब्दों में, उनके अनुसार धार्मिक कथनों के माध्यम से धार्मिक व्यक्ति एक खास प्रकार का नैतिक जीवन व्यतीत करने की अपनी इच्छा या प्रतिज्ञा व्यक्त करता है। और शायद अपने इन कथनों के द्वारा वह दूसरों के अन्दर भी इसी प्रकार की नैतिक इच्छा उत्पन्न करना चाहता है। इस प्रकार धार्मिक कथनों का कार्य धार्मिक व्यक्ति की एक खास प्रकार की नैतिक अभिलाषा व्यक्त करना तथा दूसरों के अन्दर भी वैसी ही अभिलाषा उत्पन्न करना है। उदाहरण के लिये, जब धार्मिक व्यक्ति कहता है कि 'ईश्वर दयावान् है' तो इस कथन के द्वारा वह अपनी यह इच्छा व्यक्त करता है कि वह प्रेम और दया का जीवन व्यतीत करना चाहता है। साथ ही साथ इस कथन के द्वारा वह दूसरों में भी इसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न करना चाहता है ताकि दूसरे लोग भी यह अनुभव करें कि उन्हें प्रेम और दया से पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिये।[६] अपने विचारों की और आगे व्याख्या करते हुए ब्रैथवेट बतलाते हैं कि धार्मिक कथनों में से प्रत्येक का अलग-अलग रूप में अर्थ लगाना न तो संभव है और न अपेक्षित। किसी एक धर्म के अन्तर्गत आने वाले सारे धार्मिक कथनों को एक इकाई के रूप में हमें लेना चाहिये और उनका अर्थ भी हमें उसी रूप में लगाना चाहिये। ईसाई धर्म के सारे कथन उनके अनुसार सामान्य तौर पर एक ईसाई की प्रेममय जीवन व्यतीत करने की अभिलाषा व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक धर्म के कथन अपने अनुयायियों की कुछ खास प्रकार की नैतिक अभिलाषाओं के प्रतीक हैं। ऐसा भी हो सकता है कि दो भिन्न धर्म बिलकुल एक ही प्रकार की नैतिक अभिलाषाओं के प्रतीक हों। परन्तु इसके बावजूद उनका भेद हमारे समक्ष उनमें प्रचलित देव-गाथाओं के द्वारा स्पष्ट होता है। ब्रैथवेट के अनुसार, प्रत्येक धर्म अपने मूल रूप में तो कुछ नैतिक अभिलाषाओं एवं प्रतिज्ञाओं का प्रतीक है,

---

६. आर० बी० ब्रैथवेट, एन एम्पिरिसिस्ट्स व्यू आफ दि नेचर आफ रिलिजस बिलीफ (कैम्ब्रिज यूनि० प्रेस, १९५५), सम्पूर्ण पुस्तक, खास तौर पर पृ० सं० १९ तथा ३२-३३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


परन्तु इसके अलावा उसके अन्दर कुछ देव-गाथायें भी सम्मिलित रहती हैं। इसलिये हमारी सम्पूर्ण धार्मिक भाषा उनके अनुसार कुछ देवगाथाओं के द्वारा परिपोषित नैतिक अभिभाषाओं या प्रतिज्ञाओं की एक समष्टि है।

धार्मिक भाषा के ब्रेथवेट के उपर्युक्त विश्लेषण के विरुद्ध कई आलोचनाएं उपस्थित की जा सकती हैं। परन्तु यहाँ उन सारी आलोचनाओं को नहीं लाकर हम केवल वैसी ही सामान्य ढंग की कुछ आलोचनाओं को सम्मुख रखेंगे जो केवल ब्रेथवेट के उपर्युक्त मत के ही विरुद्ध न होकर सामान्यतः उन सारे मतों के विरुद्ध होंगी जो धार्मिक कथनों के प्रत्यक्ष कथनात्मक रूप को बिल्कुल भ्रामक मानकर उनके कुछ इस प्रकार के विश्लेषण हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं जिनका उनके प्रत्यक्ष रूप से कोई सम्बन्ध ही नहीं मालूम पड़ता है। ऐसे विश्लेषणों के विरुद्ध सर्व प्रथम हमें एक प्रश्न पूछना है : क्या ये विश्लेषण हमें यह बतलाते हैं कि सचमुच धार्मिक व्यक्ति धार्मिक कथनों का प्रयोग अमुक अर्थ में या अमुक कार्य के लिये करता है ? या यह बतलाते हैं कि धार्मिक कथनों के अर्थ को अमुक रूप में **समझना और लेना चाहिये** ? हमें ऐसा लगता है कि ये विश्लेषण हमें यही बतलाते हैं कि हमें धार्मिक कथनों को किस रूप में लेना चाहिये, यह नहीं कि धार्मिक व्यक्ति सचमुच इन कथनों का किस अर्थ में प्रयोग करते हैं। यदि धार्मिक कथनों के द्वारा धार्मिक व्यक्ति सचमुच कुछ नैतिक प्रतिज्ञाओं को व्यक्त करने का ध्येय रखते हैं तो फिर वे इसके लिये ईश्वर-सम्बन्धी कथनों का उपयोग क्यों करते हैं, क्यों नहीं 'ईश्वर दयावान् है' कथन के बदले वे सीधे यह कहते हैं कि 'हम सब को प्रेम और दया का जीवन व्यतीत करना चाहिये।' ऐसे नैतिक वाक्य तो धार्मिक भाषा में हैं भी। और फिर, क्या कोई भी धार्मिक व्यक्ति इस बात को स्वीकार करेगा कि अपने धार्मिक कथनों के द्वारा वह सिर्फ कुछ नैतिक इच्छाओं को व्यक्त कर रहा है। जब तार्किक अनुभववादी धार्मिक कथगों के सम्बन्ध में यह बतलाते हैं कि उनके द्वारा धार्मिक व्यक्ति अपने कुछ खास प्रकार के संवेगों की अभिव्यक्ति करते हैं तो उनसे ब्रेथवेट यही पूछते हैं कि क्या कोई भी धार्मिक व्यक्ति यह स्वीकार करने को तैयार होगा कि अपने कथनों के द्वारा वह सिर्फ अपने कुछ संवेगों को व्यक्त कर रहा है ? परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि ठीक यही प्रश्न उनके अपने विश्लेषण के सम्बन्ध में भी पूछा जा सकता है। प्रयोग–कर्ता से बिल्कुल अलग रखकर हम किसी कथन का अर्थ नहीं लगा सकते। वाक्यों का अपने-आप में कोई अर्थ नहीं होता। उन्हें अर्थ उनके प्रयोगकर्ता देते हैं। असत्यापन-सिद्धान्त पर खरे उतर कर धार्मिक कथन तथ्यात्मक सिद्ध नहीं होते, इसका सीधा अर्थ यह नहीं है कि उनके प्रयोग–कर्ताओं द्वारा उनका तथ्यात्मक रूप में प्रयोग किया जाना बिल्कुल निस्सार और भ्रामक हैं। ब्रेथवेट की तरह का धार्मिक कथनों का कोई भी विश्लेषण, जिसका इन कथनों के प्रत्यक्ष स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न हो, सचमुच इस बात का विश्लेषण नहीं है कि धार्मिक व्यक्ति किस अर्थ में इन कथनों का प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करते हैं, बल्कि यह तो अपनी तरफ से एक मनमाने रूप में एक-से अर्थ को धार्मिक कथनों पर थोपना है जिसका न तो कोई अन्त है और न जिसके पीछे कोई वस्तु-निष्ठता और औचित्य है। धार्मिक कथन तथ्यात्मक सिद्ध नहीं होते, परन्तु फिर भी उनके प्रयोगकर्ताओं द्वारा उनके कथनात्मक रूप में अभिव्यक्त किये जाने के पीछे कोई महत्वपूर्ण अर्थ छिपा हो सकता है। धार्मिक व्यक्ति अपने कथनों का प्रयोग तथ्यात्मक रूप में करते हैं परन्तु फिर भी किसी भी स्थिति में उन्हें असत्य सिद्ध हुआ नहीं मानते—ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। परन्तु इस विरोध को भ्रम और अज्ञान का प्रतीक मानकर यदि सीधे हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि धार्मिक व्यक्ति धार्मिक कथनों के द्वारा किसी तथ्य के सम्बन्ध में सूचना नहीं देते बल्कि अपनी एक खास नैतिक इच्छा व्यक्त करते हैं, तो धार्मिक कथनों के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में हम खुद भ्रम पैदा करने के दोषी सिद्ध होते हैं। उपर्युक्त विरोध सिर्फ इतना सिद्ध करता है कि धार्मिक कथनों के द्वारा धार्मिक व्यक्ति किसी साधारण ढंग के तथ्य के सम्बन्ध में कोई सूचना हमें नहीं दे रहे हैं और इसलिये धार्मिक कथनों की तुलना साधारण तथ्यात्मक कथनों के साथ नहीं की जा सकती। हो सकता है कि अपने कथनों के द्वारा धार्मिक व्यक्ति हमें एक ऐसी विशिष्ट स्थिति के सम्बन्ध में सूचित कर रहे हों जो अपने ढंग से वस्तुनिष्ठ तथा तथ्यात्मक भी हो परन्तु फिर भी जिसकी तुलना साधारण तथ्यात्मक स्थिति के साथ नहीं हो सकती। उपर्युक्त विरोध के पीछे कोई अद्‌भुत् स्थिति छिपी हो सकती है जिसका अनावरण आवश्यक है, यदि सचमुच हम समझना चाहते हों कि धार्मिक कथनों के द्वारा धार्मिक व्यक्ति वस्तुतः क्या अभिव्यक्त करना चाहते हैं, उनका प्रयोग किस कार्य के लिये वे करते हैं। धार्मिक कथनों के प्रकट रूप की बिल्कुल अवहेलना कर, धार्मिक व्यक्तियों द्वारा किये गए उनके प्रयोग का बिल्कुल ध्यान न रखकर, यदि अपनी ओर से हम कुछ अर्थ इन कथनों पर थोपने लग जांय तो उसकी तो कोई सीमा ही नहीं है।

४

उपर्युक्त सारी बातों का ध्यान रखते हुए धार्मिक कथनों के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में सर्वाधिक उपयुक्त और यथार्थ हमें यह कहना प्रतीत होता है कि इन कथनों के माध्यम से कोई धार्मिक व्यक्ति अपनी उस खास प्रकार की अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है जिस अनुभूति के रूप में अपने जीवन के कुछ खास क्षणों में वह समग्र विश्व के द्वारा एक बहुत ही गहरे तथा गंभीर ढंग से प्रभावित होता है, या दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि विश्व अपनी समग्रता में जिस खास रूप में किसी धार्मिक व्यक्ति को उसके जीवन के कुछ खास क्षणों में एक बहुत ही गहरे तथा गंभीर ढंग से प्रभावित करता है उसी की अभिव्यक्ति वह धार्मिक कथनों के माध्यम से करता है। हमें अपने विचारों की कुछ हद तक व्याख्या करनी होगी तभी हम इनमें निहित सारी बातों को समझ पायेंगे। खास तौर पर हमें यहां यह देखना होगा कि (१) 'जीवन के कुछ खास क्षणों' से हमारा क्या तात्पर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


है, (२) 'समग्र विश्व' या 'विश्व अपनी समग्रता में' के द्वारा हम क्या समझते हैं तथा (३) 'समग्र विश्व के द्वारा एक खास प्रकार से या एक खास रूप में प्रभावित होने' का क्या अर्थ है।

हमारे जीवन के साधारण क्षण कुछ वैसे क्षण हैं जिनमें हम अपनी रोज़मर्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे रहते हैं तथा हमारा ध्यान विश्व की कुछ छुट-पुट वस्तुओं के परे और कहीं नहीं जाता। परन्तु मनुष्य होने के नाते कभी-कभी कुछ ऐसे भी क्षण हमारे जीवन में आते हैं जब हम अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से कुछ ऊपर उठकर संसार और जीवन से सम्बन्धित कुछ बहुत ही आधारभूत अथवा चरम प्रश्नों में उलझे होते हैं। ये प्रश्न कुछ इस प्रकार के होते हैं—विश्व की उत्पत्ति कहां से और कैसे हुई? हमारे जीवन का प्रारम्भ कहां से और कैसे हुआ? हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है? हमारी चरम परिणति क्या है? मृत्यु के बाद भी हमारा कोई जीवन है क्या? इत्यादि, इत्यादि। कुछ वैसे ही क्षणों को, जिनमें हम उपर्युक्त प्रकार के प्रश्नों के साथ कुछ बहुत ही गहन तथा गम्भीर रूप में उलझे होते हैं, हमने 'जीवन के कुछ खास क्षणों' की संज्ञा दी है। ऐसे क्षणों में हमारे चिन्त्य विषय कुछ छोटी-मोटी वस्तुएं नहीं होतीं बल्कि कुछ इस प्रकार के प्रसंग होते हैं जिनका सम्बन्ध हमारी आधारभूत या चरम स्थिति के साथ होता है। शायद कुछ ऐसी ही बातों को ध्यान में रखकर पॉल टिलिच ने कहा है कि धर्म हमारे चरम चिन्त्य-विषय से सम्बन्धित होता है जो हमारे साधारण चिन्त्य-विषयों से बहुत ही भिन्न तथा परे हैं।[७] जीवन के ऐसे क्षण प्रायः बहुत ही निर्णायक सिद्ध होते हैं तथा कभी-कभी हमारे लिये वे एक पूर्ण एवं सर्वांगीण मोड़ का कारण बनते हैं।

'समग्र विश्व' से हमारा क्या अर्थ है, यह हम अब देखें। साधारणतः हम किसी वस्तु की समग्रता का या 'समग्र वस्तु' का अर्थ 'उसके अंशों का योग' समझते हैं, और एक बौद्धिक दृष्टि से ऐसा समझना शायद ग़लत भी नहीं है। कोई भी सम्पूर्ण वस्तु, चाहे वह साधारण वस्तु हो या विश्व, अपने अंशों के योगफल से भिन्न और किस रूप में समझी जा सकती है? परन्तु सदा और सब दृष्टियों से ऐसा समझना शायद ठीक नहीं है। यदि यही सत्य होता तो ऐसा नहीं होता कि जब हम किसी के चेहरे पर के अलग-अलग अंगों, जैसे नाक, आंख आदि का, प्रत्यक्ष करते तो उनमें से प्रत्येक अंग अपने अलग रूप में हमें सुन्दर लगता परन्तु फिर भी सम्पूर्ण मुखाकृति हमें अच्छी नहीं लगती। हम जिसे 'समग्र विश्व' कह रहे हैं वह विश्व के अलग-अलग अंशों का एक गणितिक योग मात्र नहीं है, बल्कि एक बहुत ही महत्वपूर्ण अर्थ में उससे भिन्न और परे है। 'समग्र विश्व' से हम अपने समक्ष उपस्थित विश्व

---

७. पॉल टिलिच, सिस्टेमैटिक बियोलोजी, वॉल्युम, १ (यूनि० ऑफ शिकागो प्रेस, १९५१) पृ०सं० १७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


का वह सामान्य रूप समझते हैं जिसमें सभी वस्तुएं और घटनाएं सम्मिलित रहती हैं परन्तु फिर भी जिसमें सबका विशिष्ट एवं अलग-अलग रूप अपनी विविधता में हमारे समक्ष प्रस्तुत नहीं होता। जो कुछ हम प्रत्यक्ष देख रहे हों और जो हमारी वर्तमान दृष्टि की परिधि के बाहर हो, उन सबका समावेश इसमें रहता है। परन्तु फिर भी सब मिलाजुला कर जो चित्र हमारे समक्ष उपस्थित होता है वह है विश्व की एक सामान्य रूपरेखा का। ऐसी ही सामान्य रूपरेखा को हम 'समग्र विश्व' की संज्ञा देते हैं।

कोई भी वस्तु या स्थिति अपनी समग्रता में अपने अंशों के योगमात्र से भिन्न होती है, या कम से कम, उसकी समग्रता में उसका जो प्रत्यक्ष हमें होता है वह उसके अंशों के प्रत्यक्ष से भिन्न होता है, यह हम जॉन हिक के द्वारा प्रस्तुत एक काल्पनिक उदाहरण के द्वारा समझ सकते हैं। एक व्यक्ति अपने किसी शत्रु के डर से भागता हुआ एकाएक किसी ऐसे मकान में प्रवेश कर जाता है जहां वह पाता है कि अनेक घातक अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित अनेक व्यक्ति भयानक रूप बनाये एक-दूसरे के सामने पैंतरे बदल रहे हैं। सारी स्थिति को उसके अलग-अलग अंशों में देखकर वह व्यक्ति ऐसा अनुभव करने लगता है मानो वह राक्षसों के घर में प्रवेश कर गया हो और अब उसकी खैर नहीं हो। परन्तु थोड़ा धैर्य संभाल कर जब एक बार फिर सारी स्थिति पर उसकी समग्रता में वह एक विहंगम दृष्टि डालता है तो एकाएक मानो उसके अन्दर प्रकाश की एक किरण फैल जाती है और सारी स्थिति उसके समक्ष अभिनेताओं के एक ऐसे दल के रूप में परिवर्तित हो जाती है जो किसी नाटक के अभ्यास में लगे हुए हैं।[८] वही स्थिति अपने अंशों के योग के रूप में कुछ और थी परन्तु अपनी समग्रता में कुछ और ही सिद्ध हुई। ठीक यही बात हमें विश्व के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। जब कभी जीवन के कुछ खास क्षणों में छोटी-मोटी चीज़ों से अपने ध्यान को थोड़ा ऊपर उठाकर हम विश्व पर एक विहंगम दृष्टि डालते हैं तो विश्व के उस रूप का साक्षात्कार हमें होता है जिसे हम 'समग्र विश्व' की संज्ञा देते हैं। यह साक्षात्कार बाह्य इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होने से कहीं अधिक एक मानसिक अवलोकन और मनन का परिणाम होता है।

अब हम यह देखें कि समग्र विश्व के द्वारा एक खास रूप में या खास प्रकार से प्रभावित होने का क्या अर्थ है। इसके लिये पहले हम यह देखें कि वस्तुतः किसी भी चीज़ के द्वारा एक खास प्रकार से प्रभावित होने का क्या अर्थ है। आम तौर पर जब किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है तो हमें उसका प्रत्यक्ष लाल, गोल, ठोस आदि कुछ ऐन्द्रिय गुणों की एक समष्टि के रूप में होता है। परन्तु कभी-कभी कुछ खास क्षणों में कुछ खास भावनाओं के वशीभूत होकर जब हम उस वस्तु की ओर उसकी

---

८. जॉन हिक, फेट ऐण्ड नालेज, पृ० सं० १२७–२८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


समग्रता में देखते हैं तब हमें उस वस्तु के अन्दर उपर्युक्त ऐन्द्रिय गुणों के अतिरिक्त एक अन्य गुण की भी अनुभूति होती है जिसके चलते वस्तु को हम सुन्दर या कुरूप कहते हैं। यह गुण शायद उपर्युक्त गुणों की तरह एक अतिरिक्त गुण के रूप में वस्तु के अन्दर मौजूद नहीं है और इसका सचमुच अन्य गुणों की तरह किसी खास ज्ञानेन्द्रिय के माध्यम से हमें ज्ञान भी नहीं होता। परन्तु फिर भी सम्पूर्ण वस्तु में व्याप्त एक सर्वांगीण गुण के रूप में इस गुण का भी अनुभव उस क्षण हमें किसी प्रकार होता है। उसका सम्बन्ध हमारी बुद्धि और हमारे ज्ञान से कहीं अधिक शायद हमारी भावना एवं हमारे संवेग से होता है। एक खास भावना के वशीभूत जब वस्तु में मौजूद गुणों का हम प्रत्यक्ष करते हैं तब किसी प्रकार उन गुणों के समन्वय से शायद एक नवीन गुण की उत्पत्ति हमारे समक्ष हो जाती है। इस प्रकार कुछ खास क्षणों में किसी वस्तु के अन्दर उसके ऐन्द्रिय गुणों के अतिरिक्त किसी एक सर्वांगीण अनैन्द्रिय गुण की अनुभूति होना ही हमारा उस वस्तु के द्वारा एक खास रूप में या एक खास प्रकार से प्रभावित होना है। ऐसी अनुभूतियों में हम देख सकते हैं कि जो गुण वस्तुनिष्ठ रूप में वस्तु में मौजूद हैं वे गौण हो जाते हैं तथा यह नवीन या अतिरिक्त गुण ही सब पर छाकर प्रमुख हो जाता है। सम्पूर्ण वस्तु में व्याप्त उसी गुण की अनुभूति हमें प्रमुख रूप से होती है। वस्तु में सौन्दर्य की अनुभूति करना उसके द्वारा एक खास प्रकार से प्रभावित होना है तथा उसके अन्दर कुरूपता का अनुभव करना उसके द्वारा एक दूसरे खास प्रकार से प्रभावित होना है। एक वस्तु से सभी लोग एक ही प्रकार से प्रभावित नहीं होते।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि किसी वस्तु के द्वारा एक खास प्रकार से प्रभावित होना बिल्कुल एक आत्मनिष्ठ भावना या संवेग में लिपटे रहना नहीं है बल्कि वह एक अनुभूति की प्राप्ति करना है जिसके पीछे वस्तुनिष्ठ आधार है। पहले वस्तुनिष्ठ आधार के रूप में तो हम वस्तु के अनेक गुणों को ही पा सकते हैं जिनमें शायद वह नवीन गुण निहित रहता है और एक भावनायुक्त चेतना के साथ गुणों का सम्पर्क होते ही स्पष्ट रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। और फिर खुद 'सौन्दर्य' नामक गुण को भी अनुभूति के वस्तुनिष्ठ आधार के रूप में लिया जा सकता है चूँकि इस गुण का अस्तित्व अनुभवकर्त्ता की चेतना तक ही बिल्कुल सीमित नहीं होता बल्कि अनुभव की अवधि तक यह गुण एक वस्तुनिष्ठ रूप में वस्तु में व्याप्त रहता है। यदि सौन्दर्य बिल्कुल आत्मनिष्ठ होता तो शायद ऐसा नहीं होता कि कुछ खास वस्तुएँ अनेक लोगों को सुन्दर ही प्रतीत होतीं। सौन्दर्य आदि मूल्यात्मक गुणों में कुछ वस्तुनिष्ठता अवश्य है, यद्यपि यह भी सत्य है कि जब तक वस्तु के साथ एक भावनायुक्त चेतना का सम्पर्क नहीं होता तब तक इन गुणों की उत्पत्ति नहीं होती।

अब इसी आधार पर हम यह समझ सकते हैं कि समग्र विश्व के द्वारा एक खास प्रकार से प्रभावित होने का क्या अर्थ है। जीवन के कुछ खास क्षणों में जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


हम कुछ खास प्रकार की भावना के साथ विश्व की ओर उसकी समग्रता में देखते हैं तो साधारण रूप से प्रत्यक्ष होने वाली वस्तुओं और घटनाओं के अलावा हमें उसके अन्दर सर्वांगीण रूप में व्याप्त एक मूल्यात्मक गुण का भी प्रत्यक्ष होने लगता है और इसी मूल्यात्मक गुण को हम 'ईश्वर' की संज्ञा देते हैं। जिन्हें इस गुण का प्रत्यक्ष विश्व में होता है उन्हें यही गुण प्रधान मालूम पड़ने लगता है, विश्व के अन्य साधारण पहलू गौण हो जाते हैं तथा उसे सम्पूर्ण विश्व ईश्वरमय मालूम पड़ने लगता है। 'ईश्वर' शब्द की तार्किक स्थिति विश्व के सम्बन्ध में वही है जो 'सौन्दर्य' शब्द की स्थिति किसी वस्तु के सम्बन्ध में है। जिस प्रकार एक खास वस्तु के द्वारा सभी लोग एक ही प्रकार से प्रभावित नहीं होते उसी प्रकार विश्व के द्वारा भी सभी लोग एक ही प्रकार से प्रभावित नहीं होते। फलतः कुछ लोगों को ईश्वर की अनुभूति उसमें होती है, कुछ लोगों को नहीं। विश्व अपनी समग्रता में जो विषय-वस्तु उपस्थित करता है वह एक ही है परन्तु भावना या प्रवृत्ति आदि में भेद के चलते किसी को वह विषय-वस्तु एक खास ढंग से प्रभावित करती है और किसी को दूसरे खास ढंग से। फलतः कुछ लोग ईश्वरवादी होते हैं और कुछ लोग अनीश्वरवादी। ईश्वरवाद तथा अनीश्वरवाद दोनों ही इस प्रकार समग्र विश्व के द्वारा उपस्थित एक ही विषय-वस्तु के द्वारा दो अलग-अलग ढंगों से प्रभावित होने के दो उदाहरण हैं।

परन्तु यहां भी हमें समझना चाहिये कि विश्व में ईश्वर की अनुभूति होना एक पूर्णतः आत्मनिष्ठ घटना नहीं है। ईश्वर की अनुभूति होने का यहां यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक व्यक्ति कुछ आत्मनिष्ठ भावनाओं या संवेगों में लिप्त हो जाता है। सौन्दर्यानुभूति की ही तरह ईश्वरानुभूति के भी वस्तुनिष्ठ आधार हैं। पहले तो अनेक वस्तुनिष्ठ तथ्यों से पूर्ण समग्र विश्व ही इस अनुभूति के वस्तुनिष्ठ आधार का काम करता है। विश्व के वस्तुनिष्ठ पहलू ही किसी प्रकार आपस में समन्वित होकर एक खास भावना से युक्त द्रष्टा के समक्ष एक नवीन सर्वव्याप्त मूल्यात्मक गुण उपस्थित कर देते हैं जिसकी अनुभूति वह ईश्वर के रूप में करता है और दूसरे खुद यह मूल्यात्मक गुण भी बिल्कुल हमारी चेतना तक ही सीमित नहीं होता बल्कि अनुभूति की अवधि तक एक वस्तुनिष्ठ गुण के रूप में समस्त विश्व में व्याप्त रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सौन्दर्य एक वस्तुनिष्ठ रूप में समस्त वस्तु में व्याप्त रहता है। यह ठीक है कि बिना एक भावनायुक्त चेतना के विश्व में यह मूल्यात्मक गुण उत्पन्न नहीं होता, परन्तु फिर भी इसे बिल्कुल आत्मनिष्ठ नहीं माना जा सकता। ईश्वर का एक पूर्णतः वस्तुनिष्ठ, सर्वव्याप्त गुण के रूप में अनुभव करके ही धार्मिक व्यक्ति ऐसा कहता है कि 'विश्व में एक ईश्वर है', 'वह सर्वव्याप्त है', अथवा 'समस्त विश्व ईश्वरमय है', आदि। चूंकि ईश्वर पूर्णतः वस्तु-निष्ठ रूप में विश्व में व्याप्त नज़र आता है इसीलिए धार्मिक व्यक्ति ईश्वर-सम्बन्धी बातों को बिल्कुल तथ्यात्मक कथनों के रूप में व्यक्त करता है, परन्तु फिर चूंकि ईश्वर की तथ्यात्मकता साधारण तथ्यों की तथ्यात्मकता से बिल्कुल भिन्न है, इसलिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वह बार-बार हमें यह भी सचेत करता है कि ईश्वर सम्बन्धी कथनों को हमें साधारण तथ्यात्मक कथनों के रूप में नहीं लेना चाहिए। ईश्वर अनेक तथ्यों के बीच एक तथ्य नहीं है, बल्कि सभी तथ्यों में व्याप्त एक सर्वांगीण धर्म है जो एक सर्वव्यापी तथ्य के रूप में ही नज़र आता है। इसीलिये धार्मिक व्यक्ति कहता है कि 'विश्व ईश्वरमय है', 'ईश्वर विश्व के कण-कण में है', इत्यादि। उसके कथनों में कहीं धोखा और भ्रम नहीं है। भ्रम तो बरबस वे धर्म-दार्शनिक पैदा करते हैं जो अपने को धर्म के हिमायती सिद्ध करने के लिये धार्मिक कथनों की तुलना साधारण तथ्यात्मक कथनों से करने लगते हैं तथा यह भी कहने लगते हैं कि धार्मिक कथनों की सत्यता-असत्यता उसी प्रकार निर्धारित की जा सकती है जिस प्रकार अन्य तथ्यात्मक कथनों की। इसके अतिरिक्त वे ईश्वर को एक बिल्कुल वस्तुनिष्ठ तथ्य सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत करने लगते हैं। धार्मिक व्यक्ति धार्मिक कथनों का बिल्कुल तथ्यात्मक प्रयोग कर तथा फिर भी उन्हें असत्यापनीय नहीं मानकर कोई विरोध पैदा नहीं करता। वह अपने स्थान पर बिल्कुल ठीक है। धार्मिक कथनों का प्रयोग साधारण तथ्यात्मक कथनों के अर्थ में वह करता ही नहीं और इसलिए तथ्यात्मकता की उपर्युक्त कसौटी पर उसके कथनों के खरे उतरने का भी कोई प्रश्न नहीं है।

ऊपर के विश्लेषण से बहुत हद तक यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों धार्मिक कथनों का तथ्यात्मक रूप में प्रयोग करते हुए भी धार्मिक व्यक्ति उन्हें किसी भी स्थिति में असत्य मानने को तैयार नहीं होता। परन्तु इस बात को हम और अच्छी तरह तब समझ सकते हैं जब उस स्थिति की गहनता और गम्भीरता का हम ध्यान करें जिस स्थिति में व्यक्ति विश्व में ईश्वर की अनुभूति कर विश्व के द्वारा एक विशेष प्रकार से प्रभावित होता है। वह क्षण, जिसमें व्यक्ति विश्व के द्वारा एक विशेष प्रकार से प्रभावित होता है, बहुत ही निर्णायक क्षण होता है। उसमें मनुष्य अपने जीवन की कुछ बहुत ही आधारभूत एवं मार्मिक स्थितियों से सम्बन्धित होता है। ऐसे क्षण में ईश्वरानुभूति की जो छाप मनुष्य के दिल और दिमाग पर पड़ती है वह भी बड़ी गहरी होती है। इसीलिए हमने ऊपर कहा है कि धार्मिक कथनों के माध्यम से धार्मिक व्यक्ति अपनी उस अनुभूति को व्यक्त करता है जिस अनुभूति के रूप में वह बहुत ही गहरे तथा गंभीर रूप में विश्व के द्वारा प्रभावित होता है। समग्र विश्व के द्वारा एक विशेष प्रकार से प्रभावित होना किसी भी साधारण वस्तु के द्वारा प्रभावित होने से कहीं बहुत ही अधिक गहन, गम्भीर तथा अद्भुत स्थिति का द्योतक है। ईश्वरानुभूति की स्थिति की तुलना तार्किक स्तर पर सौन्दर्यानुभूति की स्थिति के साथ अवश्य की गई है, परन्तु वह केवल तार्किक स्तर पर बातों को स्पष्ट करने के लिए। वास्तव में ईश्वरानुभूति अपने ढंग की एकमात्र अनुभूति है जिसकी तुलना अन्य किसी भी स्थिति से नहीं की जा सकती। सुन्दर वस्तुएं तो अनेक हैं परन्तु विश्व, समग्र विश्व, एक ही है और उसका भी पूर्ण प्रत्यक्ष हमें नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


होता। फिर सौन्दर्य की अनुभूति में जीवन-मरण सम्बन्धी वैसे मौलिक प्रश्न भी निहित नहीं रहते जैसे प्रश्न ईश्वरानुभूति के पीछे निहित होते हैं। ऐसी अद्‌भुत अनुभूति, जिसके द्वारा मनुष्य कुछ बहुत ही गहन समस्याओं का एक उत्तर प्राप्त करता है, उसे बहुत ही गहरे तथा गंभीर ढंग से प्रभावित करती है जिसकी वास्तविकता में अविश्वास करने के लिए उसका दिल और दिमाग़ कभी तैयार नहीं होता। इस अनुभूति का धार्मिक व्यक्ति के ऊपर एक जीवनव्यापी और निर्णायक प्रभाव पड़ता है जिसे साधारण विरोधी स्थितियां भरसक डिगा नहीं सकतीं। यही कारण है कि व्यक्ति प्राय: किसी भी स्थिति मे अपने विश्वास और कथनों को असत्य सिद्ध हुआ मानने को तैयार नहीं होता।

यहाँ हमें एक प्रश्न अभी भी चिन्तित कर सकता है और वह यह कि जब ईश्वर की अनुभूति हमें सौन्दर्य की तरह एक मूल्यात्मक गुण के रूप में होती है तब फिर धार्मिक व्यक्ति ईश्वर पर बिल्कुल उन गुणों को कैसे आरोपित करता है (जैसे शक्ति, दयालुता आदि के गुण) जो किसी व्यक्ति को ही दिये जा सकते हैं। इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें प्रतीकीकरण से सम्बन्धित अनेक बातों का विश्लेषण यहां करना पड़ेगा जिसके लिए पर्याप्त स्थान यहां अब हमारे पास नहीं है।[६] फिर भी संकेत के लिए कुछ बातों की चर्चा यहां हम करना चाहेंगे। हमने देखा है कि जिस स्थिति में मनुष्य को संसार में ईश्वर की अनुभूति होती है वह साधारण स्थितियों से बिल्कुल भिन्न होती है। उस समय मनुष्य के समक्ष कुछ छोटा-मोटी बातें नहीं रहतीं बल्कि जीवन से सम्बन्धित कुछ बहुत ही मौलिक बातें उसके समक्ष होती हैं। उस स्थिति में जो उसे विश्व में एक सर्वव्यापी दैवी छटा की अनुभूति होती है उसके साथ वह संवेगात्मक एवं क्रियात्मक स्तरों पर कुछ बहुत ही निकट के सम्पर्क स्थापित करना चाहता है। परन्तु जब तक ईश्वर एक अमूर्त मूल्यात्मक गुण के रूप में नज़र आता है तब तक उसके साथ कोई सजीव सम्पर्क स्थापित करना संभव नहीं हो पाता। फलत: धार्मिक मनुष्य प्रतीकीकरण की क्रिया के द्वारा ईश्वर को मूर्त रूप दे देता है। प्रतीकीकरण की यह क्रिया शायद बहुत हद तक अचेतन के स्तर पर सम्पन्न हो जाती है और धार्मिक व्यक्ति को इसका मान भी नहीं होता। वह बरबस ऐमा कर बैठता है। प्रतीक सचमुच वे माध्यम हैं जिनके द्वारा किसी अमूर्त सत्ता के साथ एक जीता-जागता सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। प्रतीकीकरण के माध्यम से जब धार्मिक मनुष्य ईश्वर को मूर्त रूप दे देता है तब वह उसे फिर अनेक गुणों से विभूषित कर अपनी पूजा, प्रार्थना आदि का पात्र बना लेता

---

९. रुचि रखने वाले पाठक इस सम्बन्ध में देख सकते हैं, पॉल टिलिच की पुस्तक **डिनैमिक्स ऑफ फेथ** (ऐलेन एंड अनवीन, लंडन, १९५७), खासकर उसकी पृ० सं० ४२ और उसके बाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


है। और तब इस बात का और भी अधिक औचित्य मालूम पड़ने लगता है कि क्यों धार्मिक व्यक्ति धार्मिक कथनों को बिल्कुल तथ्यात्मक कथनों की तरह व्यक्त करत है। इस प्रकार हमें ऐसा लगता है कि धार्मिक अनुभूति अपने प्राथमिक रूप में कुछ सर्वेश्वरवादी ढंग की होती है और ईश्वरवाद कुछ बाद की उपज है जो प्रतीकीकरण की हमारी क्रिया का परिणाम है।

भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# क्या नैतिक नियम वस्तुतः निरपेक्ष आदेश है ?

छाया राय

जर्मन नीतिशास्त्री कांट के मतानुसार नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश हैं। इस संदर्भ में दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला, उन्हें निरपेक्ष किस अर्थ में कहा गया है ? दूसरा, क्या वस्तुत: समस्त नैतिक नियम निरपेक्ष कहे जा सकते हैं ? इस लेख में मैंने विषय को केवल नैतिक नियम की 'निरपेक्षता' तक ही सीमित रखा है। अतः, वे "आदेश" हैं, इसकी चर्चा यहां नहीं की गई है।

निरपेक्षता के अन्तर्गत परिणाम-निरपेक्षता, व्यक्ति-निरपेक्षता, कालिक व दैशिक निरपेक्षता तथा परिस्थिति-निरपेक्षता इत्यादि का समावेश किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, ये 'कार्य-कारण-संबंध-निरपेक्ष' तथा'साध्य-साधन संबंध-निरपेक्ष' भी कहे गये हैं। कांट ने अपने नीतिशास्त्र में दो प्रकार के आदेशों की चर्चा की है। वे हैं, निरपेक्ष (केटेगोरीकल इम्पेरेटिव) तथा सापेक्ष या सौपाधिक आदेश (हाईपोथिटिकल इम्पेरेटिव)।

कांट के नीतिदर्शन में हम 'निरपेक्ष आदेश' की आकारिक अभिव्यक्ति या सूत्रीकरण पाते हैं। पांच सूत्रों द्वारा यह सूत्रीकरण उन्होंने किया है। वे सूत्र यह बताते हैं कि कोई भी विषयीगत कर्म–नियम तभी नैतिक नियम स्वीकार किया जा सकता है जब वह इन पांच सूत्रों का अनुसरण कर रहा हो। इन पांच सूत्रों द्वारा कांट ने नैतिकता के क्षेत्र से सभी प्रकार की सापेक्षता का बहिष्कार किया है। अतः नैतिक नियम की निरपेक्षता समझने में इन पांच सूत्रों का ज्ञान सहायक होगा। वे पांच सूत्र क्रमशः निम्नलिखित हैं :–

पहले सूत्र को कांट "सार्वभौमिकता का सूत्र" कहते हैं। यह सूत्र बताता है कि "केवल उसी विषयीगत कर्म-सिद्धांत के आधार पर कर्म करो जिसके माध्यम से तुम उसी समय यह इच्छा कर सको कि वह एक सार्वभौमिक या आकारिक नियम बनना चाहिए।" (दि मॉरल लॉ, पृ० ८४)

दूसरा सूत्र, प्रकृति के नियम का सूत्र, यह निर्देश देता है कि "इस तरह कर्म करो कि कर्म का तुम्हारा विषयीगत सिद्धांत, तुम्हारे संकल्प के माध्यम से, प्रकृति का एक सार्वभौमिक नियम बन सके।" (दि मॉरल लॉ,पृ० ८४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


तीसरा सूत्र, जिसे कांट ने "अपने आप में साध्य का सूत्र" कहकर संबोधित किया है, बतलाता है कि "इस तरह कर्म करो कि तुम मानवता को, चाहे अपने रूप में, अथवा अन्य किसी भी मनुष्य के रूप में, केवल एक साधन जैसा न मानकर, सदैव एक साध्य के रूप में मानो।" (दि मॉरल लॉ, पृ०९१)

चौथा सूत्र साध्यों के साम्राज्य का सूत्र है जो कहता है कि "इस तरह कर्म करो मानो तुम अपने विषयीगत नियमों के माध्यम से साध्यों के साम्राज्य के नियम-निर्माता सदस्य हो।" (दि मॉरल लॉ, पृ० ९५)

पांचवां या "संकल्प-स्वातंत्र्य का सूत्र" बतलाता है कि "सदैव केवल इस तरह चयन करो कि चयन करने वाले संकल्प में तुम्हारे चुने गये विषयीगत नियम भी सार्वभौमिक नियम के रूप में उपस्थित हों।" (दि मॉरल लॉ, ९३)

यह नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त सूत्रों का पालन करने के कारण नैतिक नियम सूत्र-सापेक्ष हैं, क्योंकि ये सूत्र नैतिक नियम के ही सूत्रीकरण हैं। किसी नियम को नैतिक या अनैतिक घोषित करने के लिये हमें यह देखना होता है कि क्या उसमें उपर्युक्त सूत्रों का समावेश है ? इस तरह वे ही कर्म-नियम नैतिक नियम के आसन पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं जिनका आधार उपर्युक्त सूत्र हों। अतः सूत्र-सापेक्षता का प्रश्न ही नहीं उठता।

नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश होने के कारण परिणाम-निरपेक्ष होते हैं, अर्थात् नैतिक नियमों के प्रारूप में कहीं भी किसी भी प्रकार के परिणाम-उदाहरणार्थ--यश, धन, सुख, स्वास्थ्य, सुविधा, पद इत्यादि—का उल्लेख नहीं होता। सापेक्ष आदेशों का प्रारूप इसके विपरीत होता है। जैसे, एक नैतिक नियम है 'सत्य बोलना चाहिए'। यह अपने-आप में पूर्ण है, शुभ संकल्प पर आधारित है और किसी परिणाम की अपेक्षा नहीं रखता। पर यदि हम परिणाम की अपेक्षा रखने लगें तो 'सत्य बोलना चाहिए' यह नैतिक नियम शुभ-संकल्प-बाह्य हो जायगा और इस तरह सापेक्ष आदेश में परिणत होने के कारण इसका प्रारूप या अभिव्यक्ति भी परिवर्तित हो जायगी। तब अन्य सापेक्ष आदेशों की तरह इसका प्रारूप होगा "यदि मुझे अमुक चीज (यश, धन इत्यादि) प्राप्त करना है तो मुझे अमुक कर्म (सत्य बोलना) करना चाहिए।" इस तरह, यहां कर्म साधन हो जाता है और परिणाम साध्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

स्मरणीय है कि नैतिक नियम शुभ संकल्प पर आश्रित होते हैं। पर शुभ संकल्प पर आधारित होने के कारण भी नैतिक नियमों को सापेक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शुभ संकल्प तो नैतिक नियमों में अनुस्यूत है। कांट ने उसी संकल्प को 'शुभ' संकल्प कहा है जो नैतिक नियम का अनुसरण करता है। नैतिक नियम व नैतिक कर्म शुभ संकल्प की ही अभिव्यक्ति हैं। शुभ संकल्प नैतिक नियमों का स्रोत है,अतः यह कहना असंगत होगा कि वे शुभ संकल्प सापेक्ष हैं। नैतिक नियम व शुभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


संकल्प ऐसी दो नितान्त पृथक् चीज़ें नहीं हैं कि हम उनके मध्य सापेक्षता का प्रश्न उठायें। शुभ संकल्प नैतिकता का सर्वोच्च निरुपाधिक आधार है।

यदि कर्म के संबंध में शुभ संकल्प की चर्चा की जाय तो हम यह पाते हैं कि शुभ संकल्प न तो कर्म का कार्य है, न साध्य, न परिणाम। वस्तुतः शुभ संकल्प कर्म का आदर्श है, साथ ही वह नैतिक कर्म का प्रेरणा-स्रोत भी है। शुभ संकल्प के लिये साधन या कारण की आवश्यकता नहीं है। वह अपने-आप में पूर्ण है। हम यह नहीं कह सकते कि शुभ संकल्प की प्राप्ति के लिये ही नैतिक कर्म किये जाते हैं, क्योंकि शुभ संकल्प विवेक के रूप में प्रत्येक बौद्धिक प्राणी को उपलब्ध है। 'प्राप्तस्य प्राप्ति' अवश्य कह सकते हैं क्योंकि सामान्यतः शुभ संकल्प या विवेक पर इच्छाओं, कामनाओं, सामाजिक, वैधानिक तथा धार्मिक मान्यताओं, रूढ़ियों व परम्पराओं आदि के अनेक आवरण पड़े रहते हैं। इनसे परे शुभ संकल्प को देखना, अर्थात् उसका अनुभव करना तथा उसके अनुरूप कर्म करना ही नैतिक कर्म या कर्त्तव्य है।

यदि सापेक्षता की ही बात करें तो यह कहा जा सकता है कि 'कर्म' अपने नैतिक मूल्य के लिये नैतिक नियम-सापेक्ष हैं, और चूंकि नैतिक नियम का स्वरूप "निरपेक्ष आदेश" है अतः नैतिक कर्म भी निरपेक्ष होते हैं। यही कारण है कि नैतिक कर्मों का अन्य कर्मों से भेद दर्शाने के लिये उन्हें "कर्त्तव्य" कहकर संबोधित किया जाता है। कांट ने कर्तव्य की जो परिभाषा अपने ग्रंथ में दी है वह भी इस ओर ही संकेत करती है। वे कहते हैं–"नियम के प्रति पूर्ण श्रद्धा भाव रखकर कर्म करने की बाध्यता ही कर्तव्य है।" (दि मॉरल लॉ, पृ० ६६)

यहां 'नियम' से कांट का तात्पर्य "नैतिक नियम" से ही है जिसके स्वरूप का वर्णन कांट ने अपने पांच सूत्रों में विस्तार से किया है।

जैसाकि बताया जा चुका है, कांट के मतानुसार नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश हैं। किन्तु आलोचकों का कहना है कि यदि 'नैतिक नियम' शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया जाय, अर्थात् नैतिक नियम को विभिन्न माना जाय, तो नैतिक नियमों को निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दो नैतिक नियमों में विरोध संभव है और यह विरोध परिस्थिति की सापेक्षता में ही जन्म लेता है। स्मरणीय है कि यदि केवल आकारिक दृष्टि से नैतिक नियमों की चर्चा की जाय तो विरोध की समस्या नहीं उठती। पर मानव बौद्धिक प्राणी होने के साथ ही साथ सामाजिक प्राणी भी है। व्यक्ति की सामाजिक परिस्थितियां ही हैं जो प्रायः दो नैतिक नियमों को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा कर देती हैं और तब व्यक्ति नैतिक द्वन्द्व व मानसिक तनाव में फँस जाता है। ऐसे समय में क्या नैतिकता परिस्थिति-सापेक्ष नहीं हो जाती? उदाहरणार्थ–'सत्य बोलना चाहिए' यह एक नैतिक नियम है, पर जब हमारे सत्य-भाषण से किसी निर्दोष की हत्या होती हो तब? जैसे 'अ' एक ईमानदार व्यक्ति है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी ईमानदारी से त्रस्त कुछ बेईमान व्यक्ति उसकी हत्या के लिये उत्सुक हैं। मान लीजिए, आप एक गली में से निकलते हुए देखते हैं कि 'अ' भागता हुआ आता है और उस गली में ही एक स्थान पर छिप जाता है। कुछ समय पश्चात् उसकी हत्या को उत्सुक बेईमान व्यक्ति आते हैं और आपसे पूछते हैं कि क्या आपने 'अ' को देखा ? ऐसी स्थिति में आपको कौन-सा नैतिक नियम स्वीकार करना चाहिए—ईमानदार और निर्दोष की रक्षा का अथवा सत्य बोलने का (जिसका परिणाम निर्दोष की हत्या होगा)। अतः हम कह सकते हैं कि जब दो नैतिक नियमों में परस्पर विरोध उत्पन्न होता है तब उनमें से एक का चयन–'परिस्थिति और परिणाम' को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है। किन्तु आलोचकों द्वारा किया गया यह आपेक्ष अनेक भ्रान्तियों पर आश्रित है। इनमें मुख्य भ्रांति है नैतिक नियम व नैतिक कर्म में भेद न कर पाना। नैतिक नियम अन्ततः एक ही है। हां, नैतिक कर्म अनेक हो सकते हैं। पर नैतिक कर्म भी केवल उन्हीं कर्मों को कहा जाता है जो नैतिक नियम पर आश्रित होते हैं। अतः दो नैतिक कर्मों में भी विरोध संभव नहीं है। जब दो कर्म परस्पर विरुद्ध विकल्पों के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं तो उनमें से किसी एक को ही नैतिक कर्म या कर्तव्य कहा जाता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'निर्दोष की रक्षा करना' एक कर्म है व 'सत्य भाषण' दूसरा। इस उदाहरण में ये एक-दूसरे को बाधित कर रहे हैं। यहां "निर्दोष की रक्षा करना" नैतिक कर्म या कर्तव्य कहा जायगा क्योंकि यह कर्म शुभ-संकल्प से प्रेरित होकर किया जा रहा है व कर्त्ता का यह "विषयीगत कर्म सिद्धांत" (मैग्ज़िम) नैतिक नियम हो सकने की क्षमता रखता है। नैतिक नियम हो सकने की क्षमता की परख हम उन पांच सूत्रों की कसौटियों से कर सकते हैं जिनका उल्लेख काँट ने अपने नीतिशास्त्रीय ग्रंथों में किया है। इस तरह नैतिक कर्म परिस्थिति-सापेक्ष न होकर नैतिक नियम-सापेक्ष होते हैं, पर नैतिक नियम स्वयं निरपेक्ष आदेश हैं।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि चूंकि नैतिक नियम अनेक हैं अतः वे निरपेक्ष नहीं हो सकते। यह संभव है कि हम स्वच्छंदतापूर्वक तथाकथित विभिन्न विशेष नैतिक नियमों को ही अनेक "निरपेक्ष आदेशों" की श्रेणी में रख दें, अर्थात् विभिन्न नैतिक नियमों को दृष्टि में रखते हुए निरपेक्ष आदेशों की भी अनेकता स्वीकार करें या 'निरपेक्ष आदेश' शब्द का प्रयोग बहुवचन में करें। यदि हम ऐसा करते हैं तो हम 'नैतिक नियम' व 'निरपेक्ष आदेश' के मध्य तादात्म्य स्वीकार कर एक भ्रांति को जन्म देते हैं। इस संदर्भ में दो बातें स्मरणीय हैं। पहली यह कि यदि हम 'नैतिक नियम' शब्द का प्रयोग बहुवचन में करते हैं तो हमें यह याद रखना चाहिए कि समस्त नैतिक नियमों का आधार एक ही सामान्य निरपेक्ष आदेश होता है। समस्त नैतिक नियम एक ही निरपेक्ष आदेश से निर्गमित होते हैं। यह 'निरपेक्ष आदेश' नैतिक नियमों में उनके सिद्धान्त के रूप में सदैव उपस्थित रहता है। निरपेक्ष आदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


के सूत्रीकरण द्वारा कांट ने वह कसौटी मानव-बुद्धि को प्रदान की है जिसकी सहायता से वह कर्म के नैतिक मूल्य के निर्धारण में समर्थ होती है तथा विषयीगत कर्म-नियम के नैतिक नियम होने व न होने के विषय में निर्णय लेने में सक्षम होती है। इस तरह, यदि अनेक नैतिक नियमों को भी स्वीकार किया जाय तब भी उन्हें सापेक्ष सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि उनका स्वरूप सदैव 'निरपेक्ष आदेश' हुआ करता है।

जहां प्रश्न नैतिक या अनैतिक का हो वहां नैतिक का चयन, उसकी निरपेक्षता की बात, सहज बोधगम्य है; पर जब चयन के विकल्प दो समकक्ष नैतिक 'कर्तव्य' हों तो उनमें से एक का चयन परिस्थिति व परिणाम की सापेक्षता में ही किया जा सकता है। और चूंकि कर्तव्य नैतिक नियम पर आश्रित होते हैं अतः इस दृष्टि से नैतिक नियमों को निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। आकारिक नीतिशास्त्र (फॉर्मल एथीक्स) चूंकि नियमों के आकार मात्र (फोर्म) से संबंधित है अतः वह नियमों की तात्त्विकता, तथ्यात्मकता, या कहिए व्यावहारिकता से उत्पन्न समस्याओं की अवहेलना कर जाता है। नीतिशास्त्र मानव से संबंधित शास्त्र है और मानव बौद्धिक तथा सामाजिक प्राणी है। मानव की बौद्धिकता नीतिशास्त्र को सैद्धांतिकता अथवा आकारिकता प्रदान करती है जबकि सामाजिकता उसे व्यावहारिकता व तथ्यात्मकता देती है। अतः यदि कोई नीतिशास्त्र केवल बुद्धि पर आश्रित हो तो ऐसा कट्टर, सैद्धान्तिक या आकारिक नीतिशास्त्र जीवन में आने वाले नैतिक द्वन्द्वों व समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता। द्वन्द्व व समस्याएं जीवन के गतिशील क्षेत्र में उपस्थित होती हैं, बुद्धि के स्थिर अमूर्त प्रत्ययों में नहीं। अतः इस दृष्टि से देखने पर नैतिक नियमों को निरपेक्ष आदेश नहीं माना जा सकता। यह आलोचना मुख्यतः प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्र के पाठकों की ओर से प्रस्तुत की जाती है जिसका मूल कारण यह है कि सामान्य भारतीय मानस हिन्दू धर्म व नीति की विचारधारा को शुभ व अशुभ कर्मों की लम्बी पारंपरिक सूची के रूप में ही देख पाता है। उदाहरणार्थ, एक सामान्य हिन्दू जन स्वीकार करता है कि 'हत्या करना पाप है।' इसी तरह वह यह भी स्वीकार करता है कि अन्याय को मौन होकर सहना पाप है। परम्परा में धर्म व नीतिशास्त्र परस्पर इतने संश्लिष्ट रहे हैं कि 'पुण्य' व 'पाप' शब्दों की व्याख्या क्रमशः 'उचित-अनुचित', 'नैतिक-अनैतिक' या 'शुभ-अशुभ' कर्मों द्वारा की जाती रही है। आज भी प्रायः सामान्य हिन्दूजन नैतिकता के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन-हेतु अपने सामने पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ या नैतिक-अनैतिक कर्मों की लम्बी सूची रखता है। इन कर्मों के आधार पर ही वह नैतिक नियमों की चर्चा करता है। यह एक अवान्तर प्रश्न है कि उसने यह सूची धर्मग्रन्थों से प्राप्त की या धर्मगुरुओं से। वह मानता है कि 'हत्या करना' पाप है और "हत्या नहीं करनी चाहिए" यह नैतिक नियम है। दूसरी ओर वह 'सत्य बोलना' शुभ कर्म मानता है और 'सत्य बोलना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



चाहिए' इस नैतिक नियम को स्वीकार करता है। अब यदि 'कर्म-सूची'[1] के रूप में नैतिक नियमों को स्वीकार किया जाता है तो यह सम्भव है कि दो नैतिक कर्म या नियम विरोधी विकल्प के रूप में उपस्थित हों। ऐसी स्थिति में किसका चयन किया जाय ? महाभारत-युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व ऐसी ही स्थिति अर्जुन के समक्ष उपस्थित हुई थी। एक ओर, न्याय की रक्षा-हेतु बंधु-बांधवों का वध (हिंसा) अनिवार्य हो गया था तो दूसरी ओर अहिंसा के लिये अन्याय सह लेना। क्या उचित है ? इसका निर्णय अर्जुन नहीं कर पा रहा था, क्योंकि जहां एक ओर अन्याय सहना अनैतिक था वहां दूसरी ओर हिंसा भी अशुभ कर्म था। अर्जुन के नैतिक द्वन्द्व का मूल कारण नैतिक नियमों की सूची स्वत:सिद्ध मानकर चलना था। उसके समक्ष दो नैतिक नियम विकल्प के रूप में उपस्थित थे। पहला, न्याय की रक्षा की जानी चाहिए, दूसरा, अहिंसा-धर्म का पालन किया जाना चाहिए। उसकी किंकर्तव्य विमूढ़ता का मूल कारण नैतिक कर्मों को ही नैतिक नियम समझ लेना था। यही भ्रांति कांट के सामान्य भारतीय पाठकों में दृष्टिगोचर होती है। यदि हम भारतीय नीतिशास्त्र में गहराई से प्रवेश करें तो हम पायेंगे कि वहाँ भी कर्मों को नियम नहीं माना गया है। कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेश में भारतीय नीति तत्त्व स्पष्ट होकर सामने आया है जहां यह कहा गया है कि 'भावना' या 'बुद्धि' द्वारा कर्त्तव्य-निर्धारण किया जाना चाहिए। क्योंकि "कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है।" गीता के द्वितीय अध्याय के ४९वें श्लोक में यही उपदेश है। बुद्धि सत् व असत्, सकाम व निष्काम दोनों हो सकती है पर कर्मों की नैतिकता का निर्णय उनके परिणामों को देखकर नहीं, उनको प्रेरित करनेवाली 'निष्काम बुद्धि' से किया जाता है। तभी भारतीय नीतिशास्त्र 'निष्काम कर्मयोग' का प्रतिपादन कर केवल उन्हीं कर्मों को नैतिक घोषित करता है जो निष्काम बुद्धि या भावना से किये जाते हैं। हम कह सकते हैं कि भारतीय नीतिशास्त्र में जो स्थान "निष्काम बुद्धि" का है वही कांट के नीतिदर्शन में शुभ संकल्प (गुड विल) का है। इस तरह नैतिक कर्म की परिस्थिति व परिणाम सापेक्ष नहीं होते। कर्मों की नैतिकता की निर्णायक न तो परिस्थितियां हो सकती हैं न परिणाम। यदि हम एक सार्वभौमिक कसौटी को अस्वीकार कर, परिस्थिति व परिणाम आदि की सापक्षेता में नैतिकता सम्बन्धी निर्णय लेने लगें तो समस्त नैतिकता सापेक्ष होने के कारण स्वच्छंदतावाद में परिणत हो जायगी। इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय नीतिशास्त्री भी "कर्तव्य" को देश-काल, परिस्थिति व परिणाम-सापेक्ष नहीं मानते। 'निष्काम कर्म' व 'निष्काम बुद्धि' पदों का प्रयोग भी इसी ओर संकेत करता है कि नैतिकता किसी भी अर्थ में सापेक्ष नहीं है।

---

१. पाश्चात्य जगत् में उस शास्त्र को जो नैतिक व अनैतिक कर्मों की सूची प्रस्तुत करता है (कैजुइस्ट्री) या धर्माधर्म-विवेचन-शास्त्र कहा जाता है और उसे नीतिशास्त्र से नितान्त पृथक् माना जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


कांट के नीतिदर्शन व भारतीय नीतिशास्त्र में एक भेद अवश्य है कि जहाँ कांट ने निरपेक्ष आदेश के सूत्रों द्वारा नैतिक नियम के स्वरूप का आकारिक वर्णन प्रस्तुत किया है वैसा हमें भारतीय नीतिशास्त्र में नहीं मिलता। इसका मुख्य कारण यह है कि कांट "बुद्धिवादी" नीतिशास्त्री रहे हैं जबकि भारतीय नीतिशास्त्र सदा से "अध्यात्मवादी" रहा है। स्तर की दृष्टि से भिन्न होने पर भी दोनों व्याख्याएं इस एक ही सत्य को उजागर करती हैं कि नैतिक नियम व कर्तव्य व्यक्ति, परिस्थिति, परिणाम व देश-काल सापेक्ष नहीं हैं, वे शुभसंकल्प या सद्भावना या निष्काम बुद्धि पर आधारित हैं। कांट की बुद्धिवादी व भारतीय अध्यात्मवादी दोनों व्याख्याएं अंततः एक ही बिन्दु पर पहुँचती हैं, वह है—'निष्कामता'। 'निष्कामता' को समझा जाये तो नैतिक नियमों की निरपेक्षता की बात सहज बोधगम्य है। निष्कामता का ही दूसरा पहलू है—'सार्वभौमिकता', जिसपर न केवल भारतीय नीतिशास्त्री बल देता है वरन् कांट भी अपने सूत्रों में इसका स्पष्ट उल्लेख करते हैं। भेद इतना ही है कि भारतीय चिंतक 'आत्मा' के आधार पर सर्वव्यापकता की चर्चा करता है जबकि कांट मानव-स्वरूप के आधार पर सार्वभौमिकता का प्रतिपादन करते हैं। नैतिकता के क्षेत्र में सार्वभौमिकता या सर्वव्यापकता को महत्व दिया जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सच्चे नीतिशास्त्री नैतिकता को या नैतिक नियमों को अथवा नैतिक कर्मों को सदा से व्यक्ति-निरपेक्ष मानते रहे हैं। इतना सब स्वीकार करने के पश्चात् भी यह स्मरणीय है कि भारतीय पाठकों की आलोचना निर्मूल नहीं है, क्योंकि हम यह देखते हैं कि शुभ संकल्प या निष्काम बुद्धि से प्रेरित होकर भी यदि कर्ता कोई तथाकथित "अनैतिक" कर्म करता है तो उसके लिये भारतीय धर्म व नीतिशास्त्र "प्रायश्चित" का विधान करते हैं। जैसे, यदि कोई व्यक्ति "निर्दोष के रक्षार्थ झूठ बोलता है" तो बाद में उसे "झूठ बोलने" के लिये प्रायश्चित करना होगा। इससे ध्वनित होता है कि यहाँ नैतिक-अनैतिक कर्मों की सूची पारम्परिक रूप से स्वीकार की जाती रही है।

कांट के दर्शन में नैतिक कर्मों के आधार पर नैतिक नियमों की चर्चा कहीं नहीं की गई है। इसके विपरीत, वह केवल उसी विषयीगत कर्म-नियम (मैग्ज़िम) को नैतिक नियम की श्रेणी में रखने की अनुमति देता है, जिसमें सार्वभौमिक नियम बनने की सम्भावना निहित हो; जिसमें प्रकृति के सार्वभौमिक नियम जैसी सार्वभौमिकता हो; जिसमें अन्य व्यक्तियों को साधन न मानकर साध्य माना जा रहा हो; जिसमें साध्यों के साम्राज्य की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति हो; तथा जो संकल्प-स्वातंत्र्य पर आश्रित हो। उपर्युक्त पांच सूत्र देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति, परिणाम, साध्य-साधन-सम्बन्ध, कार्य-कारण सम्बन्ध इत्यादि सभी से निरपेक्ष हैं और इनकी निरपेक्षता का मूल कारण है इनकी सार्वभौमिकता।

एक अन्य दृष्टिकोण से भी उन्हें "निरपेक्ष" स्वीकार किया जा सकता है। यदि "नैतिक नियम" शब्द का प्रयोग एक वचन में, अर्थात् सर्वोच्च नैतिक सिद्धान्त के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


अर्थ में किया जाय तो निरपेक्षता की बात अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है। कांट के अनुसार नैतिकता का सर्वोच्च सिद्धान्त है—शुभ संकल्प। इसी सर्वोच्च नैतिक सिद्धान्त पर अन्य समस्त नैतिक नियम आश्रित हैं। नैतिकता का यह सर्वोच्च सिद्धान्त पूर्णतः निरपेक्ष है, अर्थात् व्यक्ति, देश, काल, परिस्थिति व परिणाम-निरपेक्ष है। निरपेक्ष होने के कारण यह अनिवार्य, शाश्वत व सार्वभौमिक है। यह शुभ संकल्प वह कसौटी है जिसकी सहायता से कर्म-अकर्म (नैतिक कर्म व अनैतिक कर्म) में भेद किया जाता है। दूसरे शब्दों में, कर्मों के नैतिक मूल्यों को इसी आधार पर परखा जा सकता है। जब कभी दो नैतिक कर्मों में विरोध उत्पन्न होता है तब उन दोनों में से किस नैतिक कर्म का अनुसरण किया जाय ? इस समस्या का समाधान भी शुभ संकल्प के सर्वोच्च सिद्धान्त द्वारा सहज में ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—"सत्य बोलना" व "निर्दोष की रक्षा करना" ये दो नैतिक कर्म हैं। विरोध उपस्थित होने पर इनमें से कौन-से कर्म का पालन किया जाय ? यदि आपके सत्यभाषण से निर्दोष की हत्या निश्चित है तो ऐसी स्थिति में निर्दोष के रक्षार्थ यदि आप "झूठ बोलते हैं" तो कुछ भी अनैतिक नहीं करते। यद्यपि "झूठ बोलना" निरपेक्ष रूप से देखने पर, अर्थात् शुभ संकल्प-निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर, "अनैतिक कर्म" प्रतीत होता है, पर यदि हम इस कर्म—झूठ बोलना—में अन्तर्निहित शुभ संकल्प (निर्दोष की रक्षा) को ध्यान में रखें, तो कभी भी इसे अनैतिक कर्म कहकर संबोधित नहीं करेंगे। शुभ-संकल्प को ध्यान में रखने का तात्पर्य यह देखना है कि कर्म का प्रेरक कौन है ? उपर्युक्त उदाहरण के संदर्भ में यह देखना कि "निर्दोष की रक्षा की भावना ही कर्म की प्रेरक है अथवा निर्दोष की रक्षा के पीछे हमारा कोई स्वार्थ—यश, धन आदि की प्राप्ति—निहित है और वही कर्म का प्रेरक है। पर यहां 'कर्म' व 'नियम' शब्दों के अर्थ-भेद को स्मरण रखना अत्यधिक आवश्यक है। नैतिक कर्म अनेक हो सकते हैं जबकि नैतिक नियम मूलतः एक है। फिर, नैतिक नियमों की अनेकता स्वीकार करने पर भी उनमें विरोध संभव नहीं है, क्योंकि समस्त नैतिक नियम अन्ततः एक ही निरपेक्ष आदेश या परम सिद्धांत पर आश्रित होते हैं। नैतिक नियम व नैतिक कर्म का भेद जानने के लिये हम यदि उपर्युक्त उदाहरण को ही लें तो हम पाते हैं कि "निर्दोष की रक्षा करना" एक नैतिक कर्म है व "सत्य-भाषण" दूसरा, पर इनमें से किसी एक को नैतिक नियम नहीं कहा जा सकता। परिस्थितिवश इन दो नैतिक कर्मों में विरोध उपस्थित हो सकता है, जैसे सत्यभाषण से निर्दोष की हत्या संभव है। "पर नैतिक नियम के संदर्भ में विरोध का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि यहाँ नैतिक नियम का निम्नलिखित स्वरूप होगा—"निर्दोष की रक्षा के लिये यदि झूठ भी बोलना पड़े तो झूठ बोलकर भी निर्दोष की रक्षा की जानी चाहिए।" यह विषयी-गत कर्म—नियम नैतिक नियम इसलिये है क्योंकि निरपेक्ष आदेश होने की क्षमता रखता है व शुभ संकल्प पर आधारित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यह कहना भी अनुचित होगा कि चूंकि नैतिक नियम 'शुभ संकल्प-सापेक्ष' हैं अतः अन्य दृष्टिकोणों से निरपेक्ष हैं। शुभ संकल्प नैतिक नियमों का आधार व स्रोत है अतः सापेक्षता का प्रश्न ही नहीं उठता।

अंत में पुनः यह कहना है कि 'नैतिक नियम' तथा 'कर्तव्य' शब्दों को पर्यायवाची नहीं समझा जाना चाहिए। नियम का सम्बन्ध 'आकार' से है जबकि कर्तव्य का व्यवहार से। यह ठीक है कि कर्तव्यों की चर्चा चूंकि व्यक्ति के ही संदर्भ में संभव है और व्यक्ति (इण्डीविडुअल) किसी विशेष देश-काल में ही रहता है, तथा परिस्थितियाँ ही उसके समक्ष किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति, अर्थात् दो कर्मों का द्वन्द्व,प्रस्तुत करती हैं इसीलिये कर्तव्य-मीमांसा को व्यवहार-निरपेक्ष नहीं माना जा सकता; किन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि समस्त कर्मों को कर्तव्य न कहकर केवल उन कर्मों को ही कर्तव्य कहना न्यायोचित है जो नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध श्रद्धा-भाव रखकर, कर्म करने की बाध्यता प्रदर्शित करते हैं। नैतिक कर्म नैतिक नियम-सापेक्ष हैं किन्तु नैतिक नियम स्वयं निरपेक्ष हैं। इस तरह, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय देश, काल, परिणाम, परिस्थित व व्यक्ति द्वारा नहीं किया जाता, अतः नैतिक नियम पर आश्रित कर्म भी निरपेक्ष ही सिद्ध होते हैं।

**जबलपुर विश्वविद्यालय**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# पुस्तक-समीक्षा

**दिव्य-जीवन, श्री** अरविन्द-कृत **दि लाइफ डिवाइन** का श्री केशवदेव आचार्य-कृत हिन्दी अनवाद, प्रथम भाग, मूल्य रु० २०-००, प्रकाशक, श्री अरविन्द सोसाइटी, पाण्डिचेरि-२.

किसी भी लेखक के विचारों को समझाना और उन्हें प्रस्तुत करना उतना कठिन कार्य नहीं है जितना कि उसके ग्रंथ का दूसरी भाषा में सजीव अनुवाद प्रस्तुत करना। ग्रंथ का गहरा अध्ययन, विषय से पूर्ण परिचय, भाषाओं पर अधिकार और अनुवाद-कार्य में धैर्य और निष्ठा से युक्त अनुवादक का अनुवाद ही सजीव और सफल अनुवाद कहा जा सकता है जिसके अध्ययन से पाठक लेखक के विचारों को मूल के समान ही सहज रूप से ग्रहण कर सके। अन्यथा अनुवाद मात्र शब्दों का अनुवाद होगा, विचारों का नहीं, सही अर्थ में वह अनुवाद ही नहीं कहा जायगा। श्री अरविन्द की पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करने के लिए अनुवादक का श्री अरविन्द के ग्रन्थों का सहानुभूतिपूर्ण गहरा अध्ययन, भारतीय व पाश्चात्य दर्शनों का गम्भीर ज्ञान, अंग्रेज़ी, हिन्दी व संस्कृत भाषाओं पर अधिकार व श्री अरविन्द के स्वयं के आध्यात्मिक अनुभवों पर आधारित निजी पदावली के प्रयोग के कारण श्री अरविन्द की योग-साधना व आध्यात्मिक आनुभवों से परिचय होना आवश्यक होता है। श्री केशवदेव आचार्य इन सभी योग्यताओं से युक्त होने के कारण श्री अरविन्द के ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करने के लिए एक श्रेष्ठ व्यक्ति हैं। सम्भवतः श्री केशवदेव आचार्य की इन योग्यताओं के कारण ही श्री अरविन्द स्वयं ने उन्हें 'दि लाइफ डिवाइन' का हिन्दी में अनुवाद करने की अनुमति प्रदान की थी।

श्री केशवदेव आचार्य का उपर्युक्त अनुवाद वास्तविक अर्थ में अनुवाद है। इसको पढ़ने से हम मूल ग्रन्थ के विचारों को पूर्ण स्पष्टता के साथ व उन्हीं भावों और बल के साथ, जिन भावों और बल से श्री अरविन्द ने अपने विचार व्यक्त किये हैं, समझ सकते हैं। ऐसा सजीव अनुवाद प्रस्तुत करने के लिये आचार्यजी ने अत्यन्त योग्यता और सफलता के साथ मूल ग्रन्थ के लम्बे-लम्बे वाक्यों को छोटे-छोटे वाक्यों में विभक्त कर दिया है और मूल ग्रन्थ के प्रत्येक शब्द के लिए हिन्दी शब्द का सतर्कतापूर्वक प्रयोग किया है। अन्त में श्री अरविन्द द्वारा प्रयुक्त नवीन परिभाषिक पदो के हिन्दी पर्यायों की सूची भी दी है। उदाहरणार्थ, जैसाकि आचार्यजी स्वयं अनुवाद के प्रारम्भ में शब्दों के चुनाव व अनुवाद की शैली के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सम्बन्ध में लिखते हैं : "श्री अरविन्द ने इस ग्रन्थ में ऐसे अनेक नवीन पदों का प्रयोग किया है जो अभी तक किसी भी ग्रन्थ या कोष में नहीं हैं, अथवा कम से कम उन अर्थों में नहीं हैं जिनमें श्री अरविन्द ने उनका प्रयोग किया है। उनमें से अनेक ऐसे हैं कि जिनके ठीक-ठीक अर्थों को समझना बहुत कठिन होता है। मैंने ऐसे शब्दों के लिए ऐसे समानार्थक शब्दों का निर्माण किया है जो उनके भीतरी भावों को स्पष्टतया व्यक्त कर सकें। उदाहरणस्वरूप, एक शब्द है 'comprehending consciousness'। इस शब्द से श्री अरविन्द को अभिप्रेत है वह चेतना जो पदार्थ के भीतर प्रविष्ट होकर और उसे अपने भीतर प्रविष्ट करके और उसके साथ तादात्म्य करके उसका सत्य ज्ञान करती है। यहां ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। इसके लिए मैंने "अन्तर्द्रष्ट्री तदात्मिका चेतना" पद का निर्माण किया है। इसी प्रकार Apprehending consciousness से अभिप्रेत है वह चेतना जो पदार्थ के भीतर प्रविष्ट होकर या उसे अपने भीतर प्रविष्ट करके उसका ज्ञान नहीं करती अपितु उसे अपने सम्मुख रखते हुए, अपने से मानो पृथक् रखकर, उसका ज्ञान करती है। यहां ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में भेद होता है। अतः मैंने इसका अनुवाद किया है "अभिमुखद्रष्ट्री भेदात्मिका चेतना"। "श्री अरविंद ने एक वाक्य इस प्रकार लिखा है: Purusha and Prakriti, the passively luminous Soul of the Sankhyas and their mechanically active Energy, have nothing in common, nor even their opposite modes of inertia. इस वाक्य का शब्दिक अनुवाद साधारणतया इस प्रकार किया जा सकता है: "पुरुष और प्रकृति में....उनके निष्क्रियता के विरोधी गुणों में कोई समानता नहीं है।" इस प्रकार के अनुवाद में भूल यह हो जाती है कि निष्क्रियता का विरोधी गुण है सक्रियता, वह है प्रकृति में रजोगुण। सांख्य का पुरुष सर्वथा निष्क्रिय है, उसमें सक्रियता का गुण है ही नहीं, अतः प्रकृति की सक्रियता में और पुरुष की सक्रियता में समानता का प्रश्न उठाना ही असंगत हो जाता है। वस्तुतः जिस प्रकार man of virtue का अर्थ 'गुण का मनुष्य' नहीं होता अपितु गुणी या सद्गुणी मनुष्य होता है, इसी प्रकार mode of inertia का अर्थ है निष्क्रिय स्वभाव रखने वाला गुण जिसे सांख्य की भाषा में तमोगुण कहा जाता है। और पुरुष में है उसकी स्वाभाविक निष्क्रियता। प्रकृति का निष्क्रियता-स्वभाव वाला गुण जड़ है और पुरुष की स्वाभाविक निष्क्रियता चेतन है, अतः जड़ता और चेतनता का विरोध यहां भी बना रहता है और कुछ भी समानता नहीं है। अतः उपर्युक्त अनुवाद शब्दिक दृष्टि से ठीक प्रतीत होने पर भी असंगत और मूल ग्रन्थ की भावना के विरुद्ध है।"

अनुवाद को पढ़ते समय हमें कहीं भी शब्द या विचार की स्पष्टता के लिये मूल ग्रन्थ को देखने की आवश्यकता नहीं लगती। वास्तव में इसे पढ़ते समय हमें ऐसा नहीं लगता कि हम अनुवाद पढ़ रहे हैं, अपितु यही लगता है कि हम एक मूल-ग्रन्थ ही पढ़ रहे हैं। निष्ठा के साथ वर्षों के सतत प्रयास से आचार्य जी का यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113443
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


अनुवाद एक आदर्श अनुवाद के रूप में हमारे सामने आता है। अगर अन्य अनुवादक भी आचार्यजी की अनुवाद-शैली का अनुसरण करें तो अनुवाद के कार्य में बहुत भारी सफलता प्राप्त हो सकती है।

इस बहुत उत्कृष्ट अनुवाद में वर्तनी की कुछ त्रुटियां बहुत खलती हैं। इनमें विशेष है 'आधीन', जो 'अधीन' होना चाहिए। इस शब्द का प्रयोग बार-बार होने से इसकी त्रुटि विशेष खलती है।

रामचन्द्र त्रिवेदी
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

113443

## अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

# २०वां वार्षिक अधिवेशन

## रांची विश्वविद्यालय

### अक्तूबर २७–३०, १९७५

इस वर्ष परिषद् का बीसवां वार्षिक अधिवेशन रांची विश्वविद्यालय, रांची के तत्त्वावधान में २७, २८, २९, ३० अक्तूबर को होगा। अधिवेशन की अध्यक्षता पूना विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष डा० सुरेन्द्र बारलिंगे करेंगे। निबन्ध निम्न विभागों में पढ़े जाँयगे :

| | |
|---|---|
| १. तर्क एवं वैज्ञानिक पद्धति | रमाशंकर मिश्र, कानपुर |
| २. तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा | अभेदानन्द, गुरुकुल कांगड़ी |
| ३. नीति एवं समाज-दर्शन | कमलचन्द सोगानी, उदयपुर |
| ४. धर्म-दर्शन | नन्दकिशोर शर्मा, जयपुर |

निम्न दो विषयों पर गोष्ठियां होंगी :

**१. आत्मन् और अनात्मन्**

(१) रमाकान्त त्रिपाठी, वाराणसी
(२) श्रीनिवास व्यंकटेश्वर वकील, बम्बई
(३) रघुनाथ गिरि, काशी विद्यापीठ
(४) श्रीमती सरल झिंगरन, उस्मानिया

**२. समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति :**

(१) राजेन्द्रप्रसाद, कानपुर
(२) राजेन्द्र पांडेय, शांतिनिकेतन
(३) धीरेन्द्र शर्मा, ज० ने० वि० नई दिल्ली
(४) नारायणशास्त्री द्राविड़, नागपुर
(५) बसन्तकुमार लाल, पटना.

अधिवेशन में पठनार्थ निबन्ध अगस्त के अन्त तक यशदेव शल्य, डी-३१, बापू नगर, जयपुर-४ को भिजवाने की कृपा करें। अध्यक्षीय भाषण तथा गोष्ठी-लेख अगस्त के प्रथम सप्ताह तक प्राप्त होने चाहिएं। नियत समय के पश्चात् प्राप्त हुए निबन्ध अधिवेशन से पूर्व मुद्रित नहीं करवाये जा सकेंगे।

आजीवन सदस्यों के अतिरिक्त अन्य सब सदस्य अथवा सदस्य बनने के इच्छुक अपना सदस्यता-शुल्क १५-००, अथवा आजीवन सदस्यता-शुल्क १५०-००, कोशाध्यक्ष डा० नन्दकिशोर शर्मा, बी० ११९, मंगलमार्ग, बापूनगर, जयपुर ३०२००४ को भिजवाने की कृपा करें। **किसी अन्य पते पर भिजवाये गये शुल्क की सुरक्षा का उत्तरदायित्व भेजने वाले पर होगा।** शुल्क के साथ अपना घर का पता सुपाठ्य अक्षरों में लिखने की कृपा करें। विद्यार्थी-सदस्यता शुल्क १०–०० होगा। रेल्वे कन्सेशन फार्म केवल मांग करने पर ही भिजवाया जायगा। इसलिये आजीवन सदस्य भी कृपया उसके लिये डा० नन्दकिशोर शर्मा को पत्र लिखने का कष्ट करें। अधिवेशन के कार्यक्रम तथा निवासादि सम्बन्धी सूचना कृपया डा० रमाशंकर श्रीवास्तव, आचार्य एवं अध्यक्ष दर्शन विभाग, रांची विश्वविद्यालय, राँची से प्राप्त करें।

**चांदमल**
बी० ८४, गणेश मार्ग,
बापूनगर, जयपुर ३०२००४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | अनुभववाद | सं. यशदेव शल्य | ५.५० |
| २. | समकालीन दार्शनिक समस्याएं | सं. यशदेव शल्य | १३.०० |
| ३. | दार्शनिक विश्लेषण | ले. यशदेव शल्य | १२.०० |
| ४. | विषय और आत्म | ले. यशदेव शल्य | २०.०० |
| ५. | समकालीन भारतीय दर्शन | सं. के. सच्चिदानन्द मूर्ति | १२.०० |
| ६. | भारतीय मनोविज्ञान | सं. नारायण शास्त्री द्राविड़ | ६.०० |
| ७. | अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या | गोविन्दचन्द्र पाण्डे | ३.०० |
| ८. | न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या | गोविन्दचन्द्र पाण्डे | ८.०० |
| ९. | नृतत्त्व तथा समाजदर्शन (७ खंड) | सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे यशदेव शल्य | ५२.०० |

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए डी ३१, बापूनगर जयपुर से संपादित तथा प्रकाशित एवं अजमेरा प्रिंटिंग वर्क्स, घी वालों का रास्ता, जयपुर से मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar